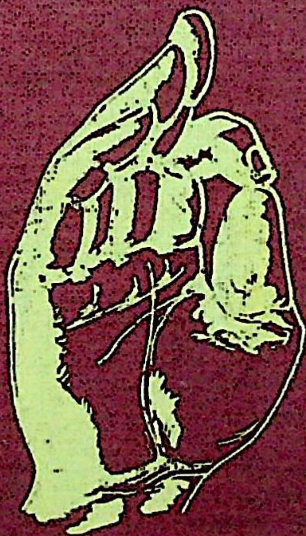
वेदान्तसंदर्भ



सप्रेम भेंट स्वरूप प्रदत्त

श्री स्वामी १०८ प्रज्ञाबोध आश्रम
ने का. मु. भ. स. पुस्तकालय
में समर्पित किया।

प्रज्ञाबोध आश्रम
ता० १६/३/२०६ सं

वेदान्तसन्दर्भ

Vedānta-Sandarbha

Advaita Grantha Ratna Manjusha—Ratna 32



VEDĀNTA-SANDARBHA

(A COLLECTION OF SELECTED VEDANTIC TEXTS)

Under direction from

MAHAMANDALESHWAR SHRI SWAMI
MAHESHANAND GIRI JI MAHARAJ
Pontiff of Shri Dakshinamurti Math

Mahesh Research Institute

Mount Abu **Varanasi**

अद्वैतग्रन्थरत्नमञ्जूषा—३२वाँ रत्न



वेदान्तसन्दर्भ

श्रीदक्षिणामूर्तिपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी महेशानन्दगिरि जी महाराज
के निर्देशानुसार
वेदान्तपरक विशिष्ट ग्रंथों व प्रकरणों का संकलन

महेश-अनुसन्धान-संस्थानम्

माउण्ट आबू वाराणसी

प्रकाशक

महेश-अनुसन्धान-संस्थानम्

श्री शङ्कर मठ
माउण्ट आबू–३०७५०१
(राजस्थान)

श्री दक्षिणामूर्ति मठ
डी ४९/९, मिश्र पोखरा
वाराणसी–२२१०१०

प्रथम आवृत्ति

मूल्य : पचपन रु० मात्र

भगवत्पादाब्द : १२००
विक्रम संवत् : २०४५
खिस्ताब्द : १९८९

मुद्रक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

प्राक्कथन

भगवत्पूज्यपाद श्री शङ्कराचार्य ने तीन दुर्लभ बातों का उल्लेख करते हुए उनमें से भी प्रथम स्थान दिया है मनुष्यत्व को। 'मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः' (विवेकचूडामणि ३) के क्रम पर ध्यान दें तो एक बात निश्चित कही जा सकती है कि यदि प्रथम की प्राप्ति हो चुकी है, तो अन्य दो दुर्लभ पदार्थों की उपपत्ति की संभावना तो उसी में बीजाङ्कुरन्याय से निहित है। यदि हम मनुष्य हैं, तो हमारे जीवन में मुमुक्षा को भी स्थान मिल सकता है और महापुरुषसंश्रय को भी। मनुष्य होना मात्र हमें तत्त्वज्ञान का अधिकारी बना देता है। शंका उठ सकती है कि साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति को ही ब्रह्मानुभूति का अधिकारी माना है। यह तो निःसंशय है कि साधन-चतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति ही ब्रह्मानुभूति का अधिकारी है परन्तु साधन-संपन्न होने का अधिकार तो मनुष्यमात्र को प्राप्त है। ईश्वर की दृष्टि में भी ब्रह्मानुभूति की योग्यता मनुष्य में ही है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
(श्रीमद्भागवत ११-९-२८)

वृक्ष, रेंगनेवाले कीड़े, पशु, पक्षी—ये सभी जीव केवल ऐन्द्रियक विषयों को ही जानते हैं, किन्तु अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व के दर्शन का जो साधन है—प्रमाणवृत्ति, वह तो मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी के पास नहीं है। अन्य जीवों के पास न तो साधन-चतुष्टय का अभ्यास है, न उनके पास वेद-शास्त्रादि का श्रवण है, न तो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्ति का उदय होने को कोई सामग्री उनके पास है।

दूसरी बात यह कि अद्वैत-तत्त्व कभी साधनसाध्य नहीं है, वह तो सिद्ध वस्तु है। शास्त्रोक्त सभी साधनों का प्रयोजन मोक्ष-सम्पादिका प्रमाणवृत्ति के भी आश्रयभूत अन्तःकरण की निवृत्ति में है, सीधे ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति में नहीं। अतः साधनों को केवल औषधवत् स्वीकार करना इष्ट है, स्वास्थ्यवत् नहीं। रोगनिवृत्ति के पश्चात् साधन त्याज्य हो जाते हैं। साधन से पूर्व और साधन के पश्चात् जो हमारा अपना आपा है, हमारी स्व-स्थता है, वह तो ज्यों-की-त्यों विद्यमान है। केवल अपने वास्तविक स्वरूप की अज्ञता का नाश ही स्वतःसिद्ध ज्ञातता को अनावृत्त कर देता है। साधन ब्रह्म को दिखाने के लिये नहीं हैं, केवल प्रमाण को सुधारने के लिये हैं। विवेकादि साधनचतुष्टय बहिरङ्ग साधन हैं। अन्तःकरण में स्थित अविवेक, आसक्ति आदि दोषों को नष्ट करनेवाले होने से इन्हें करण-शोधक साधन माना जाता है। दोष जिस अन्तःकरण में निवास करते हैं, उस अन्तःकरण की सफाई के लिये उसी में इन साधनों की स्थिति है। इनमें बाह्य पदार्थ, क्रिया अथवा भावना नहीं है। ये निवृत्तिरूप हैं। फिर भी ये केवल अन्तःकरण के शोधक है, वस्तु-तत्त्व के बोधक नहीं हैं। वस्तु के स्वरूप को लक्ष्य करने वाले श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये तीनों साधन अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं। गुरुमुख से, सत्सम्प्रदाय की पद्धति से, वेदान्तों में जो तत् और त्वम् पदार्थों की एकता का निश्चय है, वह 'श्रवण' कहलाता है। तत्पश्चात् जैसा सुना है, उसके द्वारा भेदबाधक और अभेदसाधक युक्तियों से ब्रह्म का चिन्तन करना 'मनन' है। तदनन्तर निश्चय किये हुए अद्वैतार्थ में बुद्धिवृत्ति का प्रवाह और विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार, यह 'निदिध्यासन' कहलाता है। परन्तु श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी ज्ञान के साक्षात् साधन नहीं हैं। श्रवण से प्रमाणगत संशय की निवृत्ति होती है तो मनन से प्रमेयगत असंभावना दूर होती है। फिर भी पूर्व-पूर्व के आविद्यक अभ्यास के कारण देहादि जागतिक पदार्थों

की सत्यता और ब्रह्म की अन्यता का भ्रम पुनः पुनः उपस्थित हो जाता है। इस विपरीतबुद्धि या विपर्यय का निराकरण निदिध्यासन से होता है। प्रतिबन्धरहित साधक श्रवणमात्र से कृतकृत्य हो जाता है परन्तु जिन साधकों में संशय-विपर्ययरूप प्रतिबन्ध शेष हैं, उन्हें मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता रहती है। केवल एक ही वार में प्रमाण स्वच्छ होने पर तथा प्रमाण-प्रमेय का निर्विघ्न सम्बन्ध होने पर आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है। प्रतिबन्धों के कारण ज्ञान के दाढर्य के अभाव में आवृत्ति की आवश्यकता होती है। भगवत्पूज्यपाद श्री शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के 'आवृत्तिः असकृदुपदेशात्' (४.१.१) भाष्य में यह बात कही है।

विवेकादि बहिरङ्ग साधनों का आश्रय लेकर जब साधक करणशुद्धि कर लेता है, तब तो तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ की एकता में कोई प्रतिबन्ध ही नहीं रहता। अन्तःकरण की शुद्धि के विषय में भगवती श्रुति कहती है— 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छान्दोग्य० ७.२६.२) अर्थात् आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। 'अह्रियत इत्याहारः शब्दादिविषयज्ञानम्' अर्थात् भोक्ता के भोग के लिये जो भी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का ज्ञान है, वह सब आहार है, ऐसी भगवत्पूज्यपाद आचार्य की उक्ति है। जिस शब्द का श्रवण करें, जिस ग्रंथ का पाठ करें, वह यदि सात्त्विक है, शुद्ध है, तो उससे प्राप्त संस्कार निश्चय ही अन्तःकरण की शुद्धि में साधक होंगे। शास्त्रीय ग्रंथ सत्य में कोई विशेषण नहीं लगाते। जितने भी विशेष अथवा भेद हैं, वे दृश्य ही हैं, अतः वाद के विषय हो सकते हैं। निर्विशेषता ही सद्वस्तु की अद्वितीयता है। यह अद्वितीयता अन्यनिष्ठ नहीं हो सकती क्योंकि 'वह' या 'यह' को अद्वितीय मानने पर आत्मा उससे पृथक् उसका प्रकाशक रह जायेगा। आत्मा में अद्वितीयता या पूर्णता विशेषण नहीं हैं, स्वरूप ही है; अथवा यों कहें कि अपूर्णता और सद्वितीयता के भ्रम को निवृत्त करने के लिये शास्त्रों द्वारा आत्मा का यह वर्णन भी अध्यारोपित है। आत्मा व

अनात्मा का: भेद अर्थात् अपनी सत्ता से पृथक् किसी भी सत्ता की कल्पना व्यक्तित्वमूलक ही है। व्यक्तित्व का अभिमान ही द्वैतबुद्धि को उत्पन्न करता है। यह अभिमान परमार्थ सत्य के अज्ञान से ही है। इस अज्ञान की निवृत्ति के लिये ही शास्त्रों का अश्रान्त परिश्रम रहा है।

साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति ही वेदान्त-श्रवण का अधिकारी है ऐसा आग्रह रखने पर यह भी शंका उपस्थित हो सकती है कि ऐसे साधनसम्पन्न मुमुक्षु अधिकारी के अभाव में वेदान्त-विद्या का विचार, पठन, पाठन सब बेकार है। जिनके लिये 'असाधक' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उनकी मनोवृत्ति का विश्लेषण करना भी उचित होगा। असाधक वह है, जो विषयसुख चाहता है। अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसा प्रत्येक व्यक्ति विषयसुख ही चाहता है? यह कहना तो ठीक नहीं होगा। वास्तव में लोग सुखमात्र को चाहते हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान के आधार पर विषयसुख का तो प्रत्येक को अनुभव है और व्यक्ति की स्वाभाविक सुखेच्छा उसे विषयों की ओर खींच ले जाती है। रात-दिन के प्रत्यक्ष प्रपञ्च में जब उसे विषयों में ही सुख का आभास हो रहा है तो वह तदतिरिक्त अन्य किसी मार्ग का अवलंब क्यों करेगा? सब चाहते हैं कि सुख मिले, वह सुख भी सदा मिले, सर्वत्र मिले, बिना श्रम किये मिले और सब से मिले। भले वह विषय से प्राप्त होता हो या निर्विषयक हो। वस्तुत: ऐसा विलक्षण सुख तो ब्रह्मानन्द या मोक्षसुख ही है परन्तु अज्ञान के वशीभूत होकर वह उस सुख को विनाशी, परिच्छिन्न और अनात्म विषयों में ढूंढता है। इस प्रकार वेदान्त की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य मुमुक्षु है, चाहे उसे इसका ज्ञान हो या न हो।

संसार में चार प्रकार के लोग हैं—पामर, विषयी, जिज्ञासु और मुक्त। इन में से पामर वे हैं, जो पशुओं का-सा आहार, निद्रा, भय और मैथुन का भोग भोगने में ही अपने पुरुषार्थ की इतिश्री समझते हैं। विषयी लोग शास्त्रीय बातों को जानते तो हैं परन्तु शास्त्रानुसार इस लोक और परलोक के सुखभोगों का सम्पादन करने और उन्हें भोगने के

उद्देश्य से शास्त्र के अनुसार धर्म का पालन करने में ही इनकी रुचि होती है। ये लोग वेदान्त के फल को चाहते नहीं। मुक्त पुरुषों का तो मोक्षरूप प्रयोजन सिद्ध हो चुका है। इन सब से अतिरिक्त जो बहुत सारे जिज्ञासु बचते हैं, वे सब के सब भले ही साधनचतुष्टयसम्पन्न नहीं हैं, परन्तु उनकी विषयसुख में अलंबुद्धि नहीं होती। उन्हें तो विषय के अर्जन में, भोग में और परिणाम में प्रतीत होनेवाला सारा सुखाभास कहीं-न-कहीं खटकता है। ऐसे सभी जिज्ञासु तो निश्चित् ही वेदान्त-विद्या के विचार के, व्याख्यान के अधिकारी हैं।

वेदान्त का प्रतिपादन करनेवाले सभी ग्रंथों में आत्मा और ब्रह्म की स्वतःसिद्ध एकता का ज्ञान है। इसके लिये उपनिषदों में दो प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। जो वाक्य आत्मा के और ब्रह्म के स्वरूप का और जगत् की प्रतीति का अलग-अलग वर्णन करते हैं, वे सब अवान्तर वाक्य हैं। आत्मा और ब्रह्म की एकता का वर्णन करनेवाले वाक्य महावाक्य कहलाते हैं। देहसम्बन्धी, साधन-फलसम्बन्धी या सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-लय के विषयक सारा विवेचन अवान्तर वाक्यों की श्रेणी में ही आयेगा। शुद्धान्तःकरण साधनचतुष्टयसम्पन्न मुमुक्षु तो महावाक्य-श्रवण का अधिकारी है। परन्तु अवान्तर वाक्य ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादक न होने से निरर्थक व निष्फल तो नहीं ही हैं। सामान्य जिज्ञासु इन वाक्यों का विचार करने से उत्पन्न बुद्धिवृत्ति का अन्तःकरण के शोधन में उपयोग कर सकता है।

श्रुति का कथन है 'तत्त्वमसि' अर्थात् तुम आत्मा देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म हो। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव तो यह है कि हम देह हैं, उत्पन्न हुए हैं, बढ़ हुए हैं, घिस रहे हैं और एक दिन मर भी जायेंगे। व्यक्ति अपने को वर्ण और आश्रमों में विभाजित पाता है। उसे कोई मित्र लगता है तो कोई शत्रु। श्रुत्युक्त ब्रह्मात्मैक्य तो प्रत्यक्ष ज्ञान से विपरीत होने के कारण सन्देहास्पद लगने लगता है। परन्तु श्रुति प्रत्यक्ष के विरुद्ध तो प्रमाण नहीं है।

भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य तो स्पष्ट घोषणा करते हैं—'नहि श्रुतिशतैरपि घटः पटो भवितुं शक्यः'। श्रुति के प्रतिपादन में और प्रत्यक्ष में जो विरोध प्रतीत होता है, उस का परिहार आवश्यक है। यहीं पर वेदान्तग्रंथों के अवान्तर वाक्यों की सार्थकता है। जिस प्रत्यक्ष ज्ञान को हम महत्त्व दे रहे हैं, उस की भ्रमात्मकता का इन के विचार से निश्चय हो सकेगा। हम यदि साधनचतुष्टयसम्पन्न नहीं हैं, तो उस सम्पन्नता की प्राप्ति कर अन्तःकरण का शोधन करने के लिये और यदि हम साधनसम्पन्न होकर श्रवण के बाद भी किञ्चित् प्रतिबन्धों के कारण मनन व निदिध्यासन के योग्य हैं—दोनों दशाओं में ऐसे ग्रंथों का चिन्तन लाभप्रद होगा।

भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी के भाष्य के अतिरिक्त बहुत से ऐसे ग्रंथों का प्रणयन किया, जिन्हें औपनिषदिक अवान्तर वाक्यों की कोटि में रखा जा सकता है। उनके परवर्ती अनेक महापुरुषों ने भी आत्मा का स्वरूप, ब्रह्म का स्वरूप, जगत् की भ्राजमानना आदि का पार्थक्य से विशद विवेचन किया है। वेदान्तप्रतिपादक विभिन्न प्रक्रियाओं की भी कुंजी इन स्फुट प्रकरण-ग्रंथों में मिल जाती है। परवर्ती महापुरुषों के बहुत-से ग्रंथ क्षेत्रविशेष में प्रचलित हैं तो अनेक लुप्तप्राय हैं। संकलित कुछ प्रकरणों के अद्यतन संस्करण अस्सी-नब्बे वर्ष पूर्व छपे थे। सर्वसामान्यतः यह अपेक्षा की जाती कि इन ग्रंथों की व्याख्या, कम-से-कम भाषानुवाद उपलब्ध कराया जाता। परन्तु समयाभाव के साथ-साथ ग्रंथ का कलेवर भी रोधक बना। मूल संस्कृत पाठ तो एक बार छाप दिये जायं, जिससे कि कई ग्रंथों का लुप्त होने से बचाया जा सके, इसी हेतु से ६०० से भी अधिक पृष्ठों के इस संस्करण का स्वरूप संकलनमात्र रखा गया है। प्रस्तुत संकलन में भगवत्पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्य के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकरणों के साथ अन्य अनेक ज्ञात व अज्ञात महापुरुषों के शब्दबद्ध प्रकरणों के रूप में प्रकट

हुए आत्मानुभूति के हुंकार जिज्ञासुओं के उपयोगार्थ एकत्रित किये हैं। इस संकलन के पीछे मूल कल्पना हमारे समादरणीय श्री स्वामी स्वयंप्रकाशगिरि जी की रही। परमपूज्य प्रातःस्मरणीय श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज के आशीर्वाद एवं प्रेरणा से ही यह कल्पना इतने कम समय में साकार हो सकी। पूज्य महाराजश्री जी के कृपापात्र भक्त श्री बिशनदास जी मेहता तो सारा आर्थिक भार स्वयं वहन कर इस संकलन की सहस्रावधि प्रतियों को प्रयाग कुम्भमहापर्व के अवसर पर वेदान्तस्वाध्यायरत जिज्ञासुओं में वितरित करने को उद्यत हुए। तारा मुद्रणालय के श्री रमाशङ्कर जी पण्ड्या एवं उनके सुपुत्र श्री रवि पण्ड्या का सहयोग एवं पुरुषार्थ ही इस पुस्तक को महिने भर की अल्पावधि में मुद्रित करवा पाया।

विश्वास है कि जिज्ञासुजन इस पुस्तक से लाभान्वित होकर इस प्रयास को सार्थक करेंगे। शेष भगवत्कृपा।

भवत्कीय

निश्चलानन्द सरस्वती

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ

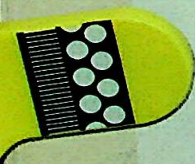
वाराणसी

अनुक्रमणिका





श्रीमद्भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य



रुद्र

(पंचम नमकाध्याय)

हरिः ॐ नमस्ते रुद्द्र मन्यवउतोत इषवे नमः ॥
बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १ ॥

याते रुद्द्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ॥
तयानस्तन्वाशन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ २ ॥

यामिषुङ्गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ॥
शिवाङ्गिरित्रताङ्कुरु माहिंसीः पुरुषञ्जगत् ॥ ३ ॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ॥
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमनाऽअसत् ॥ ४ ॥

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ॥
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव
॥ ५ ॥

असौ यस्ताम्म्रोऽअरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः ॥
येचैनं रुद्राऽअभितो दिक्षुश्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेडऽईमहे ॥ ६ ॥

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ॥
उतैनं गोपाऽअदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः सदृष्टो मृडयाति नः ॥ ७ ॥

नमो'स्तुनीलंग्ग्रीवायसहस्राक्षायंमीढुषे' ॥
अथोयेऽअंस्यसत्त्वांनोऽहन्तेभ्यो'करन्नमं॥ ८ ॥

प्रमु'ञ्चधन्वंनस्त्वमु भयोरात्न्योंज्ज्याम् ॥
याश्च्चंते हस्तऽइषंवः पराताभंगवोव्वप ॥ ९ ॥

व्विज्ज्यन्धनु'ःकपर्द्दिनोव्विशंल्ल्योबाणंवाँ२॥ऽउत ॥
अने'शन्नस्ययाऽइषंवऽआभु रंस्यनिषङ्ग धिः ॥ १० ॥

याते'हे तिम्मीं'ढुष्टमहस्ते'बभूवंते धनु'ः॥
तयास्म्मान्विश्श्वतस्त्वमंयक्ष्म्मयापरिंभुज ॥ ११ ॥

परिते धन्वंनोहे तिरस्मान्वृंणक्तुव्विश्वतंः॥
अथोयऽ इंषुधिस्तवारेऽअस्म्मन्निधे'हिनम् ॥ १२ ॥

अवतत्यधनु ष्ट्वं सहंस्राक्षशते'षुधे ॥
निशीर्य्यं'शल्यानाम्मुखा'शिवोनंःसुमनांभव ॥ १३ ॥

नमंस्तऽआयु'धायानांततायधृ ष्णवे' ॥
उभाब्भ्यांमु तते नमो'बाहुब्भ्यान्तवधन्वंने ॥ १४ ॥

मानो'महान्तंमु तमानो'ऽअर्ब्भ'कम्मानऽउक्षंन्तमु तमानंऽउक्षितम् ॥
मानो'व्वधीः पितरम्मोतंमातरम्मानंःप्प्रियास्तन्वोरुद्द्ररीरिषः ॥ १५ ॥

मानंस्तोकेतनंये मानऽआयु'षिमानोगोषु मानोऽअश्वे'षुरीरिषः ।
मानो'व्वीरान्रुद्द्रभामिनो'व्वधीर्हविष्म्मंन्तःसदमित्त्वांहवामहे ॥१६॥

नमोहिरंण्यबाहवे सेनान्येदिशाञ्चपतंये नमो नमो व्वृक्षेभ्योहरिं-
केशेभ्यः पशूनाम्पतंये नमोनमं÷शष्पिञ्जरायत्त्विषीमतेपथीना-
म्पतये नमोनमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानाम्पतंये नमोनमो-
बभ्लुशायं ॥ १७ ॥

नमो बभ्लुशायं व्व्याधिनेऽन्नांनाम्पतंये नमोनमो भवस्यंहेत्त्यै-
जगंताम्पतंये नमोनमो रुद्रायांततायिने क्षेत्रांणाम्पतंये नमोनमं÷
सूतायाहंन्त्यै व्वनांनाम्पतंये नमोनमो रोहिंताय ॥ १८ ॥

नमोरोहिंताय स्त्थपतयेव्वृक्षाणाम्पतंये नमोनमो भुवन्तये व्वारिव-
स्कृतायौपंधीनाम्पतंये नमोनमो मन्त्रिणे व्वाणिजायकक्षांणाम्पतंये
नमोनमंऽउच्चैर्घोपायाक्क्रन्दयंतेपत्तीनाम्पतंये नमोनमं÷कृत्स्ना-
यतयां ॥ १९ ॥

नमं÷कृत्स्नायतयाधावंते सत्त्वंनाम्पतंये नमोनमः सहंमानायनिव्व्या
धिनंऽआव्व्याधिनीनाम्पतंये नमोनमो निपङ्गिणे ककुभायंस्तेनाना-
म्पतंये नमो नमो निचेरवे परिचरायारंण्यानाम्पतंये नमो नमो-
व्वञ्चंते ॥ २० ॥

नमोव्वञ्चंतेपरिवञ्चंतेस्तायूनाम्पतये नमोनमो निषङ्गिणंऽइषुधिमते
तस्कंराणाम्पतंये नमोनमं÷सृकायिभ्यो जिघांᳪसद्भ्योमुष्ण-
ताम्पंतये नमोनमोऽसिमद्भ्योनक्तञ्चरंद्भ्योव्विकृन्तानाम्पतंये नमं÷
॥ २१ ॥

नमऽउष्णीषिणे गिरिचरायकुलुञ्चानाम्पतये नमोनमऽइषुमद्भ्यो-
धन्वायिभ्यश्चवोनमोनमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च-
वो नमोनमऽआयच्छद्भ्योस्यद्भ्यश्चवोनमोनमो विसृजद्भ्यः
॥ २२ ॥

नमो विसृजद्भ्योविद्ध्यद्भ्यश्चवोनमोनमः स्वपद्भ्योजाग्र-
द्भ्यश्चवोनमोनमःशयानेभ्यऽआसीनेभ्यश्चवोनमोनमस्तिष्ठ-
द्भ्यो धावद्भ्यश्चवोनमोनमः सभाभ्यः॥ २३ ॥

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्चवोनमोनमोऽश्वेभ्योऽश्वपति-
भ्यश्चवोनमोनमऽआव्याधिनीभ्योविविद्ध्यन्तीभ्यश्चवोनमो-
नमऽउगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्चवोनमो नमो गणेभ्यः॥ २४ ॥

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्चवोनमोनमोव्रातेभ्योव्रातपति-
भ्यश्चवोनमोनमोगृत्सेभ्योगृत्सपतिभ्यश्चवोनमोनमोविरूपे-
भ्योविश्वरूपेभ्यश्चवोनमोनमःसेनाभ्यः ॥ २५ ॥

नमःसेनाभ्यःसेनानिभ्यश्चवोनमोनमो रथिभ्योऽअरथेभ्यश्चवो-
नमोनमः क्षत्तृभ्यः सङ्ग्रहीतृभ्यश्चवोनमोनमो महद्भ्योऽअर्भ-
केभ्यश्चवोनमः॥ २६ ॥

नमस्तक्षभ्योरथकारेभ्यश्चवोनमोनमः कुलालेभ्यःकर्मारेभ्य-
श्चवोनमोनमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्चवोनमोनमः श्वनिभ्यो-
मृगयुभ्यश्चवोनमोनमःश्वभ्यः॥ २७ ॥

नम॒ᳪं श्वभ्य॒ᳪं श्वप॑तिभ्यश्च वो॒ नम॒ो नमो॑ भ॒वाय॑ च रु॒द्राय॑ च॒ नम॑ ॒ः
श॒र्वाय॑ च पशु॒पत॑ये च॒ नमो॒ नील॑ग्रीवाय च शिति॒कण्ठा॑य च॒ नम॑ः कप॒-
र्दिने॑ ॥ २८ ॥

नम॑ः कप॒र्दिने॑ च॒ व्युप्तकेशाय च॒ नम॑ः सह॒स्राक्षाय॑ च श॒तध॑न्वने
च॒ नमो॑ गिरिश॒याय॑ च शिपिवि॒ष्टाय॑ च॒ नमो॑ मी॒ढुष्ट॑माय॒ चेषु॑मते च॒ नमो॑-
ह्र॒स्वाय॑ ॥ २९ ॥

नमो॑ ह्र॒स्वाय॑ च वाम॒नाय॑ च॒ नमो॑ बृह॒ते च॒ वर्षी॑यसे च॒ नमो॑ वृ॒द्धाय॑ च-
स॒वृधे॑ च॒ नमोग्र्य॑ाय च प्रथ॒माय॑ च नम॑ऽआ॒शवे ॥ ३० ॥

नम॑ऽ आ॒शवे॑ चाजि॒राय॑ च॒ नम॒ᳪं शीघ्र्य॑ाय च॒ शीभ्या॑य च॒ नम॒ऽऊर्म्या॑-
य चावस्व॒न्याय च॒ नमो॑ नादे॒याय॑ च॒ द्वीप्या॑य च ॥ ३१ ॥

नमो॑ ज्ये॒ष्ठाय॑ च कनि॒ष्ठाय॑ च॒ नम॑ः पूर्व॒जाय॑ चापर॒जाय॑ च॒-
नमो॑ मध्य॒माय॑ चापग॒ल्भाय॑ च॒ नमो॑ जघ॒न्याय च॒ बुध्न्याय च॒ नम॒ᳪं सो-
भ्या॑य ॥ ३२ ॥

नम॒ᳪं सोभ्या॑य च प्रतिस॒र्याय च॒ नमो॒ याम्या॑य च॒ क्षेम्या॑य च॒ नम॒ᳪं
श्लोक्या॑य चावसा॒न्याय च॒ नम॑ऽउर्व॒र्याय च॒ खल्या॑य च॒ नमो॒ वन्या॑य
॥ ३३ ॥

नमो॒ वन्या॑य च॒ कक्ष्या॑य च॒ नम॑ः श्र॒वाय॑ च प्रतिश्र॒वाय॑ च॒ नम॑ऽआ॒शु-
षे॑णाय चा॒शुर॑थाय च॒ नम॒ᳪं शूरा॑य चावभे॒दिने॑ च॒ नमो॑ बि॒ल्मिने॑ ॥ ३४ ॥

नमो॑ बि॒ल्मिने॑ च कव॒चिने॑ च॒ नमो॑ व॒र्म्मिणे॑ च वरू॒थिने॑ च॒ नम॑ः
श्रु॒ताय॑ च श्रुतसे॒नाय॑ च॒ नमो॑ दुन्दु॒भ्याय चाहन॒न्याय च॒ नमो॑ धृ॒ष्णवे॑
॥ ३५ ॥

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च ॥ ३६ ॥

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च नमः कूप्याय ॥ ३७ ॥

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च नमो वास्तव्याय ॥ ३८ ॥

नमो वास्तव्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च नमः शङ्गवे ॥ ३९ ॥

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥४०॥

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ४१ ॥

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च नमः सिकत्याय ॥४२॥

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किꣳशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च नमो व्रज्याय ॥ ४३ ॥

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च नमः शुष्क्याय ॥४४॥

नमः शुष्क्यांय च हरित्यायचनमं÷पांᳪसव्यायचरजस्यायचनमो-
लोप्यांयचोलप्प्यायचनमऽऊर्व्यायचसूर्व्याय चनमं÷पर्णायं ॥४५॥

नमं÷पर्णायं चपर्णशदायंचनमंऽउदगुरमाणायचाभिघ्नते चनमंऽ-
आखिदतेचंप्रखिदतेचनमंऽइषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यंश्चवोनमोनमो -
वंः किरिकेभ्यो देवानांᳪ हृदंयेभ्योनमो विचिन्वत्केभ्योनमो -
विक्षिणत्केभ्योनमंऽआनिर्हतेभ्यं÷ ॥ ४६ ॥

द्रापेऽअन्धंसतस्पते दरिंद्रनीललोहित ॥
आसाम्प्रजानांमेषाम्पंशूनाम्माभेर्म्मारोङ्मोचंनः किञ्चनाममंमत् ॥४७॥

इमारुद्रायंतवसे कपर्द्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहेमती ः ॥
यथाशमसंद्द्विपदेचतुंष्पदेविश्वम्पुष्टङ्ग्रामेऽअस्मिन्ननातुरम् ॥ ४८ ॥

यातेरुद्रशिवातनूः शिवाविश्वाहांभेषजी ॥
शिवारुद्रस्यंभेषजीतयानोमृडजीवसे ॥ ४९ ॥

परिनोरुद्रस्यंहेतिर्वृणक्तुपरिंत्वेषस्यंदुर्म्मतिरघायोः ॥
अथंस्थिरामघवंद्भ्यस्तनुष्वमीढ्वंस्तोकायतनयायमृड ॥ ५० ॥

मीढुंष्टमशिवंतम । शिवोनं÷सुमनांभव ॥
परमे वृक्षऽआयुंधन्निधायकृत्तिंवसानऽआचंरपिनांकम्बिभ्रदागंहि ॥ ५१ ॥

विकिंरिद्रविलोहित । नमंस्तेऽअस्तुभगव ॥
यास्तेसहस्रᳪहेतयोन्यमस्मन्निवंपन्तुताः ॥ ५२ ॥

सुहस्राणिसहस्रशोबाह्वोस्तवहेतयः ॥
ता सामीशानोभगवःपराचीनामुखाकृधि ॥ ५३ ॥

असंख्याता सहस्राणि । येरुद्राऽअधिभूम्याम् ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५४ ॥

अस्मिन्महत्यर्णवेन्तरिक्षे भवाऽअधि ।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५५ ॥

नीलग्रीवाःशितिकण्ठादिवᳬंरुद्राऽउपश्रिताः ॥
तेषᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५६ ॥

नीलग्रीवाःशितिकण्ठाःशर्व्वाअधःक्षमाचराः ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५७ ॥

येव्वृक्षेषु । शष्पिञ्जरानीलग्रीवाव्विलोहिताः ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५८ ॥

येभूतानामधिपतयोव्विशिखासःकपर्द्दिनः ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५९ ॥

येपथाम्पथिरक्षयऽऐलवृदाऽआयुर्य्युधः ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६० ॥

येतीर्थानि । प्रचरन्तिसृकाहस्तानिषङ्गिणः ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६१ ॥

सुहस्राणिसहस्त्रशोवाह्वोस्तवहेतयः ॥
ता सामीशा नोभगवः पराचीनामुखाकृधि ॥ ५३ ॥

असंख्याताःसहस्राणि । येरुद्राऽअधिभूम्याम् ॥
तेषांᳯसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५४ ॥
अस्मिन्महत्यर्णवेन्तरिक्षे भवाऽअधि ।
तेषांᳯसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५५ ॥
नीलग्रीवाः शितिकण्ठादिवᳯरुद्राऽउपश्रिताः ॥
तेषᳯसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५६ ॥
नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाअधःक्षमाचराः ॥
तेषाᳯसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५७ ॥
येवृक्षेषु । शष्पिञ्जरानीलग्रीवाविलोहिताः ॥
तेषाᳯसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५८ ॥
येभूतानामधिपतयोविशिखासः कपर्दिनः ॥
तेषाᳯसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५९ ॥
येपथाम्पथिरक्षयऽऐलवृदाऽआयुर्युधः ॥
तेषाᳯसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६० ॥
येतीर्थानि । प्रचरन्तिसृकाहस्तानिषङ्गिणः ॥
तेषाᳯसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६१ ॥

येन्नेषु। व्विविद्ध्यन्तिपात्रेषुपिबतोजनान् ॥
तेषांᳬसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६२ ॥

यऽएतावन्तश्चभूयाᳬसश्चदिशो रुद्राव्वितस्थिरे ॥
तेषाᳬसहस्रयोजनेवधन्वा नितन्मसि ॥ ६३ ॥

नमो स्तु। रुद्रेब्भ्योयेदिविदंयां व्वर्षमिषवः ॥

तेब्भ्योदशप्प्राचीर्दशदक्षिणादशंप्प्रतीचीर्द्दशोदो चीर्द्दशोर्ध्वाः ॥
तेब्भ्योनमो ऽअस्तुतेनो वन्तु तेनो मृडयन्तुते
यन्द्विष्म्मोयश्चनोद्द्वेष्टितम षाञ्जम्भेदध्मः ॥ ६४ ॥

नमो स्तु। रुद्रेब्भ्योयेन्तारक्षे येषांव्वातऽइषवः ॥

तेब्भ्योदशप्प्राचीर्द्दशदक्षिणादश प्प्रतीचीर्द्दशोदो चीर्द्दशोर्ध्वाः ॥
तेब्भ्योनमोऽअस्तु तेनोवन्तुतेनो मृडयन्तु तेयन्द्विष्म्मो-
यश्चनोद्द्वेष्टितमे षाञ्जम्भे दध्मः ॥ ६५ ॥

नमो स्तु रुद्रेब्भ्योयेपृथिव्यांयेषा मन्नमिषवः ॥
तेब्भ्योदशप्प्राचीर्द्दशदक्षिणादशंप्प्रतीचीर्द्दशोदी चीर्द्दशोर्ध्वाः ॥
तेब्भ्योनमो ऽअस्तुतेनो वन्तुतेनो मृडयन्तुतेयन्द्विष्म्मो-
यश्चनोद्द्वेष्टितमेषाञ्जम्भे दध्मः ॥ ६६ ॥

इति रुद्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥

माण्डूक्योपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः॥

भद्रं नो अपि वातय मनः॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥१॥

सर्वꣳ ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥२॥

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः॥३॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः॥४॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥५॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥६॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥७॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादाऽकार उकारो मकार इति ॥८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वा, उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तर्ति समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा।
मिनोति ह वा इद ँ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥

इति माण्डूक्योपनिषत् ॥

कैवल्योपनिषत्

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच। अधीहि भगवन्ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्। यथा चिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान् ॥१॥

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि।
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥२॥

परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति।
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ॥३॥

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।
विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः ॥४॥

अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य।
हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ॥५॥

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दरूपमद्भुतम् ॥६॥

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥७॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमा ॥८॥

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥९॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥१०॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पापं दहति पण्डितः ॥११॥

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति ॥१२॥

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पित जीवलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥१३॥

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततः सुजातं सकलं विचित्रम् ॥१४॥

आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च ॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥१५॥

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं सत्त्वमेव त्वमेव तत् ॥१६॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥१७॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥१८॥

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥

॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥१॥

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् ॥२॥

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥३॥

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥४॥

समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्। यः शतरुद्रीयमधीते सोऽग्निपूतो भवति, स वायुपूतो भवति, स आत्मपूतो भवति, स सुरापानात्पूतो भवति, स ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति, स सुवर्णस्तेयात् पूतो भवति, स कृत्याकृत्यात् पूतो भवति। तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्यत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत्। अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्। तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते कैवल्यं पदमश्नुत इति ॥५॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

॥ इति कैवल्योपनिषत् ॥

शिवाथर्वशीर्षम् ।

श्रीगणेशाय नमः ॥ शिवउपनिषदि ॐ देवा ह वै स्वर्गलोकमयंस्ते रुद्रमपृच्छन् ! को भवानिति । सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासोद्वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति । सोऽन्तरा-दन्तरं प्राविशद्दिशश्चान्तरं प्राविशत्सोऽहं नित्यानित्यो व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माब्रह्माहं प्राञ्चः प्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणाञ्च उदञ्चोहमधश्चोर्ध्वश्चाहं दिशश्चाप्रतिदिशश्चाहं पुमान् स्त्रियश्च हंसाविश्यहं गायत्र्यहं त्रिष्टुब्ज-गत्यनुष्टुम्नाहं छंदोऽहं सत्योऽहं गार्हपत्योदक्षिणाग्निराहवनीयोऽहं गौरहं गौर्यमृगहं यजुरहं सामाहमथर्वाङ्गिरसोऽहं ज्येष्ठोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोहऽमापोहं तेजोऽहं गुह्योऽहमरण्योऽहमक्षरमहं क्षरमहं पुष्कर-महं पवित्रमहमुग्रञ्च वलिश्च पुरस्ताज्ज्योतिरित्यहमेव सर्वेभ्यो मामेव स सर्वः समायो मां वेद स देवान् वेद सर्वांश्च वेदान् साङ्गानपि ब्रह्मब्रह्माणेश्च गांगोभिर्ब्राह्मणेन हविर्हविषा आयुरा-युषा सत्यं सत्येन धर्मेण धर्मं तर्पयामि स्वेन तेजसा । ततो ह वै ते देवा रुद्रमपृच्छन् । ते देवा रुद्रमपश्यन् ते देवा रुद्रमध्यायन् ते देवा-ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुवन्ति ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः ॥१॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चविष्णुस्तस्मै वै नमो नमः ॥२॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च स्कंदस्तस्मै० ॥३॥ यो वै रुद्रः सभगवान् यश्चेन्द्रस्तस्मै० ॥४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्य-श्चाग्निस्तस्मै० ॥५॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च वायुस्त० ॥६॥ ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चसूर्यस्तस्मै० ॥७॥ यो वै रुद्रः सभगवान् यश्च सोमस्तस्मै० ॥८॥ यो वै रुद्रः स भगवान् येऽष्टौ ग्रहास्तस्मै० ॥९॥ यो वै रुद्रः स भगवान् ये चाष्टौ प्रतिग्रहास्तस्मै० ॥१०॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चभूस्तस्मै० ॥११॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्च-

भुवस्तस्मै० ॥१२॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चस्वस्तस्मै० ॥१३॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चमहस्तस्मै० ॥१४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्-या च पृथिवी तस्मै० ॥१५॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चान्तरिक्षं तस्मै० ॥१६॥ यो वै रुद्रः स भगवान् या च द्यौस्तस्मै० ॥१७॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चापस्तस्मै० ॥१८॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्च तेजस्तस्मै० ॥१९॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च कालस्तस्मै० ॥२०॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च यमस्तस्मै० ॥२१॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चमृत्युस्तस्मै० ॥२२॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चामृतं तस्मै० ॥२३॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चाकाशं तस्मै० ॥२४॥ यो वै रुद्रः सभगवान् यच्च विश्वं तस्मै० ॥२५॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्च स्थूलं तस्मै० ॥२६॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्च सूक्ष्मं तस्मै० ॥२७॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्च शुक्लं तस्मै० ॥२८॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्च कृष्णस्तस्मै० ॥२९॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चकृत्स्नं० ॥३०॥ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्च सत्यं तस्मै० ॥३१॥ यो वै रुद्रः सभगवान् यच्च सर्वं तस्मै० ॥३२॥ भूस्ते आदिर्मध्यंभुवस्तेस्वस्तेशीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मै कस्त्वं द्विधात्रिधावृद्धिस्त्वं शांतिस्त्वं पुष्टिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणञ्च त्वं अपामसोममृता अंभूमागन्मे ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः। किमुधूर्तिरमृतं मर्त्यस्य सोमसूर्यपुरस्तात्सूक्ष्मः पुरुषः। सर्वंजगद्धितं वा एतदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं पुरुषं ग्राह्यमग्राह्येण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण वायव्यं वायव्येन ग्रसति तस्मै महाग्रासाय वै नमो नमः। हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः। हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्तुसः। तस्योत्तरतः शिरोदक्षिणतः पादो य उत्तरतः स ओङ्कारः य ओङ्कारः स प्रणवः यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्वव्यापी सोऽनन्तः योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तच्छुक्लं यच्छुक्लं यत्सूक्ष्मं तद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म। यत् परं ब्रह्म

स एकः य एकः स रुद्रः यो रुद्रः स ईशानः य ईशानः स भगवान् महेश्वरः ॥३॥ अथ कस्मादुच्यते ओङ्कारः यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओङ्कारः। अथ कस्मादुच्यते प्रणवः। यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुः सामाथर्वाङ्गिरस ब्रह्म-ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः। अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव यथास्नेहेन पलालपिण्ड-मिव शान्तरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तोव्यतिषक्तश्च तस्मादुच्यते सर्व-व्यापी। अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तः यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्व-मधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः। अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसार महाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्। अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्रन्दते विलमोयति च तस्मादुच्यते शुक्लम्। अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभि-मृशयति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्। अथकस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महति तपसि द्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम्। अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात्परमपरं परायणञ्च वृहद्वृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म। अथ कस्मादुच्यते एकः यः सर्वान्प्राणान् संभक्ष्य संभक्षणेनाजः संसृजति विसृजति तीर्थमेके व्रजन्ति तीर्थमेके दक्षिणः प्रत्यञ्च उदञ्च प्राच्योऽभिव्र-जन्त्येके तेषां सर्वेषामिह सङ्गतिः साकं स एकोऽभूदन्तश्चरति प्रजानां तस्मादुच्यते एकः। अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्माद्दृषि-भिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्यरूपमुपलभ्यते तस्मादुच्यते रुद्रः। अथ कस्मादुच्यते ईशानः यः सर्वान्देवानीशते ईशानीभिर्जननीभिश्च शक्तिभिः। अभित्वा शूरणोनुमोदुग्धा इव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वदर्शमी-शानमिन्द्र तस्थुप इति तस्मादुच्यते ईशानः। अथ कस्मादुच्यते

भगवान् महेश्वरः यस्माद्भक्तान् ज्ञानेन भजत्यनुगृह्णाति च वाचं संसृजति च सर्वान् भावान् परित्यज्यात्मज्ञानेन यागैश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते स भगवान् महेश्वरः तदेतद्रुद्रचरितम् ॥४॥ एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः। एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्मै य इमांल्लोकानीशत ईशानीभिः। प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति चान्तकाले संसृज्य विश्वाभुवनानि गोप्ता॥ यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको येनेदं सर्वं विचरति सर्वम्। तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। क्षमां हित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्धया संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे। रुद्रमेकत्वमाहुः शाश्वतं वै पुराणमिषमूर्जेण पशवो नानुमायन्तम्मृत्युपाशान्। तदेतेनात्मन्नेतेनार्धचतुर्थेन मात्रेण शान्ति संसृजति। पशुपाशविमोक्षणं या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदेवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं सगच्छेत् ब्रह्मपदम्। या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदेवत्या कृष्णावर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं सगच्छेद्वैष्णवं पदम्। या सा तृतीया मात्रा ईशानदेवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं सगच्छेदीशानं पदम्। या सार्धचतुर्थी मात्रा सर्वदेवत्याऽव्यक्तीभूता खं विचरति शुद्धा स्फटिकसन्निभा वर्णनयस्तां ध्यायते नित्यं सगच्छेत्पदमनामयम्। तदेतदुपासीत मुनयो वाग्वदन्ति न तस्य ग्रहणमयं पंथाविहित उत्तरेण येन देवा यान्ति येन पितरो येन ऋषयः परमपरं परायणं चेति। बालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वेदेव जातरूपं वरेण्यम्। तमात्मस्थं ये तु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिर्भवति नोत्तरेषाम्। यस्मिन् क्रोधं याश्च तृष्णां क्षमाश्चाक्षमां हित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्धया सञ्चितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः रुद्रो हि शाश्वतेन वै पुराणेनेषमूर्जेण तपसा नियन्ताग्निरिति भस्म वायुरितिभस्मजलमिति भस्म सर्वं ह वा इदं भस्म मन एतानि-

चक्षूंषि यस्मादव्रतमिदं पाशुपतं यद्भस्मनाङ्गानि संस्पृशेत् तस्माद्ब्रह्म तदेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय ॥५॥ योऽग्नौ रुद्रो योऽश्वन्तर्य ओषधीर्वीरुधत्र्याविवेशा य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपेतस्मैरुद्राय नमोऽस्त्वग्नये। यो रुद्रोऽप्सुयोरुद्रोऽग्नौ यो रुद्रोऽश्वन्तर्यो रुद्र ओषधीर्विरुधआविवेश यो रुद्र इमाविश्वाभुवनानि च वल्पे तस्मै रुद्राय वै नमोनमः। यो रुद्रोऽप्सु यो रुद्रो ओषधीषु यो रुद्रो वनस्पतिषु येन रुद्रेण जगदूर्ध्वं धारितं पृथिवी द्विधा त्रिधा धर्त्ता धारिता नागा येऽन्तरिक्षे तस्मै रुद्राय वै नमः। मूर्धानमस्य संसेव्याप्यथर्वा हृदयञ्च यत् ॥ मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयत्यवमानोऽधिशीर्षतः। तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुज्झितः तत् प्राणोऽभिरक्षति शिरोऽन्तमथो मनः। नच दिवो देवजने गुप्ता नचान्तरिक्षाणि नच भूम इमाः। यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं तस्मादन्यन्नपरं किञ्चनास्ति। न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोत भव्यं यदासीत्। सहस्रपादेक मूर्ध्ना व्याप्तं स एवेदमावरीवर्तिभूतम्। अक्षरात् सञ्जायते कालः कालाद्व्यापक उच्यते। व्यापको हि भगवान् रुद्रो भोगायमानो यदाशेते रुद्रस्तदा संहार्यते प्रजाः उच्छ्वसिते तमो भवति तमस आपोऽश्वङ्गुल्यामथिते मथितं शिशिरे शिशिरं मथ्यमानं फेनं भवति फेनादण्डं भवत्यण्डाद् ब्रह्मा भवति ब्रह्मणो वायुः वायोरोङ्कार ओङ्कारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति अर्चयति तपः सत्यं मधुरक्षन्ति यद् ध्रुवम्। एतद्धि परमं तपः आपोज्योतीरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोन्नम इति ॥६॥ य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते। अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीत उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वैर्वेदैरनुध्यातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति।

तेन सर्वैः क्रतुभिरिष्टं भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। स चक्षुषः पंक्तिं पुनाति आसप्तमात् पुरुषयुगान्पुनातीत्याह भगवानथर्वशिरः सकृज्जप्त्वैव शुचिः स पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं जप्त्वा गणाधिपत्यमाप्नोति। तृतीयं जप्त्वैवमेवानूप्रविशन्त्यों सत्यमों सत्यमों सत्यम्।

॥ इत्यथर्ववेदे शिवाथर्वशीर्षम् ॥

उपदेशसाहस्री

(पद्यप्रबन्धः)

उपोद्घातप्रकरणम् ॥ १ ॥

चैतन्यं सर्वगं सर्वं सर्वभूतगुहाशयम् ।
यत्सर्वविषयातीतं तस्मै सर्वविदे नमः ॥१॥

समापय्य क्रियाः सर्वा दाराग्न्याधानपूर्विकाः ।
ब्रह्मविद्यामथेदानीं वक्तुं वेदः प्रचक्रमे ॥२॥

कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये ।
ध्रुवे स्यातां ततो रागो द्वेषश्चैव ततः क्रियाः ॥३॥

धर्माधर्मौ ततोऽज्ञस्य देहयोगस्तथा पुनः ।
एवं नित्यप्रवृत्तोऽयं संसारश्चक्रवद्भृशम् ॥४॥

अज्ञानं तस्य मूलं स्यादिति तद्धानमिष्यते ।
ब्रह्मविद्याऽत आरब्धा ततो निःश्रेयसं भवेत् ॥५॥

विद्यैवाज्ञानहानाय न कर्माप्रतिकूलतः ।
नाज्ञानस्याप्रहाणे हि रागद्वेषक्षयो भवेत् ॥६॥

रागद्वेषक्षयाभावे कर्म दोषोद्भवं ध्रुवम् ।
तस्मान्निःश्रेयसार्थाय विद्यैवात्र विधीयते ॥७॥

ननु कर्म तथा नित्यं कर्तव्यं जीवने सति ।
विद्यायाः सहकारित्वं मोक्षं प्रति हि तद्व्रजेत् ॥८॥

यथा विद्या तथा कर्म चोदितत्वाविशेषतः ।
प्रत्यवायस्मृतेश्चैव कार्यं कर्म मुमुक्षुभिः ॥९॥

ननु ध्रुवफला विद्या नान्यत् किंचिदपेक्षते ।
नाग्निष्टोमो यथैवान्यद्ध्रुवकार्योऽप्यपेक्षते ॥१०॥

तथा ध्रुवफला विद्या कर्म नित्यमपेक्षते ।
इत्येवं केचिदिच्छन्ति न कर्म प्रतिकूलतः ॥११॥

विद्यायाः प्रतिकूलं हि कर्म स्यात्साभिमानतः ।
निर्विकारात्मबुद्धिश्च विद्येतीह प्रकीर्तिता ॥१२॥

अहं कर्ता ममेदं स्यादिति कर्म प्रवर्तते ।
वस्त्वधीना भवेद्विद्या कर्त्रधीनो भवेद्विधिः ॥१३॥

कारकाण्युपमृद्नाति विद्या बुद्धिमिवोषरे ।
इति तत्सत्यमादाय कर्म कर्तुं व्यवस्यति ॥१४॥

विरुद्धत्वादतः शक्यं कर्म कर्तुं न विद्यया ।
सहैव विदुषा तस्मात्कर्म हेयं मुमुक्षुणा ॥१५॥

देहाद्येरविशेषेण देहिनो ग्रहणं निजम् ।
प्राणिनां तदविद्योत्थं तावत्कर्मविधिर्भवेत् ॥१६॥

नेति नेतीति देहादीनपोह्यात्माऽवशेषितः ।
अविशेषात्मबोधार्थं तेनाऽविद्या निवर्तिता ॥१७॥

निवृत्ता सा कथं भूयः प्रसूयेत प्रमाणतः ।
असत्येवाविशेषेऽपि प्रत्यगात्मनि केवले ॥१८॥

न चेद्भूयः प्रसूयेत कर्ता भोक्तेति धीः कथम् ।
सदस्मीति च विज्ञाने तस्माद्विद्याऽसहायिका ॥१९॥

अत्यरेचयदित्युक्तो न्यासः श्रुत्याऽत एव हि ।
कर्मभ्यो मानसान्तेभ्य एतावदिति वाजिनाम् ॥२०॥

अमृतत्वं श्रुतं यस्मात्त्याज्यं कर्म मुमुक्षुभिः ।
अग्निष्टोमवदित्युक्तं तत्रेदमभिधीयते ॥२१॥

नैककारकसाध्यत्वात्फलान्यत्वाच्च कर्मणः ।
विद्या तद्विपरीताऽतो दृष्टान्तो विषमो भवेत् ॥२२॥

कृष्यादिवत्फलार्थत्वादन्यकर्मोपबृंहणम् ।
अग्निष्टोमस्त्वपेक्षेत विद्यान्यत्किमपेक्षते ॥२३॥

प्रत्यवायस्तु तस्यैव यस्याहङ्कार इष्यते ।
अहङ्कारफलार्थित्वे विद्येते नात्मवेदिनः ॥२४॥

तस्मादज्ञानहानाय संसारविनिवृत्तये ।
ब्रह्मविद्याविधानाय प्रारब्धोपनिषत्त्वियम् ॥२५॥

सदेरुपनिपूर्वस्य क्विपि चोपनिषद्भवेत् ।
मन्दीकरणभावाच्च गर्भादेः शातनात्तथा ॥२६॥

प्रतिषेधप्रकरणम् ॥ २ ॥

प्रतिषेद्धुमशक्यत्वान्नेति नेतीति शेषितम् ।
इदं नाहमिदं नाहमित्यद्धा प्रतिपद्यते ॥१॥

अहंधीरिदमात्मोत्था वाचारम्भणगोचरा ।
निषिद्धात्मोद्भवत्वात्सा न पुनर्मानतां व्रजेत् ॥२॥

पूर्वबुद्धिमबाधित्वा नोत्तरा जायते मतिः ।
दृशिरेकः स्वयं सिद्धः फलत्वात्स न बाध्यते ॥३॥

इदं वनमतिक्रम्य शोकमोहादिदूषितम् ।
वनाद्गान्धारको यद्वत्स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥४॥

ईश्वरात्मप्रकरणम् ॥ ३ ॥

ईश्वरश्चेदनात्मा स्यान्नासावस्मीति धारयेत् ।
आत्मा चेदीश्वरोऽस्मीति विद्या साऽन्यनिवर्तिका ॥१॥

आत्मनोऽन्यस्य चेद्धर्मा अस्थूलत्वादयो मताः ।
अज्ञेयत्वेऽस्य किं तैः स्यादात्मत्वे त्वन्यधीह्नुतिः ॥२॥

मिथ्याध्यासनिषेधार्थं ततोऽस्थूलादि गृह्यताम् ।
परत्र चेन्निषेधार्थं शून्यतावर्णनं हि तत् ॥३॥

बुभुत्सोर्यदि चान्यत्र प्रत्यगात्मन इष्यते ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति चानर्थकं वचः ॥४॥

तत्त्वज्ञानस्वभावप्रकरणम् ॥ ४ ॥

अहंप्रत्ययबीजं यदहंप्रत्ययवत्स्थितम् ।
नाहंप्रत्ययवह्लुप्टं कथं कर्म प्ररोहति ॥१॥

दृष्टवच्चेत्प्ररोहः स्यान्नान्यकर्मा स इष्यते ।
तन्निरोधे कथं तत्स्यात्पृच्छामो वस्तदुच्यताम् ॥२॥

देहाद्यारम्भसामर्थ्याज्ज्ञानं सद्विषयं त्वयि ।
अभिभूय फलं कुर्यात्कर्मान्ते ज्ञानमुद्भवेत् ॥३॥

आरब्धस्य फले ह्येते भोगो ज्ञानं च कर्मणः ।
अविरोधस्तयोर्युक्तो वैधर्म्यं चेतरस्य तु ॥४॥

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।
ततः सर्वमिदं सिद्धं प्रयोगोऽस्माभिरीरितः ॥५॥

बुद्ध्यपराधप्रकरणम् ॥ ५ ॥

मूत्राशङ्को यथोदङ्को नाग्रहीदमृतं यथा ।
कर्मनाशभयाज्जन्तोरात्मज्ञानाग्रहस्तथा ॥१॥

बुद्धिस्थश्चलतीवात्मा ध्यायतीव च दृश्यते ।
नौगतस्य यथा वृक्षास्तद्वत्संसारविभ्रमः ॥२॥

नौस्थस्य प्रातिलोम्येन नगानां गमनं यथा।
आत्मनः संसृतिस्तद्वद्ध्यायतीत्येति हि श्रुतिः ॥३॥

चैतन्यप्रतिबिम्बेन व्याप्तो बोधो हि जायते।
बुद्धेः शब्दादिभिर्भासस्तेन मोमुह्यते जगत् ॥४॥

चैतन्यभास्यताहमस्तादर्थ्यं च तदस्य यत्।
इदमंशप्रहाणे न परः सोऽनुभवो भवेत् ॥५॥

विशेषापोहप्रकरणम् ॥ ६ ॥

छित्त्वा त्यक्तेन हस्तेन स्वयं नात्मा विशेष्यते।
तथा शिष्टेन सर्वेण येन येन विशेष्यते ॥१॥

तस्मात्त्यक्तेन हस्तेन तुल्यं सर्वं विशेषणम्।
अनात्मत्वेन तस्माज्ज्ञो मुक्तः सर्वविशेषणैः ॥२॥

विशेषणमिदं सर्वं साध्वलङ्करणं यथा।
अविद्याध्यस्तमतः सर्वं ज्ञात आत्मन्यसद्भवेत् ॥३॥

ज्ञातैवात्मा सदा ग्राह्यो ज्ञेयमुत्सृज्य केवलः।
अहमित्यपि यद्ग्राह्यं व्यपेताङ्गसमं हि तत् ॥४॥

यावान्स्यादिदमंशो यः स स्वतोऽन्यो विशेषणम्।
विशेषप्रक्षयो यत्र सिद्धो ज्ञश्चित्रगुर्यथा ॥५॥

इदमंशोऽहमित्यत्र त्याज्यो नात्मेति पण्डितैः।
अहं ब्रह्मेति शिष्टांशो भूतपूर्वगतेर्भवेत् ॥६॥

बुद्ध्यारूढप्रकरणम् ॥ ७ ॥

बुद्ध्यारूढं सदा सर्वं दृश्यते यत्र तत्र वा।
मया तस्मात्परं ब्रह्म सर्वज्ञश्चास्मि सर्वगः ॥१॥

यथात्मबुद्धिचाराणां साक्षी तद्वत्परेष्वपि ।
नैवापोढुं न वाऽऽदातुं शक्यस्तस्मात्परो ह्यहम् ॥२॥

विकारित्वमशुद्धत्वं भौतिकत्वं न चात्मनः ।
अशेषबुद्धिसाक्षित्वाद्बुद्धिवन्नाल्पवेदना ॥३॥

मणौ प्रकाश्यते यद्वद्रक्ताद्याकारताऽऽतपे ।
मयि संदृश्यते सर्वमातपेनेव तन्मया ॥४॥

बुद्धौ दृश्यं भवेद्बुद्धौ सत्यां नास्ति विपर्यये ।
द्रष्टा यस्मात्सदा द्रष्टा तस्माद्द्वैतं न विद्यते ॥५॥

अविवेकात् पराभावं यथा बुद्धिरवेत्तथा ।
विवेकात्तु परादन्यः स्वयं चापि न विद्यते ॥६॥

मतिविलापनप्रकरणम् ॥ ८ ॥

चितिः स्वरूपं स्वत एव मे मते रसादियोगस्तव मोहकारितः ।
अतो न किञ्चित्तव चेष्टितेन मे फलं भवेत्सर्वविशेषहानतः ॥१॥

विमुच्य मायामयकार्यतामिह प्रशान्तिमायाह्यसदीहितात्सदा ।
अहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तवत्तथाऽजमेकं द्वयवर्जितं यतः ॥२॥

सदा च भूतेषु समोऽस्मि केवलो यथा च खं सर्वगमक्षरं शिवम् ।
निरन्तरं निष्कलमक्रियं परं ततो न मेऽस्तीह फलं तवेहितैः ॥३॥

अहं ममैको न मदन्यदिष्यते तथा न कस्याप्यहमस्म्यसङ्गतः ।
असङ्गरूपोऽहमतो न मे त्वया कृतेन कार्यं तव चाद्वयत्वतः ॥४॥

फले च हेतौ च जनो विषक्तवान् इति प्रचिन्त्याहमतो विमोक्षणे ।
जनस्य संवादमिमं प्रक्लृप्तवान् स्वरूपतत्त्वार्थविबोधकारणम् ॥५॥

संवादमेतं यदि चिन्तयेन्नरो विमुच्यतेऽज्ञानमहाभयागमात् ।
विमुक्तकामश्च तथा जनः सदा चरत्यशोकः सम आत्मवित्सुखी ॥६॥

सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरणम् ॥ ९ ॥

सूक्ष्मताव्यापिते ज्ञेये गन्धादेरुत्तरोत्तरम् ।
प्रत्यगात्मावसानेषु पूर्वंपूर्वंप्रहाणतः ॥१॥

शारीरा पृथिवी तावद्यावद्बाह्या प्रमाणतः ।
अम्ब्वादीनि च तत्त्वानि तावज्ज्ञेयानि कृत्स्नशः ॥२॥

वाय्वादीनां यथोत्पत्तेः पूर्वं खं सर्वगं तथा ।
अहमेकः सदा शुद्धश्चिन्मात्रः सर्वगोऽद्वयः ॥३॥

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये प्राणिनो मम पूः स्मृताः ।
कामक्रोधादयो दोषा जायेरन्मे कुतोऽन्यतः ॥४॥

भूतदोषैः सदाऽस्पृष्टं सर्वभूतस्थमीश्वरम् ।
नीलं व्योम यथा बालो दुष्टं मां वीक्षते जनः ॥५॥

मच्चैतन्यावभास्यत्वात्सर्वप्राणिधियां सदा ।
पूर्मम प्राणिनः सर्वे सर्वज्ञस्य विपाप्मनः ॥६॥

जनिमज्ज्ञानविज्ञेयं स्वप्नज्ञानवदिष्यते ।
नित्यं निर्विषयं ज्ञानं तस्माद्द्वैतं न विद्यते ॥७॥

ज्ञातुर्ज्ञातिर्हि नित्योक्ता सुषुप्ते त्वन्यशून्यतः ।
जाग्रज्ज्ञातिस्त्वविद्यातस्तद्ग्राह्यं चासदिष्यताम् ॥८॥

रूपवत्त्वाद्यसत्त्वान्न दृष्ट्यादेः कर्मता यथा ।
एवं विज्ञानकर्मत्वं भूम्नो नास्तीति गम्यते ॥९॥

दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरणम् ॥ १० ॥

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त ॐ ॥१॥

दृषिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको न मेऽस्ति कश्चिद्विषयः स्वभावतः।
पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्च सर्वतः सम्पूर्णभूमा त्वज आत्मनि स्थितः ॥२॥
अजोऽमरश्चैव तथाऽजरोऽमृतः स्वयंप्रभः सर्वगतोऽहमद्वयः।
न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैकतृप्तश्च ततो विमुक्त ॐ ॥३॥
सुषुप्तजाग्रत्स्वपतश्च दर्शनं न मेऽस्ति किञ्चित्तु मतेर्हि मोहनम्।
स्वतश्च तेषां परतोऽप्यसत्त्वतस्तुरीय एवास्मि सदा दृगद्वयः ॥४॥
शरीरबुद्धीन्द्रियदुःखसंततिर्न मे न चाहं मम निर्विकारतः।
असत्त्वहेतोश्च तथैव संततेरसत्त्वमस्याः स्वपतो हि दृश्यवत् ॥५॥
इदं तु सत्यं मम नास्ति विक्रिया विकारहेतुर्न हि मेऽद्वयत्वतः।
न पुण्यपापे न च मोक्षबन्धने न चास्ति वर्णाश्रमताऽशरीरतः ॥६॥
अनादितो निर्गुणतो न कर्म मे फलं च तस्मात्परमोऽहमद्वयः।
यथा नभः सर्वगतं न लिप्यते तथा ह्यहं देहगतोऽपि सूक्ष्मतः ॥७॥
सदा च भूतेषु समोऽहमीश्वरः क्षराक्षराभ्यां परमो ह्यथोत्तमः।
परात्मतत्त्वं च तथाऽद्वयोऽपि सन् विपर्ययेणाभिमतस्त्वविद्यया ॥८॥
अविद्यया भावनया च कर्मभिर्विविक्त आत्माऽव्यवधिः सुनिर्मलः।
दृगादिशक्तिप्रचितोऽहमद्वयः स्थितः स्वरूपे गगनं यथाऽचलम् ॥९॥
अहं परं ब्रह्म विनिश्चयात्मदृङ् न जायते भूय इति श्रुतेर्वचः।
न चैव बीजेऽप्यसति प्रजायते फलं न जन्मास्ति ततो ह्यमोहता ॥१०॥
ममेदमित्थं च तथेदमीदृशं तथाहमेवं न परो न वान्यथा।
विमूढतैवं न जनस्य कल्पना सदा समे ब्रह्मणि चाद्वये शिवे ॥११॥
यदद्वयं ज्ञानमतीव निर्मलं महात्मनां तत्र न शोकमोहता।
तयोरभावे न हि जन्म कर्म वा भवेदयं वेदविदां विनिश्चयः ॥१२॥
सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं तु पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ।१३।

इतीदमुक्तं परमार्थदर्शनं मया हि वेदान्तविनिश्चितं परम् ।
विमुच्यतेऽस्मिन् यदि निश्चितो भवेन्न लिप्यते व्योम इवेह कर्मभिः ।।१४।

ईक्षितृत्वप्रकरणम् ।। ११ ।।

ईक्षितृत्वं स्वतःसिद्धं जन्तूनां च ततोऽन्यता ।
अज्ञानादित्यतोऽन्यत्वं सदसीति निवर्त्यते ।।१।।

एतावद्ध्यमृतत्वं न किंचिदन्यत्सहायकम् ।
ज्ञानस्येति ब्रुवच्छास्त्रं सलिङ्गं कर्म बाधते ।।२।।

सर्वेषां मनसो वृत्तमविशेषेण पश्यतः ।
तस्य मे निर्विकारस्य विशेषः स्यात्कथंचन ।।३।।

मनोवृत्तं मनश्चैव स्वप्नवज्जाग्रतीक्षितुः ।
संप्रसादे द्वयासत्त्वाच्चिन्मात्रः सर्वगोऽव्ययः ।।४।।

स्वप्नः सत्यो यथाऽऽबोधाद्देहात्मत्वं तथैव च ।
प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वं जाग्रत्स्यादात्मवेदनात् ।।५।।

व्योमवत्सर्वभूतस्थो भूतदोषैर्विवर्जितः ।
साक्षी चेताऽगुणः शुद्धो ब्रह्मैवास्मि स केवलः ।।६।।

नामरूपक्रियाभ्योऽन्यो नित्यमुक्तस्वरूपवान् ।
अहमात्मा परं ब्रह्म चिन्मात्रोऽहं सदाऽद्वयः ।।७।।

अहं ब्रह्मास्मि कर्ता च भोक्ता चास्मीति ये विदुः ।
ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाः स्युर्न संशयः ।।८।।

धर्माधर्मफलैर्योग इष्टोऽदृष्टो यथाऽऽत्मनः ।
शास्त्राद्ब्रह्मत्वमप्यस्य मोक्षो ज्ञानात्तथेष्यताम् ।।९।।

या माहारजनाद्यास्ता वासनाः स्वप्नदर्शिभिः ।
अनुभूयन्त एवेह ततोऽन्यः केवलो दृशिः ।।१०।।

कोशादिव विनिष्कृष्टः कार्यकारणवर्जितः ।
यथाऽसिर्दृश्यते स्वप्ने तद्वद्बोद्धा स्वयंप्रभः ॥११॥

आपेषात्प्रतिबुद्धस्य ज्ञस्य स्वाभाविकं पदम् ।
उक्तं नेत्यादिवाक्येन कल्पितस्यापनेतृणा ॥१२॥

महाराजादयो लोका मयि यद्वत्प्रकल्पिताः ।
स्वप्ने, तद्वद्द्वयं विद्याद्रूपं वासनया सह ॥१३॥

देहलिङ्गात्मना कार्या वासनारूपिणा क्रियाः ।
नेति नेत्यात्यरूपत्वान्न मे कार्या क्रिया क्वचित् ॥१४॥

न ततोऽमृतताऽऽशास्ति कर्मणोऽज्ञानहेतुतः ।
मोक्षस्य ज्ञानहेतुत्वान्न तदन्यदपेक्षते ॥१५॥

अमृतं चाभयं नार्तं नेतीत्यात्मा प्रियो मम ।
विपरीतमतोऽन्यद्यत् त्यजेत्तत्सक्रियं ततः ॥१६॥

प्रकाशप्रकरणम् ॥ १२ ॥

प्रकाशस्थं यथा देहं सालोकमभिमन्यते ।
द्रष्ट्राभासं तथा चित्तं द्रष्टाऽहमिति मन्यते ॥१॥

यदेव दृश्यते लोके तेनाभिन्नत्वमात्मनः ।
प्रपद्यते ततो मूढस्तेनात्मानं न विन्दति ॥२॥

दशमस्य नवात्मत्वप्रतिपत्तिवदात्मनः ।
दृश्येषु तद्वदेवायं मूढो लोको न चान्यथा ॥३॥

त्वं कुरु त्वं तदेवेति प्रत्ययावेककालिको ।
एकनीडो कथं स्यातां विरुद्धो न्यायतो वद ॥४॥

देहाभिमानिनो दुःखं नादेहस्य स्वभावतः ।
स्वापवत्तत्प्रहाणाय तत्त्वमित्युच्यते दृशेः ॥५॥

दृशेश्छाया यदाऽऽरूढा मुखच्छायेव दर्शने ।
पश्यंस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते ॥६॥

तं च मूढं च यद्यन्यं प्रत्ययं वेत्ति नो दृशेः ।
स एव योगिनां श्रेष्ठो नेतरः स्यान्न संशयः ॥७॥

विज्ञातेर्यस्तु विज्ञाता स त्वमित्युच्यते यतः ।
स स्यादनुभवस्तस्य ततोऽन्योऽनुभवो मृषा ॥८॥

दृशिरूपे सदा नित्ये दर्शनादर्शने मयि ।
कथं स्यातां ततो नान्य इष्यतेऽनुभवस्ततः ॥९॥

यत्स्थस्तापो रवेर्देहे दृशेः स विषयो यथा ।
सत्त्वस्थस्तद्वदेवेह दृशेः स विषयस्तथा ॥१०॥

प्रतिषिद्धेदमंशो ज्ञः खमिवैकरसोऽद्वयः ।
नित्यमुक्तः सदा शुद्धः ब्रह्मास्मि केवलः ॥११॥

विज्ञातुर्नैव विज्ञाता परोऽन्यः संभवत्यतः ।
विज्ञाताऽहं परो मुक्तः सर्वभूतेषु सर्वदा ॥१२॥

यो वेदालुप्तदृष्टित्वमात्मनोऽकर्तृतां यथा ।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः ॥१३॥

ज्ञातैवाहमविज्ञेयः शुद्धो मुक्तः सदेत्यपि ।
विवेकी प्रत्ययो बुद्धेर्दृश्यत्वान्नाशवान्यतः ॥१४॥

अलुप्ता त्वात्मनो दृष्टिर्नोत्पाद्या कारकैर्यतः ।
दृश्यया चान्यया दृष्ट्या जन्यताऽस्याः प्रकल्पिता ॥१५॥

देहात्मबुद्ध्यपेक्षत्वादात्मनः कर्तृता मृषा ।
नैव किंचित्करोमीति सत्या बुद्धिः प्रमाणजा ॥१६॥

कर्तृत्वं कारकापेक्षमकर्तृत्वं स्वभावतः ।
कर्ता भोक्तेति विज्ञानं मृषैवेति सुनिश्चितम् ॥१७॥

एवं शास्त्रानुमानाभ्यां स्वरूपेऽवगते सति ।
नियोज्योऽहमिति ह्येषा सत्या बुद्धिः कथं भवेत् ॥१८॥

यथा सर्वान्तरं व्योम व्योम्नोऽप्यभ्यन्तरो ह्यहम् ।
निर्विकारोऽचलः शुद्धोऽजरो मुक्तः सदाऽद्वयः ॥१९॥

अचक्षुष्ट्वप्रकरणम् ॥ १३ ॥

अचक्षुष्ट्वान्न दृष्टिर्मे तथाऽश्रोत्रस्य का श्रुतिः ।
अवाक्त्वान्न तु वक्तिः स्यादमनस्त्वान्मतिः कुतः ॥१॥

अप्राणस्य न कर्मास्ति बुद्ध्यभावे न वेदिता ।
विद्याविद्ये ततो न स्तश्चिन्मात्रज्योतिषो मम ॥२॥

नित्यमुक्तस्य शुद्धस्य कूटस्थस्याविचालिनः ।
अमृतस्याक्षरस्यैवमशरीरस्य सर्वदा ॥३॥

जिघत्सा वा पिपासा वा शोकमोहौ जरामृती ।
न विद्यन्तेऽशरीरत्वाद्व्योमवद्व्यापिनो मम ॥४॥

अस्पर्शत्वान्न मे स्पृष्टिर्नाजिह्वत्वाद्रसज्ञता ।
नित्यविज्ञानरूपस्य ज्ञानाज्ञाने न मे सदा ॥५॥

या तु स्यान्मानसी वृत्तिश्चाक्षुष्का रूपरञ्जना ।
नित्यमेवात्मनो दृष्ट्या नित्यया दृश्यते हि सा ॥६॥

तथाऽन्येन्द्रिययुक्ता या वृत्तयो विषयाञ्जनाः ।
स्मृती रागादिरूपा च केवलाऽन्तर्मनस्यपि ॥७॥

मानस्यस्तद्वदन्यस्य दृश्यन्ते स्वप्नवृत्तयः ।
द्रष्टुर्दृष्टिस्ततो नित्या शुद्धाऽनन्ता च केवला ॥८॥

अनित्या साऽविशुद्धेति गृह्यतेऽत्राविवेकतः ।
सुखी दुःखी तथा चाहं दृश्ययोपाधिभूतया ॥९॥

मूढया मूढ इत्येवं शुद्धया शुद्ध इत्यपि ।
मन्यते सर्वलोकोऽयं येन संसारमृच्छति ॥१०॥

अचक्षुष्कादिशास्त्रोक्तं सबाह्याभ्यन्तरं त्वजम् ।
नित्यमुक्तमिहात्मानं मुमुक्षुश्चेत्सदा स्मरेत् ॥११॥

अचक्षुष्कादिशास्त्राच्च नेन्द्रियाणि सदा मम ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति चाथर्वणं वचः ॥१२॥

शब्दादीनामभावश्च श्रूयते मम काठके ।
अप्राणो ह्यमना यस्मादविकारी सदा ह्यहम् ॥१२॥

विक्षेपो नास्ति तस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥१४॥

अमनस्कस्य शुद्धस्य कथं तत्स्याद्द्वयं मम ।
अमनस्त्वाविकारित्वे विदेहव्यापिनो मम ॥१५॥

इत्येतद्यावदज्ञानं[तं] तावत्कार्यं ममाभवत् ।
नित्यमुक्तस्य शुद्धस्य बुद्धस्य च सदा मम ॥१६॥

समाधिर्वाऽसमाधिर्वा कार्यं चान्यत्कुतो भवेत् ।
मां हि ध्यात्वा च बुद्ध्वा च मन्यन्ते कृतकृत्यताम् ॥१७॥

अहं ब्रह्मास्मि सर्वोऽस्मि शुद्धो बुद्धोऽस्म्यतः सदा ।
अजः सर्वत एवाहमजरश्चाक्षयोऽमृतः ॥१८॥

मदन्यः सर्वभूतेषु बोद्धा कश्चिन्न विद्यते ।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः ॥१९॥

न सच्चाहं न चासच्च नोभयं केवलः शिवः ।
न मे सन्ध्या न रात्रिर्वा नाहर्वा सर्वदा दृशेः ॥२०॥

सर्वमूर्तिवियुक्तं यद्यथा खं सूक्ष्ममद्वयम् ।
तेनाप्यस्मि विना भूतं ब्रह्मैवाहं तथाऽद्वयम् ॥२१॥

३

ममात्माऽस्य त आत्मेति भेदो व्योम्नो यथा भवेत् ।
एकस्य सुषिभेदेन तथा मम विकल्पितः ॥२२॥

भेदोऽभेदस्तथा चैको नाना चेति विकल्पितः ।
ज्ञेयं ज्ञाता गतिर्गन्ता मय्येकस्मिन्कुतो भवेत् ॥२३॥

न मे हेयं न चादेयमविकारी यतो ह्यहम् ।
सदा मुक्तस्तथा शुद्धः सदा बुद्धोऽगुणोऽद्वयः ॥२४॥

इत्येवं सर्वदाऽऽत्मानं विद्यात्सर्वं समाहितः ।
विदित्वा मां स्वदेहस्थमृषिर्मुक्तो ध्रुवो भवेत् ॥२५॥

कृतकृत्यश्च सिद्धश्च योगी ब्राह्मण एव च ।
य एवं वेद तत्त्वार्थमन्यथा ह्यात्महा भवेत् ॥२६॥

वेदार्थो निश्चितो ह्येष समासेन मयोदितः ।
संन्यासिभ्यः प्रवक्तव्यः शान्तेभ्यः शिष्टबुद्धिना ॥२७॥

स्वप्नस्मृतिप्रकरणम् ॥ १४ ॥

स्वप्नस्मृत्योर्घटादेर्हि रूपाभासः प्रदृश्यते ।
पुरा नूनं तदाकारा धीर्दृष्टेत्यनुमीयते ॥१॥

भिक्षामटन्यथा स्वप्ने दृष्टो देहो न स स्वयम् ।
जाग्रद्दृश्यात्तथा देहाद्द्रष्टृत्वादन्य एव सः ॥२॥

मूषासिक्तं तथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥३॥

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥४॥

धीरेवार्थस्वरूपा हि पुंसा दृष्टा पुराऽपि च ।
न चेत्स्वप्ने कथं पश्येत्स्मरतो वाऽऽकृतिः कुतः ॥५॥

व्यञ्जकत्वं तदेवास्या रूपाद्याकारदृश्यता ।
द्रष्टृत्वं च दृशेस्तद्वद्व्याप्तिः स्याद्धि य उद्भवे ॥६॥

चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः ।
मया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो ह्यहम् ॥७॥

करणं कर्म कर्ता न क्रिया स्वप्ने फलं च धीः ।
जाग्रत्येवं यतो दृष्टा द्रष्टा तस्मादतोऽन्यथा ॥८॥

बुद्धयादीनामनात्मत्वं हेयोपादेयरूपतः ।
हानोपादानकर्ताऽऽत्मा न त्याज्यो न च गृह्यते ॥९॥

सबाह्याभ्यन्तरे शुद्धे प्रज्ञानैकरसे घने ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चान्यत्कथं हेयं प्रकल्प्यते ॥१०॥

य आत्मा नेति नेतीति परापोहेन शेषितः ।
स चेद्ब्रह्मविदात्मेष्टो यतेतातः परं कथम् ॥११॥

अशनायाद्यतिक्रान्तं ब्रह्मैवास्मि निरन्तरम् ।
कार्यवान् स्यां कथं चाहं विमृशेदेवमञ्जसा ॥१२॥

पारगस्तु यथा[दा] नद्यास्तत्स्थः पारं यियासति ।
आत्मज्ञश्चेत्तथा[दा] कार्यं कर्तुमन्यदिहेच्छति ॥१३॥

आत्मज्ञस्यापि यस्य स्याद्धानोपादानता यदि ।
न मोक्षार्हः स विज्ञेयो वान्तोऽसौ ब्रह्मणा ध्रुवम् ॥१४॥

सादित्यं हि जगत्प्राणस्तस्मान्नाहर्निशैव वा ।
प्राणज्ञस्यापि न स्यातां कुतो ब्रह्मविदोऽद्वये ॥१५॥

न स्मरेदात्मतो ह्यात्मा विस्मरेद्वाऽप्यलुप्तचित् ।
मनोऽपि स्मरतीत्येतज्ज्ञानमज्ञानहेतुजम् ॥१६॥

ज्ञातुर्ज्ञेयः परो ह्यात्मा सोऽविद्याकल्पितः स्मृतः ।
अपोढे विद्यया तस्मिन् रज्ज्वां सर्प इवाद्वयः ॥१७॥

कर्तृकर्मफलाभावात्सबाह्याभ्यन्तरं ह्यजम् ।
ममाहं वेति यो भावस्तस्मिन्कस्य कुतो भवेत् ॥१८॥

आत्मा ह्यात्मीय इत्येष भावोऽविद्याप्रकल्पितः ।
आत्मैकत्वे ह्यसौ नास्ति बीजाभावे कुतः फलम् ॥१९॥

दृष्टृ श्रोतृ तथा मन्तृ विज्ञात्रेव तदक्षरम् ।
द्रष्ट्राद्यन्यन्न तद्यस्मात्तस्माद्द्रष्टाऽहमक्षरम् ॥२०॥

स्थावरं जङ्गमं चैव द्रष्टृत्वादिक्रियायुतम् ।
सर्वमक्षरमेवातः सर्वस्याऽऽत्माऽक्षरं त्वहम् ॥२१॥

अकार्यशेषमात्मानमक्रियात्मक्रियाफलम् ।
निर्ममं निरहङ्कारं यः पश्यति स पश्यति ॥२२॥

ममाहङ्कारयत्नेच्छाः शून्या एव स्वभावतः ।
आत्मनीति यदि ज्ञातमाध्वं स्वस्थाः किमीहितैः ॥२३॥

योऽहङ्कर्तारमात्मानं तथा वेत्तारमेव च ।
वेत्त्यानात्मज्ञ एवासौ योऽन्यथाज्ञः स आत्मवित् ॥२४॥

यथाऽन्यत्वेऽपि तादात्म्यं देहादिष्वात्मनो मतम् ।
तथाऽकर्तुरविज्ञानात्फलकर्मात्मताऽऽत्मनः ॥२५॥

दृष्टिः श्रुतिर्मतिर्ज्ञातिः स्वप्ने दृष्टा जनैः सदा ।
तासामात्मस्वरूपत्वादतः प्रत्यक्षताऽऽत्मनः ॥२६॥

परलोकभयं यस्य नास्ति मृत्युभयं तथा ।
तस्यात्मज्ञस्य शोच्याः स्यु सब्रह्मेन्द्रा अपीश्वराः ॥२७॥

ईश्वरत्वेन किं तस्य ब्रह्मेन्द्रत्वेन वा पुनः ।
तृष्णा चेत्सर्वतश्छिन्ना सर्वदैन्योद्भवाऽशुभा ॥२८॥

अहमित्यात्मधीर्या च ममेत्यात्मीयधीरपि ।
अर्थशून्ये यदा यस्य स आत्मज्ञो भवेत्तदा ॥२९॥

वुद्धयादौ सत्युपाधौ च तथाऽसत्यविशेषता ।
यस्त चेदात्मनो ज्ञाता तस्य कार्यं कथं भवेत् ॥३०॥

प्रसन्ने विमले व्योम्नि प्रज्ञानैकरसेऽद्वये ।
उत्पन्नात्मधियो ब्रूत किमन्यत्कार्यमिष्यते ॥३१॥

आत्मानं सर्वभूतस्थममित्रं चात्मनोऽपि यः ।
पश्यन्निच्छत्यसौ नूनं शीतीकर्तुं विभावसुम् ॥३२॥

प्रज्ञाप्राणानुकार्यात्मा छायेवाक्षादिगोचरः ।
ध्यायतीवेति चोक्तो हि शुद्धो मुक्तः स्वतो हि सः ॥३३॥

अप्राणस्यामनस्कस्य तथाऽसंसर्गिणो दृशेः ।
व्योमवद्व्यापिनो ह्यस्य कथं कार्यं भवेन्मम ॥३४॥

असमाधिं न पश्यामि निर्विकारस्य सर्वदा ।
ब्रह्मणो मे विशुद्धस्य शोध्यं नान्यद्विपाप्मनः ॥३५॥

गन्तव्यं च तथा नैव सर्वगस्याचलस्य च ।
नोर्ध्वं नाधस्तिरो वापि निष्कलस्यागुणत्वतः ॥३६॥

चिन्मात्रज्योतिषो नित्यं तमस्तस्मिन्न विद्यते ।
कथं कार्यं ममैवाद्य नित्यमुक्तस्य शिष्यते ॥३७॥

अमनस्कस्य का चिन्ता क्रिया वाऽनिन्द्रियस्य का ।
'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र' इति सत्यं श्रुतेर्वचः ॥३८॥

अकालत्वाददेशत्वाददिक्त्वादनिमित्ततः ।
आत्मनो नैव कालादेरपेक्षा ध्यायतः सदा ॥३९॥

यस्मिन्देवाश्च वेदाश्च पवित्रं कृत्स्नमेकताम् ।
व्रजेत्तन्मानसं तीर्थं यस्मिन्स्नात्वाऽमृतो भवेत् ॥४०॥

न चास्ति शब्दादिरनन्यवेदनः परस्परेणापि न चैव दृश्यते ।
परेण दृश्यास्तु यथा रसोदयस्तथैव दृश्यत्वत एव देहिकाः ॥४१॥

अहंममेत्येषणयत्नविक्रियासुखादयस्तद्वदिह प्रदृश्यतः ।
दृश्यत्वयोगाच्च परस्परेण ते न दृश्यतां यान्ति ततः परो भवान् ॥४२॥

अहंक्रियाद्या हि समस्तविक्रिया सकर्तृका कर्मफलेन संहता ।
चितिस्वरूपेण समन्ततोऽर्कवत् प्रकाश्यमानाऽसिततात्मनो ह्ययः ॥४३॥

दृशिस्वरूपेण हि सर्वदेहिनां वियद्यथा व्याप्य मनांस्यवस्थितः ।
अतो न तस्मादपरोऽस्ति वेदिता परोऽपि तस्मादत एक ईश्वरः ॥४४॥

शरीरबुद्ध्योर्यदि चान्यदृश्यता निरात्मवादाः सुनिराकृता मया ।
परश्च शुद्धो ह्यविशुद्धिकर्मतः सुनिर्मलः सर्वगतोऽसितोऽद्वयः ॥४५॥

घटादिरूपं यदि तेन गृह्यते मनः प्रवृत्तं बहुधा स्ववृत्तिभिः ।
अशुद्ध्यचिद्रूपविकारदोषता मतेर्यथा वारयितुं न पार्यते ॥४६॥

यथा विशुद्धं गगनं निरन्तरं न सज्जते नापि च लिप्यते यथा ।
समस्तभूतेषु सदैव तेष्वयं समः सदात्मा ह्यजरोऽमरोऽभयः ॥४७॥

अमूर्तमूर्तानि च कर्मवासना दृशिस्वरूपस्य बहिः प्रकल्पिताः ।
अविद्यया ह्यात्मनि मूढदृष्टिभिरपोह्य नेतीत्यवशेषितो दृशिः ॥४८॥

प्रबोधरूपं मनसोऽर्थयोगजं स्मृतौ च सुप्तस्य च दृश्यतेऽर्थवत् ।
तथैव देहप्रतिमानतः पृथग्दृशेः शरीरं च मनश्च दृश्यतः ॥४९॥

स्वभावशुद्धे गगने घनादिके मलेऽपयाते सति चाविशेषता ।
यथा च तद्वच्छ्रुतिवारितद्वये सदाऽविशेषो गगनोपमे दृशौ ॥५०॥

नान्यदन्यत्प्रकरणम् ॥१५॥

नान्यदन्यद्भवेद्यस्मान्नान्यत्किंचिद्विचिन्तयेत् ।
अन्यस्यान्यत्वभावे हि नाशस्तस्य ध्रुवो भवेद् ॥१॥

स्मरतो दृश्यते दृष्टं पटे चित्रमिवार्पितम् ।
यत्र येन च तौ ज्ञेयौ सत्त्वक्षेत्रज्ञसंज्ञकौ ॥२॥

फलान्तं चानुभूतं यद्युतं कर्त्रादिकारकैः ।
स्मर्यमाणं हि कर्मस्थं पूर्वं कर्मैव तच्चितः ॥३॥

द्रष्टुश्चान्यद्भवेद्दृश्यं दृश्यत्वाद्घटवत्सदा ।
दृश्याद्द्रष्टाऽसजातीयो न धीवत्साक्षिताऽन्यथा ॥४॥

स्वात्मवृद्धिमपेक्ष्यासौ विधीनां स्यात्प्रयोजकः ।
जात्यादिः शववत्तेन तद्वन्नानात्मताऽन्यथा ॥५॥

न प्रियाप्रिय इत्युक्तेनदिहत्वं क्रियाफलम् ।
देहयोगः क्रियाहेतुस्तस्माद्विद्वान् क्रियास्त्यजेत् ॥६॥

कर्मस्वात्मा स्वतन्त्रश्चेन्निवृत्तौ च तथेष्यताम् ।
अदेहत्वे फलेऽकार्ये ज्ञाते कुर्यात्कथं क्रियाः ॥७॥

जात्यादीन्संपरित्यज्य निमित्तं कर्मणां बुधः ।
कर्महेतुविरुद्धं यत्स्वरूपं शास्त्रतः स्मरेत् ॥८॥

आत्मैकः सर्वभूतेषु तानि तस्मिश्च खे यथा ।
पर्यगाद्व्योमवत्सर्वं शुक्रं दीप्तिमदिष्यते ॥९॥

व्रणस्नाय्वोरभावेन स्थूलं देहं निवारयेत् ।
शुद्धापापतयाऽलेपं लिङ्गं चाकायमित्युत ॥१०॥

वासुदेवो यथाऽश्वत्थे स्वदेहे चाब्रवीत्समम् ।
तद्वद्वेत्ति य आत्मानं समं स ब्रह्मवित्तमः ॥११॥

यथा ह्यन्यशरीरेषु ममाहन्ता न चेष्यते ।
अस्मिंश्चापि तथा देहे धीसाक्षित्वाविशेषतः ॥१२॥

रूपसंस्कारतुल्याधी रागद्वेषौ भयं च यत् ।
गृह्यते धीश्रयं तस्माज्ज्ञाता शुद्धोऽभयः सदा ॥१३॥
यन्मनास्तन्मयोऽन्यत्वे नात्मत्वाप्तौ क्रियाऽऽत्मनि ।
आत्मत्वे चानपेक्षत्वात्सापेक्षं हि न तत्स्वयम् ॥१४॥

खमिवैकरसा ज्ञप्तिरविभक्ताऽजराऽमला ।
चक्षुराद्युपधाना सा विपरीता विभाव्यते ॥१५॥

दृश्यत्वादहमित्येष नात्मधर्मो घटादिवत् ।
तथाऽन्ये प्रत्यया ज्ञेया दोषाश्चात्माऽमलो ह्यतः ॥१६॥

सर्वप्रत्ययसाक्षित्वादविकारि च सर्वगः ।
विक्रियेत यदि द्रष्टा बुद्ध्यादीवाल्पविन्द्भवेत् ॥१७॥

न दृष्टिर्लुप्यते द्रष्टुश्चक्षुरादेर्यथैव तत् ।
नहि द्रष्टुरिति ह्युक्तं तस्माद्द्रष्टा सदैकदृक् ॥१८॥

सङ्घातो वाऽस्मि भूतानां करणानां तथैव च ।
व्यस्तं वाऽन्यतमो वाऽस्मि को वाऽस्मीति विचारयेत् ॥१९॥

व्यस्तं नाहं समस्तं वा भूतमिन्द्रियमेव वा ।
ज्ञेयत्वात्करणत्वाच्च ज्ञाताऽन्योऽस्माद्घटादिवत् ॥२०॥

आत्माग्नेरिन्धना बुद्धिरविद्याकामकर्मभिः ।
दीपिता प्रज्वलत्येषा द्वारैः श्रोत्रादिभिः सदा ॥२१॥

दक्षिणाक्षिप्रधानेषु यदा बुद्धिर्विचेष्टते ।
विषयैर्हविषा दीप्ता ह्यात्माग्निः स्थूलभुक्तदा ॥२२॥

हूयन्ते तु हवींषीति रूपादिग्रहणे स्मरन् ।
अरागद्वेष आत्माग्नौ जाग्रद्दोषैर्न लिप्यते ॥२३॥

मानसे तु गृहे व्यक्तः सोऽविद्याकर्मवासनाम् ।
पश्यंस्तैजस आत्मोक्तः स्वयंज्योतिः प्रकाशिता ॥२४॥

विषया वासना वापि चोद्यन्ते नैव कर्मभिः ।
यदा बुद्धौ तदा ज्ञेयः प्राज्ञ आत्मा ह्यनन्यदृक् ॥२५॥

मनोबुद्धीन्द्रियाणां च ह्यवस्थाः कर्मचोदिताः ।
चैतन्येनैव भास्यन्ते रविणेव घटादयः ॥२६॥

तत्रैवं सति बुद्धीज्ञं आत्मभासाऽवभासयन् ।
कर्ता तासां यदर्थास्ता मूढैरेवाभिधीयते ॥२७॥

सर्वज्ञोऽप्यत एव स्यात्स्वेन भासाऽवभासयन् ।
सर्वं सर्वक्रियाहेतोः सर्वकृत्त्वं तथाऽऽत्मनः ॥२८॥

सोपाधिश्चैवमात्मोक्तो निरुपाख्योऽनुपाधिकः ।
निष्कलो निर्गुणः शुद्धस्तं मनो वाक्च नाप्नुतः ॥२९॥

चेतनोऽचेतनो वापि कर्ताऽकर्ता गतोऽगतः ।
बद्धो मुक्तस्तथा चैकोऽनेकः शुद्धोऽन्यथेति वा ॥३०॥

अप्राप्यैव निवर्तन्ते वाचो धीभिः सहैव तु ।
निर्गुणत्वात् क्रियाभावाद्विशेषाणामभावतः ॥३१॥

व्यापकं सर्वतो व्योम मूर्तैः सर्वैर्वियोजितम् ।
यथा तद्वदिहात्मानं विद्याच्छुद्धं परं पदम् ॥३२॥

दृष्टं हित्वा स्मृतिं तस्मिन्सर्वग्रश्च तमस्त्यजेत् ।
सर्वदृग्ज्योतिषा युक्तो दिनकृच्छार्वरं यथा ॥३३॥

रूपस्मृत्यन्धकारार्थाः प्रत्यया यस्य गोचराः ।
स एवात्मा समो द्रष्टा सर्वभूतेषु सर्वगः ॥३४॥

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुर्विषयालोकसङ्गमात् ।
विचित्रो जायते बुद्धेः प्रत्ययोऽज्ञानलक्षणः ॥३५॥

विविच्यास्मात्स्वमात्मानं विद्याच्छुद्धं परं पदम् ।
द्रष्टारं सर्वभूतस्थं समं सर्वभयातिगम् ॥३६॥

समस्तं सर्वगं शान्तं विमलं व्योमवत्स्थितम् ।
निष्कलं निष्क्रियं सर्वं नित्यं द्वन्द्वैर्विवर्जितम् ॥३७॥

सर्वप्रत्ययसाक्षी ज्ञः कथं ज्ञेयो मयेत्युत ।
विमृश्यैवं विजानीयाज्ज्ञानकर्मं न वेत्ति वा ॥३८॥

अदृष्टं द्रष्टृविज्ञातं दभ्रमित्यादिशासनात् ।
नैव ज्ञेयं मयाऽन्यैर्वा परं ब्रह्म कथंचन ॥३९॥

स्वरूपाव्यवधानाभ्यां ज्ञानालोकस्वभावतः ।
अन्यज्ञानानपेक्षत्वाज्ज्ञातं चैव सदा मया ॥४०॥

नान्येन ज्योतिषा कार्यं रवेरात्मप्रकाशने ।
स्वबोधान्नान्यबोधेच्छा बोधस्यात्मप्रकाशने ॥४१॥

न तस्यैवान्यतोऽपेक्षा स्वरूपं यस्य यद्भवेत् ।
प्रकाशान्तरदृश्यो न प्रकाशो ह्यस्ति कश्चन ॥४२॥

व्यक्तिः स्यादप्रकाशस्य प्रकाशात्मसमागमात् ।
प्रकाशस्त्वकंकार्यः स्यादिति मिथ्यावचो ह्यतः ॥४३॥

यतोऽभूत्वा भवेद्यच्च तस्य तत्कार्यमिष्यते ।
स्वरूपत्वादभूत्वा न प्रकाशो जायते रवेः ॥४४॥

सत्तामात्रे प्रकाशस्य कर्ताऽऽदित्यादिरिष्यते ।
घटादिव्यक्तितो यद्वत्तद्वोधात्मनीष्यताम् ॥४५॥

बिलात्सर्पस्य निर्याणे सूर्यो यद्वत्प्रकाशकः ।
प्रयत्नेन विना तद्वज्ज्ञाताऽऽत्मा बोधरूपतः ॥४६॥

दग्धेवमुष्णः सत्तायां तद्वद्बोधात्मनीष्यताम् ।
सत्येव यदुपाधौ तु ज्ञाते सर्पे इवोत्थिते ॥४७॥

ज्ञाताऽयत्नोऽपि तद्वज्ज्ञः कर्ता भ्रामकवद्भवेत् ।
स्वरूपेण स्वयं नात्मा ज्ञेयोऽज्ञेयोऽथवा ततः ॥४८॥

विदिताविदिताभ्यां तदन्यदेवेति शासनात् ।
बन्धमोक्षादयो भावास्तद्वदात्मनि कल्पिताः ॥४९॥

नाहोरात्रे यथा सूर्ये प्रभारूपाविशेषतः ।
बोधरूपाविशेषान्न बोधाबोधौ तथाऽऽत्मनि ॥५०॥

यथोक्तं ब्रह्म यो वेद हानोपादानवर्जितम् ।
यथोक्तेन विधानेन स सत्यं नैव जायते ॥५१॥

जन्ममृत्युप्रवाहेषु पतितो नैव शक्नुयात् ।
इत उद्धर्तुमात्मानं ज्ञानादन्येन केनचित् ॥५२॥

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्ट" इति श्रुतेः ॥५३॥

ममाहमित्येतदपोह्य सर्वतो विमुक्तदेहं पदमम्बरोपमम् ।
सुदृष्टशास्त्रानुमितिभ्य ईरितं विमुच्यतेऽस्मिन्यदि निश्चितो नरः ॥५४॥

पार्थिवप्रकरणम् ॥ १६ ॥

पार्थिवः कठिनो धातुर्द्रवो देहे स्मृतोऽम्मयः ।
पक्तिचेष्टावकाशाः स्युर्वह्निवाय्वम्बरोद्भवाः ॥१॥

घ्राणादीनि तदर्थाश्च पृथिव्यादिगुणाः क्रमात् ।
रूपालोकवदिष्टं हि सजातीयार्थमिन्द्रियम् ॥२॥

बुद्ध्यर्थान्याहुरेतानि वाक्पाण्यादीनि कर्मणे ।
तद्विकल्पार्थमन्तःस्थं मन एकादशं भवेत् ॥३॥

निश्चयार्था भवेद्बुद्धिस्तां सर्वार्थानुभाविनीम् ।
ज्ञाताऽऽत्मोक्तः स्वरूपेण ज्योतिषा व्यञ्जयन्सदा ॥४॥

व्यञ्जकस्तु यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतां गतः ।
व्यतिकीर्णोऽप्यसंकीर्णस्तद्वज्ज्ञः प्रत्ययैः सदा ॥५॥

स्थितो दीपो यथाऽयत्नः प्राप्तं सर्वं प्रकाशयेत् ।
शब्दाद्याकारबुद्धीर्ज्ञः प्राप्तास्तद्वत्प्रपश्यति ॥६॥

शरीरेन्द्रियसंघात आत्मत्वेन गतां धियम् ।
नित्यात्मज्योतिषा दीप्तां विशिषन्ति सुखादयः ॥७॥

शिरोदुःखादिनाऽऽत्मानं दुःख्यस्मीति हि पश्यति ।
द्रष्टाऽन्यो दुःखिनो दृश्याद्द्रष्टृत्वाच्च न दुःख्यसौ ॥८॥

दुःखी स्याद्दुःख्यहंमानाद्दुःखिनो दर्शनान्न वा ।
संहतेऽङ्गादिभिर्द्रष्टा दुःखी दुःखस्य नैव सः ॥९॥

चक्षुर्वत्कर्मकर्तृत्वं स्याच्चेन्नानेकमेव तत् ।
संहतं च ततो नात्मा द्रष्टृत्वात्कर्मतां व्रजेत् ॥१०॥

ज्ञानयत्नाद्यनेकत्वमात्मनोऽपि मतं यदि ।
नैकज्ञानगुणत्वात्तु ज्योतिर्वत्तस्य कर्मता ॥११॥

ज्योतिषो द्योतकत्वेऽपि यद्वन्नात्मप्रकाशनम् ।
भेदेऽप्येवं समत्वाज्ज्ञ आत्मानं नैव पश्यति ॥१२॥

यद्धर्मा यः पदार्थो न तस्यैवेयात्स कर्मताम् ।
न ह्यात्मानं दहत्यग्नि[illegible]प्रकाशयेत् ॥१३॥

एतेनैवात्मनाऽऽत्मा[illegible]भो ग्रहो बुद्धेर्निराकृतः ।
अंशोऽप्येवं स[illegible]त्वाद्धि निर्भेदत्वान्न युज्यते ॥१४॥

शून्यतापि [illegible] युक्तैवं बुद्धेरन्येन दृश्यता ।
युक्ताऽतो [illegible]घटवत्तस्याः प्राक्सिद्धेश्च विकल्पतः ॥१५॥

अविक[illegible]ल्पं तदस्त्येव यत्पूर्वं स्याद्विकल्पतः ।
वि[illegible]ल्पोत्पत्तिहेतुत्वाद्यद्यस्यैव तु कारणम् ॥१६॥

अज्ञानं कल्पनामूलं संसारस्य नियामकम् ।
हित्वाऽऽत्मानं परं ब्रह्म विद्यान्मुक्तं सदाऽभयम् ॥१७॥

जाग्रत्स्वप्नौ तयोर्बीजं सुषुप्ताख्यं तमोमयम् ।
अन्योन्यस्मिन्नसत्त्वाच्च नास्तीत्येतत्त्रयं त्यजेत् ॥१८॥

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुरालोकार्थादिसङ्करात् ।
भ्रान्तिः स्यादात्मकर्मेति क्रियाणां सन्निपाततः ॥१९॥

निमीलोन्मीलने स्थाने वायव्ये ते न चक्षुषः।
प्रकाशत्वान्मनस्येवं बुद्धौ न स्तः प्रकाशतः ॥२०॥

सङ्कल्पाध्यवसायौ तु मनोबुद्ध्योर्यथा क्रमात्।
नेतरेतरधर्मत्वं सर्वं चात्मनि कल्पितम् ॥२१॥

स्थानावच्छेददृष्टिः स्यादिन्द्रियाणां तदात्मताम्।
गता धीस्तां हि पश्यञ्ज्ञो देहमात्र इवेक्ष्यते ॥२२॥

क्षणिकं हि तदत्यर्थं धर्ममात्रं निरन्तरम्।
सादृश्याद्दीपवत्तद्धीस्तच्छान्तिः पुरुषार्थता ॥२३॥

स्वाकारान्यावभासं च येषां रूपादि विद्यते।
येषां नास्ति ततश्चान्यत्पूर्वासङ्गतिरुच्यते ॥२४॥

बाह्याकारत्वतो ज्ञप्तेः स्मृत्यभावः सदा क्षणात्।
क्षणिकत्वाच्च संस्कारं नैवाधत्ते क्वचित्तु धीः ॥२५॥

आधारस्याप्यसत्त्वाच्च तुल्यतानिर्निमित्ततः।
स्थाने वा क्षणिकत्वस्य हानं स्यान्न तदिष्यते ॥२६॥

शान्तेश्चायत्नसिद्धत्वात्साधनोक्तिरनर्थिका ।
एकैकस्मिन्समाप्तत्वाच्छान्तेरन्यानपेक्षता ॥२७॥

अपेक्षा यदि भिन्नेऽपि परसंतान इष्यताम्।
सर्वार्थे क्षणिके कस्मिंस्तथाप्यन्यानपेक्षता ॥२८॥

तुल्यकालसमुद्भूताावितरेतरयोगिनौ ।
योगोच्च संस्कृतो यस्तु सोऽन्यं ह्यीक्षितुमर्हति ॥२९॥

मृषाध्यासस्तु यत्र स्यात्तन्नाशस्तत्र नो मतः।
सर्वनाशो भवेद्यस्य मोक्षः कस्य फलं वद ॥३०॥

अस्ति तावत्स्वयं नाम ज्ञानं वाऽस्माऽन्यदेव वा।
भावाभावज्ञतस्तस्य नाभावस्त्वधिगम्यते ॥३१॥

येनाधिगम्यतेऽभावस्तत्सत्स्यात्तन्न चेद्भवेत् ।
भावाभावानभिज्ञत्वं लोकस्य स्यान्न चेष्यते ॥३२॥

सदसत्सदसच्चेति विकल्पात्प्राग्यदिष्यते ।
तदद्वैतं समत्वात्तु नित्यं चान्यद्विकल्पितात् ॥३३॥

विकल्पोद्भवतोऽसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदिष्यताम् ।
द्वैतस्य प्रागसत्त्वाच्च सदसत्त्वादिकल्पनात् ॥३४॥

वाचारम्भणशास्त्राच्च विकाराणां ह्यभावता ।
मृत्योः स मृत्युमित्यादेर्मम मायेति च स्मृतेः ॥३५॥

विशुद्धिश्चात एवास्य विकल्पाच्च विलक्षणः ।
उपादेयो न हेयोऽत आत्मा नान्यैरकल्पितः ॥३६॥

अप्रकाशो यथाऽऽदित्ये नास्ति ज्योतिःस्वभावतः ।
नित्यबोधस्वरूपत्वान्नाज्ञानं तद्वदात्मनि ॥३७॥

तथाऽविक्रियरूपत्वान्नावस्थान्तरमात्मनः ।
अवस्थान्तरवत्त्वे हि नाशोऽस्य स्यान्न संशयः ॥३८॥

मोक्षोऽवस्थान्तरं यस्य कृतकः स चलो ह्यतः ।
न संयोगो वियोगो वा मोक्षो युक्तः कथंचन ॥३९॥

संयोगस्याप्यनित्यत्वाद्वियोगस्य तथैव च ।
गमनागमने चैव स्वरूपं तु न हीयते ॥४०॥

स्वरूपस्यानिमित्तत्वात्सनिमित्ता हि चापरे ।
अनुपात्तं स्वरूपं हि स्वेनात्यक्तं तथैव च ॥४१॥

स्वरूपत्वान्न सर्वस्य त्यक्तुं शक्यो ह्यनन्यतः ।
ग्रहीतुं वा ततो नित्योऽविषयत्वापृथक्त्वतः ॥४२॥

आत्मार्थत्वाच्च सर्वस्य नित्य आत्मैव केवलः ।
त्यजेत्तस्मात्क्रियाः सर्वाः साधनैः सह मोक्षवित् ॥४३॥

आत्मलाभः परो लाभ इति शास्त्रोपपत्तयः ।
अलाभोऽन्यात्मलाभस्तु त्यजेत्तस्मादनात्मताम् ॥४४॥

गुणानां समभावस्य भ्रंशो न ह्युपपद्यते ।
अविद्यादेः प्रसुप्तत्वान्न चान्यो हेतुरुच्यते ॥४५॥

इतरेतरहेतुत्वे प्रवृत्तिः स्यात्सदा न वा ।
नियमो न प्रवृत्तीनां गुणेष्वात्मनि वा भवेत् ॥४६॥

विशेषो मुक्तबद्धानां तादर्थ्ये न च युज्यते ।
अर्थार्थिनोस्त्वसम्बन्धो नार्थी ज्ञो नेतरोऽपि वा ॥४७॥

प्रधानस्य च पारार्थ्यं पुरुषस्याविकारतः ।
न युक्तं सांख्यशास्त्रेऽपि विकारेऽपि न युज्यते ॥४८॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च प्रकृतेः पुरुषस्य च ।
मिथोऽयुक्तं तदर्थत्वं प्रधानस्याचितित्वतः ॥४९॥

क्रियोत्पत्तौ विनाशित्वं ज्ञानमात्रे च पूर्ववत् ।
निर्निमित्ते त्वनिर्मोक्षः प्रधानस्य प्रसज्यते ॥५०॥

न प्रकाश्यं यथोष्णत्वं ज्ञानेनैवं सुखादयः ।
एकनीडत्वतोऽग्राह्याः स्युः कणादादिवर्त्मनाम् ॥५१॥

युगपत्समवेतत्वं सुखविज्ञानयोरपि ।
मनोयोगैकहेतुत्वादग्राह्यत्वं सुखस्य च ॥५२॥

तथाऽन्येषां च भिन्नत्वाद्युगपज्जन्म नेष्यते ।
गुणानां समवेतत्वं ज्ञानं चेन्न विशेषणात् ॥५३॥

ज्ञानेनैव विशेषत्वाज्ज्ञानाप्यत्वं स्मृतेस्तथा ।
सुखं ज्ञातं मयेत्येवं तवाज्ञानात्मकत्वतः ॥५४॥

सुखादेर्नात्मधर्मत्वमात्मनस्तेऽविकारतः ।
भेदादन्यस्य कस्मान्न मनसो वाऽविशेषतः ॥५५॥

स्यान्मालाऽपरिहार्या तु ज्ञानं चेज्ज्ञेयतां व्रजेत् ।
युगपद्वापि चोत्पत्तिरभ्युपेताऽत्र इष्यते ॥५६॥

अनवस्थान्तरत्वाच्च वन्धो नात्मनि विद्यते ।
नाशुद्धिश्चाप्यसङ्गत्वादसङ्गो हीति च श्रुतेः ॥५७॥

सूक्ष्मैकागोचरेभ्यश्च न लिप्यत इति श्रुतेः ।
एवं तर्हि न मोक्षोऽस्ति वन्धाभावात्कथंचन ॥५८॥

शास्त्रानर्थक्यमेव स्यान्न बुद्धेर्भ्रान्तिरिष्यते ।
वन्धो मोक्षश्च तन्नाशः स यथोक्तो न चान्यथा ॥५९॥

वोधात्मज्योतिषा दीप्ता वोधमात्मनि मन्यते ।
बुद्धिर्नान्योऽस्ति बोद्धेति सेयं भ्रान्तिर्हि धीगता ॥६०॥

वोधस्यात्मस्वरूपत्वान्नित्यं तत्रोपचर्यते ।
अविवेकोऽप्यनाद्योऽयं संसारो नान्य इष्यते ॥६१॥

मोक्षस्तन्नाश एव स्यान्नान्यथाऽनुपपत्तितः ।
येषां वस्त्वन्तरापत्तिर्मोक्षो नाशस्तु तैर्मतः ॥६२॥

अवस्थान्तरमप्येवमविकारान्न युज्यते ।
विकारेऽवयवित्वं स्यात्ततो नाशो घटादिवत् ॥६३॥

तस्माद्भ्रान्तिरतोऽन्या हि वन्धमोक्षादिकल्पनाः ।
साङ्ख्यकाणादवौद्धानां मीमांसाह[र्ह]तकल्पनाः ॥६४॥

शास्त्रयुक्तिविहीनत्वान्नादर्तव्याः कदाचन ।
शक्यन्ते शतशो वक्तुं दोषास्तासां सहस्रशः ॥६५॥

अपि निन्दोपपत्तेश्च यान्यतोऽन्यानि चेत्यतः ।
त्यक्त्वाऽतो ह्यन्यशास्त्रोक्तौमंतिं कुर्याद्दृढां बुधः ॥६६॥

श्रद्धाभक्ती पुरस्कृत्य हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
वेदान्तस्यैव तत्त्वार्थे व्यासस्याभिमते तथा ॥६७॥

इति प्रणुन्ना द्वयवादकल्पना निरात्मवदाश्च तथा हि युक्तितः ।
व्यपेतशङ्काः परवादतः स्थिरा मुमुक्षवो ज्ञानपथे स्युरित्युत ॥६८॥

स्वसाक्षिकं ज्ञानमतीव निर्मलं विकल्पनाभ्यो विपरीतमद्वयम् ।
अवाप्य सम्यग्यदि निश्चितो भवेत् निरन्वयो निर्वृतिमेति शाश्वतीम् ।६९।

इदं रहस्यं परमं परायणं व्यपेतदोषैरभिमानवर्जितैः ।
समीक्ष्य कार्या मतिरार्जवे सदा न तत्त्वदृक्स्वान्यमतिर्हि कश्चन ॥७०॥

अनेकजन्मान्तरसंचितैर्नरो विमुच्यतेऽज्ञाननिमित्तपातकैः ।
इदं विदित्वा परमं हि पावनं न लिप्यते व्योम इवेह कर्मभिः ॥७१॥

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ॥७२॥

परस्य देहे न यथाभिमानिता परस्य तद्वत्परमार्थमीक्ष्य च ।
इदं हि विज्ञानमतीव निर्मलं संप्राप्य मुक्तोऽथ भवेच्च सर्वतः ॥७३॥

नहीह लाभोऽभ्यधिकोऽस्ति कश्चन स्वरूपलाभात् स इतो हि नान्यतः ।
न देयमैन्द्रादपि राज्यतोऽधिकं स्वरूपलाभं त्वपरीक्ष्य यत्नतः ॥७४॥

सम्यङ्मतिप्रकरणम् ॥१७॥

आत्मा ज्ञेयः परो ह्यात्मा यस्मादन्यन्न विद्यते ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् शुद्धस्तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥१॥

पदवाक्यप्रमाणज्ञैर्दीपभूतैः प्रकाशितम् ।
ब्रह्म वेदरहस्यं यैस्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥२॥

यद्वाक्सूर्यांशुसंपातप्रणष्टध्वान्तकल्मषः ।
प्रणम्य तान् गुरून् वक्ष्ये ब्रह्मविद्याविनिश्चयम् ॥३॥

आत्मलाभात्परो नान्यो लाभः कश्चन विद्यते ।
यदर्था वेदवादाश्च स्मार्ताश्चापि तु याः क्रियाः ॥४॥

आत्मार्थोऽपि हि यो लाभः सुखायेष्टो विपर्ययः ।
आत्मलाभः परः प्रोक्तो नित्यत्वाद्ब्रह्मवेदिभिः ॥५॥

स्वयं लब्धस्वभावत्वाल्लाभस्तस्य न चान्यतः ।
अन्यापेक्षस्तु यो लाभः सोऽन्यदृष्टिसमुद्भवः ॥६॥

अन्यदृष्टिस्त्वविद्या स्यात्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
ज्ञानेनैव तु सोऽपि स्याद्विरोधित्वान्न कर्मणा ॥७॥

कर्मकार्यस्त्वनित्यः स्यादविद्याकामकारणः ।
प्रमाणं वेद एवात्र ज्ञानस्याधिगमे स्मृतः ॥८॥

ज्ञानैकार्थपरत्वात्तं वाक्यमेकं ततो विदुः ।
एकत्वं ह्यात्मनो ज्ञेयं वाक्यार्थप्रतिपत्तितः ॥९॥

वाच्यभेदात्तु तद्भेदः कल्प्यो वाच्योऽपि तच्छ्रुतेः ।
त्रयं त्वेतत्ततः प्रोक्तं रूपं नाम च कर्म च ॥१०॥

असदेतत्त्रयं तस्मादन्योन्येन हि कल्पितम् ।
कृतो वर्णो यथा शब्दाच्छ्रुतोऽन्यत्र धिया बहिः ॥११॥

दृष्टं चापि यथा रूपं बुद्धेः शब्दाय कल्पते ।
एवमेतज्जगत्सर्वं भ्रान्तिबुद्धिविकल्पितम् ॥१२॥

असदेतत्ततो युक्तं संविन्मात्रं न कल्पितम् ।
वेदश्चापि स एवाद्यो वेद्यं चान्यत्तु कल्पितम् ॥१३॥

येन वेत्ति स वेदः स्यात्स्वप्ने सर्वं तु मायया ।
येन पश्यति तच्चक्षुः शृणोति श्रोत्रमुच्यते ॥१४॥

येन स्वप्नगतो वक्ति सा वाग्घ्राणं तथैव च ।
रसनस्पर्शने चैव मनश्चान्यत्तथेन्द्रियम् ॥१५॥

कल्प्योपाधिभिरेवैतद्भिन्नं ज्ञानमनेकधा ।
आधिभेदाद्यथा भेदो मणेरेकस्य जायते ॥१६॥

जाग्रतश्च तथा भेदो ज्ञानस्यास्य विकल्पितः ।
बुद्धिस्थं व्याकरोत्यर्थं भ्रान्त्या तृष्णोद्भवक्रियः ॥१७॥

स्वप्ने तद्वत्प्रबोधे यो बहिश्चान्तस्तथैव च ।
आलेख्याध्ययने यद्वत्तदन्योन्यधियोद्भवम् ॥१८॥

यदाऽयं कल्पयेद्भेदं तत्कामः सन् यथाक्रतुः ।
यत्कामस्तत्क्रतुर्भूत्वा कृतं यत्तत्प्रपद्यते ॥१९॥

अविद्याप्रभवं सर्वमसत्तस्मादिदं जगत् ।
तद्वता दृश्यते यस्मात्सुषुप्ते न च गृह्यते ॥२०॥

विद्याविद्ये श्रुतिप्रोक्ते एकत्वान्यधियौ हि नः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्रे विद्या विधीयते ॥२१॥

चित्ते ह्यादर्शवद्यस्माच्छुद्धे विद्या प्रकाशते ।
यमैर्नित्यैश्च यज्ञैश्च तपोभिस्तस्य शोधनम् ॥२२॥

शारीरादितपः कुर्यात्तद्विशुद्ध्यर्थमुत्तमम् ।
मनआदिसमाधानं तत्तद्देहविशोषणम् ॥२३॥

"मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते" ॥२४॥

दृष्टं जागरितं विद्यात्स्मृतं स्वप्नं तदेव तु ।
सुषुप्तं तदभावं च स्वमात्मानं परं पदम् ॥२५॥

सुषुप्ताख्यं तमोऽज्ञानं बीजं स्वप्नप्रबोधयोः ।
स्वात्मबोधप्रदग्धं स्याद्बीजं दग्धं यथाऽभवम् ॥२६॥

तदेवैकं त्रिधा ज्ञेयं मायाबीजं पुनः क्रमात् ।
मायाव्यात्माऽविकारोऽपि बहुधैको जलार्कवत् ॥२७॥

बीजं चैकं यथा भिन्नं प्राणस्वप्नादिभिस्तथा ।
स्वप्नजाग्रच्छरीरेषु तद्वच्चात्मा जलेन्दुवत् ॥२८॥

मायाहस्तिनमारुह्य मायाव्येको यथा व्रजेत् ।
आगच्छंस्तद्वदेवात्मा प्राणस्वप्नादिगोचरः ॥२९॥

न हस्ती न तदारूढो मायाव्यन्यो यथा स्थितः ।
न प्राणादि न तद्द्रष्टा तथा ज्ञोऽन्यः सदादृशिः ॥३०॥

अवद्धचक्षुषो नास्ति माया मायाविनोऽपि वा ।
वद्धाक्षस्यैव सा मायाऽमायाव्येव ततो भवेत् ॥३१॥

साक्षादेव स विज्ञेयः साक्षादात्मेति च श्रुतेः ।
भिद्यते हृदयग्रन्थिर्न चेदित्यादितः श्रुतेः ॥३२॥

अशब्दादित्वतो नास्य ग्रहणं चेन्द्रियैर्भवेत् ।
सुखादिभ्यस्तथाऽन्यत्वाद्‌वुद्धया वाऽपि कथं भवेत् ॥३३॥

अदृश्योऽपि यथा राहुश्चन्द्रे विम्बं यथाऽम्भसि ।
सर्वगोऽपि तथैवाऽऽत्मा वुद्धावेव स गृह्यते ॥३४॥

भानोर्विम्वं यथा चौष्ण्यं जले दृष्टं न चाऽम्भसः ।
वुद्धौ वोधो न तद्धर्मस्तथैव स्याद्धिधर्मतः ॥३५॥

चक्षुर्युक्ता धियो वृत्तिर्या तां पश्यन्नलुप्तदृक् ।
दृष्टेर्द्रष्टा भवेदात्मा श्रुतेः श्रोता तथा भवेत् ॥३६॥

केवलां मनसो वृत्तिं पश्यन् मन्ता मतेरजः ।
विज्ञाताऽलुप्तशक्तित्वात्तथा शास्त्रं न हीत्यतः ॥३७॥

ध्यायतीत्यविकारित्वं तथा लेलायतीत्यपि ।
अत्र स्तेनेति शुद्धत्वं तथाऽनन्वागतश्रुतेः ॥३८॥

शक्त्यलोपात्सुपुप्ते ज्ञस्तथा वोधेऽविकारतः ।
ज्ञेयस्यैव विशेपस्तु यत्र वेति श्रुतेर्वचः ॥३९॥

व्यवधानाद्धि पारोक्ष्यं लोकदृष्टेरनात्मनः ।
दृष्टेरात्मस्वरूपत्वात्प्रत्यक्षं ब्रह्म तत्स्मृतम् ॥४०॥

न हि दीपान्तरापेक्षा यद्वद्दीपप्रकाशने।
बोधस्यात्मस्वरूपत्वान्न बोधोऽन्यस्तथेष्यते ॥४१॥

विषयत्वं विकारित्वं नानात्वं वा न हीष्यते।
न हेयो नाप्युपादेय आत्मा नान्येन वा ततः ॥४२॥

सबाह्याभ्यन्तरोऽजीर्णो जन्ममृत्युजरातिगः।
अहमात्मेति यो वेत्ति कुतो न्वेव बिभेति सः ॥४३॥

प्रागेवैतद्विधेः कर्म वर्णित्वादेरपोहनात्।
तदस्थूलादिशास्त्रेभ्यस्तत्त्वमेवेति निश्चयात् ॥४४॥

पूर्वदेहपरित्यागे जात्यादीनां प्रहाणतः।
देहस्यैव तु जात्यादिस्तस्याप्येवं ह्यनात्मता ॥४५॥

ममाहं चेत्यतोऽविद्या शरीरादिष्वनात्मसु।
आत्मज्ञानेन हेया स्यादसुराणामिति श्रुतेः ॥४६॥

दशाहाशौचकार्याणां पारिव्राज्ये निवर्तनम्।
यथा ज्ञानस्य संप्राप्तौ तद्वज्जात्यादिकर्मणाम् ॥४७॥

यत्कामस्तत्क्रतुर्भूत्वा कृतं स्वज्ञः प्रपद्यते।
यदा स्वात्मदृशः कामाः प्रमुच्यन्तेऽमृतस्तदा ॥४८॥

आत्मरूपविधेः कार्यं क्रियादिभ्यो निवर्तनम्।
न साध्यं साधनं वाऽऽत्मा नित्यतृप्तः स्मृतेर्मतः ॥४९॥

उत्पाद्याप्यविकार्याणि संस्कार्यं च क्रियाफलम्।
नातोऽन्यत्कर्मणा कार्यं त्यजेत्तस्मात्ससाधनम् ॥५०॥

तापान्तत्वादनित्यत्वादात्मार्थत्वाच्च या बहिः।
संहृत्याऽऽत्मनि तां प्रीतिं सत्यार्थी गुरुमाश्रयेत् ॥५१॥

शान्तं प्राज्ञं तथा मुक्तं निष्क्रियं ब्रह्मणि स्थितम्।
श्रुतेराचार्यवान्वेद तद्विद्धीति स्मृतेस्तथा ॥५२॥

स गुरुस्तारयेद्युक्तं शिष्यं शिष्यगुणान्वितम् ।
ब्रह्मविद्याप्लवेनाशु स्वान्तध्वान्तमहोदधिम् ॥५३॥
दृष्टिः स्पृष्टिः श्रुतिर्घ्रातिर्मतिर्विज्ञातिरेव च ।
शक्तयोऽन्याश्च भिद्यन्ते चिद्रूपत्वेऽप्युपाधिभिः ॥५४॥
अपायोद्भूतिहीनाभिर्नित्यं दीप्यन् रविर्यथा ।
सर्वदृक् सर्वगः शुद्धः सर्वं जानाति सर्वदा ॥५५॥
अन्यदृष्टिः शरीरस्थस्तावन्मात्रो ह्यविद्यया ।
जलेन्द्वाद्युपमाभिस्तु तद्धर्मा च विभाव्यते ॥५६॥
दृष्ट्वा बाह्यं निमील्याथ स्मृत्वा तत्प्रविहाय च ।
अथोन्मील्यात्मनो दृष्टिं ब्रह्म प्राप्नोत्यनध्वगः ॥५७॥
प्राणाद्येवं त्रिकं हित्वा तीर्णोऽज्ञानमहोदधिम् ।
स्वात्मस्थो निर्गुणः शुद्धो बुद्धो मुक्तः स्वतो हि सः ॥५८॥
अजोऽहं चामरोऽमृत्युरजरोऽभय एव च ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् शुद्ध इति बुद्धो न जायते ॥५९॥
पूर्वोक्तं यत्तमोबीजं तन्नास्तीति विनिश्चयः ।
तदभावे कुतो जन्म ब्रह्मैकत्वं विजानतः ॥६०॥
क्षीरात्सर्पिर्यथोद्धृत्य क्षिप्तं तस्मिन्न पूर्ववत् ।
बुद्ध्यादेर्ज्ञस्तथाऽसत्यान्न देही पूर्ववद्भवेत् ॥६१॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं च रसादेः पञ्चकात्परम् ।
स्यामदृश्यादिशास्त्रोक्तमहं ब्रह्मेति निर्भयः ॥६२॥
यस्माद्भीताः प्रवर्तन्ते वाङ्मनःपावकादयः ।
तदात्मानन्दतत्त्वज्ञो न बिभेति कुतश्चन ॥६३॥
नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये ।
प्रणमेत्कं तदाऽऽत्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तथा ॥६४॥

विराड्वैश्वानरो बाह्यः स्मरन्नन्तः प्रजापतिः।
प्रविलीने तु सर्वस्मिन् प्राज्ञोऽव्याकृतमुच्यते ॥६५॥

वाचारम्भणमात्रत्वात्सुपुप्तादित्रिकं त्वसत्।
सत्यो ज्ञश्चाहमित्येवं सत्यसन्धो विमुच्यते ॥६६॥

भारूपत्वाद्यथा भानोर्नाहोरात्रे तथैव च।
ज्ञानाज्ञाने न मे स्यातां चिद्रूपत्वाविशेषतः ॥६७॥

शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वाद्ब्रह्मैव स्यामहं सदा।
ब्रह्मणो मे न हेयं स्याद्ग्राह्यं वेति च संस्मरेत् ॥६८॥

अहमेव च भूतेषु सर्वेष्वेको नभो यथा।
मयि सर्वाणि भूतानि पश्यन्नेवं न जायते ॥६९॥

न बाह्यं मध्यतो वाऽन्तर्विद्यतेऽन्यत्स्वतः क्वचित्।
अबाह्यान्तःश्रुतेः किञ्चित्तस्माच्छुद्धः स्वयंप्रभः ॥७०॥

नेति नेत्यादिशास्त्रेभ्यः 'प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः'।
अविज्ञातादिशास्त्राच्च नैव ज्ञेयो ह्यतोऽन्यथा ॥७१॥

सर्वस्यात्माऽहमेवेति ब्रह्म चेद्विदितं परम्।
स आत्मा सर्वभूतानामात्मा ह्येषामिति श्रुतेः ॥७२॥

जीवश्चेत्परमात्मानं स्वात्मानं देवमञ्जसा।
देवो[वेदो]पास्यः स देवानां पशुत्वाच्च निवर्तते ॥७३॥

अहमेव सदात्मज्ञः शून्यस्त्वन्यैर्यथाम्बरम्।
इत्येवं सत्यसन्धत्वादसद्धाता न बध्यते ॥७४॥

कृपणास्तेऽन्यथैवातो विदुर्ब्रह्म परं हि ये।
स्वराड्योऽनन्यदृक् स्वस्थस्तस्य देवा असन्वशे ॥७५॥

हित्वा जात्यादिसम्बन्धान्वाचोऽन्याः सह कर्मभिः।
ओमित्येवं स्वमात्मानं सर्वं शुद्धं प्रपद्यथ ॥७६॥

सेतुं सर्वव्यवस्थानामहोरात्रादिवर्जितम् ।
तिर्यगूर्ध्वमधः सर्वं सकृज्ज्योतिरनामयम् ॥७७॥

धर्माधर्मविनिर्मुक्तं भूतभव्यात्कृताकृतात् ।
स्वमात्मानं परं विद्याद्विमुक्तं सर्वबन्धनैः ॥७८॥

अकुर्वन्सर्वकृच्छुद्धस्तिष्ठन्नत्येति धावतः ।
मायया सर्वशक्तित्वादजः सन् वहुधा मतः ॥७९॥

राजवत्साक्षिमात्रत्वात्सान्निध्याद्भ्रामको यथा ।
भ्रामयञ्जगदात्माहं निष्क्रियोऽकारकोऽद्वयः ॥८०॥

निर्गुणं निष्क्रियं नित्यं निर्द्वन्द्वं यन्निरामयम् ।
शुद्धं वुद्धं तथा मुक्तं तद्ब्रह्मास्मीति धारयेत् ॥८१॥

वन्धं मोक्षं च सर्वं यत इदमुभयं हेयमेकं द्वयं च
ज्ञेयाज्ञेयाभ्यतीतं परममधिगतं तत्त्वमेकं विशुद्धम् ।
विज्ञायैतद्यथावच्छ्रुतिमुनिगदितं शोकमोहावतीतः
सर्वज्ञः सर्वकृत्स्याद्भवभयरहितो ब्राह्मणोऽवाप्तकृत्यः ।८२॥

न स्वयं स्वस्य नान्यश्च नान्यस्यात्मा च हेयगः ।
उपादेयो न चाप्येवमिति सम्यङ्मतिः स्मृता ॥८३॥

आत्मप्रत्यायिका ह्येषा सर्ववेदान्तगोचरा ।
ज्ञात्वेतां हि विमुच्यन्ते सर्वसंसारबन्धनैः ॥८४॥

रहस्यं सर्ववेदानां देवानां चापि यत्परम् ।
पवित्रं परमं ह्येतत्तदेतत्संप्रकाशितम् ॥८५॥

नैतद्देयमशान्ताय रहस्यं ज्ञानमुत्तमम् ।
विरक्ताय प्रदातव्यं शिष्यायानुगताय च ॥८६॥

ददतश्चात्मनो ज्ञानं निष्क्रियोऽन्यो न विद्यते ।
ज्ञानमिच्छंस्ततरेत्तस्माद्युक्तः शिष्यगुणैः सदा ॥८७॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता यस्मादन्यन्न विद्यते ।
सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्यस्तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥८८॥

विद्यया तारिताः स्मो यैर्जन्ममृत्युमहोदधिम् ।
सर्वज्ञेभ्यो नमस्तेभ्यो गुरुभ्योऽज्ञानसंकुलम् ॥८९॥

तत्त्वमसिप्रकरणम् ॥ १८ ॥

येनात्मना विलीयन्ते उद्भवन्ति च वृत्तयः ।
नित्यावगतये तस्मै नमो धीप्रत्ययात्मने ॥१॥

प्रमथ्य वज्रोपमयुक्तिसंभृतैः श्रुतेररातीञ्शतशो वचोऽसिभिः ।
ररक्ष वेदार्थनिधिं विशालधीर्नमो यतीन्द्राय गुरोर्गरीयसे ॥२॥

नित्यमुक्तः सदेवास्मीत्येवं चेन्न भवेन्मतिः ।
किमर्थं श्रावयत्येवं मातृवच्छ्रुतिरादृता ॥३॥

सिद्धादेवाहमित्यस्माद्युष्मद्धर्मो निषिध्यते ।
रज्ज्वामिवाहिधीर्युक्त्या तत्त्वमित्यादिशासनैः ॥४॥

शास्त्रप्रामाण्यतो ज्ञेया धर्मादेरस्तिता यथा ।
विषापोहो यथा ध्यानाद् हृतिः स्यात्पाप्मनस्तथा ॥५॥

सद्ब्रह्माहं करोमीति प्रत्ययावात्मसाक्षिकौ ।
तयोरज्ञानजस्यैव त्यागो युक्ततरो मतः ॥६॥

तदस्मीति प्रमाणोत्था धीरन्या तन्निभोद्भवा ।
प्रत्यक्षादिनिभा वाऽपि बाध्यते दिग्भ्रमादिवत् ॥७॥

कर्ता भोक्तेति यच्छास्त्रं लोकबुद्ध्यनुवादि तत् ।
सदस्मीति श्रुतेर्जाता बाध्यतेऽन्यैतयैव धीः ॥८॥

सदेव त्वमसीत्युक्ते नात्मनो भुक्तता स्थिरा ।
प्रवर्तते प्रसंचक्षामतो युक्त्याऽनुचिन्तयेत् ॥९॥

सकृदुक्तं न गृह्णाति वाक्यार्थज्ञोऽपि यो भवेत् ।
अपेक्षतेऽत्त एवान्यदवोचाम द्वयं हि तत् ॥१०॥

नियोगोऽप्रतिपन्नत्वात्कर्मणां स यथा भवेत् ।
अविरुद्धो भवेत्तावद्यावत्संवेद्यता दृढा ॥११॥

चेष्टितं च यतो मिथ्या स्वच्छन्दः प्रतिपद्यते ।
प्रसङ्ख्यामनतः कार्यं यावदात्माऽनुभूयते ॥१२॥

सदस्मीति च विज्ञानमक्षजो बाधते ध्रुवम् ।
शब्दोत्थं दृढसंस्कारो दोषैश्चाकृष्यते बहिः ॥१३॥

श्रुतानुमानजन्मानौ सामान्यविषयौ यतः ।
प्रत्ययावक्षजोऽवश्यं विशेषार्थो निवारयेत् ॥१४॥

वाक्यार्थप्रत्ययी कश्चिन्निर्दुःखो नोपलभ्यते ।
यदि वा दृश्यते कश्चिद्वाक्यार्थश्रुतिमात्रतः ॥१५॥

निर्दुःखोऽतीतदेहेषु कृत्स्नभावोऽनुमीयते ।
चर्या नोऽशास्त्रसंवेद्या स्यादनिष्टं तथा सति ॥१६॥

सदसीति फलं चोक्त्वा विधेयं साधनं यतः ।
न तदन्यत्प्रसङ्ख्यानात्प्रसिद्धार्थमिहेष्यते ॥१७॥

तस्मादनुभवायैव प्रसंचक्षीत यत्नतः ।
त्यजन्साधनतत्साध्यविरुद्धं शमनादिमान् ॥१८॥

नैतदेवं रहस्यानां नेति नेत्यवसानतः ।
क्रियासाध्यं पुरा श्राव्यं न मोक्षो नित्यसिद्धतः ॥१९॥

पुत्रदुःखं यथाध्यस्तं पित्राऽदुःखे स्व आत्मनि ।
अहंकर्त्रा तथाऽध्यस्तो नित्यादुःखे स्व आत्मनि ॥२०॥

सोऽध्यासो नेति नेतीति प्रासवत्प्रतिषिध्यते ।
भूयोऽध्यासविधिः कश्चित्कुतश्चिन्नोपपद्यते ॥२१॥

आत्मनीह यथाऽध्यासः प्रतिषेधस्तथैव च ।
मलाध्यासनिषेधौ खे क्रियेते च यथाऽबुधैः ॥२२॥

प्राप्तश्चेत्प्रतिषिध्येत मोक्षोऽनित्यो भवेद्ध्रुवम् ।
अतोऽप्राप्तनिषेधोऽयं दिव्यग्निचयनादिवत् ॥२३॥

संभाव्यो गोचरे शब्दः प्रत्ययो वा न चान्यथा ।
न संभाव्यौ तदात्मत्वादहंकर्तुस्तथैव च ॥२४॥

अहंकर्त्रात्मनि न्यस्तं चैतन्ये कर्तृतादि यत् ।
नेति नेतीति तत्सर्वं साहंकर्त्रा निषिध्यते ॥२५॥

उपलब्धिः स्वयंज्योतिर्दृशिः प्रत्यक्सदक्रियः ।
साक्षात्सर्वान्तरः साक्षी चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः ॥२६॥

सन्निधौ सर्वदा तस्य स्यात्तदाभोऽभिमानकृत् ।
आत्मात्मीयं द्वयं चातः स्यादहंममगोचरः ॥२७॥

जातिकर्मादिमत्त्वाद्धि तस्मिञ्शब्दास्त्वहंकृति ।
न कश्चिद्वर्तते शब्दस्तदभावात्स्व आत्मनि ॥२८॥

आभासो यत्र तत्रैव शब्दाः प्रत्यग्दृशि स्थिताः ।
लक्षयेयुर्न साक्षात्तमभिदध्युः कथंचन ॥२९॥

न ह्यजात्यादिमान्कश्चिदर्थः शब्दैर्निरूप्यते ॥३०॥

आत्माभासो यथाहंकृदात्मशब्दैस्तथोच्यते ।
उल्मुकादौ यथाग्न्यर्थाः परार्थत्वान्न चाञ्जसा ॥३१॥

मुखादन्यो मुखाभासो यथाऽऽदर्शानुकारतः ।
आभासान्मुखमप्येवमादर्शाननुवर्तनात् ॥३२॥

अहंकृत्यात्मनिर्भासो मुखाभासवदिष्यते ।
मुखवत्स्मृत आत्माऽन्योऽविविक्तौ तौ तथैव च ॥३३॥

संसारी च स इत्येक आभासो यस्त्वहंकृतिः।
वस्तुच्छाया स्मृतेरन्यन्माधुर्यादि च कारणम् ॥३४॥

ज्ञैकदेशो विकारो वा तदभासाश्रयः परे।
अहंकर्तैव संसारी स्वतन्त्र इति केचन ॥३५॥

अहंकारादिसंतानः संसारी नान्वयी पृथक्।
इत्येवं सौगता आहुस्तत्र न्यायो विचार्यताम् ॥३६॥

संसारिणां कथा त्वास्तां प्रकृतं त्वधुनोच्यते।
मुखाभासो य आदर्शे धर्मो नान्यतरस्य सः।
द्वयोरेकस्य चेद्धर्मो वियुक्तोऽन्यतरे भवेत् ॥३७॥

मुखेन व्यपदेशात्स मुखस्यैवेति चेन्मतम्।
नादर्शानुविधानाच्च मुखे सत्यविभावतः ॥३८॥

द्वयोरेवेति चेत्तन्न द्वयोरेवाप्यदर्शनात्।
अदृश्यस्य सतो दृष्टिः स्याद्राहोश्चन्द्रसूर्ययोः ॥३९॥

राहोः प्रागेव वस्तुत्वं सिद्धं शास्त्रप्रमाणतः।
छायापक्षे त्ववस्तुत्वं तस्य स्यात्पूर्वयुक्तितः ॥४०॥

छायाक्रान्तेर्निषेधोऽयं न तु वस्तुत्वसाधकः।
न ह्यर्थान्तरनिष्ठं सद्वाक्यमर्थान्तरं वदेत् ॥४१॥

माधुर्यादि च यत्कार्यमुष्णद्रव्याद्यसेवनात्।
छायाया न त्वदृष्टत्वादपामेव च दर्शनात् ॥४२॥

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामाभासासत्त्वमेव च ॥४३॥

न दृशेरविकारित्वादाभासस्याप्यवस्तुतः।
नाचितित्वादहंकर्तुः कस्य संसारिता भवेत् ॥४४॥

अविद्यामात्र एवातः संसारोऽस्त्वविवेकतः ।
कूटस्थेनात्मना नित्यमात्मवानात्मनीव सः ॥४५॥

रज्जुसर्पो यथा रज्ज्वा सात्मकः प्राग्विवेकतः ।
अवस्तुसन्नपि ह्येष कूटस्थेनात्मना तथा ॥४६॥

आत्माभासाश्रयश्चात्मा प्रत्ययैः स्वैर्विकारवान् ।
सुखी दुःखी च संसारी नित्य एवेति केचन ॥४७॥

आत्माभासापरिज्ञानाद्याथात्म्येन विमोहिताः ।
अहंकर्तारमात्मेति मन्यन्ते ते निरागमाः ॥४८॥

संसारो वस्तुसंस्तेषां कर्तृभोक्तृत्वलक्षणः ।
आत्माभासाश्रयाज्ञानात् संसरन्त्यविवेकतः ॥४९॥

चैतन्याभासता बुद्धेरात्मनस्तत्स्वरूपता ।
स्याच्चेत्तं ज्ञानशब्दैश्च वेदः शास्तीति युज्यते ॥५०॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थौ यौ भिन्नावेकाश्रयौ यथा ।
करोति गच्छतीत्यादौ दृष्टौ लोकप्रसिद्धितः ॥५१॥

नानयोर्द्व्याश्रयत्वं च लोके दृष्टं स्मृतौ तथा ।
जानात्यर्थेषु को हेतुर्द्व्याश्रयत्वे निगद्यताम् ॥५२॥

आत्माभासस्तु तिङ्वाच्यो धात्वर्थश्च धियः क्रिया ।
उभयं चाविवेकेन जानातीत्युच्यते मृषा ॥५३॥

न बुद्धेरवबोधोऽस्ति नात्मनो विद्यते क्रिया ।
अतो नान्यतरस्यापि जानातीति च युज्यते ॥५४॥

नाऽप्यतो भावशब्देन ज्ञप्तिरित्यपि युज्यते ।
न ह्यात्मा विक्रियामात्रो नित्य आत्मेति शासनात् ॥५५॥

न बुद्धेर्बुद्धिवाच्यत्वं करणं न ह्यकर्तृकम् ।
नापि ज्ञायत इत्येवं कर्मशब्दैर्निरुच्यते ॥५६॥

न येषामेक एवात्मा निर्दुःखोऽविक्रियः सदा ।
तेषां स्याच्छब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं चात्मनः सदा ॥५७॥

यदाऽहंकर्तुरात्मत्वं तदा शब्दार्थमुख्यता ।
नाशनायादिमत्वात्तु श्रुतौ तस्यात्मतेष्यते ॥५८॥

हन्त तर्हि न मुख्यार्थो नापि गौणः कथंचन ।
जानातीत्यादिशब्दस्य गतिर्वाच्या तथापि तु ॥५९॥

शब्दानामयथार्थत्वे वेदस्याप्यप्रमाणता ।
सा च नेष्टा ततो ग्राह्या गतिरस्य प्रसिद्धितः ॥६०॥

प्रसिद्धिर्मूढलोकस्य यदि ग्राह्या निरात्मता ।
लोकायतिकसिद्धान्तः स चानिष्टः प्रसज्यते ॥६१॥

अभियुक्तप्रसिद्धिश्चेत्पूर्ववद्दुर्विवेकता ।
गतिशून्यं न वेदोऽयं प्रमाणं संवदत्युत ॥६२॥

आदर्शमुखसामान्यं मुखस्येष्टं हि मानवैः ।
मुखस्य प्रतिबिम्बो हि मुखाकारेण दृश्यते ॥६३॥

यत्र यस्यावभासस्तु तयोरेवाविवेकतः ।
जानातीति क्रियां सर्वो लोको वक्ति स्वभावतः ॥६४॥

बुद्धेः कर्तृत्वमध्यस्य जानातीति ज्ञ उच्यते ।
तथा चैतन्यमध्यस्य ज्ञत्वं बुद्धेरिहोच्यते ॥६५॥

स्वरूपं चात्मनो ज्ञानं नित्यं ज्योतिः श्रुतेर्यतः ।
न बुद्धया क्रियते तस्मान्नात्मनाऽन्येन वा सदा ॥६६॥

देहेऽहंप्रत्ययो यद्वज्जानातीति च लौकिकाः ।
वदन्ति ज्ञानकर्तृत्वं तद्वद्बुद्धेस्तथात्मनः ॥६७॥

बौद्धैस्तु प्रत्ययैरेवं क्रियमाणैश्च चिन्निभैः ।
मोहिताः क्रियते ज्ञानमित्याहुस्तार्किका जनाः ॥६८॥

तस्माज्ज्ञाभासबुद्धीनामविवेकात्प्रवर्तिताः ।
जानातीत्यादिशब्दश्च प्रत्ययो या च तत्स्मृतिः ॥६९॥

आदर्शानुविधायित्वं छायाया अस्यते मुखे ।
बुद्धिधर्मानुकारत्वं ज्ञाभासस्य तथेष्यते ॥७०॥

बुद्धेस्तु प्रत्ययास्तस्मादात्माभासेन दीपिताः ।
ग्राहका इव भासन्ते दहन्तीवोल्मुकादयः ॥७१॥

स्वयमेवावभास्यन्ते ग्राहकाः स्वयमेव च ।
इत्येवं ग्राहकास्तित्वं प्रतिषेधन्ति सौगताः ॥७२॥

यद्येवं नान्यदृश्यास्ते किं वद्वारणमुच्यताम् ।
भावाभावौ हि तेषां यौ नान्यग्राह्यौ सता यदि ॥७३॥

अन्वयी ग्राहकस्तेषामित्येतदपि तत्समम् ।
अचितित्वस्य तुल्यत्वादन्यस्मिन् ग्राहके सति ॥७४॥

अध्यक्षस्य समीपे तु सिद्धिः स्यादिति चेन्मतम् ।
नाध्यक्षेऽनुपकारित्वादन्यत्रापि प्रसङ्गतः ॥७५॥

अर्थी दुःखी च यः श्रोता स त्वध्यक्षोऽथवेतरः ।
अध्यक्षस्य च दुःखित्वमर्थित्वं च न ते मतम् ॥७६॥

कर्ताध्यक्षः सदस्मीति नैव सद्ग्रहमर्हति ।
सदेवासीति मिथ्योक्तिः श्रुतेरपि न युज्यते ॥७७॥

अविविच्योभयं वक्ति श्रुतिश्चेत्स्याद्ग्रहस्तथा ।
अस्मदस्तु विविच्यैव त्वमेवेति वदेद्यदि ।
प्रत्ययान्वयिनिष्ठत्वमुक्तदोषः प्रसज्यते ॥७८॥

त्वमित्यध्यक्षनिष्ठश्चेदहमध्यक्षयोः कथम् ।
संबन्धो वाच्य एवात्र येन त्वमिति लक्षयेत् ॥७९॥

द्रष्टृदृश्यत्वसंबन्धो यद्यध्यक्षेऽक्रिये कथम् ॥८०॥

अविक्रियत्वेऽपि तादात्म्यमध्यक्षस्य भवेद्यदि ।
आत्माध्यक्षो ममास्तीति संवन्धाग्रहणे न धीः ॥८१॥

संवन्धग्रहणं शास्त्रादिति चेन्मन्यसे न हि ।
पूर्वोक्ताः स्युस्त्रिधा दोषा ग्रहो वा स्यान्ममेति च ॥८२॥

अदृशिर्दृशिरूपेण भाति वुद्धिर्यदा तदा ।
प्रत्यया अपि तस्याः स्युस्तप्तायोविस्फुलिङ्गवत् ॥८३॥

आभासस्तदभावश्च दृशेः सोम्नो न चान्यथा ।
लोकस्य युक्तितः स्यातां तद्ग्रहश्च तथा सति ॥८४॥

नन्वेवं दृशिसंक्रान्तिरयःपिन्डेऽग्निवद्भवेत् ।
मुखाभासवदित्येतदादर्शे तन्निराकृतम् ॥८५॥

कृष्णायो लोहिताभासमित्येतद्दृष्टमुच्यते ।
दृष्टदार्ष्टान्ततुल्यत्वं न तु सर्वात्मना क्वचित् ॥८६॥

तथैव चेतनाभासं चित्तं चैतन्यवद्भवेत् ।
मुखाभासो यथाऽऽदर्शे आभासश्चोदितो मृषा ॥८७॥

चित्तं चेतनमित्येतच्छास्त्रयुक्तिविवर्जितम् ।
देहस्यापि प्रसङ्गः स्याच्चक्षुरादेस्तथैव च ॥८८॥

तदप्यस्त्विवति चेत्तन्न लोकायतिकसङ्गतेः ।
न च धीर्दृशिरस्मीति यद्याभासो न चेतसि ॥८९॥

सदस्मीति धियोऽभावे व्यर्थं स्यात्तत्त्वमस्यपि ।
युष्मदस्मद्विभागज्ञे स्यादर्थवदिदं वचः ॥९०॥

ममेदंप्रत्ययौ ज्ञेयौ युष्मद्येव न संशयः ।
अहमित्यस्मदीष्टः स्यादयमस्मीति चोभयोः ॥९१॥

अन्योन्यापेक्षया तेषां प्रधानगुणतेष्यते ।
विशेषणविशेष्यत्वं तथा ग्राह्यं हि युक्तितः ॥९२॥

ममेदं द्वयमप्येतन्मध्यमस्य विशेषणम् ।
धनी गोमान्यथा तद्वद्देह्योऽहंकर्तुरेव च ॥९३॥

बुद्ध्यारूढं सदा सर्वं साहंकर्त्रा च साक्षिणः ।
तस्मात्सर्वावभासो ज्ञः किञ्चिदप्यस्पृशन्सदा ॥९४॥

प्रतिलोममिदं सर्वं यथोक्तं लोकवुद्धितः ।
अविवेकधियामस्ति नास्ति सर्वं विवेकिनाम् ॥९५॥

अन्वयव्यतिरेकौ हि पदार्थस्य पदस्य च ।
स्यादेतदहमित्यत्र युक्तिरेवावधारणे ॥९६॥

नाद्राक्षमहमित्यस्मिन्सुषुप्तेऽन्यन्मनागपि ।
न वारयति दृष्टिं स्वां प्रत्ययं तु निषेधति ॥९७॥

स्वयंज्योतिर्न हि द्रष्टुरित्येवं संविदोऽस्तिताम् ।
कौटस्थ्यं च तथा तस्याः प्रत्ययस्य तु लुप्तताम् ।
स्वयमेवाब्रवीच्छास्त्रं प्रत्ययावगति पृथक् ॥९८॥

एवं विज्ञातवाक्यार्थे श्रुतिलोकप्रसिद्धितः ।
श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह श्रोतुर्मोहापनुत्तये ॥९९॥

ब्रह्मा दाशरथेर्यद्वदुक्त्यैवापानुदत्तमः ।
तस्य विष्णुत्वसंबोधे न यत्नान्तरमूचिवान् ॥१००॥

अहंशब्दस्य निष्ठा या ज्योतिषि प्रत्यगात्मनि ।
सैवोक्ता सदसीत्येवं फलं तत्र विमुक्तता ॥१०१॥

श्रुतमात्रेण चेन्न स्यात्कार्यं तत्र भवेद्ध्रुवम् ।
व्यवहारात्पुरापीष्टः सद्भावः स्वयमात्मनः ॥१०२॥

अशनायादिनिर्मुक्त्यै तत्काला जायते प्रमा ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थे त्रिषु कालेष्वसंशयः ॥१०३॥

प्रतिवन्धविहीनत्वात्स्वयं चानुभवात्मनः ।
जायेतैव प्रमा तत्र स्वात्मन्येव न संशयः ॥१०४॥
किं सदेवाहमस्मीति किंवाऽन्यत्प्रतिपद्यते ।
सदेव चेदहंशब्दः सता मुख्यार्थं इष्यताम् ॥१०५॥
अन्यच्चेत् सदहंग्राहप्रतिपत्तिर्मृषैव सा ।
तस्मान्मुख्यग्रहे नास्ति वारणाऽवगतेरिह ॥१०६॥
प्रत्ययी प्रत्ययश्चैव यदाभासौ तदर्थता ।
तयोरचितिमत्त्वाच्च चैतन्ये कल्प्यते फलम् ॥१०७॥
कूटस्थेऽपि फलं योग्यं राजनीव जयादिकम् ।
तदनात्मत्वहेतुभ्यां क्रियायाः प्रत्ययस्य च ॥१०८॥
आदर्शस्तु यदाभासो मुखाकारः स एव सः ।
यथैवं प्रत्ययादर्शो यदाभासस्तदा ह्यहम् ॥१०९॥
इत्येवं प्रतिपत्तिः स्यात्सदस्मीति च नान्यथा ।
तत्त्वमित्युपदेशोऽपि द्वाराभावादनर्थकः ॥११०॥
श्रोतुः स्यादुपदेशश्चेदर्थवत्त्वं तथा भवेत् ।
अध्यक्षस्य न चेदिष्टं श्रोतृत्वं कस्य तद्भवेत् ॥१११॥
अध्यक्षस्य समीपे स्याद्‌बुद्धेरेवेति चेन्मतम् ।
न तत्कृतोपकारोऽस्ति काष्ठाद्यद्वन्न कल्प्यते ॥११२॥
बुद्धौ चेत्तत्कृतः कश्चिन्नन्वेवं परिणामिता ।
आभासेऽपि च को दोषः सति श्रुत्याद्यनुग्रहे ॥११३॥
आभासे परिणामश्चेन्न रज्ज्वादिनिभत्ववत् ।
सर्पादिश्च तथाऽवोचमादर्शे च मुखत्ववत् ॥११४॥
नाऽऽत्माभासत्वसिद्धिश्चेदात्मनो ग्रहणात्पृथक् ।
मुखादेश्च पृथक्सिद्धिरिह त्वन्योन्यसंश्रयः ॥११५॥

अध्यक्षस्य पृथक्सिद्धावाभासस्य तदीयता ।
आभासस्य तदीयत्वे ह्यध्यक्षव्यतिरिक्तता ॥११६॥

नैवं स्वप्ने पृथक्सिद्धेः प्रत्ययस्य दृशेस्तथा ।
रथादेस्तत्र शून्यत्वात्प्रत्ययस्याऽऽत्मना ग्रहः ॥११७॥

अवगत्या हि संव्याप्तः प्रत्ययो विपयाकृतिः ।
जायते स यदाकारः स बाह्यो विपयो मतः ॥११८॥

कर्मेप्सिततमत्वात्स तद्वान्कार्ये नियुज्यते ।
आकारो यत्र चार्प्येत करणं तदिहोच्यते ॥११९॥

यदाभासेन संव्याप्तः स ज्ञातेति निगद्यते ।
त्रयमेतद्विविच्यात्र यो जानाति स आत्मवित् ॥१२०॥

सम्यक्संशयमिथ्योक्ताः प्रत्यया व्यभिचारिणः ।
एकैवावगतिस्तेपु भेदस्तु प्रत्ययार्पितः ॥१२१॥

आधिभेदाद्यथा भेदो मणेरवगतेस्तथा ।
अशुद्धिः परिणामश्च सर्वं प्रत्ययसंश्रयात् ॥१२२॥

प्रथनं ग्रहणं सिद्धिः प्रत्ययानामिहाऽन्यतः ।
आपरोक्ष्यात्तदेवोक्तमनुमानं प्रदीपवत् ॥१२३॥

किमन्यद्ग्राहयेत्कश्चित् प्रमाणेन तु केनचित् ।
विनैव तु प्रमाणेन निवृत्त्यान्यस्य शेपतः ॥१२४॥

शब्देनैव प्रमाणेन निवृत्तिश्चेदिहोच्यते ।
अध्यक्षस्याप्रसिद्धत्वाच्छून्यतैव प्रसज्यते ॥१२५॥

चेतनत्वं कथं देह इति चेन्नाप्रसिद्धितः ।
चेतनस्यान्यतः सिद्धावेवं स्यादन्यहानतः ॥१२६॥

अध्यक्षः स्वयमस्त्येव चेतनस्याऽपरोक्षतः ।
तुल्य एवं प्रबोधः स्यादन्यस्याऽसत्त्ववादिना ॥१२७॥

अहमज्ञासिषं चेदमिति लोकस्मृतेरिह ।
करणं कर्म कर्ता च सिद्धास्त्वेकक्षणे किल ॥१२८॥

प्रामाण्येऽपि स्मृतेः शैघ्र्याद्यौगपद्यं विभाव्यते ।
क्रमेण ग्रहणं पूर्वं स्मृतेः पश्चात्तथैव च ॥१२९॥

अज्ञासिषमिदं मां चेत्यपेक्षा जायते ध्रुवम् ।
विशेषोऽपेक्ष्यते यत्र तत्र नैवैककालता ॥१३०॥

आत्मनो ग्रहणे चाऽपि त्रयाणामिह संभवात् ।
आत्मन्यासक्तकर्तृत्वं न स्यात्करणकर्मणोः ॥१३१॥

व्याप्तुमिष्टं च यत्कर्तुः क्रियया कर्म तत्स्मृतम् ।
अतो हि कर्तृतन्त्रत्वं तस्येष्टं नाऽन्यतन्त्रता ॥१३२॥

शब्दाद्वाऽनुमितेर्वाऽपि प्रमाणाद्वा ततोऽन्यतः ।
सिद्धिः सर्वपदार्थानां स्यादज्ञं प्रति नाऽन्यथा ॥१३३॥

अध्यक्षस्यापि सिद्धिः स्यात्प्रमाणेन विनैव वा ।
विना स्वस्य प्रसिद्धिस्तु नाज्ञं प्रत्युपयुज्यते ॥१३४॥

तस्यैवाऽज्ञत्वमिष्टं चेज्ज्ञानत्वेऽन्या मतिर्भवेत् ।
अन्यस्यैवाऽज्ञतायां च तद्विज्ञाने ध्रुवा भवेत् ॥१३५॥

ज्ञातता स्वात्मलाभो वा सिद्धिः स्यादन्यदेव वा ।
ज्ञातत्वेऽनन्तरोक्तौ त्वं पक्षौ संस्मर्तुमर्हसि ॥१३६॥

सिद्धिः स्यात्स्वात्मलाभश्चेद्यत्नस्तत्र निरर्थकः ।
सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् स्वहेतुभ्यस्तु वस्तुनः ॥१३७॥

ज्ञानज्ञेयादिवादेऽतः सिद्धिर्ज्ञातत्वमुच्यते ।
अध्यक्षाध्यक्ष्ययोः सिद्धिर्ज्ञेयत्वं नाऽऽत्मलाभता ॥१३८॥

स्पष्टत्वं कर्मकर्त्रादेः सिद्धिता यदि कल्प्यते ।
स्पष्टताऽस्पष्टते स्यातामन्यस्यैव न चाऽऽत्मनः ॥१३९॥

अद्रष्टुर्नैव चान्धस्य स्पष्टीभावो घटस्य तु ।
कर्त्रादेः स्पष्टतेष्टा चेद्द्रष्टृताऽध्यक्षकर्तृका ॥१४०॥

अनुभूतेः किमन्यस्मिन् स्यात्तवाऽपेक्षया वद ।
अनुभवितरीष्टा स्यात् सोऽप्यनुभूतिरेव नः ॥१४१॥

अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥१४२॥

भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ।
सत्त्वं नाशित्वमस्याश्चेत् सकर्तृत्वं तथेष्यताम् ॥१४३॥

न कश्चिच्चेष्यते धर्म इति चेत्पक्षहानता ।
नन्वस्तित्वादयो धर्मा नास्तित्वादिनिवृत्तयः ।
न भूतेस्तर्हि नाशित्वं स्वालक्षण्यं मतं हि ते ॥१४४॥

स्वलक्षणावधिर्नाशो नाशोऽनाशनिवृत्तिता ।
अगोरसत्त्वं गोत्वं ते न तु तद्गोत्वलक्षणम् ॥१४५॥

क्षणवाच्योऽपि योऽर्थः स्यात्सोऽप्यन्याभाव एव ते ॥१४६॥

भेदाभावेऽप्यभावस्य भेदो नामभिरिष्यते ।
नामभेदैरनेकत्वमेकस्य स्यात्कथं तव ॥१४७॥

अपोहो यदि भिन्नानां वृत्तिस्तस्य कथं गवि ।
नाभावा भेदकाः सर्वे विशेषा वा कथंचन ॥१४८॥

नामजात्यादयो यद्वत्संविदस्तेऽविशेषतः ॥१४९॥

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यवहारे यदिच्छसि ।
क्रियाकारकभेदैस्तदभ्युपेयं ध्रुवं भवेत् ॥१५०॥

तस्मान्नीलं यथा पीतं घटादिर्वा विशेषणम् ।
संविदस्तदुपेयं स्याद्येन चाप्यनुभूयते ॥१५१॥

रूपादीनां यथाऽन्यः स्याद्ग्राह्यत्वाद्ग्राहकस्तथा।
प्रत्ययस्य तथाऽन्यः स्याद्व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् ॥१५२॥

अध्यक्षस्य दृशेः कीदृक्संबन्धः संभविष्यति।
अध्यक्ष्येण तु दृश्येन मुक्त्वाऽन्यो द्रष्टृदृश्यताम् ॥१५३॥

अध्यक्षेण कृता दृष्टिर्दृश्यं व्याप्नोत्यथाऽपि वा।
नित्याध्यक्षकृतः कश्चिदुपकारो भवेद्धियाम् ॥१५४॥

स चोक्तस्तन्निभत्वं प्राक्संव्याप्तिश्च घटादिषु।
यथाऽऽलोकादिसंव्याप्तिर्व्यंञ्जकत्वाद्धियस्तथा ॥१५५॥

आलोकस्थो घटो यद्वद्वुद्ध्याख्ढो भवेत्तथा।
धीव्याप्तिः स्याद्घटारोहो धियो व्याप्तौ क्रमो भवेत् ॥१५६॥

पूर्वं स्यात्प्रत्ययव्याप्तिस्ततोऽनुग्रह आत्मनः।
कृत्स्नाध्यक्षस्य नो युक्तः कालाकाशादिवत्क्रमः ॥१५७॥

विषयग्रहणं यस्य कारणापेक्षया भवेत्।
सत्येव ग्राह्यशेषे च परिणामी स चित्तवत् ॥१५८॥

अध्यक्षोऽहमिति ज्ञानं वुद्धेरेव विनिश्चयः।
नाध्यक्ष्याविशेषत्वान्न तस्यास्ति परो यतः ॥१५९॥

कर्त्री चेदहमित्येवमनुभूयेत मुक्तता।
सुखदुःखविनिर्मोको नाहंकर्तरि युज्यते ॥१६०॥

देहादावभिमानोत्थो दुःखीति प्रत्ययो ध्रुवम्।
कुण्डलीप्रत्ययो यद्वत्प्रत्यगात्माभिमानिना ॥१६१॥

वाध्यते प्रत्ययेनेह विवेकेनाऽविवेकवान्।
विपर्यासोऽसदन्तं स्यात्प्रमाणस्याप्रमाणतः ॥१६२॥

दाहच्छेदविनाशेषु दुःखित्वं नान्यथाऽऽत्मनः।
नैव ह्यन्यस्य दाहादावन्यो दुःखी भवेत्क्वचित् ॥१६३॥

अस्पर्शत्वाददेहत्वान्नाहं दाह्यो यतः सदा ।
तस्मान्मिथ्याभिमानोत्थं मृते पुत्रे मृतिर्यथा ॥१६४॥

कुण्डल्यहमिति ह्येतद्बाध्येतैव विवेकिना ।
दुःखीति प्रत्ययस्तद्वत् केवलाहंधिया सह ॥१६५॥

सिद्धे दुःखित्व इष्टं स्यात् तच्छक्तिश्छन्दसाऽऽत्मनः ।
मिथ्याभिमानतो दुःखी तेनाऽर्थापादनक्षमः ॥१६६॥

अस्पर्शोऽपि यथा स्पर्शमचलश्चलनादि च ।
अविवेकात्तथा दुःखं मानसं चात्मनीक्षते ॥१६७॥

विवेकात्मधिया दुःखं नुद्यते चलनादिवत् ।
अविवेकस्वभावेन मनो गच्छत्यनिच्छतः ॥१६८॥

तदा तु दृश्यते दुःखं नैश्चल्ये नैव तस्य तत् ।
प्रत्यगात्मनि तस्मात्तद्दुःखं नैवोपपद्यते ॥१६९॥

त्वंसतोस्तुल्यनीडत्वान्नीलाश्ववदिदं भवेत् ॥१७०॥

निर्दुःखवाचिना योगात् त्वंशब्दस्य तदर्थता ।
प्रत्यगात्माभिधानेन तच्छब्दस्य युतेस्तथा ।।१७१।।

दशमस्त्वमसीत्येवं वाक्यं स्यात्प्रत्यगात्मनि ॥१७२॥

स्वार्थस्य ह्यप्रहाणे विशिष्टार्थसमर्पकौ ।
प्रत्यगात्मावगत्यन्तो नान्योऽर्थोऽर्थाद्विरोध्यतः ॥१७३॥

नवबुद्ध्यपहाराद्धि स्वात्मानं दशपूरणम् ।
अपश्यञ्ज्ञातुमेवेच्छेत् स्वमात्मानं जनस्तथा ॥१७४॥

अविद्याबद्धचक्षुष्ट्वात्कामापहृतधीः सदा ।
विविक्तं दृशिमात्मानं नेक्षते दशमं यथा ॥१७५॥

दशमस्त्वमसीत्येवं तत्त्वमस्यादिवाक्यतः ।
स्वमात्मानं विजानाति कृत्स्नान्तःकरणेक्षणम् ॥१७६॥

इदं पूर्वमिदं पश्चात् पदं वाक्यं भवेदिति।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ततो वाक्यार्थबोधनम् ॥१७७॥

वाक्ये हि श्रूयमाणानां पदानामर्थसंस्मृतिः।
नियमो नैव वेदेऽस्ति पदसाङ्गत्यमर्थतः ॥१७८॥

यदा नित्येषु वाक्येषु पदार्थस्तु विविच्यते।
वाक्यार्थज्ञानसंक्रान्त्यै तदा प्रश्नो न युज्यते ॥१७९॥

अन्वयव्यतिरेकोक्तिः पदार्थस्मरणाय तु।
स्मृत्यभावे न वाक्यार्थो ज्ञातुं शक्यो हि केनचित् ॥१८०॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु त्वंपदार्थाविवेकतः।
व्यज्यते नैव वाक्यार्थो नित्यमुक्तोऽहमित्यतः ॥१८१॥

अन्वयव्यतिरेकोक्तिस्तद्विवेकाय नान्यथा।
त्वंपदार्थविवेके हि पाणार्पितविल्ववत् ॥१८२॥

वाक्यार्थो व्यज्यते चैवं केवलोऽहंपदार्थतः।
दुःखीत्येतदपोहेन प्रत्यगात्मविनिश्चयात् ॥१८३॥

तत्रैवं संभवत्यर्थे श्रुतहानाश्रुतार्थधीः।
नैव कल्पयितुं युक्ता पदवाक्यार्थकोविदैः ॥१८४॥

प्रत्यक्षादीनि बाधेरन् कृष्णलादिषु पाकवत्।
अक्षजानिनिभैरेतैः कथं स्याद्वाक्यबाधनम् ॥१८५॥

दुःख्यस्मीति सति ज्ञाने निर्दुःखीति न जायते।
प्रत्यक्षादिनिभत्वेऽपि वाक्यान्न व्यभिचारतः ॥१८६॥

स्वप्ने दुःख्यहमध्यासं दाहच्छेदादिहेतुतः।
तत्कालभाविभिर्वाक्यैर्नं बाधः क्रियते यदि ॥१८७॥

समाप्तेस्तर्हि दुःखस्य प्राक्च तद्बाध इष्यताम्।
न हि दुःखस्य सन्तानो भ्रान्तेर्वा दृश्यते क्वचित् ॥१८८॥

प्रत्यगात्मन आत्मत्वं दुःख्यस्मीत्यस्य बाधया।
दशमं नवमस्येव वेद चेदविरुद्धता ॥१८९॥

नित्यमुक्तत्वविज्ञानं वाक्याद्भवति नान्यतः।
वाक्यार्थस्यापि विज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥१९०॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थः स्मर्यते ध्रुवम्।
एवं निर्दुःखमात्मानमक्रियं प्रतिपद्यते ॥१९१॥

सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः प्रमा स्फुटतरा भवेत्।
दशमस्त्वमसीत्यस्माद्यथैवं प्रत्यगात्मनि ॥१९२॥

प्रबोधेन यथा स्वाप्नं सर्वदुःखं निवर्तते।
प्रत्यगात्मधिया तद्वद्दुःखित्वं सर्वदाऽऽत्मनः ॥१९३॥

कृष्णलादौ प्रमाऽजन्म तदन्यार्थाऽमृदुत्वतः।
तत्त्वमस्यादिवाक्येषु न त्वेवमविरोधतः ॥१९४॥

वाक्ये तत्त्वमसीत्यस्मिन् ज्ञातार्थं तदसिद्धयम्।
त्वमर्थे सत्यसाहाय्याद्वाक्यं नोत्पादयेत्प्रमाम् ॥१९५॥

तत्त्वमोस्तुल्यनीडार्थमसीत्येतत्पदं भवेत् ॥१९६॥

तच्छब्दः प्रत्यगात्मार्थस्तच्छब्दार्थस्त्वमस्तथा।
दुःखित्वाप्रत्यगात्मत्वं वारयेतामुभावपि ॥१९७॥

एवं च नेतिनेत्यर्थं गमयेतां परस्परम् ॥१९८॥

एवं तत्त्वमसीत्यस्य गम्यमाने फले कथम्।
अप्रमाणत्वमस्योक्त्वा क्रियापेक्षत्वमुच्यते ॥१९९॥

तस्मादाद्यन्तमध्येषु कुर्वित्येतद्विरोध्यतः।
न कल्प्यमश्रुतत्वाच्च श्रुतत्यागोऽप्यनर्थकः ॥२००॥

यथाऽनुभूयते तृप्तिर्भुजेर्वाक्यान्न गम्यते।
वाक्यस्य विघृतिस्तद्वद्गोशकृत्पायसी क्रिया ॥२०१॥

सत्यमेवमनात्मार्थंवाक्यात्पारोक्ष्यवोधनम् ।
प्रत्यगात्मनि न त्वेवं संख्याप्राप्तिवदध्रुवम् ॥२०२॥
स्वसंवेद्यत्वपर्यायः स्वप्रमाणक इष्यताम् ।
निवृत्तावहमः सिद्धः स्वात्मनोऽनुभवश्च नः ॥२०३॥
बुद्धीनां विपयो दुःखं नो यस्य विपया मताः ।
कुतोऽस्य दुःखसंवन्धो दृशेः स्यात्प्रत्यगात्मनः ॥२०४॥
दृशिरेवाऽनुभूयेत स्वेनैवाऽनुभवात्मना ।
तदाभासतया जन्म धियोऽस्याऽनुभवः स्मृतः ॥२०५॥
अशनायादिनिर्मुक्तः सिद्धो मोक्षस्त्वमेव सः ।
श्रोतव्यादि तवेत्येतद्विरुद्धं कथमुच्यते ॥२०६॥
सेत्स्यतीत्येव चेत्तत्स्याच्छ्रवणादि तदा भवेत् ।
मोक्षस्यानित्यतैवं स्याद्विरोधे नान्यथा वचः ॥२०७॥
श्रोतृश्रोतव्ययोर्भेदो यदीष्टः स्याद्भवेदिदम् ।
इष्टार्थकोप एवं स्यान्न युक्तं सर्वथा वचः ॥२०८॥
सिद्धो मोक्षोऽहमित्येवं ज्ञात्वाऽऽत्मानं भवेद्यदि ।
चिकीर्षुर्यः स मूढात्मा शास्त्रं चोद्घाटयत्यपि ॥२०९॥
न हि सिद्धस्य कर्तव्यं सकार्यस्य न सिद्धता ।
उभयालम्बनं कुर्वन्नात्मानं वञ्चयत्यपि ॥२१०॥
सिद्धो मोक्षस्त्वमित्येतद्वस्तुमात्रं प्रदर्श्यते ।
श्रोतुस्तथात्वविज्ञाने प्रवृत्तिः स्यात्कथं न्विति ॥२११॥
कर्ता दुःख्यहमस्मीति प्रत्यक्षेणाऽनुभूयते ।
कर्ता दुःखी च मा भूवमिति यत्नो भवेत्तवः ॥२१२॥
तद्विज्ञानाय युक्त्यादि कर्तव्यं श्रुतिरब्रवीत् ।
कर्तृत्वाद्यनुवादेन सिद्धत्वानुभवाय तु ॥२१३॥

निर्दु:खो निष्क्रियोऽकामः सिद्धो मोक्षोऽहमित्यपि ।
गृहीत्वैव विरुद्धार्थमादध्यात्कथमेव सः ॥२१४॥

सकामः सक्रियोऽसिद्ध इति मेऽनुभवः कथम् ।
अतो मे विपरीतस्य तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥२१५॥

इहैव घटते प्रश्नो न मुक्तत्वानुभूतये ।
प्रमाणेन विरोधी यः सोऽन्नार्थः प्रश्नमर्हति ॥२१६॥

अहं निर्मुक्त इत्येव सदसीत्यन्यमानजः ।
प्रत्यक्षाभासजन्यत्वाद्दुःखित्वं प्रश्नमर्हति ॥२१७॥

पृष्टमाकाङ्क्षितं वाच्यं दुःखाभावमभीप्सितम् ॥२१८॥

कथं ह्यीदं निवर्तेत दुःखं सर्वात्मना मम ।
इति प्रश्नानुरूपं यद्वाच्यं दुःखनिवर्तकम् ॥२१९॥

श्रुतेः स्वात्मनि नाशङ्का प्रमाण्ये सति विद्यते ।
तस्मादात्मविमुक्तत्वं प्रत्याययति तद्वचः ।
वक्तव्यं तत्तथार्थं स्याद्विरोधेऽसति केनचित् ॥२२०॥

इतोऽन्योऽनुभवः कश्चिदात्मनो नोपपद्यते ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातारमिति श्रुतेः ॥२२१॥

त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् ।
साधनत्वं व्रजत्येवं शान्तो दान्तानुशासनात् ॥२२२॥

त्वमर्थं प्रत्यगात्मानं पश्येदात्मानमात्मनि ।
वाक्यार्थं तत आत्मानं सर्वं पश्यति केवलम् ॥२२३॥

सर्वमात्मेति वाक्यार्थे विज्ञातेऽस्य प्रमाणतः ।
असत्त्वे ह्यन्यमानस्य विधिस्तं योजयेत्कथम् ॥२२४॥

तस्माद्वाक्यार्थविज्ञानान्नोर्ध्वं कर्मविधिर्भवेत् ।
नहि ब्रह्मास्मि कर्तेति विरुद्धे भवतो धियौ ॥२२५॥

ब्रह्मास्मीति च विद्येयं नैव कर्तेति बाध्यते ।
सकामो बद्ध इत्येवं प्रमाणाभासजातया ॥२२६॥

शास्त्राद्ब्रह्मास्मि नान्योऽहमिति बुद्धिर्भवेद्दृढा ।
यदा युक्ता तदैवंधीर्यथा देहात्मधीरिति ॥२२७॥

सभयादभयं प्राप्तस्तदर्थं यतते च यः ।
स पुनः सभयं गन्तुं स्वतन्त्रश्चेन्न हीच्छति ॥२२८॥

यथेष्टाचरणप्राप्तिः संन्यासादिविधौ कुतः ।
पदार्थाज्ञानबुद्धस्य वाक्यार्थानुभवार्थिनः ॥२२९॥

अतः सर्वमिदं सिद्धं यत्प्रागस्माभिरीरितम् ॥२३०॥

यो हि यस्माद्विरक्तः स्यान्नासौ तस्मै प्रवर्तते ।
लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते ॥२३१॥

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मृष्टान्नध्वस्ततृड् जानन् नामूढस्तज्जिघत्सति ॥२३२॥

वेदान्तवाक्यपुष्पेभ्यो ज्ञानामृतमधूत्तमम् ।
उज्जहारालिवद्यो नस्तस्मै सद्गुरवे नमः ॥२३३॥

तृष्णाज्वरनाशकप्रकरणम् ॥१९॥

प्रयुज्य तृष्णाज्वरनाशकारणं चिकित्सितं ज्ञानविरागभेषजम् ।
न याति कामज्वरसन्निपातजां शरीरमालां शतयोगदुःखिताम् ॥१॥

अहंममेति त्वमनर्थमीहसे परार्थमिच्छन्ति तवान्य ईहितम् ।
न तेऽर्थबोधो न हि मेऽस्ति चार्थिता ततश्च युक्तः शम एव ते मनः ॥२॥

यतो न चान्यः परमात्सनातनात्सदैव तृप्तोऽहमतो न मेऽर्थिता ।
सदैव तृप्तश्च न कामये हितं यतस्व चेतः प्रशमाय ते हितम् ॥३॥

षड्र्मिमालाभ्यतिवृत्त एव यः स एव चात्मा जगतश्च नः श्रुतेः ।
प्रमाणतश्चापि मया प्रवेद्यते मुधैव तस्माच्च मनस्तवेहितम् ॥४॥

त्वयि प्रशान्ते नहि चास्ति भेदधीर्यतो जगन्मोहमुपैति मायया ।
ग्रहो हि मायाप्रभवस्य कारणं ग्रहाद्विमोके नहि साऽस्ति कस्यचित् ॥५॥

न मेऽस्ति मोहस्तव चेष्टितेन हि प्रवुद्धतत्त्वस्त्वसितो ह्यविक्रियः ।
न पूर्वतत्त्वोत्तरभेदता हि नो वृथैव तस्माच्च मनस्तवेहितम् ॥६॥

यतश्च नित्योऽहमतो न चान्यथा विकारयोगे हि भवेदनित्यता ।
सदा प्रभातोऽहमतो हि चाद्वयो विकल्पितं चाप्यसदित्यवस्थितम् ॥७॥

अभावरूपं त्वमसीह हे मनो निरीक्ष्यमाणे न हि युक्तितोऽस्तिता ।
सतो ह्यनाशादसतोऽप्यजन्मतो द्वयं च चेतस्तव नास्तितेष्यते ॥८॥

द्रष्टा च दृश्यं च तथा च दर्शनं भ्रमस्तु सर्वस्तव कल्पितो हि सः ।
दृशेश्च भिन्नं न हि दृश्यमीक्ष्यते स्वपन् प्रबोधेन तथा न भिद्यते ॥९॥

विकल्पना वाऽपि तथाऽद्वया भवेदवस्तुयोगात्तदलातचक्रवत् ।
न शक्तिभेदोऽस्ति यतो न चाऽऽत्मनां ततोऽद्वयत्वं श्रुतितोऽवसीयते ॥१०

मिथश्च भिन्ना यदि ते हि चेतनाः क्षयस्तु तेषां परिमाणयोगतः ।
ध्रुवा भवेद्भेदवतां हि दृष्टतो जगत्क्षयश्चापि समस्तमोक्षतः ॥११॥

न मेऽस्ति कश्चिन्न च सोऽस्मि कस्यचित्
यतोऽद्वयोऽहं न हि चास्ति कल्पितम् ।
अकल्पितश्चास्मि पुरा प्रसिद्धितो
विकल्पनाया द्वयमेव कल्पितम् ॥१२॥

विकल्पना चाप्यभवे न विद्यते सदन्यदित्येवमतो न नास्तिता ।
यतः प्रवृत्ता तव चापि कल्पना पुरा प्रसिद्धेर्न च तद्धि कल्पितम् ॥१३॥

असद्द्वयं तेऽपि हि यद्यदीक्ष्यते न दृष्टमित्येव न चैव नास्तिता।
यतः प्रवृत्ता सदसद्विकल्पना विचारवद्वाऽपि तथाऽद्वयं च सत् ॥१४॥

सदभ्युपेतं भवतोपकल्पितं विचारहेतोर्यदि तस्य नास्तिता।
विचारहानाच्च तथैव संस्थितं न चेत्तदिष्टं नितरां सदिष्यते ॥१५॥

असत्समं चैव सदित्यपीति चेदनर्थवत्त्वान्नरशृङ्गतुल्यतः।
अनर्थवत्त्वं त्वसति ह्यकारणं न चैव तस्मान्न विपर्ययेऽन्यथा ॥१६॥

असिद्धतश्चापि विचारकारणाद्द्वयं च तस्मात्प्रसृतं च मायया।
श्रुतेः स्मृतेश्चापि तथा हि युक्तितः प्रसिद्ध्यतीत्थं न तु युज्यतेऽन्यथा ॥१७॥

विकल्पनाच्चापि विधर्मकं श्रुतेः पुरा प्रसिद्धेश्च विकल्पतोऽद्वयम्।
न चेति नेतीति यथा विकल्पितं निषिद्ध्यतेऽत्राप्यविशेषसिद्धये ॥१८॥

अकल्पितेऽप्येवमजेऽद्वयेऽक्षरे विकल्पयन्तः सदसच्च जन्मभिः।
स्वचित्तमायाप्रभवं च ते भवं जरां च मृत्युं च नियान्ति संततम् ॥१९॥

भवाभवत्वं तु न चेदवस्थितिर्न चास्य चान्यस्थितिजन्म नान्यथा।
सतो ह्यसत्त्वादसतश्च सत्त्वतो न च क्रियाकारकमित्यतोऽप्यजम् ॥२०॥

अकुर्वदिष्टं यदि वाऽस्य कारकं न किञ्चिदन्यन्ननु नास्त्यकारकम्।
सतोऽविशेषादसतश्च सच्च्युतो तुलान्तयोर्यद्वदनिश्चयान्न हि ॥२१॥

न चेत्स इष्टः सदसद्विपर्ययः कथं भवः स्यात्सदसद्व्यवस्थितौ।
विभक्तमेतद्द्वयमप्यवस्थितं न जन्म तस्माच्च मनो हि कस्यचित् ॥२२॥

अथाऽभ्युपेत्याऽपि भवं तवेच्छतो ब्रवीमि नार्थस्तव चेष्टितेन मे।
न हानवृद्धी न यतः स्वतोऽसतो भवोऽन्यतो वा यदि वाऽस्तिता तयोः ॥२३॥

ध्रुवा ह्यनित्याश्च न चान्ययोगिनो
मिथश्च कार्यं न च तेषु युज्यते ।
अतो न कस्यापि हि किञ्चिदिष्यते
स्वयं च तत्त्वं न निरुक्तिगोचरम् ॥२४॥

समं तु तस्मात्सततं विभातवद्द्वयाद्विमुक्तं सदसद्विकल्पितात् ।
निरीक्ष्य युक्त्या श्रुतितस्तु बुद्धिमानशेषनिर्वाणमुपैति दीपवत् ॥२५॥

अवेद्यमेकं यदनन्यवेदिनां कुतार्किकाणां च सुवेद्यमन्यथा ।
निरीक्ष्य चेत्थं त्वगुणग्रहोऽगुणं न याति मोहं ग्रहदोषमुक्तितः ॥२६॥

अतोऽन्यथा न ग्रहनाश इष्यते विमोहबुद्धेर्ग्रह एव कारणम् ।
ग्रहोऽप्यहेतुस्त्वनलस्त्वनिन्धनो यथा प्रशान्ति परमां तथा व्रजेत् ॥२७॥

विमथ्य वेदोदधितः समुद्धृतं सुरैर्महाब्धेस्तु यथा महात्मभिः ।
तथाऽमृतं ज्ञानमिदं हि यैः पुरा नमो गुरुभ्यः परमीक्षितं च यैः ॥२८॥

उपदेशसाहस्री

(गद्यभागः)

अथ मोक्षसाधनोपदेशविधिं व्याख्यास्यामो मुमुक्षूणां श्रद्दधानानामर्थिनामर्थाय ॥१॥

तदिदं मोक्षसाधनं ज्ञानं साधनसाध्यादनित्यात्सर्वस्माद्विरक्ताय त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणाय प्रतिपन्नपरमहंसपारिव्राज्याय शमदमदयादियुक्ताय शास्त्रप्रसिद्धशिष्यगुणसंपन्नाय शुचये ब्राह्मणाय विधिवदुपसन्नाय जातिकर्मवृत्तविद्याभिजनैः परीक्षिताय शिष्याय ब्रूयात् पुनः पुनर्यावद्ग्रहणं दृढीभवति ॥२॥

श्रुतिश्च—"परीक्ष्य""तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" इति। दृढगृहीता हि विद्याऽऽत्मनः श्रेयसे संतत्यै च भवति। विद्यासन्ततिश्च प्राण्यनुग्रहाय भवति, नौरिव नदीं तितीर्षोः। शास्त्रं च—"यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूयः" इति। अन्यथा च ज्ञानप्राप्त्यभावात् "आचार्यवान् पुरुषो वेद", "आचार्याद्धैव विद्या विदिता", "आचार्यः प्लावयिता तस्य सम्यग्ज्ञानं प्लव इहोच्यते" इत्यादिश्रुतिभ्यः, "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ॥३॥

शिष्यस्य ज्ञानाग्रहणं च लिंगैर्बुद्ध्वा तदग्रहणहेतूनधर्मलौकिकप्रमादनित्यानित्यवस्तुविवेकविषयासञ्जातदृढपूर्वश्रुतत्वलोकचिन्तावेक्षणजात्याद्यभिमानादींस्तत्प्रतिपक्षैः श्रुतिस्मृतिविहितैरपनयेदक्रोधादिभिरहिंसादिभिश्च यमैः, ज्ञानाविरुद्धैश्च नियमैः ॥४॥

अमानित्वादिगणं च ज्ञानोपायं सम्यग्ग्राहयेत् ॥५॥

आचार्यस्त्वोहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसम्पन्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टभोगेष्वनासक्तस्त्यक्तसर्वकर्मसाधनो ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितोऽभिन्नवृत्तो दंभदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोषविवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी। पूर्वमुपदिशेत्—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "यत्र नान्यत्पश्यति", "आत्मैवेदं सर्वम्", "ब्रह्मैवेदं सर्वम्", "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्याद्या आत्मैक्यप्रतिपादनपराः श्रुतीः ॥६॥

उपदिश्य च ग्राहयेद्ब्रह्मणो लक्षणम्—"य आत्माऽपहतपाप्मा", "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म", "योऽशनायापिपासे", "नेति नेति", "अस्थूलमनणु", "स एष नेति नेति", "अदृष्टं द्रष्टृ", "विज्ञानमानन्दम्", "सत्यं ज्ञानमनन्तम्", "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते", "स वा एष महानज आत्मा", "अप्राणो ह्यमनाः", "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः", विज्ञानघन एव", "अनन्तरमबाह्यम्", "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि", "आकाशो वै नाम" इत्यादिश्रुतिभिः ॥७॥

स्मृतिभिश्च—"न जायते म्रियते वा", "नादत्ते कस्यचित्पापम्", "यथाकाशस्थितो नित्यम्", "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि", न सत्तन्नासदुच्यते", "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्" "समं सर्वेषु भूतेषु", "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इत्यादिभिः श्रुत्युक्तलक्षणाविरुद्धाभिः परमात्मासंसारित्वप्रतिपादनपराभिस्तस्य सर्वेणानन्यत्वप्रतिपादनपराभिश्च ॥८॥

एवं श्रुतिस्मृतिभिर्गृहीतपरमात्मलक्षणं शिष्यं संसारसागरादुत्तितीर्षुं पृच्छेत्—कस्त्वमसि सोम्य ? इति ॥९॥

स यदि ब्रूयात्—ब्राह्मणपुत्रोऽदोन्वयो ब्रह्मचार्यासम्, गृहस्थो वा, इदानीमस्मि परमहंसपरिव्राट् संसारसागराज्जन्ममृत्युमहाग्राहादुत्तितीर्षुरिति ॥१०॥

आचार्यो ब्रूयात्—इहैव तव सोम्य मृतस्य शरीरं वयोभिरद्यते, मृद्भावं वाऽऽपद्यते। तत्र कथं संसारसागरादुत्तर्तुमिच्छसीति। नहि नद्या अवरे कूले भस्मीभूतो नद्याः पारं तरिष्यतीति ॥११॥

स यदि ब्रूयात्—अन्योऽहं शरीरात्। शरीरं तु जायते, म्रियते, वयोभिरद्यते, मृद्भावमापद्यते, शस्त्राग्न्यादिभिश्च विनाश्यते, व्याध्यादिभिश्च युज्यते। तस्मिन्नहं स्वकृतधर्माधर्मवशात् पक्षी नीडमिव प्रविष्टः। पुनः पुनः शरीरविनाशे धर्माधर्मवशाच्छरीरान्तरं यास्यामि, पूर्वनीडविनाशे पक्षीव नीडान्तरम्। एवमेवाहमनादौ संसारे देवतिर्यङ्मनुष्यनिरयस्थानेषु स्वकर्मवशादुपात्तमुपात्तं शरीरं त्यजन्, नवं नवं चान्यदुपाददानः, जन्ममरणप्रबन्धचक्रे घटीयन्त्रवत् स्वकर्मणा भ्राम्यमाणः, क्रमेणेदं शरीरमासाद्य, संसारचक्रभ्रमणादस्मान्निर्विण्णः, भगवन्तमुपसन्नोऽस्मि संसारचक्रभ्रमणप्रशमाय। तस्मान्नित्य एवाहं शरीरादन्यः—शरीराण्यागच्छन्त्यपगच्छन्ति च वासांसीव पुरुषस्येति ॥१२॥

आचार्यो ब्रूयात्—साध्ववादीः, सम्यक् पश्यसि। कथं मृषाऽवादीः—ब्राह्मणपुत्रोऽदोऽन्वयो ब्रह्मचार्यासम्, गृहस्थो वा, इदानीमस्मि परमहंसपरिव्राडिति ॥१३॥

स यदि ब्रूयात्—भगवन्, कथमहं मृषाऽवादिषमिति ॥१४॥

तं प्रति ब्रूयादाचार्यः—यतस्त्वं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरं जात्यन्वयसंस्कारवर्जितस्यात्मनः प्रत्यभ्यज्ञासीर्ब्राह्मणपुत्रोऽदोऽन्वय इत्यादिना वाक्येनेति ॥१५॥

स यदि पृच्छेत्—कथं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरं, कथं वा अहं जात्यन्वयसंस्कारवर्जितः ? इति ॥१६॥

आचार्यो ब्रूयात्—शृणु, सोम्य, यथेदं शरीरं त्वत्तो भिन्नं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारम्; त्वं च जात्यन्वयसंस्कारवर्जितः। इत्युक्त्वा तं स्मारयेत्—स्मर्तुमर्हसि सोम्य, परमात्मानं सर्वात्मानं यथोक्तलक्षणं श्रावितोऽसि "सदेव सोम्येदम्" इत्यादिभिः श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च, लक्षणं च तस्य श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च ॥१७॥

लब्धपरमात्मलक्षणस्मृतये ब्रूयात्—योऽसावाकाशनामा नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतोऽशरीरः, अस्थूलादिलक्षणः, अपहतपाप्मत्वादिलक्षणश्च, सर्वैः संसारधर्मैरनागन्धितः, 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म', 'य आत्मा सर्वान्तरः', 'अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता' नित्यविज्ञानस्वरूपः, अनन्तरः, अबाह्यः, विज्ञानघन एव, परिपूर्ण आकाशवत्, अनन्तशक्तिः, आत्मा सर्वस्य, अशनायादिवर्जितः, आविर्भावतिरोभाववर्जितश्च, स्वात्मविलक्षणयोर्नामरूपयोर्जगद्बीजभूतयोः स्वात्मस्थयोस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीययोः स्वसंवेद्ययोः सद्भावमात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वाद्व्याकर्ताऽव्याकृतयोः ॥१८॥

ते नामरूपे अव्याकृते सती व्याक्रियमाणे तस्मादेतस्मादात्मन आकाशनामाकृती संवृत्ते। तच्चाकाशाख्यं भूतं, अनेन प्रकारेण, परमात्मनः संभूतं, प्रसन्नादिव सलिलान्मलमिव फेनम्। न सलिलं, न च सलिलादत्यन्तं भिन्नं फेनं—सलिलव्यतिरेकेणादर्शनात्; सलिलं तु स्वच्छं, अन्यच्च फेनान्मलरूपात्। एवं परमात्मा नामरूपाभ्यामन्यः फेनस्थानीयाभ्यां, शुद्धः प्रसन्नस्तद्विलक्षणः। ते नामरूपे अव्याकृते सती व्याक्रियमाणे फेनस्थानीये आकाशनामाकृती संवृत्ते ॥१९॥

ततोऽपि स्थूलभावमापद्यमाने नामरूपे व्याक्रियमाणे वायुभावमापद्येते, ततोऽप्यग्निभावं, अग्नेरब्भावं, ततः पृथिवीभावं—इत्येवंक्रमेण पूर्वपूर्वभावस्योत्तरोत्तरानुप्रवेशेन पञ्च महाभूतानि पृथिव्यन्तान्युत्पन्नानि। ततः पञ्चमहाभूतगुणविशिष्टा पृथिवी। पृथिव्याश्च पञ्चात्मिका व्रीहियवाद्या ओषधयो जायन्ते। ताभ्यो भक्षिताभ्यो लोहितं, शुक्रं च स्त्रीपुंसशरीरसम्बन्धि जायते। तदुभयमृतुकालेऽविद्याप्रयुक्तकामखजनिर्मथनोद्भूतं मन्त्रसंस्कृत गर्भाशये निषिच्यते। तत्स्वयोनिरसानुप्रवेशेन विवर्धमानं गर्भीभूतं नवमे दशमे वा मासि जायते ॥२०॥

तज्जातं लब्धनामाकृतिकं जातकर्मादिभिर्मन्त्रसंस्कृतं पुनः उपनयनसंस्कारयोगेन ब्रह्मचारिसंज्ञं भवति। तदेव शरीरं पत्नीसंयोगसंस्कारयोगेन गृहस्थसंज्ञं भवति। तदेव वनस्थसंस्कारेण तापससंज्ञं भवति। तदेव क्रियाविनिवृत्तिनिमित्तसंस्कारेण परिव्राट्संज्ञं भवति। इत्येवं त्वत्तो भिन्नं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरम् ॥२१॥

मनश्चेन्द्रियाणि च नामरूपात्मकान्येव, "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥२२॥

कथं चाहं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारवर्जित इत्येतच्छृणु—योऽसौ नामरूपयोर्व्याकर्ता नामरूपधर्मविलक्षणः, स एव नामरूपे व्याकुर्वन् सृष्ट्वेदं शरीरं स्वयं संसारधर्मवर्जितो नामरूपे इह प्रविष्टोऽन्यैरदृष्टः स्वयं पश्यन्, तथाऽश्रुतः शृण्वन्, अमतो मन्वानः, अविज्ञातो विजानन्, "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इत्यस्मिन्नर्थे श्रुतयः सहस्रशः—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्", "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्", "स एष इह प्रविष्टः", "एष त आत्मा", "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत", "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा", "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" "अशरीरं शरीरेषु" इत्याद्याः ॥२३॥

स्मृतयोऽपि—"आत्मैव देवताः सर्वाः", "नवद्वारे पुरे देही", "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि", "समं सर्वेषु भूतेषु", "उपद्रष्टाऽनुमन्ता च", "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः", "अशरीरं शरीरेषु" इत्याद्याः। तस्माज्जात्यन्वयसंस्कारवर्जितस्त्वमिति सिद्धम् ॥२४॥

स यदि ब्रूयात्—अन्य एवाहमज्ञः सुखी दुःखी बद्धः संसारी, अन्योऽसौ मद्विलक्षणोऽसंसारी देवः, तमहं बल्युपहारनमस्कारादिभिर्वर्णाश्रमकर्मभिश्चाराध्य संसारसागरादुत्तितीर्षुरस्मि—कथमहं स एव ? इति ॥२५॥

आचार्यो ब्रूयात्—नैवं सोम्य, प्रतिपत्तुमर्हसि—प्रतिषिद्धत्वाद्भेदप्रतिपत्तेः। कथं प्रतिषिद्धा भेदप्रतिपत्तिरित्यत आह—"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद", "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद", "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इत्येवमाद्याः ॥२६॥

एता एव श्रुतयो भेदप्रतिपत्तेः संसारगमनं दर्शयन्ति ॥२७॥

अभेदप्रतिपत्तेश्च मोक्षं दर्शयन्ति सहस्रशः। "स आत्मा तत्त्वमसि" इति परमात्मभावं विधाय "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इत्युक्त्वा 'तस्य तावदेव चिरम्' इति मोक्षं दर्शयन्ति अभेदविज्ञानादेव। सत्याभिसन्धस्यातस्करस्येव दाहाद्यभावदृष्टान्तेन संसाराभावं दर्शयन्ति। भेददर्शनादसत्याभिसन्धस्य संसारगमनं दर्शयन्ति तस्करस्येव दाहादिदृष्टान्तेन "त इह व्याघ्रो वा" इत्यादिना च ॥२८॥

अभेददर्शनात् "स स्वराड्भवति" इत्युक्त्वा, तद्विपरीतेन भेददर्शनेन संसारगमनं दर्शयन्ति—"अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्याराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" इति प्रतिशाखम्। तस्मान्मृषैवैवमवादीः "ब्राह्मणपुत्रोऽद्वोऽन्वयः संसारी परमात्मविलक्षणः" इति ॥२९॥

तस्मात्—प्रतिषिद्धत्वाद्भेददर्शनस्य, भेदविषयत्वाच्च कर्मोपादानस्य, कर्मसाधनत्वाच्च यज्ञोपवीतादेः कर्मसाधनोपादानस्य परमात्माऽभेदप्रतिपत्त्या प्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः। कर्मणां तत्साधनानां च यज्ञोपवीतादीनां परमात्माऽभेदप्रतिपत्तिविरुद्धत्वात्, संसारिणो हि कर्माणि विधीयन्ते, तत्साधनानि च यज्ञोपवीतादीनि, न परमात्मनोऽभेददर्शिनः। भेददर्शनमात्रेण च ततोऽन्यत्वम् ॥३०॥

यदि कर्माणि कर्तव्यानि, न निवर्तयिषितानि, कर्मसाधनासम्बन्धिनः कर्मनिमित्तजात्याश्रमाद्यसम्बन्धिनश्च, परामात्मनश्च आत्मनैवाभेदप्रतिपत्तिं नावक्ष्यत्—"स आत्मा तत्त्वमसि" इत्येवमादिभिर्निश्चितरूपैर्वाक्यैः। भेदप्रतिपत्तिनिन्दां च नाभ्यधास्यत् ॥३१॥

"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य", "अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन", "अत्र स्तेनोऽस्तेनः"—इत्यादिना कर्मासम्बन्धिस्वरूपत्वं कर्मनिमित्तवर्णाद्यसम्बन्धरूपतां च नाभ्यधास्यत्, कर्माणि च कर्मसाधनानि च यज्ञोपवीतादीनि यद्यपरित्याजयिषितानि; तस्मात्ससाधनं कर्म परित्यक्तव्यं मुमुक्षुणा—परमात्माऽभेददर्शनविरोधात्—आत्मा च पर एव प्रतिपत्तव्यो यथाश्रुत्युक्तलक्षणः ॥३२॥

स यदि ब्रूयात्—भगवन्, दह्यमाने छिद्यमाने वा देहे प्रत्यक्षा वेदना; अशनायादिनिमित्तं च प्रत्यक्षं दुःखं मम। परश्चायमात्मा, "अयमात्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" सर्वसंसारधर्मविवर्जितः श्रूयते सर्वश्रुतिषु स्मृतिषु च। कथं तद्विलक्षणोऽनेकसंसारधर्मसंयुक्तः परमात्मानमात्मत्वेन मां च संसारिणं परमात्मत्वेनाग्निमिव शीतत्वेन प्रतिपद्येय ? संसारी च सन्, सर्वाभ्युदयनिःश्रेयससाधनेऽधिकृतः, अभ्युदयनिःश्रेयससाधनानि कर्माणि तत्साधनानि यज्ञोपवीतादीनि कथं परित्यजेयम् ? इति ३३॥

तं प्रति ब्रूयात्—यदवोचो दह्यमाने छिद्यमाने वा देहे प्रत्यक्षा वेदनोपलभ्यते ममेति; तदसत्। कस्मात् ? दह्यमाने छिद्यमान इव

वृक्ष उपलब्धुरुपलभ्यमाने कर्मणि शरीरे दाहच्छेदवेदनाया उपलभ्यमानत्वाद्दाहादिसमानाश्रयैव वेदना। यत्र हि दाहश्छेदो वा क्रियते, तत्रैव व्यपदिशति दाहादिवेदनां लोकः, न वेदनां दाहाद्यु-पलब्धरीति। कथं? क्व ते वेदनेति पृष्टः शिरसि मे वेदना, उरस्युदर इति वा, यत्र दाहादिस्तत्रैव व्यपदिशति, न तूपलब्ध-रीति। यद्युपलब्धरि वेदना स्यात् वेदनानिमित्तं वा दाहच्छेदादि, वेदनाश्रयत्वेनोपदिशेद्दाहाद्याश्रयवत् ॥३४॥

स्वयं च नोपलभ्येत, चक्षुर्गतरूपवत्। तस्माद्दाहच्छेदादि-समानाश्रयत्वेनोपलभ्यमानत्वाद्दाहादिवत्कर्मभूतैव वेदना। भाव-रूपत्वाच्च साश्रया तण्डुलपाकवत्। वेदनासमानाश्रय एव तत्संकारः स्मृतिसमानकाल एवोपलभ्यमानत्वात्। वेदनाविषयः तन्निमित्त-विषयश्च द्वेषोऽपि संस्कारसमानाश्रय एव। तथा चोक्तम्—

"रूपसंस्कारतुल्याधी रागद्वेषौ भयं च यत्।
गृह्यते धीश्रयं तस्माज्ज्ञाता शुद्धोऽभयः सदा" ॥३५॥

किमाश्रयाः पुनः रूपसंस्कारादय इति? उच्यते—यत्र कामादयः। क्व पुनस्ते कामादयः? "कामः संकल्पो विचिकित्सा" इत्यादिश्रुतेर्बुद्धावेव। तत्रैव रूपादिसंस्कारादयोऽपि, "कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदये" इति श्रुतेः। "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः", "तीर्णो हि यदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य", "असङ्गो ह्ययम्", "तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दाः" इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः; "अविकार्योऽयमुच्यते", "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्" इत्यादिभ्यः—इच्छाद्वेषादि च क्षेत्रस्यैव विषयस्य धर्मः, नात्मन इति—स्मृतिभ्यश्च कर्मस्थैवाशुद्धिः नात्मस्थेति ॥३६॥

अतो रूपादिसंस्काराद्यशुद्धिसम्बन्धाभावान्न परस्मादात्मनो विलक्षणस्त्वमिति प्रत्यक्षादिविरोधाभावाद्युक्तं पर एवात्माऽहमिति

प्रतिपत्तुम्, "तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति", "एकधैवानुद्रष्टव्यम्", "अहमेवाधस्तात्", "आत्मैवाधस्तात्", "सर्वमात्मानं पश्येत्", "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैव", "इदं सर्वं यदयमात्मा", "स एषोऽकलः", "अनन्तरोऽबाह्यः" "अनन्तरमबाह्यम्", "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः", "ब्रह्मैवेदम्", "एतया द्वारा प्रापद्यत", "प्रज्ञानस्य नामधेयानि", "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "तस्माद्वा एतस्मात्", "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्", "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी", "अशरीरं शरीरेषु", "न जायते म्रियते वा विपश्चित्", "स्वप्नान्तं जागरितान्तम्", "स म आत्मेति विद्यात्", "यस्तु सर्वाणि भूतानि", "तदेजति तन्नैजति", "वेनस्तत्पश्यन्", "तदेवाग्निः", "अहं मनुरभवं सूर्यश्च", "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्", "सदेव सोम्य", "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥३७॥

स्मृतिभ्यश्च "पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्य", "आत्मैव देवताः", "नवद्वारे पुरे", "समं सर्वेषु भूतेषु", "विद्याविनयसंपन्ने", "अविभक्तं विभक्तेषु", "वासुदेवः सर्वम्" इत्यादिभ्य एक एवात्मा परं ब्रह्म सर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तस्त्वमिति सिद्धम् ॥३८॥

स यदि ब्रूयात्—यदि "भगवन् अनन्तरोऽबाह्यः" "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः", "कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव", सैन्धवघनवदात्मा सर्वमूर्तिभेदवर्जित आकाशवदेकरसः, दृश्यते, श्रूयते वा, साध्यं साधनं वा साधकश्चेति श्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धं वादिशतविप्रतिपत्तिविषयमिति ॥३९॥

आचार्यो ब्रूयात्—अविद्याकृतमेतद्यदिदं दृश्यते, श्रूयते वा, साध्यं साधनं साधकश्चेति। परमार्थतस्त्वेक एवात्मा अविद्यादृष्टेरनेकवदवभासते—तिमिरदृष्ट्याऽनेकचन्द्रवत्। "यत्र वा अन्यदिव स्यात्",

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति", "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति", "अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्…अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" इति, "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्", "अनृतम्", "अन्योऽसावन्योऽहम्" इति भेददर्शन-निन्दोपपत्तेरविद्याकृतं द्वैतम्—"एकमेवाद्वितीयम्", "यत्रत्वस्य", "को मोहः कः शोकः" इत्याद्येकत्वविधिश्रुतिभ्यश्चेति ॥४०॥

यद्येवं, भगवन्, किमर्थं श्रुत्या साध्यसाधनादिभेद उच्यते, उत्पत्तिः प्रलयश्चेति ? ॥४१॥

अत्रोच्यते—अविद्यावत उपात्तशरीरादिभेदस्येष्टानिष्टयोगिन-मात्मानं मन्यमानस्य साधनैरेवेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविवेकम-जानत इष्टप्राप्तिं चानिष्टपरिहारं चेच्छतः शनैस्तद्विषयमज्ञानं निवर्तयितुं शास्त्रम्, न साध्यसाधनादिभेदं विधत्ते, अनिष्टरूपः संसारो हि स इति। तद्भेददृष्टिमेवाविद्यां संसारमूलमुन्मूलयति उत्पत्तिप्रलया-द्येकत्वोपपत्तिप्रदर्शनेन ॥४२॥

अविद्यायामुन्मूलितायां श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः 'अनन्तरोऽबाह्यः' 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः', 'सैन्धवघनवत्प्रज्ञानघन' 'एवैकरस आत्मा' 'आकाशवत्परिपूर्ण' इत्येवैका प्रज्ञा प्रतिष्ठिता परमार्थदर्शिनो भवति, न साध्यसाधनोत्पत्तिप्रलयादिभेदेनाशुद्धिगन्धोऽप्युपपद्यते ॥४३॥

तच्चेतत्परमार्थदर्शनं प्रतिपत्तुमिच्छता वर्णाश्रमाद्यभिमानकृत-पाङ्क्तरूपपुत्रवित्तलोकैषणादिभ्यो व्युत्थानं कर्तव्यं, सम्यक्प्रत्यय-विरोधात्तदभिमानस्य। भेददर्शनप्रतिषेधार्थोपपत्तिश्चोपपद्यते। न ह्येकस्मिन्नात्मन्यसंसारित्वबुद्धौ शास्त्रन्यायोत्पादियां तद्विपरीता बुद्धिर्भवति। न ह्यग्नौ शीतत्वबुद्धिः, शरीरे वाऽजरामरणबुद्धिः। तस्मादविद्याकार्यत्वात् सर्वकर्मणां तत्साधनानां च यज्ञोपवीतादीनां परमार्थदर्शननिष्ठेन त्यागः कर्तव्यः ॥४४॥

कूटस्थाद्वयात्मबोधप्रकरणम् ॥२॥

सुखमासीनं ब्राह्मणं ब्रह्मनिष्ठं कश्चिद्ब्रह्मचारी जन्ममरणलक्षणात् संसारान्निर्विण्णो मुमुक्षुर्विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ—भगवन्, कथमहं संसारान्मोक्षिष्ये शरीरेन्द्रियविषयवेदनावान् ? जागरिते दुःखमनुभवामि, तथा स्वप्नेऽनुभवामि, पुनः पुनः सुषुप्तिप्रतिपत्त्या विश्रम्य जाग्रत्स्वप्नयोर्दुःखमनुभवामि—किमयमेव मम स्वभावः ? किंवाऽन्यस्वभावस्य सतो नैमित्तिकः ? इति। यदि अयमेव स्वभावः, न मे मोक्षाशा; स्वभावस्यावर्जनीयत्वात्। अथ नैमित्तिकः, निमित्तपरिहारे स्यान्मोक्षोपपत्तिः ॥४५॥

तं गुरुरुवाच—शृणु वत्स, न तवायं स्वभावः, किंतु नैमित्तिकः ॥४६॥

इत्युक्तः शिष्य उवाच—किं निमित्तम् ? किं वा तस्य निवर्तकम् ? को वा मम स्वभावः ? यस्मिन्निमित्ते निवर्तिते नैमित्तिकाभावः रोगनिमित्तनिवृत्ताविव रोगी स्वभावं प्रतिपद्येयेति ॥४७॥

गुरुरुवाच—अविद्या निमित्तं; विद्या तस्या निवर्तिका। अविद्यायां निवृत्तायां तन्निमित्ताभावान्मोक्ष्यसे जन्ममरणलक्षणात्संसारात्, स्वप्नजाग्रद्दुःखं च नानुभविष्यसीति ॥४८॥

शिष्य उवाच—का सा अविद्या ? किंविषया वा ? विद्या च काऽविद्यानिवर्तिका यया स्वभावं प्रतिपद्येय ? इति ॥४९॥

गुरुरुवाच—त्वं परमात्मानं सन्तमसंसारिणं संसार्यहमस्मीति विपरीतं प्रतिपद्यसे, अकर्तारं सन्तं कर्तेति, अभोक्तारं सन्तं भोक्तेति, विद्यमानं चाविद्यमानमिति। इयमविद्या ॥५०॥

शिष्य उवाच—यद्यप्यहं विद्यमानः, तथाऽपि न परमात्मा, कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारो मम स्वभावः, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणै-

रनुभूयमानत्वात्—नाविद्यानिमित्तः, अविद्यायाः स्वात्मविषयात्वानुपपत्तेः। अविद्या नामान्यस्मिन्नन्यधर्माध्यारोपणा—यथा प्रसिद्धं रजतं प्रसिद्धायां शुक्तिकायाम्, यथा प्रसिद्धं पुरुषं स्थाणावध्यारोपयति, प्रसिद्धं वा स्थाणुं पुरुषे, नाप्रसिद्धं प्रसिद्धे, प्रसिद्धं वा अप्रसिद्धे। न चात्मन्यनात्मानमध्यारोपयति, आत्मनोऽप्रसिद्धत्वात्; तथाऽऽत्मानमनात्मनि आत्मनोऽप्रसिद्धत्वादेव ॥५१॥

तं गुरुरुवाच—न, व्यभिचारात्। न हि, वत्स, प्रसिद्धं प्रसिद्ध एवाध्यारोपयतीति नियन्तुं शक्यम्। आत्मन्यध्यारोपणदर्शनात्। गौरोऽहं, कृष्णोऽहमिति देहधर्मस्याहंप्रत्ययविषये आत्मनि, अहंप्रत्ययविषयस्य च आत्मनः देहोऽयमहमस्मीति ॥५२॥

शिष्य आह—प्रसिद्ध एव तर्ह्यात्माऽहंप्रत्ययविषयतया, देहश्चायमिति। तत्रैवं सति, प्रसिद्धयोरेव देहात्मनोरितरेतराध्यारोपणा स्थाणुपुरुषयोः शुक्तिकारजतयोरिव। तत्र कं विशेषमाश्रित्य भगवतोक्तं प्रसिद्धयोरितरेतराध्यारोपणेति नियन्तुं न शक्यत इति? ॥५३॥

गुरुराह—शृणु, सत्यं प्रसिद्धौ देहात्मानौ। न तु स्थाणुपुरुषाविव विविक्तप्रत्ययविषयतया सर्वलोकप्रसिद्धौ। कथं तर्हि? नित्यमेव निरन्तराविविक्तप्रत्ययविषयतया प्रसिद्धौ। न हि—अयं देहः, अयमात्मा—इति विविक्ताभ्यां प्रत्ययाभ्यां देहात्मानौ गृह्णाति यतः कश्चित्। अत एव हि मोमुह्यते लोक आत्मानात्मविषये—एवमात्मा, नैवमात्मेति इमं विशेषमाश्रित्य अवाचं नैवं नियन्तुं शक्यमिति ॥५४॥

नन्वविद्याध्यारोपितं यत्र यत्, तदसत् तत्र दृष्टम्—यथा रजतं शुक्तिकायाम्, स्थाणौ पुरुषः, रज्ज्वां सर्पः, आकाशे तलमलिनत्वमित्यादि—तथा देहात्मनोरपि नित्यमेव निरन्तराविविक्तप्रत्यये-

नेतरेतराध्यारोपणा कृता स्यात्—तदितरेतरयोर्नित्यमेवासत्त्वं स्यात्—यथा शुक्तिकादिष्वविद्याध्यारोपितानां रजतादीनां नित्यमेवात्यन्तासत्त्वम्, तद्विपरीतानां च विपरीतेषु, तद्वद्देहात्मनोरविद्ययैवेतरेतराध्यारोपणा कृता स्यात्; तत्रैवं सति देहात्मनोरसत्त्वं प्रसज्येत—तच्चानिष्टम् वैनाशिकपक्षत्वात्। अथ तद्विपर्ययेण देह आत्मन्यविद्ययाध्यारोपितः देहस्यात्मनि सति असत्त्वं प्रसज्येत, तच्चानिष्टम्, प्रत्यक्षादिविरोधात्। तस्माद्देहात्मनि सति असत्त्वं प्रसज्येत, तच्चानिष्टम्, प्रत्यक्षादिविरोधात्। तस्माद्देहात्मानौ नाविद्ययेतरेतरस्मिन्नध्यारोपितौ। कथं तर्हि? वंशस्तंभवन्नित्यसंयुक्तौ ॥५५॥

न, अनित्यत्वपरार्थत्वप्रसङ्गात्। संहतत्वात् परार्थत्वमनित्यत्वं च वंशस्तम्भादिवदेव। किंच—यस्तु परैर्देहेन संहतः कल्पित आत्मा, स संहतत्वात्परार्थः। तेनाऽसंहतः परोऽन्यो नित्यः सिद्धस्तावत् ॥५६॥

तस्यासंहतस्य देहे देहमात्रतयाऽध्यारोपितत्वेनासत्त्वानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गो न भवति। ननु तत्र निरात्मको देह इति वैनाशिकपक्षप्राप्तिदोषः स्यात् ॥५७॥

न। स्वत एवात्मन आकाशस्येवासंहतत्वाभ्युपगमात्। सर्वेणासंहतः स चात्मेति न निरात्मको देहादिः सर्वः स्यात्। यथा चाकाशं सर्वेणासंहतमिति सर्वं न निराकाशं भवति एवम्। तस्मान्न वैनाशिकपक्षप्राप्तिदोषः स्यात् ॥५८॥

यत्पुनरुक्तम्—देहस्यात्मन्यसत्त्वे प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादिति, तन्न प्रत्यक्षादिभिरात्मनि देहस्य सत्त्वानुपलब्धेः। ह्यात्मनि—कुण्डे बदरम् क्षीरे सर्पिः, तिले तैलम् भित्तौ चित्रमिव च—प्रत्यक्षादिभिर्देह उपलभ्यते। तस्मान्न प्रत्यक्षादिविरोधः ॥५९॥

कथं तर्हि प्रत्यक्षाद्यप्रसिद्धात्मनि देहाध्यारोपणा, देहे चात्मारोपणा ? ॥६०॥

नायं दोषः, स्वभावप्रसिद्धत्वादात्मनः । नहि कादाचित्कसिद्धावेवाध्यारोपणा, न नित्यसिद्धौ—इति नियन्तुं शक्यम् आकाशे तलमलाद्यध्यारोपणदर्शनात् ॥६१॥

किं भगवन्, देहात्मनोरितरेतराध्यारोपणा देहादिसंघातकृता; अथवाऽऽत्मकृतेति ? ॥६२॥

गुरुरुवाच—यदि देहादिसंघातकृता, यदि वा चात्मकृता, किं तव स्यात् ? ॥६३॥

इत्युक्तः शिष्य आह—यद्यहं देहादिसंघातमात्रः, ततो ममाचेतनत्वात्परार्थत्वमिति न मत्कृता देहात्मनोरितरेतराध्यारोपणा। अथाहमात्मा परोऽन्यः संघातात्, चितिमत्त्वात्स्वार्थं इति मयैव चितिमताऽऽत्मन्यध्यारोपणा क्रियते सर्वानर्थबीजभूता ॥६४॥

इत्युक्तो गुरुरुवाच—अनर्थबीजभूतां चेन्मिथ्यारोपणां जानीषे, तां मा कार्षीस्तर्हि ॥६५॥

नैव, भगवन् शक्नोमि न कर्तुम् । अन्येन केनचित्प्रयुक्तोऽहं न स्वतन्त्र इति ॥६६॥

न तर्हि अचितिमत्त्वात्स्वार्थस्त्वम् । येन प्रयुक्तोऽस्वतन्त्रः प्रवर्तसे, स चितिमान् स्वार्थः । संघात एव त्वम् ॥६७॥

यद्यचेतनोऽहम्, कथं सुखदुःखवेदनां भवदुक्तं च जानामि ?॥६८॥

गुरुरुवाच—किं सुखदुःखवेदनाया मदुक्ताच्चान्यस्त्वम्, किंवाऽनन्य एव इति ॥६९॥

शिष्य उवाच—नाहं तावदनन्यः। कस्मात् ? यस्मात्तदुभयं कर्मभूतं घटादिकमिव जानामि। यद्यनन्योऽहम् तेन तदुभयं न

जानीयाम्, किंतु जानामि, तस्मादन्यः। सुखदुःखवेदनाविक्रिया च स्वार्थैव प्राप्नोति, त्वदुक्तं च स्यात्, अनन्यत्वे। नच तयोः स्वार्थता युक्ता। नहि चन्दनकण्टककृते सुखदुःखे चन्दनकण्टकार्थे, घटोपयोगो वा घटार्थः। तस्मात्तद्विज्ञातुर्मम चन्दनादिकृतोऽर्थः। अहं हि ततोऽन्यः समस्तमर्थं जानामि बुद्ध्यारूढम् ॥७०॥

तं गुरुरुवाच—एवं तर्हि स्वार्थस्त्वं चितिमत्त्वात्, न परेण प्रयुज्यसे। नहि चितिमान् परतन्त्रः परेण प्रयुज्यते, चितिमतश्चितिमदर्थत्वानुपपत्तेः, समत्वात्, प्रदीपप्रकाशयोरिव नाप्यचितिदर्शत्वं चितिमतो भवति, अचितिमतोऽचितिमत्त्वादेव स्वार्थसम्बन्धानुपपत्तेः नाप्यचितिमतोरन्योन्यार्थत्वं दृष्टम्। नहि काष्ठकुड्ये अन्योन्यार्थं कुर्वाते ॥७१॥

ननु चितिमत्त्वे समेऽपि भृत्यस्वामिनोरन्योन्यार्थत्वं दृष्टम् ॥७२॥

नैवम्, अग्नेरुष्णप्रकाशवत्तव चितिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। प्रदर्शितश्च दृष्टान्तः प्रदीपप्रकाशयोरिवेति। तत्रैव सति, स्वबुद्ध्यारूढमेव सर्वमुपलभसे अग्न्युष्णप्रकाशतुल्येन कूटस्थनित्यचैतन्यस्वरूपेण। यदि चैवमात्मनः सर्वदा निर्विशेषत्वमुपगच्छसि, किमित्यूचिवान् सुषुप्ते विश्रम्य विश्रम्य जाग्रत्स्वप्नयोर्दुःखमनुभवामि, किमयमेव मम स्वभावः, किंवा न ? इति च किमसौ व्यामोहोऽपगतः किं वा न ? ॥७३॥

इत्युक्तः शिष्य उवाच—भगवन्, अपगतस्त्वत्प्रसादाद्व्यामोहः किंतु मम कूटस्थताया संशयः। कथम् ? शब्दादीनां स्वतः सिद्धिर्नास्ति, अचेतनत्वात्, शब्दाद्याकारप्रत्ययोत्पत्तेस्तु तेषाम् प्रत्ययानामितरेतरव्यावृत्तविशेषणानां नीलपीताद्याकारत्वस्य स्वतःसिद्ध्यसंभवात्। तस्माद्बाह्याकारनिमित्तत्वं गम्यत इति बाह्याकारवच्छब्दादिसिद्धिः। तथा प्रत्ययानामप्यहंप्रत्ययालम्बनवस्तुभेदानां संहतत्वादचैतन्योपपत्तेः। स्वार्थत्वासंभवात् स्वरूपव्यतिरिक्तग्राहक-

ग्राह्यत्वेन सिद्धिः, शब्दादिवदेव। असंहतत्वे सति चैतन्यात्मकत्वात्स्वार्थोऽप्यहंप्रत्ययानां नीलपीताद्याकाराणामुपलब्धेति विक्रियावानेव, कथं कूटस्थः ?—इति संशयः ॥७४॥

तं गुरुरुवाच—न युक्तस्तव संशयः, यतस्तेषां प्रत्ययानां नियमेनाशेषत उपलब्धेरेवापरिणामित्वात्कूटस्थत्वसिद्धौ निश्चयहेतुमेवाशेषचित्तप्रचारोपलब्धिं संशयहेतुमात्थ। यदि हि तव परिणामित्वं स्यात्, अशेषस्वविषयचित्तप्रचारोपलब्धिर्न स्यात्, चित्तस्य स्वविषये, यथा चेन्द्रियाणां स्वविषयेषु; न च तथाऽऽत्मनस्तव स्वविषयैकदेशोपलब्धिः। अतः कूटस्थतैव तवेति ॥७५॥

तत्राह—उपलब्धिर्नाम धात्वर्थो विक्रियैव, उपलब्धुः कूटस्थात्मता चेति विरुद्धम् ॥७६॥

न, धात्वर्थविक्रियायामुपलब्ध्युपचारात्। यो हि बौद्धः प्रत्ययः, स धात्वर्थो विक्रियात्मकः आत्मन उपलब्ध्याभासफलावसान इत्युपलब्धिशब्देनोपचर्यते, यथा छिदिक्रिया द्वैधीभावफलावसानेति धात्वर्थत्वेनोपचर्यते तद्वत् ॥७७॥

इत्युक्तः शिष्य आह—ननु भगवन् मम कूटस्थत्वप्रतिपादनं प्रत्यसमर्थो दृष्टान्तः ? कथम् ? छिदिः छेद्यविक्रियावसाना उपचर्यते यथा धात्वर्थत्वेन, तथोपलब्धिशब्दोपचरितोऽपि धात्वर्थो बौद्धः प्रत्ययः आत्मन उपलब्धिविक्रियावसानश्चेत्, नात्मनः कूटस्थतां प्रतिपादयितुं समर्थः ॥७८॥

गुरुरुवाच—सत्यमेवं स्यात्, यद्युपलब्ध्युपलब्ध्रोर्विशेषः। नित्योपलब्धिमात्र एव ह्युपलब्धा। न तु तार्किकसमय इवान्या उपलब्धिः, अन्य उपलब्धा च ॥७९॥

ननूपलब्धिफलावसानो धात्वर्थः कथमिति ॥८०॥

उच्यते—शृण । उपलब्ध्याभासफलावसान इत्युक्तम् । किं न श्रुतं तत्त्वया ? न त्वात्मा विक्रियोत्पादनावसान इति मयोक्तम् ॥८१॥

शिष्य उवाच—कथं तर्हि कूटस्थे मय्यशेषस्वविषयचित्तप्रचारोपलब्धृत्वमित्यात्थ ? ॥८२॥

तं गुरुराह—सत्यमेवावोचम् तेनैव कूटस्थतामब्रोचं तव ॥८३॥

यद्येवं भगवन्, कूटस्थनित्योपलब्धिस्वरूपे मयि शब्दाद्याकारबौद्धप्रत्ययेषु च मत्स्वरूपोपलब्ध्याभासफलावसानवत्सूत्पद्यमानेषु कस्त्वपराधो मम ? ॥८४॥

सत्यम् नास्त्यपराधः, किन्त्वविद्यामात्रस्त्वपराध इति प्रागेवावोचम् ॥८५॥

यदि, भगवन्, सुषुप्त इव मम विक्रिया नास्ति, कथं स्वप्नजागरिते ॥८६॥

तं गुरुराह—किंत्वनुभूयेते त्वया सन्ततम् ॥८७॥

शिष्य उवाच—बाढमनुभवामि, किंतु विच्छिद्य विच्छिद्य, न तु सन्ततम् ॥८८॥

गुरुराह—तर्हि आगन्तुके त्वेते, न तवात्मभूते । यदि तवात्मभूते, चैतन्यस्वरूपवत्स्वतः सिद्धे सन्तते एव स्याताम् । किं च, स्वप्नजागरिते न तवात्मभूते, व्यभिचारित्वात्, वस्त्रादिवत् । न हि यस्य यत्स्वरूपं, तत्तद्व्यभिचारि दृष्टम् । स्वप्नजागरिते तु चैतन्यमात्रत्वात् व्यभिचरतः। सुषुप्ते चेत्स्वरूपं व्यभिचरेत् तन्नष्टं, नास्तीति बाध्यं वा स्यात्—आगन्तुकानामतद्धर्माणामुभयात्मकत्वदर्शनात्—यथा धनवस्त्रादीनां नाशो दृष्टः, स्वप्नभ्रान्तिलब्धानां त्वभावो दृष्टः ॥८९॥

नन्वेवं, भगवन्, चैतन्यस्वरूपमप्यागन्तुकं प्राप्तम्, स्वप्नजागरितयोरिव सुषुप्तेऽनुपलब्धेः, अचैतन्यस्वरूपो वा स्यामहम् ॥९०॥

न, पश्य। तदनुपपत्तेः। चैतन्यस्वरूपं चेदागन्तुकं पश्यसि, पश्य, नैतद्वर्षशतेनाप्युपपत्त्या कल्पयितुं शक्नुमो वयम्, अन्यो वाऽचैतन्योऽपि; तस्य संहतत्वात् पारार्थ्यमनेकत्वं नाशित्वं च न केनचिदुपपत्त्या वारयितुं शक्यम्—अस्वार्थस्य स्वतःसिद्धयभावादित्यवोचाम। चैतन्यस्वरूपस्य स्वात्मनः स्वतः सिद्धेरन्यानपेक्षत्वं न केनचिद्वारयितुं शक्यम्, अव्यभिचारात् ॥९१॥

ननु व्यभिचारो दर्शितो मया—सुषुप्ते न पश्यामीति ॥९२॥

न, व्याहतत्वात् कथं व्याघातः? पश्यतस्तव न पश्यामीति व्याहतं वचनम्। न हि कदाचिद्भगवन्, सुषुप्ते मया चैतन्यमन्यद्वा किंचिद्दृष्टम्। पश्यंस्तर्हि सुषुप्ते त्वम्; यस्माद्दृष्टमेव प्रतिषेधसि, न दृष्टिम्। या तव दृष्टिः, तच्चैतन्यम्, इति मयोक्तम्। यया त्वं विद्यमानया न किंचिद्दृष्टमिति प्रतिषेधसि, सा दृष्टिस्तच्चैतन्यम्। तर्हि सर्वत्राव्यभिचारात्कूटस्थनित्यत्वं सिद्धं स्वत एव न प्रमाणापेक्षम्। स्वतःसिद्धस्य हि प्रमातुरन्यस्य प्रमेयस्य परिच्छित्तिं प्रति प्रमाणापेक्षा। या त्वन्या नित्या परिच्छित्तिरपेक्ष्यतेऽन्यस्यापरिच्छित्तिरूपस्य परिच्छेदाय, सा हि नित्यैव कूटस्था स्वयंजोतिःस्वभावा आत्मनि प्रमाणत्वे प्रमातृत्वे वा न तां प्रति प्रमाणापेक्षा, तत्स्वभावत्वात् यथा प्रकाशनमुष्णत्वं वा लोहोदकादिषु परतोऽपेक्ष्यते अग्न्यादित्यादिभ्यः, अतत्स्वभावत्वात्, नाग्न्यादित्यादीनां तदपेक्षा, सदा तत्स्वभावत्वात् ॥९३॥

अनित्यत्व एव प्रमा स्यात्, न नित्यत्व इति चेत् ॥९४॥

न, अवगतेर्नित्यत्वानित्यत्वयोर्विशेषानुपपत्तेः—नहि अवगतेः प्रमात्वेऽनित्या अवगतिः प्रमा, न नित्या इति विशेषोऽवगम्यते ॥९५॥

नित्यायां प्रमातुरपेक्षाऽभावः, अनित्यायां तु यत्नान्तरितत्वादवगतिरपेक्ष्यत इति विशेषः स्यादिति चेत् ॥९६॥

सिद्धा तर्ह्यात्मनः प्रमातुः स्वतःसिद्धिः प्रमाणनिरपेक्षतयैवेति ॥९७॥

अभावेऽप्यपेक्षाऽभावः, नित्यत्वादेवेति चेत् ॥९८॥

न, अवगतेरेवात्मनि सद्भावादिति परिहृतमेतत् । प्रमातुश्चेत् प्रमाणापेक्षा सिद्धिः कस्य प्रमित्सा स्यात् ? यस्य प्रमित्सा, स एव प्रमाताऽभ्युपगम्यते । तदीया च प्रमित्सा प्रमेयविषयैव, न प्रमातृविषया, प्रमातृविषयत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्प्रमातुस्तदिच्छायाश्च तस्याप्यन्यः प्रमाता तस्याप्यन्य इति । एवमेवेच्छायाः प्रमातृविषयत्वे प्रमातुरात्मनोऽव्यवहितत्वाच्च प्रमेयत्वानुपपत्तिः । लोके हि प्रमेयं नाम प्रमातुरिच्छा-स्मृति-प्रयत्न-प्रमाणजन्म-व्यवहितं सिद्ध्यति, नान्यथा अवगतिः प्रमेयविषया दृष्टा । न च प्रमातुः प्रमाता स्वस्य स्वयमेव केनचिद्व्यवहितः कल्पयितुं शक्यः इच्छादीनामन्यतमेनापि । स्मृतिश्च स्मर्तव्यविषया, न स्मर्तृविषया । तथेच्छायाः इष्टविषयत्वमेव, नेच्छावद्विषयत्वम् । स्मर्त्रिच्छावद्विषयत्वेऽपि ह्युभयोरनवस्था पूर्ववदपरिहार्या स्यात् ॥९९॥

ननु प्रमातृविषयावगत्यनुत्पत्तौ, अनवगत एव प्रमाता स्यादिति चेत् ॥१००॥

न, अवगन्तुरवगतेरवगन्तव्यविषयत्वात्, अवगन्तृविषयत्वे चानवस्था पूर्ववत्स्यात् अवगतिश्चात्मनि कूटस्थनित्यात्मज्योतिरन्यतोऽनपेक्षैव सिद्धा, अग्न्यादित्यादुष्णप्रकाशवत् इति पूर्वमेव प्रसाधितम् । अवगतश्चैतन्यात्मज्योतिषः स्वात्मन्यनित्यत्वे आत्मनः स्वार्थतानुपपत्तिः कार्यकरणसंघातवत्संहतत्वात्पारार्थ्यं दोषवत्त्वं चावोचाम । कथं ? चैतन्यात्मज्योतिषः स्वात्मन्यनित्यत्वे स्मृत्यादिव्यवधानात्सान्तरत्वम् । ततश्च तस्य चैतन्यज्योतिषः

प्रागुत्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्वमात्मन्येवाभावात्, चक्षुरादीनामिव संहतत्वात्, पारार्थ्यं स्यात्। यदा च तदुत्पन्नमात्मनि विद्यते, न तदाऽऽत्मनः स्वार्थत्वम्, तद्भावाभावापेक्षा ह्यात्मानात्मनोः स्वार्थत्व-परार्थत्वसिद्धिः। तस्मादात्मनोऽन्यनिरपेक्षमेव नित्यचैतन्यज्योतिष्ट्वं सिद्धम् ॥१०१॥

नन्वेवं सति, असति प्रमाश्रयत्वे, कथं प्रमातुः प्रमातृत्वम्? ॥१०२।

उच्यते—प्रमायाः नित्यत्वेऽनित्यत्वे च रूपविशेषाभावात्। अवगतिर्हि प्रमा, तस्याः स्मृतीच्छादिपूर्विकाया अनित्यायाः कूटस्थ-नित्याया वा, न स्वरूपविशेषो विद्यते, यथा धात्वर्थस्य तिष्ठत्यादेः फलस्य गत्यादिपूर्वकस्यानित्यस्यागतिपूर्वस्य नित्यस्य वा रूपविशेषो नास्तीति तुल्यो व्यपदेशो दृष्टः—"तिष्ठन्ति मनुष्याः", "तिष्ठन्ति पर्वताः" इत्यादिः। तथा नित्यावगतिस्वरूपेऽपि, प्रमातरि प्रमातृत्वव्यपदेशो न विरुध्यते, फलसामान्यादिति ॥१०३॥

अत्राह शिष्यः—नित्यावगतिस्वरूपस्यात्मनोऽविक्रियत्वात्कार्य-करणैरसंहत्य तक्षादीनामिव वास्यादिभिः कर्तृत्वं नोपपद्यते। असंहतस्वभावस्य च कार्यकरणोपादानेऽनवस्था प्रसज्येत। तक्षादीनां तु कार्यकरणैर्नित्यमेव संहतत्वमिति वास्याद्युपादाने नानवस्था स्यादिति ॥१०४॥

इह तु असंहतस्वभावस्य करणानुपादाने कर्तृत्वं नोपपद्यत इति करणमुपादेयम्, तदुपादानमपि विक्रियैवेति तत्कर्तृत्वे करणान्तर-मुपादेयम्, तदुपादानेऽप्यन्यदिति प्रमातुः स्वातन्त्र्येऽनवस्थाऽपरिहार्या स्यादिति। न च क्रियैवात्मानं कारयति, अनिर्वर्तितायाः स्वरूपा-भावात्। अथान्यदात्मानमुपेत्य क्रियां कारयतीति चेत्—न, अन्यस्य स्वतःसिद्धत्वाविषयत्वाद्यनुपपत्तेः। न ह्यात्मनोऽन्यदचेतनं वस्तु स्वप्रमाकं दृष्टम्। शब्दादि सर्वमेवावगतिफलावसानप्रत्यय-

प्रमितं सिद्धं स्यात्। अवगतिश्चेदात्मनोऽन्यस्य स्यात्, सोऽप्यात्मैवासंहतः स्वार्थः स्यात्, न परार्थः। न च देहेन्द्रियविषयाणां स्वार्थतामवगन्तुं शक्नुमोऽवगत्यवसानप्रत्ययापेक्षसिद्धिदर्शनात्॥१०५॥

ननु देहस्यावगतौ न कश्चित्प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्तरमपेक्षते॥१०६॥

बाढम्, जाग्रत्येवं स्यात्। मृतिसुषुप्त्योस्तु देहस्यापि प्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षैव सिद्धिः, तथैवेन्द्रियाणाम्—बाह्या एव हि शब्दादयो देहेन्द्रियाकारपरिणताः—इति प्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षैव हि सिद्धिः। सिद्धिरिति च प्रमाणफलमवगतिमवोचाम। सा चावगतिः कूटस्था स्वयंसिद्धा आत्मज्योतिः स्वरूपेति च॥१०७॥

अत्राह चोदकः—अवगतिः प्रमाणानां फलं कूटस्थनित्यात्मज्योतिःस्वरूपेति च विप्रतिषिद्धम्। इत्युक्तवन्तमाह—न विप्रतिषिद्धम्। कथं तर्हि अवगतेः फलत्वम्? तत्त्वोपचारात्। कूटस्था नित्यापि सती प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्ते लक्ष्यते तादर्थ्यात्। प्रत्यक्षादिप्रत्ययस्य अनित्यत्वे, अनित्येव भवति। तेन प्रमाणानां फलमित्युपचर्यते॥१०८॥

यद्येवं भगवन्, कूटस्थनित्यावगतिरात्मज्योतिःस्वरूपैव स्वयंसिद्धा, आत्मनि प्रमाणनिरपेक्षत्वात्, ततोऽन्यदचेतनं संहत्यकारित्वात्परार्थम्। येन च सुखदुःखमोहहेतुप्रत्ययावगतिरूपेण पारार्थ्यं, तेनैव स्वरूपेणानात्मनोऽस्तित्वं, नान्येन रूपान्तरेण। अतो नास्तित्वमेव परमार्थतः। यथाहि लोके रज्जुसर्पमरीच्युदकादीनां तदवगतिव्यतिरेकेणाभावो दृष्टः, एवं जाग्रत्स्वप्नद्वैतभावस्यापि तदवगतिव्यतिरेकेणाभावो युक्तः। एवमेव परमार्थतः भगवन्, अवगतेरात्मज्योतिषोः नैरन्तर्यभावात्कूटस्थनित्यताऽद्वैतभावश्च, सर्वप्रत्ययभेदेष्वव्यभिचारात्। प्रत्ययभेदाश्चावगतिं व्यभिचरन्ति। यथा स्वप्ने नीलापीताद्याकारभेदरूपाः प्रत्ययास्तदवगतिं व्यभिचरन्तः परमार्थतो न सन्तीत्युच्यन्ते, एवं जाग्रत्यपि नीलपीतादिप्रत्यय-

भेदास्तामेवावगतिं व्यभिचरन्तोऽसत्यरूपाः भवितुमर्हन्ति। तस्याश्चावगतेरन्योऽवगन्ता नास्तीति न स्वेन स्वरूपेण स्वयमुपादातुं हातुं वा शक्यते, अन्यस्य चाभावात् ॥ १०९॥

तथैवेति। एषाऽविद्या, यन्निमित्तः संसारो जाग्रत्स्वप्नलक्षणः। तस्या अविद्यायाः विद्या निवर्तिका। इत्येवं त्वमभयं प्राप्तोऽसि। नातःपरं जाग्रत्स्वप्नदुःखमनुभविष्यसि। संसारदुःखान्मुक्तोऽसीति ॥११०॥

ओमिति ॥१११॥

परिसङ्ख्यानप्रकरणम् ॥३॥

मुमुक्षूणामुपात्तपुण्यापुण्यक्षपणपराणामपूर्वानुपचयार्थिनां परिसंख्यानमिदमुच्यते—अविद्याहेतवो दोषाः वाङ्मनःकायप्रवृत्तिहेतवः; प्रवृत्तेश्चेष्टानिष्टमिश्रफलानि कर्माण्युपचीयन्ते इति तन्मोक्षार्थम् ॥११२॥

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां विषयाणां श्रोत्रादिग्राह्यत्वात्, स्वात्मनि परेषु वा विज्ञानाभावः, तेषामेव परिणतानां यथा लोष्टादीनाम्। श्रोत्रादिद्वारैश्च ज्ञायन्ते। येन च ज्ञायन्ते, स विज्ञातृत्वादतज्जातीयः। ते हि शब्दादयोऽन्योन्यसंसर्गित्वाज्जन्मवृद्धिविपरिणामापक्षयनाशसंयोगाविर्भावतिरोभावविकारविकारिक्षेत्रबीजाद्यनेकधर्माणः, सामान्येन च सुखदुःखाद्यनेककर्माणः। तद्विज्ञातृत्वादेव तद्विज्ञाता सर्वशब्दादिधर्मविलक्षणः ॥११३॥

तत्र शब्दादिभिरुपलभ्यमानैः पीड्यमानो विद्वानेवं परिसंचक्षीत ॥११४॥

शब्दस्तु ध्वनिसामान्यमात्रेण, विशेषधर्मैर्वा षड्जादिभिः, प्रियैः स्तुत्यादिभिरिष्टैरनिष्टैश्चासत्यबीभत्सपरिभवाक्रोशादिभिर्वचनैर्वा मां दृक्स्वभावमसंसर्गिणमविक्रियमचलमनिधनमभयमत्यन्तसूक्ष्मम-

विषयं गोचरीकृत्य, स्प्रष्टुं नैवार्हति, असंसर्गित्वादेव मम। अत एव न शब्दनिमित्ता हानिर्वृद्धिर्वा। अतो मां किं करिष्यति स्तुति-निन्दादिप्रियाप्रियत्वादिलक्षणः शब्दः? अविवेकिनं हि शब्दमात्मत्वेन गतं प्रियः शब्दो वर्धयेत्, अप्रियश्च क्षपयेत्, अविवेकित्वात्। नतु मम विवेकिनो बालाग्रमात्रमपि कर्तुमुत्सहते इति। एवमेव स्पर्शसामान्येन तद्विशेषैश्च शीतोष्णमृदुकर्कशादिज्वरोदरशूलादि-लक्षणैश्चाप्रियैः प्रियैश्च कैश्चिच्छरीरसमवायिभिर्बाह्यागन्तुक-निमित्तैश्च न मम काचिद्विक्रिया वृद्धिहानिलक्षणा अस्पर्शत्वा-त्क्रियते, व्योम्न इव मुष्टिघातादिभिः। तथा रूपसामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः स्त्रीव्यञ्जनादिलक्षणैररूपत्वान्न मम काचिद्धानिर्वृद्धिर्वा क्रियते। तथा रससामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायैर्मूढबुद्धिभिः परिगृहीतैः अरसात्मकस्य मम न काचिद्धानिर्वृद्धिर्वा क्रियते। तथा गन्ध-सामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः पुष्पाद्यनुलेपनादिलक्षणैरगन्धात्म-कस्य न मम काचिद्धानिर्वृद्धिर्वा क्रियते, "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्" इति श्रुतेः ॥११५॥

किंच—य एव बाह्याः शब्दादयः, ते शरीराकारेण संस्थिताः तद्ग्राहकैश्च श्रोत्राद्याकारैः, अन्तःकरणद्वयतद्विषयाकारेण च, अन्योन्यसंसर्गित्वात्संहतत्वाच्च सर्वक्रियासु। तत्रैवं सति विदुषो न मम कश्चिच्छत्रुर्मित्रमुदासीनो वाऽस्ति। यदि कश्चित् मिथ्या-ज्ञानाभिमानेन प्रियमप्रियं वा प्रयुयुङ्क्षेत् क्रियाफललक्षणं तन्मृषैव प्रयुयुङ्क्षति सः, तस्याविषयत्वान्मम, "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्" इति स्मृतेः। तथा सर्वेषां पञ्चानामपि भूतानामविकार्यः, अविषयत्वात् "अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्" इति स्मृतेः। याऽपि शरीरेन्द्रियसंस्थान-मात्रमुपलक्ष्य, मद्भक्तानां विपरीतानां च प्रियाप्रियादिप्रयुयुक्षा, तज्जा च धर्माधर्मादिप्राप्तिः, तेषामेव, न तु मय्यजरेऽमृतेऽभये।

"नैनं कृताकृते तपतः", "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्", "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः", "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अनात्मवस्तुनश्चाऽसत्त्वं परमो हेतुः आत्मनश्चाद्वयत्वे, द्वयस्यासत्त्वात्, यानि सर्वाण्युपनिषद्वाक्यानि विस्तरशः समीक्षितव्यानि समीक्षितव्यानीति ॥११६॥

इति श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-श्रीमच्छङ्कर-भगवत्पूज्यपादकृता सकलवेदोपनिषत्सारोपदेशसाहस्री समाप्ता।

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं

पञ्चीकरणम्

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितं पञ्चीकरणवार्तिकोपेतम्

ॐ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते ।

ॐकारः सर्ववेदानां सारस्तत्त्वप्रकाशकः ।
तेन चित्तसमाधानं मुमुक्षूणां प्रकाश्यते ॥१॥

आसीदेकं परं ब्रह्म नित्यमुक्तमविक्रियम् ।
तत्स्वमायासमावेशाद्वीजमव्याकृतात्मकम् ॥२॥

तस्मादाकाशमुत्पन्नं शब्दतन्मात्ररूपकम् ।
स्पर्शात्मकस्ततो वायुस्तेजो रूपात्मकं ततः ॥३॥

आपो रसात्मिकास्तस्मात्तेभ्यो गन्धात्मिका मही ।
शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ॥४॥

शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज उच्यते ।
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ॥५॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही ।
तेभ्यः समभवत्सूत्रं भूतं सर्वात्मकं महत् ॥६॥

ततः स्थूलानि भूतानि पञ्च तेभ्यो विराडभूत् ।
पञ्चीकृतानि भूतानि स्थूलानीत्युच्यते बुधैः ॥७॥

पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद्द्विधा ।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत्पुनः ॥८॥

एकैकं भागमेकस्मिन्भूते संवेशयेत् क्रमात् ।
ततश्चाकाशभूतस्य भागः पञ्च भवन्ति हि ॥९॥
वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत् ।
पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः ॥१०॥
पञ्चीकृतानि भूतानि तत्कार्यं च विराड् भवेत् ।

एतत् स्थूलशरीरमात्मनः ।

स्थूलं शरीरमेतत्स्यादशरीरस्य चात्मनः ॥११॥

इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम् ।

अधिदैवतमध्यात्ममधिभूतमिति त्रिधा ।
एकं ब्रह्म विभागेन भ्रमाद्भाति न तत्त्वतः ॥१२॥
इन्द्रियैरर्थविज्ञानं देवतानुग्रहान्वितैः ।
शब्दादिविषयं ज्ञानं तज्जागरितमुच्यते ॥१३॥
श्रोत्रमध्यात्ममित्युक्तं श्रोतव्यं शब्दलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥१४॥
त्वगध्यात्ममिति प्रोक्तं स्प्रष्टव्यं स्पर्शलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं वायुस्तत्राधिदैवतम् ॥१५॥
चक्षुरध्यात्ममित्युक्तं द्रष्टव्यं रूपलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमादित्योऽत्राधिदैवतम् ॥१६॥
जिह्वाऽध्यात्मं तयाऽऽस्वाद्यमधिभूतं रसात्मकम् ।
वरुणो देवता तत्र जिह्वायामधिदैवतम् ॥१७॥
घ्राणमध्यात्ममित्युक्तं घ्रातव्यं गन्धलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं पृथिव्यत्राधिदैवतम् ॥१८॥
वागध्यात्ममिति प्रोक्तं वक्तव्यं शब्दलक्षणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमग्निस्तत्राधिदैवतम् ॥१९॥

हस्तावध्यात्ममित्युक्तमादातव्यं च यद्भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमिन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥२०॥

पादावध्यात्ममित्युक्तं गन्तव्यं तत्र यद्भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥२१॥

पायुरिन्द्रियमध्यात्मं विसर्गस्तत्र यो भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं मृत्युस्तत्राधिदैवतम् ॥२२॥

उपस्थेन्द्रियमध्यात्मं स्त्र्याद्यानन्दस्य कारणम् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमधिदैवं प्रजापतिः ॥२३॥

मनोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं मन्तव्यं तत्र यद्भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥२४॥

वुद्धिरध्यात्ममित्युक्तं वोद्धव्यं तत्र यद्भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमधिदैवं वृहस्पतिः ॥२५॥

अहंकारस्तथाऽध्यात्ममहङ्कर्तव्यमेव च ।
अधिभूतं तदित्युक्तं रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥२६॥

चित्तमध्यात्ममित्युक्तं चेतव्यं तत्र यद्भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तं क्षेत्रज्ञोऽत्राधिदैवतम् ॥२७॥

तमोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं विकारस्तत्र यो भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमीश्वरोऽत्राधिदैवतम् ॥२८॥

वाह्यान्तःकरणैरेवं देवतानुग्रहान्वितैः ।
स्वं स्वं च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते ॥२९॥

तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः । एतत्त्रयमकारः ।

येयं जागरितावस्था शरीरं करणाश्रयम् ।
यस्तयोरभिमानी स्याद्विश्व इत्यभिधीयते ॥३०॥

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि। तत्कार्यं च पञ्च प्राणाः दशेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। एतत्सूक्ष्मशरीरमात्मनः।

विश्वं वैराजरूपेण पश्येद्भेदनिवृत्तये।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ॥३१॥

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वा धीन्द्रियपञ्चकम्।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियपञ्चकम् ॥३२॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
संकल्पाख्यं मनोरूपं बुद्धिर्निश्चयरूपिणि ॥३३॥

अभिमानात्मकस्तद्वदहंकारः प्रकीर्तितः।
अनुसन्धानरूपं च चित्तमित्यभिधीयते ॥३४॥

प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानाख्यस्तथैव च।
समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः ॥३५॥

खं वाय्वग्न्यम्बुक्षितयो भूतसूक्ष्माणि पञ्च च।
अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥३६॥

करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्न इत्युच्यते।

एतत्सूक्ष्मशरीरं स्यान्मायिकं प्रत्यगात्मनः।
करणोपरमे जाग्रत्संस्कारोत्थप्रबोधवत् ॥३७॥

तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः। एतत्त्रमुकारः॥

ग्राह्यग्राहकरूपेण स्फुरणं स्वप्न उच्यते।
अभिमानी तयोर्यस्तु तैजसः परिकीर्तितः ॥३८॥

एतत् शरीरद्वयकारणमात्माज्ञानं साभासमव्याकृतमित्युच्यते। एतत् कारणशरीरमात्मनः।

हिरण्यगर्भरूपेण तैजसं चिन्तयेद्बुधः ।
चैतन्याभासखचितं शरीरद्वयकारणम् ॥३९॥

तच्च न सत्, नासत् नापि सदसत्, न भिन्नं, नाभिन्नं, नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित् । न निरवयवं, न सावयवं, नोभयम् । किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम् ।

आत्माज्ञानं तदव्यक्तमव्याकृतमितीर्यते ।
न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाभिन्नं न चात्मनः ॥४०॥

न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम् ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ॥४१॥

सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः ।

ज्ञानानामुपसंहारे बुद्धेः कारणतास्थितिः ।
वटबीजे वटस्येव सुषुप्तिरभिधीयते ॥४२॥

तदुभयाभिमान्यात्मा प्राज्ञः । एतत् त्रयं मकारः ॥

अभिमानी तयोर्यस्तु प्राज्ञ इत्यभिधीयते ।
जगत्कारणरूपेण प्राज्ञात्मानं विचिन्तयेत् ॥४३॥

विश्वतैजससौप्तविराट्सूत्राक्षरात्मभिः ।
विभिन्नमिव संमोहादेकं तत्त्वं चिदात्मकम् ॥४४॥

विश्वादिकत्रयं यस्माद्वैराजादित्रयात्मकम् ।
एकत्वेनैव संपश्येदन्याभावप्रसिद्धये ॥४५॥

ओङ्कारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् ।
वाच्यवाचकताभेदाद्भेदेनानुपलब्धितः ॥४६॥

अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः ।
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत्क्रमेण तु ॥४७॥

समाधिकालात्प्रागेवं विचिन्त्यातिप्रयत्नतः ।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् ॥४८॥

अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ओङ्कारे, ओङ्कारोऽहम्येव ।

अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत् ।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत् ॥४९॥

अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः । नाज्ञानं, नापि तत्कार्यं, किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं प्रत्यग्भूतचैतन्यं ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभेदेनावस्थानं समाधिः । "तत्त्वमसि" (छां० ६।८।७) "ब्रह्माहमस्मि" (परमहं० ३) "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (ऐ० ग्रा० ३।९) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृह०२।५।१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत् ।
चिदात्माऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ॥५०॥

परमानन्दसंदोहवासुदेवोऽहमोमिति ।
ज्ञात्वा विवेचकं चित्तं तत्साक्षिणी विलापयेत् ॥५१॥

चिदात्मनि विलीनं चेत्तच्चित्तं नैव चालयेत् ।
पूर्णबोधात्मनाऽऽसीत पूर्णाचलसमुद्रवत् ॥५२॥

एवं समाहितो योगी श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
जितेन्द्रियो जितक्रोधः पश्येदात्मानमद्वयम् ॥५३॥

आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत्सदा ॥५४॥

यः पश्येत्सर्वगं शान्तमानन्दात्मानमद्वयम् ।
न तेन किञ्चिदाप्तव्यं ज्ञातव्यं वाऽवशिष्यते ॥५५॥

कृतकृत्यो भवेद्विद्वाञ्जीवन्मुक्तो भवेत्सदा ।
आत्मन्येवारूढभावो जगदेतन्न वीक्षते ॥५६॥

कदाचिद्व्यवहारे तु द्वैतं यद्यपि पश्यति ।
बोधात्मव्यतिरेकेण न पश्यति चिदन्वयात् ॥५७॥

किन्तु पश्यति मिथ्येव दिङ्मोहेन्दुविभागवत् ।
प्रतिभासः शरीरस्य तदाऽऽप्रारब्धसंक्षयात् ॥५८॥

तस्य तावदेव चिरमित्यादिश्रुतिरब्रवीत् ।
प्रारब्धस्यानुवृत्तिस्तु मुक्तस्याभासमात्रतः ॥५९॥

सर्वदा मुक्त एव स्याज्ज्ञाततत्त्वः पुमानसौ ।
प्रारब्धभोगशेषस्य संक्षये तदनन्तरम् ॥६०॥

अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम् ।
चैतन्यममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम् ॥६१॥

वाच्यवाचकनिर्मुक्तं हेयोपादेयवर्जितम् ।
प्रज्ञानघनमानन्दं वैष्णवं पदमश्नुते ॥६२॥

इति पञ्चीकरणं भवति ॐ ॥

इदं प्रकरणं यत्नाज्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः ।
अमानित्वादिनियमैर्गुरुभक्तिप्रसादतः ॥६३॥

इमां विद्यां प्रयत्नेन योगी सन्ध्यासु सर्वदा ।
समभ्यसेदिहामुत्रभोगानासक्तधीः सुधीः ॥६४॥

॥ इति श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितं पञ्चीकरणवार्तिकं सम्पूर्णम् ॥

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचिता

दशश्लोकी

श्रीमधुसूदनसरस्वतीस्वामिविरचितेन

सिद्धान्तबिन्दुना संवलिता

श्रीशङ्कराचार्यनवावतारं विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य ।
वेदान्तशास्त्रश्रवणालसानां बोधाय कुर्वे कमपि प्रयत्नम् ॥१॥

इह खलु साक्षात्परम्परया वा सर्वान् जीवान् समुद्दिधीर्षुर्भगवान् श्रीशङ्करोऽनात्मभ्यो विवेकेनात्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं संक्षेपेण बोधयितुं दशश्लोकीं प्रणिनाय ।

नन्विदङ्कारास्पदेभ्योऽनात्मभ्यो विवेकेनाहङ्कारास्पदमात्मानं सर्वो लोकोऽहमस्तीति प्रत्येति दुखं चानुभवति । तेन ज्ञातज्ञापकत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्चात्मतत्त्वप्रतिपादनं व्यर्थमिति चेन्न । लक्षणेन इदङ्कारास्पदानामपि देहेन्द्रियमनसां प्रतिभासतोऽहङ्कारास्पदत्वेन तदविवेकात्, तेन च शुद्धेऽप्यात्मनि दुःखित्वाद्यभिमानात्, शास्त्रीयेण च ब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन समूलस्य तस्य निवृत्तेः, तस्मादज्ञातज्ञापकत्वात्सप्रयोजनकत्वाच्चात्मतत्त्वप्रतिपादनं न व्यर्थम् । तस्य चात्मतत्त्वस्य 'तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मी'त्यादिवेदान्तमहावाक्यमेव प्रमापकम् । वाक्यं च पदार्थज्ञानद्वारैव ज्ञापकमिति तत्त्वम्पदार्थयोः प्रकृतवाक्यार्थानुकूलयोरन्यतोऽसिद्धत्वात्तावपि शास्त्रेणैव प्रमातव्यौ, यूपाहवनीयादिपदार्थवत् । ततश्च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ती'त्याद्याः सृष्ट्यादिश्रुतयस्तत्पदवाच्यार्थस्य समर्पिकाः । 'सत्यं ज्ञानमनन्त'मित्यादयस्तु लक्ष्यार्थस्य।

एवं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिश्रुतयः 'तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसञ्चरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं चे'त्याद्यास्त्वंपदवाच्यार्थस्य समर्पिकाः। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रित्यादयस्तु लक्ष्यार्थस्य। तेन प्रथममवान्तरवाक्येभ्योऽनुभूतयोः शुद्धयोर्जीवब्रह्मणोस्तत्त्वमस्यादिवाक्ये मुख्यार्थान्वयानुपपत्त्या लक्षणया स्मरणोपपत्तिः। सुषुप्तौ निर्विकल्पकसाक्षिचैतन्यानुभावाङ्गीकाराच्च। अद्वितीयब्रह्मविजिज्ञापयिषया प्रवृत्तानां सत्यज्ञानादिपदानामुपाधिविशिष्टचैतन्ये शक्तत्वेऽपि चैतन्यमात्रे तात्पर्येण तत्रैव तदंशे एव संस्कारोद्बोधाच्च। इच्छन्ति ह्याकाशादिपदादपि निर्विकल्पकं स्मरणम्। तात्पर्याधीनत्वाच्छब्दवृत्तेः। एतेन प्रमितिप्रमात्रोर्महावाक्यार्थबोधे भानमपास्तम् असम्प्रज्ञातसमाधेः श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वाच्चेति।

पारोक्ष्यसद्वितीयत्वाभ्यां च न तत्त्वम्पदार्थमात्रानुभावादेव कृतकृत्यता। वाच्यार्थभेदावभासान्न पौनरुक्त्यम्। लक्ष्यस्य चार्थस्यैकत्वादखण्डार्थता पदजन्यस्मरणस्य निर्विकल्पकवाक्यार्थानुकूलस्य निर्विकल्पकत्वमनुभववदेवाविरुद्धम्।

सविकल्पकवाक्यार्थबोधे च सविकल्पकपदार्थोपस्थितिरङ्गम्। निर्विकल्पकवाक्यार्थबोधे च निर्विकल्पपदार्थोपस्थितिरङ्गम्। प्रकृते च निर्विकल्पको वाक्यार्थबोधः। तस्यैव प्रमात्वेनाज्ञाननिवर्तनसामर्थ्यात्। अतो न लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेण लक्षणानुपपत्तिः प्रकृतवाक्यार्थानुकूलपदार्थोपस्थितेरेव शक्तिलक्षणासाध्यत्वात्।

ननु तर्हि वेदान्तवाक्येभ्य एव पदार्थोपस्थितौ वाक्यार्थबोधे च सति तस्य स्वत एव प्रामाण्यात्तेनाज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्युपपत्तौ किं विचारेणेति चेत्सत्यम्; वेदान्ता यद्यपि स्वतः प्रामाण्यान्निर्विकल्पकमात्मसाक्षात्कारं जनयन्ति, तथापि तस्य मन्दबुद्धीनां

वादिविप्रतिपत्तिजसंशयप्रतिवन्धेन अज्ञाननाशकत्वासामर्थ्यात्, विचारेण तु संशयनिवृत्तौ निरपवादमज्ञाननिवृत्तिरिति संशयबीजभूतवादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थं विचार आरभ्यते। तत्र त्वम्पदार्थे प्रथमं विप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते। तत्पदार्थस्य शास्त्रतात्पर्यविषयतया अभ्यर्हितत्वम्पदार्थस्य शास्त्रफलमोक्षभागितया ततोऽप्यभ्यर्हितत्वात्। तत्र देहाकारेण परिणतानि चत्वारि भूतान्येव त्वम्पदार्थं इति चार्वाकाः। चक्षुरादीनि प्रत्येकमित्यपरे। मिलितानीत्यन्ये। मन इत्येके। प्राण इत्यपरे। क्षणिकं विज्ञानमिति सुगताः। शून्यमिति माध्यमिकाः। देहेन्द्रियातिरिक्तो देहपरिमाण इति दिगम्बराः। कर्ता भोक्ता जडो विभुरित वैशेपिकतार्किक प्रभाकराः। जडो बोधात्मक इति भाट्टाः। भोक्तैव केवलबोधात्मक इति साङ्ख्याः पतञ्जलिश्च।

अविद्याया कर्तृत्वादिभाक् परमार्थतो निर्धर्मकः परमानन्दबोधरूप एवेत्यौपनिषदाः। एवं सामान्यतोऽहम्प्रत्ययसिद्धे चिदात्मनि वादिविप्रतिपत्तिभिः सन्दिग्धे अहम्प्रत्ययस्यालम्बनविशेषनिर्णयायाह भगवानाचार्यः—

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुर्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनैकान्तिकत्वात् सुषुप्त्येकसिद्धस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥१॥

अस्यार्थः—अहम्—अहम्प्रत्ययालम्बनम्। एकः—अद्वितीयः। अवशिष्टः—सर्वद्वैतबाधितः। शिवः-परमानन्दबोधरूपः। तस्यैव मङ्गलरूपत्वात्। केवलो निर्धर्मकः।

तेनाद्वितीयः सर्वप्रमाणाबाध्यः परमानन्दबोध एवाहम्प्रत्ययालम्बनमित्यौपनिषदपक्ष एव श्रेयानित्यर्थः। एतदुपपादनायेतरवादिमतानि निराकरिष्यन् प्रथमं देहात्मवादं निराकरोति—न भूमिर्न

तोयं न तेजो न वायुर्न खमिति। अत्राहमिति सर्वत्र प्रत्येकं नञा सम्बध्यते। या भूमिः सोऽहं न भवामि योऽहं सा भूमिर्न भवतीति च परस्परतादात्म्याभावो द्रष्टव्यः। यद्यपि वादिना प्रत्येकं भूम्यादि-रात्मत्वेन नाभ्युपेयते संघातस्यैव तदभ्युपगमात्, तथापि तन्मते अवयव्यनङ्गीकारात्पञ्चमतत्त्वाभ्युपगमप्रङ्गेन च संयोगादिसम्बन्धान-भ्युपगमात् संहन्तुरभावाच्च संघातो नोपपद्यत इत्यभिप्रेत्य प्रत्येक-भूतनिराकरणेन भौतिकदेहात्मवादो निराकृतः। यद्यपि भूतचतुष्ट-यतत्त्ववादिनो मते आवरणाभावत्वेनाभिमतस्य स्थिरस्यासत आकाशस्य देहानुपादानत्वम्, तथापि सिद्धान्ते तस्य भावत्व—देहोपादानत्वाद्यङ्गीकारात् तत्राप्यात्मत्वप्रसक्त्या तन्निराकृतम्। अथवा न वायुरित्यन्तमेव देहात्मवादस्य निराकरणम्, न खमिति तु शून्यवादस्य, खशब्दस्य शून्यवाचकत्वात्। नेन्द्रियमिति प्रत्येक-मिन्द्रियाणामात्मत्वनिरासः। न तेषां समूह इति मिलितानां भूतानां देहावयव्याकारेण परिणतानामिन्द्रियाणां च मिलितानां निरासः। पूर्वं संघातमनभ्युपगम्य प्रत्येकं भूतानि निराकृतानि, अधुना तु संघातमभ्युपगम्यापि निराकृतानीति भेदः। भूतनिराकरणेन भौतिकयोः प्राणमनसोर्निरासः। मनोनिराकरणेन मनोवृत्तेः क्षणिक-विज्ञानस्य देहातिरिक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्य च निरासः। सिद्धान्ते ज्ञानेच्छासुखादीनामन्तःकरणाश्रयत्वाभ्युपगमात्। काम-सङ्कल्पादीन्प्रकृत्य 'एतत्सर्वं मन एवे'ति श्रुतेः। तेन देहमारभ्य केवलभोक्तृपर्यन्तानां तत्तद्वाद्यभ्युपगतानामनात्मत्वं प्रतिज्ञातं भवति। तत्र हेतुमाह—अनैकान्तिकत्वादिति। व्यभिचारित्वाद् विनाशित्वादिति यावत्। आत्मनो देशकालापरिच्छिन्न-त्वात्तत्परिच्छिन्नानां घटादिवदनात्मत्वात् ध्वंसप्रागभावयोश्च ग्रहीतुमशक्यत्वात् अनात्मनां जडत्वात् स्वभिन्नस्य चात्मत्वाभावाद् आत्मन एकत्वेऽपि सुखदुःखाद्याश्रयाणामन्तःकरणानां भेदाभ्यु-पगमाद्व्यवस्थोपपत्तेः। स्वेनैव स्वाभावग्रहणे विरोधात् ग्राह्यकाले

ग्राहकासत्त्वात् ग्राहकसत्त्वे ग्राह्याभावात् कृतहान्यकृताभ्यागम-प्रसङ्गाच्च न तस्य ध्वंसप्रागभावौ। सद्रूपस्यात्मनः सर्वत्रानुगमाच्च नात्यन्ताभावसम्भवः।

द्वैतस्य मिथ्यात्वेनाधिष्ठानसत्तादात्म्यापन्नतयैव सिद्धत्वात्। शुक्तिरजतादिवदध्यस्तस्य अधिष्ठानतादात्म्याभावानुपपत्तेः। तेन आत्मा नाभावप्रतियोगी। अभावप्रतियोगिनश्च देहेन्द्रियादयः तेनाऽमी नात्मानः। किन्तु स्वप्रकाशबोधरूपाख्ये आत्मनि अद्वैतेऽप्यनाद्यनिर्वचनीयाऽविद्याकल्पिता अनिर्वचनीया एवेति सिद्धान्त-रहस्यम्। ननु बोधरूप आत्मेति तवाभ्युपगमात्सुषुप्तौ च बोधा-भावात् गाढं मूढोऽहमासं न किञ्चिदवेदिषमिति सुप्तोत्थितस्य परामर्शात् कथमव्यभिचारिता तस्येत्याशङ्क्याह—सुषुप्त्येकसिद्ध इति। अयमर्थः। आत्मनः सुषुप्तिसाक्षित्वान्न तत्र तदभावः। अन्यथा मूढोऽहमासमिति परामर्शानुपपत्तेः। मातृमानमितिमेयानां व्यभिचारित्वेऽपि तद्भावाभावसाक्षिणः कालत्रयेऽप्यव्यभिचारात्। ननु प्रमाश्रयः प्रमाता स एव कर्ता भोक्ता प्रदीपवत्स्वपरसाधारण-सर्वभासकश्चेति न घटादिवत्साक्षिसापेक्ष इति चेन्न। विकारित्वेन स्वविकारसाक्षित्वानुपपत्तेः दृश्यस्य द्रष्टृत्वाभावात्। प्रमातुश्च परिणामित्वेन दृश्यत्वात् एकस्य कूटस्थस्यैव सर्वसाक्षित्वात्। ननु एकः कूटस्थो निर्धर्मकः साक्षी नाद्रियते अप्रामाणिकत्वादिति चेन्न। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः अदृष्टो द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे'त्यादि वदता वेदान्त-प्रमाणराजेन तस्यैव सर्वसाक्षित्वेनाभिषिक्तत्वात्। ननु महदेत-दिन्द्रजालम्, प्रमाश्रयानकूटस्थान्विहाय कूटस्थमप्रमाश्रयमेव प्रमाणराजः सर्वसाक्षिणं करोतीति। बाढम्। इन्द्रजालमेवैतत्स्वप्न-वदविद्याविलसितत्वात्। तथापि दृश्यस्य घटादिवज्जडत्वेन कथं प्रमाश्रयत्वमिति चेन्न। दर्पणादिवत्स्वच्छत्वेन चित्प्रतिबिम्बग्राह-

करत्वाच्चित्तादात्म्याध्यासाद्वा। ननु नीरूपस्य निरवयवस्य कथं प्रतिबिम्ब इति चेत्, काऽत्रानुपपत्तिः? विभ्रमहेतूनां विचित्रत्वात्। जपाकुसुमरूपस्य नीरूपस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनाच्छब्द-स्यापि प्रतिशब्दाख्यप्रतिबिम्बोपलम्भात्तयोः सम्प्रतिपन्नप्रतिबिम्ब-वैलक्षण्यानिरूपणात्। तथापीन्द्रियग्राह्यस्यैव प्रतिबिम्ब इति चेन्न। व्यभिचारात्। अनिन्द्रियग्राह्यस्य साक्षिप्रत्यक्षस्याकाशस्यापि जलादौ प्रतिबिम्बोपलम्भात्। अन्यथा जानुमात्रेऽप्युदके अति-गम्भीरप्रतीतिर्न स्यात्। आकाशप्रतिबिम्बस्य साक्षिभास्यत्वेऽपि अधिष्ठानग्रहणार्थं चक्षुषोऽपेक्षणात्।

एतेन नीलं नभ इत्यादिविभ्रमेऽपि चक्षुरन्वयव्यतिरेकौ व्याख्यातौ। तत्र सालोकस्याकाशस्याधिष्ठानत्वात्। तस्माच्चाक्षु-षबिम्बमेव रूपसापेक्षं नान्यदित्यवधेयम्। तथाप्यात्मनः प्रतिबिम्बे किं प्रमाणमिति चेत्, शृणु।

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्यरूपं प्रतिचक्षणाय', 'माया आभासेन जीवेशौ करोती'त्यादिश्रुतिः 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि'ति स्मृतिः। 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' 'स एतमेव सीमानं विदार्यै'तया द्वारा प्रापद्यत, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश-दि'त्यादिप्रवेशश्रुत्यर्थापत्तिः।

'आभास एव च, अत एव चोपमा सूर्यकादिवदि'त्यादिसूत्राणि च तत्र तत्र मानानि। तस्य च प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वमेवेति प्रतिम्बिवादिनः। मिथ्यात्वमेवेत्याभासवादिनः। स्वरूपे तु न विवाद एवेत्यन्यदेतत्। अचेतनविलक्षणत्वन्तु श्रुतिसिद्धं अनुभवसिद्धं च। तस्मात्सिद्धमन्तःकरणस्य प्रतिबिम्बाध्यासद्वारा प्रमातृत्वम्।

ननु अध्यासोऽपि नोपपद्यते। तथा हि—आत्मनि वाऽनात्मा अध्यस्यते अनात्मनि वा आत्मा? नाद्यः। तस्य निस्सामान्य-विशेषत्वेन सर्वदा भासमानत्वेन सादृश्यादिरहितत्वेन चाधिष्ठानत्वा-

सम्भवात्। नापि द्वितीयः। तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्। मिथ्या-वस्तुनोऽधिष्ठानत्वे शून्यवादप्रसङ्गात्। तस्य च सत्यत्वे तदनि-वृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। न हि सत्यं क्वचिन्निवर्तते निवर्त्यमानं वा ज्ञानेन। श्रुतयश्च—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥'

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति', 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' 'तरति शोकमात्मविदि'त्याद्याः ज्ञानात्सर्वसंसारनिवृत्तिं दर्शयन्त्यः तस्य च मिथ्यात्वं सूचयन्ति। 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अतोऽन्यदार्तम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'अथात आदेशो नेति नेती'त्याद्याः श्रुतयः साक्षादेव मिथ्यात्वं प्रतिपादयन्ति। दृश्यत्वेन शुक्तिरजतादि-वन्मिथ्यात्वानुमानाच्च।

आत्माध्यस्ततयैवानात्मनि सिद्धेस्तत्रात्माध्यासः। अनात्मा-ध्यासेन चात्मनो दोषसादृश्यादिसम्भवात् तत्र चानात्माध्यास इत्यात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गाच्च। एतेनात्मानात्माध्यासस्याविद्या-त्मकत्वान्नविकल्पावसर इत्यपास्तम्, स्वप्रकाशात्मनि अविद्याया अप्यनुपपत्तेः। तथाहि साप्यध्यस्ता, अनध्यस्ता वा? तत्राद्ये कथं नात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गः। अन्त्ये तस्यानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। सर्वस्याध्यासमूलत्वे भ्रमप्रमादिव्यवस्था च न स्यात्। एकस्यै-वात्मनः प्रमाणप्रमेयप्रमितिप्रमातृरूपता च विरुद्धा। अविरोधा-भ्युपगमे वा सौगतमतापत्तिरिति। अत्रोच्यते। अहं मनुष्यः कर्ता भोक्तेत्यादिप्रतीतिस्तावत्सर्वजनसिद्धा। सा च न स्मृतिरपरोक्षाव-भासत्वाद्भेदाग्रहपूर्वकत्वाच्च। नापि प्रमा, श्रुतियुक्तिबाधितत्वात्। यथा च श्रुतयः—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, अयमात्मा ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, य आत्मा अपहतपाप्मा, यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः, योऽशनायापिपासे

शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति, स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति, 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' इत्याद्या अकर्तृभोक्तृपरमानन्दब्रह्मरूपतात्मनो दर्शयन्ति। युक्तयश्च—विकारिणः परिच्छिन्नत्वेन अनात्मत्वापत्तेः, स्वेनैव स्वस्य ग्रहणे कर्तृकर्मविरोधात्, दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेर्भेदेनाभेदेन वा धर्मधर्मिभावानुपपत्तेश्च, ज्ञानानित्यत्वपक्षे तत्तद्व्यक्तिभेदध्वंसप्रागभावसमवायज्ञानत्वजात्याद्यभ्युपगमे गौरवात्, एकत्वाभ्युपगमे चातिलाघवात्, घटज्ञानं पटज्ञानमित्युपाधिभेदपुरस्कारेणैव ज्ञानभेदप्रतीतेः, स्वतस्तु ज्ञानं ज्ञानमित्येकस्वरूपावगमात्, तदुत्पत्तिविनाशप्रतीत्योश्चावश्यकल्प्यविषयसम्बन्धविषयतयाऽप्युपपत्तेः, उपाधिपरामर्शमन्तरेण स्वत एव घटात् घटान्तरस्य भेदप्रतीतेः, तत्प्रतिवन्दिग्रहासम्भवात्, आकाशकालदिशामपि नानात्वापत्तेश्च, कर्तृत्वादेर्वास्तवत्वेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, स्वप्रकाशानभ्युपगमे च जगदान्ध्यप्रसङ्गात्, परमप्रेमास्पदत्वेन च तस्यानन्दरूपत्वात्, निर्धर्मकनित्यस्वप्रकाशसुखात्मक एवात्मा—इत्याद्याः। तस्मात् परिशेषात् भ्रान्तिरियमिति स्थिते तत्कारणमपि योग्यं किञ्चित्कल्पनीयम्। कल्प्यमानं च तदद्वितीयात्मनि अध्यस्ततयैव धर्मिग्राहकमानेन सिद्धयतीति 'न जानामी'ति साक्षिप्रतीतिसिद्धमनिर्वाच्यमज्ञानमेव तत्। न चेदमभावरूपम्। ज्ञानस्य नित्यत्वेन तदभावानुपपत्तेरित्युक्तत्वात्।

धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां च व्याघातापत्तेः। नापि भ्रमसंशयतत्संस्कारपरम्परारूपम्। अपरोक्षत्वात्, अतीतानागतभ्रमसंस्काराणाञ्चापरोक्षत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्। आवरणात्मकत्वात् भ्रमाद्युपादानत्वाच्च। आत्मनो निर्विकारत्वात्। अन्तःकरणादेश्च तज्जन्यत्वात्। 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढामि'ति।

गुणवत्त्वश्रुतेश्च। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, अनृतेन हि प्रत्यूढाः नीहारेण प्रावृताः,

भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च मायाऽविद्या अनिर्वाच्यमनृतं तत्त्वज्ञाननिवर्त्यञ्च अज्ञानमेव स्वपराध्यासे कारणम्। अनादित्वेन तन्निरासात्, अनादित्वेन चात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गः। अनादित्वेन तन्निरासात्, अनादित्वेनोत्पत्त्यभावात्, स्वप्रकाशात्मन एव तज्ज्ञप्तिरूपत्वात्। तेनाज्ञानाध्यासविशिष्टचैतन्येऽहङ्काराध्यासः। तद्विशिष्टे कामसङ्कल्पादीनामहङ्कारधर्माणामिन्द्रियधर्माणाञ्च काणत्वबधिरत्वक्लीबत्वादीनामध्यासः। इन्द्रियाणां तु परोक्षत्वान्नापरोक्षधर्म्यध्यास इति सिद्धान्तः। तद्विशिष्टे स्थूलदेहाध्यासो धर्मपुरस्कारेणैवाहं मनुष्य इत्याद्याकारः न तु स्वरूपतः अहं देह इत्यध्यासः। तथा प्रतीत्यभावात्। तद्विशिष्टे च स्थौल्यादीनां देहधर्माणामध्यासः। तद्विशिष्टे च वाह्यानां पुत्रभार्यादीनां साकल्यवैकल्यादिधर्माध्यासः। एवं चैतन्यस्याप्यहङ्कारादिपु देहपर्यन्तेष्वध्यासः संसर्गतः। अध्यासव्यवधानतारतम्याच्च प्रेमतारतम्यम्। तदुक्तं वार्तिकामृते—

> वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।
> इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः॥ इति।

पिण्डः स्थूलशरीरम्। प्राणः अन्तःकरणम्। देहापेक्षया चेन्द्रियाणां प्रियत्वं शस्त्रवृष्ट्यादिधारापाते चक्षुरादीनां मीलनदर्शनात् अनुभवसिद्धम्। तेनान्योन्याध्यासात् चिदचिद्ग्रन्थिरूपोऽध्यासः एकतरस्याध्यासाङ्गीकारेऽन्यतरस्याभानप्रसङ्गात् अध्यस्तस्यैव भ्रमे भाननियमात् 'इमे रङ्गरजते' इति समूहालम्बनवदवश्यमितरेतराध्यासः। सर्वबाधावधिभूतचैतन्यपरिशेषेण च न शून्यवादापत्तिः। सत्यानृतसम्भेदावभासत्वादध्यासस्य। तस्मात्पूर्वपूर्वाध्यासमूल एवायमुत्तरोत्तरोऽहङ्काराध्यासः बीजाङ्कुरवदनादिः। अविद्याध्यासश्च एक एवानादिः। नन्वध्यासस्यानादित्वे 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यास' इति वदता भाष्यकारेण स्मृतिरूपत्वेन संस्कारजन्यत्वमुक्तं विरुध्येतेति चेन्न। कार्याध्यासाभिप्रायत्वात्तस्य।

'परत्र परावभास' इत्येतावन्मात्रस्यैव उभयानुगतस्य लक्षणत्वात्। यद्वा 'सत्यानृते मिथुनीकृत्ये'ति भाष्यवचनात् सत्यमिथ्यावस्तु-सम्भेदावभासोऽध्यास इत्येव सिद्धान्तलक्षणम्। तेन कारणाध्यासेऽपि न लक्षणाव्याप्तिः। कार्याध्यासस्य च प्रवाहरूपेण बीजाङ्कुर-वदनादित्वाभिधानान्न कोऽपि दोषः। एवमध्यासे सिद्धे एकस्यात्मनो जीवेश्वरादिव्यवस्था मानमेयादिप्रतिकर्मव्यवस्था चोपपद्यते। तथाहि—अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञानतादात्म्यापन्नः स्वचिदा-भासाविवेकादन्तर्यामी साक्षी ईश्वरः जगत्कारणमिति च कथ्यते, बुद्ध्युपहितश्च तत्तादात्म्यापन्नः स्वचिदाभासाविवेकाज्जीवः कर्ता भोक्ता प्रमातेति च कथ्यते—इति वार्तिककारपादाः। प्रतिदेहं बुद्धीनां च भिन्नत्वात् तद्गतचिदाभासभेदेन तदविविक्तं चैतन्यमपि भिन्नमिव प्रतीयते। अज्ञानस्य तु सर्वत्राभिन्नत्वात्तद्गतचिदा-भासभेदाभावात् तदविविक्तसाक्षिचैतन्यस्य न कदाचिदपि भेद-भानमिति। अस्मिश्च पक्षे तत्त्वमादिपदे जहल्लक्षणैव। साभासस्यो-पाधेर्वाच्यार्थस्य हानात्। आभासस्यापि जडाजडविलक्षणत्वेना-निर्वचनीयत्वात्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—

साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तदाहं-
शब्दोऽहङ्कारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे। इति।

न चाभासस्यैव बद्धत्वात् केवलचैतन्यस्य मुक्तत्वात् बन्ध-मोक्षयोर्वैयधिकरण्यं स्वनाशार्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिश्चेति वाच्यम्। केवल-चैतन्यस्यैवाभासद्वारा बद्धत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं वार्तिककारपादैः—

अयमेव हि नोऽनर्थो यत्संसार्यात्मदर्शनम्॥ इति।

तेन शुद्धचैतन्यस्याभास एव बन्धः। तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति न किञ्चिदसमञ्जसम्। अथवाऽऽभासाविविक्तचैतन्यमपि तत्त्वमसि-पदवाच्यम्। तेन वाच्यैकदेशस्यात्यागादस्मिन्पक्षे जहदजहल्लक्षणे-

वेति न कोऽपि दोषः। अयमेव पक्ष आभासवाद इति गीयते। अज्ञानोपहितं विम्बचैतन्यमीश्वरः। अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिविम्बतं चैतन्यं जीवः इति विवरणकाराः। अज्ञानप्रतिविम्बितं चैतन्यमीश्वरः। वुद्धिप्रतिविम्बतं चैतन्यं जीवः। अज्ञानोपहितं विम्बचैतन्यं शुद्धमिति सङ्क्षेपशारीरककाराः। अनयोः पक्षयोः वुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम्। प्रतिविम्बस्य पारमार्थिकत्वात् जहदजहल्लक्षणैव तत्त्वमादिपदेषु। इममेव च प्रतिविम्बवादमाचक्षते। अज्ञानविषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः। अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पतिमिश्राः। अस्मिंश्च पक्षे अज्ञाननानात्वात् जीवनानात्वम्। प्रतिजीवं च प्रपञ्चभेदः। जीवस्यैव स्वाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात्। प्रत्यभिज्ञा चापि सादृश्यात्। ईश्वरस्य च सप्रपञ्चजीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव चावच्छेदवादः।

अज्ञानोपहितं विम्बचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानप्रतिविम्बचैतन्यं जीव इति वा, अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानोपहितं जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्तः एकजीववादाख्यः। इममेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते। अस्मिंश्च पक्षे जीव एव स्वाज्ञानवशात् जगदुपादानं निमित्तं च। दृश्यं सर्वं प्रातीतिकम्। देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्तिः। एकस्यैव च स्वकल्पितगुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादिदार्ढ्यादात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः। शुकादीनां च मोक्षश्रवणं त्वर्थवादः। महावाक्ये च तत्पदमनन्तसत्यादिपदवदज्ञानानुपहितचैतन्यस्य लक्षणयोपस्थापकमित्याद्या अवान्तरभेदाः स्वयमूहनीयाः।

ननु वस्तुनि विकल्पासम्भवात् कथं परस्परविरुद्धमतप्रामाण्यम्, तस्मात् किमत्र हेयं किमुपादेयमिति चेन्न। क एवमाह? वस्तुनि विकल्पो न सम्भवतीति। स्थाणुर्वा पुरुषो वा राक्षसो वेत्यादि-

विकल्पस्य वस्तुन्यपि दर्शनात्। अतात्त्विकी सा कल्पना पुरुषबुद्धिप्रभवा इयं तु शास्त्रीया जीवेश्वरविभागादिव्यवस्थेति चेत्। नूनमतिमेधावी भवान्। अद्वितीयात्मतत्त्वं हि प्रधानं फलवत्त्वादज्ञातत्वाच्च प्रमेयं शास्त्रस्य। जीवेश्वरविभागादिकल्पनास्तु पुरुषबुद्धिप्रभवा अपि शास्त्रेणानूद्यन्ते, तत्त्वज्ञानोपयोगित्वात्, फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायात्, भ्रमसिद्धस्यापि श्रुत्याऽनुवादसम्भवात्। एतेन द्वैतज्ञानेनाद्वैतज्ञानस्य बाधो निरस्तः। घटादिद्वैतज्ञानस्यापि अद्वैतसन्मात्रांशे अज्ञाते प्रामाण्याभ्युपगमाच्च ज्ञानाज्ञानयोस्समानाश्रयविषयत्वनियमात्।

जडे च प्रमाणप्रयोजनाभावेनाज्ञानानभ्युपगमात् तदवच्छिन्नचैतन्याज्ञानादेव तत्राप्यज्ञानव्यवहारोपपत्तेः। सर्वप्रमाणानां चाज्ञातज्ञापकत्वेनैव प्रामाण्यात्। अन्यथा स्मृतेरपि तदापत्तिरिति। एवं वेदान्तेषु सर्वत्रैवंविधविरोधे अयमेव परिहारः। तदाहुर्वार्तिककारपादाः—

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता॥ इति॥

श्रुतितात्पर्यविषयीभूतार्थविरुद्धं च हेयमेवेति शतश उद्घोषितमस्माभिः। तस्मान्न किञ्चिदेतत्। तदेवं जीवस्योपाधिनाभिभूतत्वात्संसारोपलब्धिः। परमेश्वरस्य तूपाधिवशित्वात् सर्वज्ञत्वादिकमिति सम्यगुपपद्यते व्यवस्था। ननु भवत्वविद्यावशाज्जीवेश्वरविभागव्यवस्था। मानमेयादिप्रतिकर्मव्यवस्था तु कथमिति चेत्, उच्यते। दृश्यत्वाज्जडत्वाद्विनाशित्वाच्च परिच्छिन्नाप्यविद्या अनिर्वचनीयत्वेन विचारासहा आवरणविक्षेपशक्तिद्वयवती सर्वगतं चिदात्मानमावृणोति अङ्गुलिरिव नयनसन्निहिता सूर्यमण्डलम्। तत्र चक्षुष एवावरणे अङ्गुलेरप्यभानप्रसङ्गात् अधिष्ठानावरणमन्तरेण विक्षेपानुपपत्तेश्च। ततः सा पूर्वपूर्वसंस्कारजीवकर्मप्रयुक्ता

सती निखिलजगदाकारेण परिणमते। सा च स्वगतचिदाभासद्वारा चित्तादात्म्यापन्नेति तत्कार्यमपि सर्वमाभासद्वारा चिदनुस्यूतमेव। तथा च चैतन्यस्य दीपवत्स्वसम्बद्धसर्वभासकत्वात् जगदुपादान-चैतन्यं प्रमाणापेक्षामन्तरेणैव सर्वदा सर्वं भासयत् सर्वज्ञं भवति। तेन तत्र न मानमेयादिव्यवस्था किन्तु जीवे। तस्य बुद्धयवच्छिन्न-त्वेन परिच्छिन्नत्वात्। तेन चिदभिव्यक्तियोग्येन येनान्तःकरणेन यदा यत्सम्बद्धं भवति, तदेव तदा तदवच्छिन्नो जीवोऽनुभवतीति न साङ्कर्यप्रसङ्गः। एवमत्र प्रक्रिया। शरीरमध्ये स्थितः सर्व-शरीरव्यापकः सत्त्वप्राधान्येन सूक्ष्मपञ्चभूतारब्धः अन्तःकरणाख्यः अविद्याविवर्तो दर्पणादिवदतिस्वच्छः नेत्रादिद्वारा निर्गत्य योग्यान् घटादीन् विषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति द्रुतताम्रादिवत्। तस्य च सौरालोकादिवद् झटित्येव सङ्कोचविकासावुपपद्येते। स च सावयवत्वात् परिणममानो देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग्व्याप्य देहघटयोर्मध्येऽपि चक्षुर्वदविच्छिन्नोऽप्यवतिष्ठते। तत्र देहेऽन्तः-करणभागोऽहङ्काराख्यः कर्तेत्युच्यते। देहविषयमध्यवृत्तिदण्डाय-मानस्तद्भागः वृत्तिज्ञानाख्यः क्रियेत्युच्यते। विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यत्वमित्युच्यते। तस्य च त्रिभागस्यान्तःकरणस्यातिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्राभिव्यज्यते। तस्य चाभिव्यक्तस्य चैतन्यस्य एकत्वेऽप्यभिव्यञ्जकान्तःकरणभाग-भेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति। कर्तृभागावच्छिन्नचिदंशः प्रमाता। क्रियाभागावच्छिन्नचिदंशः प्रमाणम्। विषयगतोऽभिव्यक्तियोग्यत्व-भागावच्छिन्नचिदंशः प्रमितिरिति। प्रमेयं तु विषयगतं ब्रह्म-चैतन्यमेव अज्ञातम्। तदेव च ज्ञातं सत् फलम्।

अत्र च यस्मिन्पक्षे अन्तःकरणावच्छिन्नो जीवः यस्मिंश्च पक्षे सर्वगतोऽसङ्गोऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, तत्रोभयत्रापि प्रमातृचैतन्यो-परागार्था विषयगतचैतन्यावरणभङ्गार्था चान्तःकरणवृत्तिः।

यस्मिंश्च पक्षेऽविद्यावच्छिन्नः सर्वगतो जीवः आवृतः, तस्मिन्पक्षे जीवस्यैव जगदुपादानत्वेन सर्वसम्बद्धत्वात् आवरणभङ्गार्था वृत्तिरिति विवेकः। ननु चिदुपरागार्था वृत्तिरिति पक्षे स्वतोऽन्तःकरणसम्बद्धानां धर्माधर्मादीनां ब्रह्मणश्च वृत्तिमन्तरेणैव सर्वदा भानं स्यात्। न स्यात्। चैतन्यस्य तत्तदाकारत्वाभावात्। तदभावश्च स्वच्छेऽपि ब्रह्मचैतन्य आवरणात्। अनावृतेऽपि शुक्तिरजतादावस्वच्छत्वात्।

धर्माधर्मादौ तु अस्वच्छत्वादावृतत्वाद्वा। तेन स्वच्छेऽप्यावृते प्रमाणवृत्त्या तदाकारता। अनावृतेऽप्यस्वच्छे शुक्तिरजतादौ अविद्यावृत्त्या तदाकारता। अनावृते स्वच्छे तु सुखदुःखादौ स्वत इति नान्तःकरणसम्बन्धमात्रेण भानप्रसङ्गः।

ननु ब्रह्मणः कथमावरणम्? निरवद्यस्वप्रकाशत्वेन सर्वज्ञत्वात्। सत्यम्। स्वसम्बद्धसर्वभासकतया सर्वज्ञमपि अन्तःकरणावच्छिन्नजीवाज्ञानविषयतया आवृतमिति व्यपदेशात्। तस्मात् ब्रह्म जगदुपादानमिति पक्षे चिदुपरागार्था आवरणभङ्गार्था च वृत्तिः। जीवोपादानत्वपक्षे तु आवरणभङ्गार्थैवेति। नन्वेकेनैव घटादिज्ञानेनावरणस्य भङ्गे सद्यो मोक्षप्रसङ्गः, अज्ञानस्यैकत्वात्। नानाज्ञानपक्षेऽप्येकस्य जीवस्यैकाज्ञानोपाधित्वात्। न। उत्तेजकेन मणेरिव वृत्त्या आवरणस्याभिभवाङ्गीकारात्। तथा च प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यभावसहकृतमज्ञानं सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीति प्रतीतिजननसमर्थमावरणमित्युच्यते। वृत्तौ जातायां तु अवच्छेदकाभावाद्विद्यमानमप्यविद्यमानसममेवेति न स्वकार्यसमर्थंज्ञानं तेनाभिभूतमित्युच्यते। नन्वेवं सति ब्रह्मज्ञानेनाप्यविद्याया अनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः। न तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानादविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमात्। स्वविषयविषयकप्रमात्वेनैव अविद्यानिवर्तकत्वाभ्युगमात्। महावाक्यार्थज्ञानस्यैव अबाधितविषयतया प्रमात्वात्।

प्रत्यक्षादीनां तु बाधितविषयतया भ्रमत्वेऽपि व्यवहारसामर्थ्येन प्रामाण्याभिमानात्। ज्ञानादज्ञाननिवृत्तेरन्यत्रादर्शनञ्चाकिञ्चित्करम्, स्वानुभवसिद्धत्वादन्यथानुपपत्तेश्च सर्वतो वलवत्त्वात्। तदुक्तम्—

अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्ट्यदृष्टिवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका॥ इति॥

अथवा मूलज्ञानस्यैवावस्थाज्ञानानि घटादिविषयावरणानि। अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वेन यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यभ्युपगमात् एकेन ज्ञानेन एकाज्ञानस्यैव नाशात् घटादिज्ञानेन आवरणनाशे न काचिदनुपपत्तिः। नन्वनुमानादिभिरावरणं निवर्तते न वा? आद्ये साक्षात्कारिभ्रमस्यापि शङ्खपीतत्वादेः दिङ्मोहादेश्च श्वेतत्वाद्यनुमानादिना निवृत्तिप्रसङ्गः। अधिष्ठानाज्ञानोपादानकत्वे भ्रमस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेः। यौक्तिकज्ञानेन च ब्रह्मणः अविद्यानिवृत्तेः साक्षात्कारार्थं श्रवणमननापेक्षा न स्यात्। द्वितीये च वह्न्याद्यादिव्यवहारो न स्यात् प्रतिवन्धकस्य विद्यमानत्वात्। उच्यते। द्विविधमावरणम्। एकमसत्त्वापादकमन्तःकरणावच्छिन्नसाक्षिनिष्ठम्। अन्यदभानापादकं विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठम्। 'घटमहं न जानामी'त्युभयावच्छेदानुभवात्। तत्राद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रेण निवर्तते। अनुमितेऽपि वह्न्यादौ नास्तीति प्रतीत्यनुदयात्। द्वितीयं तु साक्षात्कारेणैव निवर्तते। यदाश्रयं यदाकारं ज्ञानं तदाश्रयं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमात्। परोक्षज्ञानस्य इन्द्रियविषयसन्निकर्षाभावेन ज्ञानस्यान्तःकरणमात्राश्रयत्वात्। अपरोक्षज्ञानस्यैव विषयव्यापारजन्यत्वेन विषयान्तःकरणोभयजन्यत्वेन तदुभयनिष्ठत्वात्। तदुक्तम्-

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृत्तिहेतुता।
अपरोक्षधिया नश्येदभानावृत्तिहेतुता॥ इति॥

तेनानुमानादावसत्त्वावरणनाशात् तत्र तद्व्यवहारः। अभानावरणनिवृत्त्या च सोपाधिकसाक्षात्काररभ्रमनिवृत्तिरिति। तस्मान्निर्धर्मकस्याप्यात्मनोऽविद्ययान्तःकरणतादात्म्याध्यासात् तद्धर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्यास उपपद्यते। ननु त्वन्मतेऽनिर्वचनीयख्यात्यभ्युपगमात् ये कर्तृत्वादयोऽन्तःकरणधर्मा आत्मन्यध्यस्यन्ते ते अनिर्वचनीयास्तत्रोत्पद्यन्त इति वाच्यम्; तथा च व्यावहारिकप्रातीतिकभेदेन कर्तृत्वभोक्तृत्वादीनां द्वेधाऽवभासः स्यात्। न स्यात्। तादात्म्याभिमानेनाविवेकात्। सकलधर्मविशिष्टस्यैवान्तःकरणस्यात्मन्यध्यस्तत्वेन द्वयाभावाद्वा। तस्मादेकस्यात्मन उपाधिभेदेन प्रमात्रादिव्यवस्थोपपत्तेर्न सौगतमतापत्तिर्न वा विरोधः। अन्या अपि व्यवस्थाः स्पष्टतरमुपरिष्टादुपपादयिष्यन्ते। तस्मात् ज्ञानरूपस्यात्मनः सुषुप्तावव्यभिचारित्वाद्देहेन्द्रियादीनां च व्यभिचारित्वात् दृश्यत्वाच्च तत्र तत्रात्मबुद्धिस्तेषां तेषां वादिनां भ्रान्तिरित्यौपनिषदं मतं प्रामाणिकमिति सिद्धम् ॥१॥

स्यादेतत्, आत्मनो निर्धर्मकत्वे प्रमात्रादिव्यवहारस्याध्यासमूलत्वेन 'ब्राह्मणो यजेते'त्येवमादीनां शास्त्राणामप्रामाण्यप्रसङ्गः अकर्तुरभोक्तुश्चात्मनः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। वेदाप्रामाण्ये च कुतो ब्रह्मसिद्धिरपि। तस्य तन्मात्रगम्यत्वात् शास्त्रयोनित्वादिति न्यायात्। तथा च वेदप्रामाण्यार्थं प्रमातृत्वादिव्यवहारस्य सत्यत्वमभ्युपेयमित्याशङ्क्य किं तत्त्वज्ञानात्पूर्वमप्रामाण्यमापाद्यते ऊर्ध्वं वा? तत्राद्ये सर्वेषां प्रमाणानामविद्यावद्विषयत्वेन तद्दशायां बाधाभावान्निष्प्रत्यूहं प्रामाण्यम्। द्वितीये त्विष्टापत्तिरेवेत्याह—

न वर्णा, न वर्णाश्रमाचारधर्मा न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि।
अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानात्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥२॥

वर्णाः ब्राह्मणत्वादयः। आश्रमाः ब्रह्मचर्यादयः। आचाराः स्नानशौचादयः। धर्माः ब्रह्मचर्यगुरुसेवादयः। अत्र द्वन्द्वद्वयगर्भषष्ठी-

तत्पुरुषेण वर्णानामाचारधर्माश्च आश्रमाणामप्याचारधर्माश्च लभ्यन्ते । धारणा ब्रह्मणि बाह्यविषयत्यागेन मनसस्स्थैर्यम् । ध्यानं परमात्मचिन्तनम् । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । आदिशब्देन श्रवण-मननादयो गृह्यन्ते । सर्वेषां ज्ञानोत्तरकाले असत्त्वे हेतुमाह—अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानादिति । अनात्मा आत्मविरोधिनी अविद्या तदाश्रयस्तदुपादानो योऽहङ्कारममकाराद्यध्यासस्तस्य मूलस्यापि तत्त्वज्ञानेन हानात् तत्प्रयुक्तवर्णाश्रमादिव्यवहारो नास्तीत्यर्थः ॥२॥

वर्णाश्रमादिव्यवहारस्य मिथ्याज्ञानमूलत्वेन मिथ्यात्वं द्रढयितुं तद्व्यतिरेके सुषुप्तौ तद्व्यतिरेकमाह—

न माता पिता वा न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति ।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥३॥

माता जनकस्त्री । पिता जनकः पुमान् । देवा इन्द्रादयः आराध्याः । लोकास्तदाराधनफलानि स्वर्गादीनि । वेदाः अलौकिक-हितसाधनताप्रतिपादकानि ब्रह्मप्रतिपादकानि च प्रमाणवाक्यानि । यज्ञाः स्वर्गादिसाधनीभूता ज्योतिष्टोमादयः । तीर्थं यज्ञसाधनीभूतः कुरुक्षेत्रादिदेशः । एवं पापकर्मसाधनान्यप्युपलक्षणीयानि । सर्वेषां देहाभिमानमूलकत्वात् तदभावे स्वतस्सम्बन्धाभावादविद्यमान-तेत्यर्थः । तथा च सुषुप्तिं प्रकृत्य श्रुतिः—'अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता देवा अदेवा वेदा अवेदा यज्ञा अयज्ञास्स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसश्श्रमणोऽश्रमण-स्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वांच्छोकान् हृदयस्य भवती'त्याद्या अभिमानाभावे सर्वानर्थनिवृत्ति-मनुवदन्ति । ननु सर्वव्यवहाराभावे शून्यतैव स्यात् । नेत्याह—निर-स्तातिशून्यात्मकत्वादिति। निरस्तम् अतिशून्यात्मकत्वं यस्मात्तत्तथा ।

भावप्रधानोनिर्देशः। तस्य सुपुप्तिसाधकत्वात्पुनरुत्थानानुपपत्तेश्च। 'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति। यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येदि'त्यादिश्रुतिभ्यश्चात्मचैतन्यस्य न सुपुप्तौ शून्यतेत्यर्थः। निराकृतमप्येतत्पुनरपि स्थूणानिखननन्यायेन निराक्रियते। यद्वा निरस्तमशनायाद्यतीतम्, अद्वितीयमतिशून्यं यद्ब्रह्म तदात्मकत्वात्। तथा च श्रुतिः—'यदा वै पुरुषः स्वपितिनाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति। तेन जगत्कारणीभूतसर्वज्ञसर्वशक्तिपरिपूर्णानन्दबोधरूपेण ब्रह्मणा सहैकत्वादसंसार्येव जीव इति सिद्धम् ॥३॥

एवं तावत् त्रिभिः श्लोकैः वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वकं त्वम्पदार्थो निर्धारितः। सम्प्रति तत्पदार्थस्तथैव निर्धारणीयः। तत्र निराकार्या वादिविप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते। ननु न ब्रह्मणा सह जीवस्यैक्यमुपपद्यते। तथा हि सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं ब्रह्म 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि'त्यादिवाक्येन प्रतिपादितम्। जगत्कारणं च प्रधानमचेतनमिति साङ्ख्याः। पशुपतिरेव जगत्कारणम्। स च चेतनोऽपि जीवाद्भिन्नस्स उपास्य एवेति पाशुपताः। भगवान्वासुदेव ईश्वरो जगत्कारणम्। तस्मादुत्पद्यते सङ्कर्षणाख्यो जीवः। तस्मान्मनः प्रद्युम्नः। ततोऽहङ्कारोऽनिरुद्धः। तेन कार्यत्वाज्जीवस्य तेन सह ब्रह्मणो वासुदेवस्यात्यन्तभेद इति पाञ्चरात्रिकाः। परिणामिनित्यः सर्वज्ञो भिन्नाभिन्न इति जैनाः त्रिदण्डिनश्च। नास्ति सर्वज्ञत्वाद्युपेतं ब्रह्म। आम्नायस्य क्रियार्थपरत्वेन तत्र तात्पर्याभावात्। किन्तु वाग्धेन्वादिवत्सर्वज्ञत्वादिदृष्ट्या जगत्कारणं परमाण्वादिजीवो वा उपास्य इति मीमांसकाः।

अस्ति नित्यज्ञानादिमानीश्वरः सर्वज्ञः पृथिव्यादिकार्यलिङ्गानुमितिः स च जीवाद्भिन्न एवेति तार्किकाः। क्षणिकस्सर्वज्ञ इति सौगताः। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो नित्यज्ञानरूपः प्रधानांशसत्त्वगुणप्रतिफलिततया सर्वज्ञः संसारिविलक्षण एवेति पातञ्जलाः। अद्वितीयपरमानन्द एव ब्रह्म। तच्च जीवस्य वास्तवं स्वरूपं मायया च सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं जगत उपादानं निमित्तं चेति औपनिषदाः। एवं वादिविप्रतिपत्तिभिः सन्दिग्धे तत्पदार्थे औपनिषदपक्षस्य परिशेषेण तन्निर्णयायाह भगवान्—

न साङ्ख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात्तदेकोऽवशिष्टश्शिवः केवलोऽहम्॥४॥

आदिशब्देनानुक्तानां संग्रहः। न तावदचेतनं जगदुपादानम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये'ति ईक्षणपूर्वकसृष्टिश्रवणात्, 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति च जीवात्मत्वव्यपदेशात्' 'यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती'ति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात् प्रधानज्ञानेन च तदप्रकृतिकानां पुरुषाणां ज्ञातुमशक्यत्वात्, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी'ति च तदभेदस्य नवकृत्व उपदेशात्, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूत' इति च श्रुत्यन्तरादचेतनस्य जगत्कारणत्वे विचित्ररचनानुपपत्तेः, प्रधानमहदादेरप्रामाणिकत्वाच्च, न साङ्ख्यमतं साधु। एवं पाशुपतमतं पाञ्चरात्रिकं जैनं त्रैदण्डं च मतं श्रुतियुक्तिबाधितत्वादयुक्तम्। न च विधिशेषत्वाच्छ्रुतिर्न ब्रह्मप्रतिपादयतीति मीमांसकमतं युक्तम्। असिद्धत्वाद्विधिशेषत्वस्य। न चार्थवादाधिकरणन्यायाद्विधिशेषत्वम्। वैषम्यात्। स्वतःप्रयोजनवदर्थाप्रतिपादकानां 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्येवमादीनां स्वाध्यायविधिग्रहणान्यथानुपपत्त्या प्रयोजनवदर्थपरत्वे कल्पनीये शब्दभावनेतिकर्तव्यतांशसाकाङ्क्षस्य विधेः सम्प्रदानभूतदेवतादिस्तुतिद्वारेण

तदंशपूरकत्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन तदुभयैकवाक्यतेत्यर्थवादधिकरणे निर्णीतम्। वेदान्तवाक्यजज्ञानाच्च साक्षादेव परमानन्दप्राप्तिर्निश्शेष-दुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थो लभ्यते इति निराकाङ्क्षत्वान्नान्यशेषत्व-सम्भावना, प्रत्युत विधय एव अन्तःकरणशुद्धिद्वारा तच्छेषतां भजन्त इति। तस्मात्प्रयोजनवदबाधिताज्ञातज्ञापकत्वेन वेदान्तानां स्वत एव प्रामाण्यादस्त्येव ब्रह्मेति न मीमांसकमतसिद्धिः। तार्किकादीनां च मतं 'तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मि अयमात्मा ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिबाधितम्। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चने'त्यादिश्रुतिबाधितं च भिन्नाभिन्नत्वं क्षणिकत्वं च 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यादिश्रुतिबाधितम्। अत्र सर्वेषां मतस्यासत्त्वे प्रतिज्ञाते विशुद्धात्मकत्वादिति हेतुः। निर्विकल्पा-द्वितीयचैतन्यरूपत्वादित्यर्थः। अत्र हेतुः—विशिष्टानुभूत्येति। विशिष्टा सविकल्पकानुभूतिभ्यो व्यावृत्ता या तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डानु-भूतिस्तयेत्यर्थः तेन सर्वव्यापकमद्वितीयं परमानन्दबोधरूपं च ब्रह्मेति सिद्धम् ॥४॥

ननु 'स य एषोऽणिमा', 'अणोरणीयानि'ति ब्रह्मणोऽणुत्वश्रुतेः 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः', 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट' इत्यादिश्रुति-प्रतिपादिताणुत्वविशिष्टजीवाभिन्नत्वाच्च न ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्व-मित्याशङ्क्य 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिण-तश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्, तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्य'मित्याद्याः श्रुतयो निर्विशेषमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति पूर्वोक्तमेव द्रढयन्नाह—

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तन बाह्यं न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वापरादिक्।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूपस्तदेकोऽवशिष्टश्शिवः केवलोऽहम् ॥५॥

वियद्व्यापकत्वात्, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इति श्रुतेः। वियतो व्यापकत्वादिति वा, 'ज्यायानाकाशान्महतो महीयानि'-

त्यादिश्रुतेः। जीवस्यापि सकलदेहव्यापिचैतन्योपलब्ध्या महत्त्वेऽपि उपाधिधर्माध्यासेनाराग्रमात्रत्वाभिधानात्, 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट' इति श्रुतेः। ब्रह्मणश्च सूक्ष्मत्वाभिप्रायेण अणुत्वव्यपदेशात्। शेषमतिरोहितार्थम् ॥५॥

ननु ब्रह्मणो जगदुपादानत्वादुपादानोपादेययोश्चाभेदाद्विचित्रजगदभिन्नत्वेन ब्रह्मणः दुःखरूपत्वात् न तदभिन्नत्वेन जीवस्य परमपुरुषार्थप्राप्तिरित्याशङ्क्य ब्रह्मणः स्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वान्निखिलजगद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन कारणत्वव्यपदेशादध्यस्तेन च समं सम्बन्धाभावान्न तत्रानर्थलेशोऽप्यस्तीत्याह—

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम्।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वात्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥६॥

कुब्जम्—अणु। पीनं—महत्। तेनाणु-महत्-ह्रस्वं-दीर्घमिति-चतुर्विधपरिमाणनिषेधात् द्रव्यत्वप्रतिषेधः। रूप्यत इति रूपं प्रमेयम्। न प्रमेयमरूपम्। सर्वेषामेव द्रव्यगुणकर्मादिपदार्थानां निषेधः। तथा च श्रुतयः—'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमि'-त्याद्या 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्' इत्याद्याश्च सर्वानर्थशून्यं परमात्मस्वरूपं प्रतिपादयन्ति। श्रौतस्याप्यर्थस्य न्यायेन निर्णयाय हेतुमाह—ज्योतिराकारकत्वादिति। स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वेनाप्रमेयत्वात्प्रमेयत्वे घटादिवज्जडत्वापत्तेः। 'एतदप्रमेयं ध्रुवमि'त्यादिश्रुतेरित्यर्थः ॥६॥

ननु कस्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते। ब्रह्मणः अब्रह्मणो वा? नान्त्यः। तस्य जडत्वादसत्त्वाच्च। न प्रथमः। उपदेशानर्थक्यात् ब्रह्मभावस्य स्वत एव सिद्धत्वात्। जीवस्य स्वतो ब्रह्मभावेऽप्यविद्याव्यवधानं ज्ञानेन निवर्त्यत इति चेन्न। अविद्यानिवृत्तेरनात्मरूपत्वे द्वैतापत्तेर्ब्रह्मणोऽसिद्धिप्रसङ्गात् तदुक्तं वार्तिके—

अव्यावृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मेति भण्यते ।
ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्र स्याद्द्वितीये सति वस्तुनि ॥ इति ॥

अभिन्नत्वे चोपदेशानर्थक्यमित्युक्तम् । अत्र किं परमार्थतः फलाभावमभिप्रैषि किं वा प्रतीतितोऽपि ? तत्राद्यमिष्टापत्त्या परिहरति—

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा
न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः ।
स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुस्तदेकोऽवशिष्टश्शिवः केवलोऽहम् ॥७॥

शास्ता उपदेशकर्ता गुरुः । शास्त्रमुपदेशकरणम् । शिष्य उपदेशकर्म । शिक्षा उपदेशक्रिया । त्वं श्रोता, अहं वक्ता, अयं सर्वप्रमाणसन्निधापितः प्रपञ्चो देहेन्द्रियादिरर्थः परमार्थतो नास्तीत्यर्थः । द्वितीयं निराकरोति—स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुरिति । अयमर्थः—यद्यप्यविद्यानिवृत्तिरात्माऽनात्मा वेत्यादिविकल्पने किमपि फलं निरूपयितुं न शक्यते, तथापि स्वरूपावबोधो विज्ञानफलमनुभूयते । न चैतत्कथमिति विकल्पनीयम् । सर्वद्वैतोपमर्देन विकल्पासहिष्णुत्वात् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । तथा च श्रुतिः—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवदि'त्याद्या । पूर्वमपि ब्रह्मस्वरूपस्यैव सतो जीवस्य ज्ञानाद्ब्रह्मभावं दर्शयति । सर्वं च द्वैतं वारयति ॥७॥

नन्वात्मनः स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वे सर्वदा भासमानत्वेन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिव्यवस्था कथम् ? न च भ्रान्त्यैव व्यवस्थेति वाच्यम् । तथा सति सर्वस्यैव स्वाप्नत्वापत्तिरिति चेन्न । लक्षणतस्त्रयाणामपि

स्वप्नत्वेऽपि प्रतिभातोऽविद्याकृतविशेषसम्भवात् असद्विलक्षणत्वेन च सविशेषत्वाद्व्यवस्थोपपत्तेः। परमार्थतस्तु न कापि व्यवस्थेत्याह—

न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिर्न
विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा।
अविद्यात्मकत्वात्त्रयाणां तुरीयस्तदेकोऽवशिष्टश्शिवः
केवलोऽहम् ॥८॥

अत्र लयक्रमेण पौर्वापर्यव्यपदेशः। तथा हि—अस्मिन्मते पदार्थो द्विविधः, दृक् दृश्यं च। अन्येषां वादिपरिकल्पितानां पदार्थानामत्रैवान्तर्भावात्। तत्र दृक्पदार्थः आत्मा परमार्थिक एकः सर्वदैकरूपोऽप्यौपाधिकभेदेन त्रिविधः, ईश्वरो जीवस्साक्षी चेति। तत्र कारणीभूताज्ञानोपाधिरीश्वरः। अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानोपहितो जीवः। प्रपञ्चितं चैतदधस्तात्। अविद्याप्रतिबिम्बेश्वरपक्षे बिम्बचैतन्यं साक्षी, बिम्बेश्वरपक्षे तु बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतमुखस्वरूपवज्जीवेश्वरानुगतसर्वानुसन्धातृचैतन्यं साक्षीत्युच्यते। वार्तिककारमते त्वीश्वर एव साक्षीति द्वैविध्यमेव जीवेश्वरभेदेन दृशः। तत्रेश्वरोऽपि त्रिविधः। स्वोपाधिभूताविद्यागुणत्रयभेदेन विष्णुब्रह्मरुद्रभेदात्। कारणीभूतसत्त्वगुणावच्छिन्नो विष्णुः पालयिता। कारणीभूतरजउपहितो ब्रह्मा स्रष्टा। हिरण्यगर्भस्तु महाभूतकारणत्वाभावात् न ब्रह्मा, तथापि स्थूलभूतस्रष्टृत्वात् क्वचिद्ब्रह्मेत्युपचर्यते। कारणीभूततमउपहितो रुद्रः। संहर्ता एवं चैकस्यैव चतुर्भुजचतुर्मुखपञ्चमुखाद्याः पुमाकाराः श्रीभारतीभवान्याद्याश्च स्त्र्याकारा अन्ये च मत्स्यकूर्मादयोऽनन्तावतारा लील्यैवाविर्भवन्ति भक्तानुग्रहार्थमित्यवधेयम्।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

जीवोऽपि त्रिविधः। स्वोपाध्यवान्तरभेदेन विश्वतैजसप्राज्ञभेदात्। तत्र अविद्यान्तःकरणस्थूलशरीरावच्छिन्नो जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वः। स एव स्थूलशरीराभिमानरहित उपाधिद्वयोपहितः स्वप्नाभिमानी तैजसः। शरीरान्तःकरणोपाधिद्वयरहितोऽन्तःकरण-संस्कारावच्छिन्नाविद्यामात्रोपहितः सुषुप्त्यभिमानी प्राज्ञः। एतेषां च स्वतन्त्रोपाधिभेदाभावेन स्वतन्त्रभेदाभावेऽप्यवान्तरोपाधिभेदा-देकत्वेऽप्यवान्तरभेदो व्यवह्रियते। साक्षी तु सर्वानुसन्धाता सर्वानुगतस्तुरीयाख्य एकविध एव। तत्रोपाधिभेदेनापि न क्वचिद्भेदः। तदुपाधेरेकरूपत्वात्।

अविद्यातद्व्याप्यतत्कार्यात्मकः प्रपञ्चो दृश्यपदार्थः। तस्या-पारमार्थिकत्वेऽपि व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमात् न स्वाप्निक-पदार्थवन्निरूपणं व्यर्थम्। उपासनादावुपयोगादिति। सोपि त्रिविधः। अव्याकृतमूर्तामूर्तभेदात्। तत्र साभासाविद्या मूर्तामूर्तप्रपञ्चबीज-शक्तिरूपा। तदजन्यत्वेऽपि तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वेन तद्व्याप्यैः चैतन्यतत्सम्बन्धजीवेश्वरविभागचिदाभासैः सहानादित्वादव्याकृत-मित्युच्यते। अयं चाव्याकृतपदार्थ ईश्वरोपाधिः। सा च स्वयं जडाप्यजडेन चिदाभासेनोज्ज्वलिता पूर्वपूर्वसंस्काजीवकर्मप्रयुक्ता सती शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकान्याकाशवायुतेजोजलपृथिव्याख्यानि पञ्चमहाभूतानि जनयति। तत्र पूर्वपूर्वभूतभावापन्नाया अविद्याया उत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात् पूर्वपूर्वभूतगुणानामुत्तरोत्तरभूतेष्वनु-प्रवेशः। एवमविद्यात एवान्धकारोऽपि भावरूप एवावरणात्मा चाक्षुषज्ञानविरोधी आलोकनाश्यश्च झटिति महाविद्युदादिवदा-विर्भवति तिरोभवति चेति सिद्धान्तः। संसारहेतुदेहोपादानत्वा-भावाच्च न श्रुतिषु सृष्टिप्रक्रियायामाम्नात इत्यविरोधः। दिक्कालौ त्वप्रामाणिकत्वान्नोक्तौ। आकाशस्यैव दिग्व्यवहारजनकत्वसम्भवात् 'दिशः श्रोत्रमि'ति श्रुतेश्च। कालस्त्वविद्यैव। तस्या एव सर्वाधार-

त्वादिति। तानि च सूक्ष्माण्यपञ्चीकृतानि पञ्च महाभूतान्यमूर्ताख्यानि कारणैक्यात्सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकानि सत्त्वांशप्राधान्येन ज्ञानक्रिया-शक्त्यात्मकमेकं स्वच्छद्रव्यं चित्ररूपमिव मिलित्वा जनयन्ति। तस्य च ज्ञानशक्तिप्रधानांशोऽन्तःकरणम्। तच्च बुद्धिर्मन इति द्विधोच्यते। क्रियाशक्तिप्रधानांशः प्राणः। स च पञ्चधा—प्राणोऽपानो व्यान उदानस्समान इति। एवमेकैकभूतेभ्यो ज्ञानक्रियाशक्तिभेदात् प्रत्येकमिन्द्रियद्वयं जायते। आकाशाच्छोत्रवाचौ, वायोस्त्वक्पाणी, तेजसश्चक्षुष्पादौ, अद्भ्यो रसनपायू, पृथिव्याः घ्राणोपस्थौ। अत्र 'तेजोमयी वागि'ति श्रुतेस्तैजसी वाक्। पादस्तु नाभस इति केचित्। शब्दव्यञ्जकेन्द्रियत्वेन श्रोत्रवद्वाचो नाभसत्वम्। पादचिकित्सया च चक्षुषः स्वास्थ्यदर्शनाच्चक्षुर्वत्पादस्यापि तैजसत्वमिति तु युक्त-मुत्पश्यामः। तेजोमयत्वश्रुतिस्तु मनसः पञ्चभूतकार्यस्यापि अन्नमयत्वश्रुतिरिव तदुपकार्यतया व्याख्येया। मनसश्च पञ्चभूत-गुणग्राहकत्वेन तद्वत्त्वनिश्चयात्पञ्चभूतात्मकत्वमित्यन्यदेतत्।

एतेषामधिष्ठातारो देवा अपि ज्ञानक्रियाशक्तिप्रधानाः—दिगग्नी, वातेन्द्रौ, आदित्यविष्णु, वरुणमित्रौ, अश्विप्रजापती। तत्र ज्ञानशक्तिसमष्टिरन्तःकरणम्। क्रियाशक्तिसमष्टिः प्राणः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकाणि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि। त्वक्चक्षुषी स्वग्राह्यगुणाश्रयं द्रव्यमपि गृह्णीतः। श्रोत्रमपि चक्षुर्वत् गत्वा शब्दग्राहकम् दूरे शब्द इति प्रत्ययात्। वचनादानगतिविसर्गानन्दजनकानि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। एतच्च सर्वं मिलित्वा सप्तदशकं लिङ्गं ज्ञानशक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भ इति क्रियाशक्तिप्रधान्येन सूत्रमात्म चोच्यते। अयममूर्तपदार्थः कार्यत्वाद्व्यष्टौ समष्टौ च जीवोपाधिरेव। तानि च तथाभूतानि भूतानि भोगायतनं शरीरं भोग्यं च विषय-मन्तरेण भोगं जनयितुमशक्नुवन्ति जीवकर्मप्रयुक्तान्यस्थौल्याय

पञ्चीकृतानि भवन्ति। तत्र च प्रत्येकं पञ्च भूतानि द्विधा विभज्यन्ते। तत्रैकैको भागश्चतुर्धा विभज्यते। तद्भागचतुष्टयं च स्वभागं विहायेतरभूतचतुष्टयार्धभागेषु प्रविशतीति स्वस्यार्धभागेनेतरेषामष्टमभागेन च पञ्चीकरणान्मेलनेऽप्याधिक्यादाकाशादिशब्दप्रयोगः।

अत्र च 'त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी'ति श्रुतेः 'त्रिवृत्कुर्वत उपदेशादि'ति सूत्राच्च त्रयाणामेव मेलनप्रतीतेश्च त्रिवृत्करणमेव केचिन्मन्यन्ते। ते वियदधिकरणन्यायेनैव निराकृताः। तथा हि तैत्तरीयके 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः आकाशाद्वायुरि'त्यादिश्रुतेः छान्दोग्ये च त्रयाणां तेजोऽवन्नानां सृष्टश्रवणेऽपि द्वयोरुपसंहारः। तेजः प्राथम्यपदार्थधर्मापेक्षया आकाशवायुपदार्थयोर्बलीयस्त्वात्। छान्दोग्ये चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानादाकाशवाय्वोरचेतनयोर्ब्रह्मकार्यत्वस्यावश्यवाच्यत्वात्। तत्र पञ्चानामेव मेलनेऽप्यवयुत्यानुवादेन त्रिवृत्करणोपपत्तिः। त्रिवृतमेवेति मतकल्पनायां वाक्यभेदप्रसङ्गः। 'त्रिवृत्कुर्वत उपदेशादि'ति सूत्रं त्वनुवादकत्वान्न पञ्चीकरणं न्यायसिद्धं बाधितुमुत्सहते। मेलनप्रतीतिश्च शरीरादौ पञ्चानामविशिष्टैव। 'पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानी'ति च भाष्यकारवचनम्। तस्मादलमनेनानात्मचिन्तनेनेति दिक्। तानि च पञ्चीकृतानि पञ्च महाभूतानि मूर्ताख्यानि मिलित्वैकं कार्यमिन्द्रियाणामधिष्ठानं भोगायतनमुत्पादयन्ति।

तदेव शरीरमित्युच्यते। तत्र सत्त्वप्रधानं देवशरीरम्। रजःप्रधानं मनुष्यशरीरम्, तमःप्रधानं तिर्यगादिस्थावरान्तं शरीरम्। तस्य च शरीरस्य पाञ्चभौतिकस्यापि चित्ररूपस्येव क्वचित् न्यूनाधिकभावो भूतानां न विरुध्यते। एवं विषया अपि पञ्चीकृतैकैकभूतजन्याश्चतुर्दशभुवनाख्या ऊर्ध्वमध्याधोभावेन सत्त्वरजस्तमोंश-

प्रधानाः। एतत्सर्वं ब्रह्माण्डाख्यं विराडिति चोच्यते। अयमौपनिषदः सृष्टिक्रमः।

तद्विपरीतो लयक्रमः। पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मकं विराडाख्यं पृथिव्याद्येकैकभूतलयेनामूर्तं अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतात्मके हिरण्यगर्भाख्ये स्वकारणे लीयते। स एव दैनन्दिनः प्रलयः। अमूर्तं चाव्याकृते परमेश्वरोपाधौ। अव्याकृतस्य त्वनादित्वेन कारणाभावान्न लयः। स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थानं लय इति तल्लक्षणात्। अयमेव प्राकृतः प्रलयः। ब्रह्मज्ञानादात्यन्तिक उच्छेदस्त्वात्यन्तिकः प्रलयः। स च कारणक्रमेणैव। कारणोच्छेदादेव कार्योच्छेदात्। सर्वं च सृष्टिप्रलयादिकं स्वप्नसृष्टिप्रलयवदपारमार्थिकमपि वासनादाढर्याद्व्यवहारक्षममिति न मायिकत्वेऽपि तुच्छत्वप्रसङ्गः। यथा चैतत्तथा व्यक्तमादरे।

एवं स्थिते जागरणादिव्यवस्थोच्यते। इन्द्रियवृत्तिकालीनार्थोपलम्भो जागरणम्। तत्र च मूर्तं विराडाख्यं भोग्यं प्रत्यक्षादिप्रमाणषट्केन व्यवह्रियमाणत्वाद्व्यावहारिकं विश्वाख्येन जीवेनोपभुज्यते। स च देहेन्द्रियादिषु प्रवेशात् व्यापनाद्वा विश्व इत्युच्यते। विश प्रवेशने विष्लृ व्याप्ताविति च स्मरणात्। अत्र यद्यपि विश्वेनामूर्तमव्याकृतं चानुमानादिनाऽनुभूयते, तथापि व्यावहारिकं सर्वं विश्वेनैव ज्ञायत इति नियमात् स्थूलशरीरोपाध्यभिमानित्वाच्च न तस्यावस्थान्तरव्यापकत्वम्। शुक्तिरजतादिज्ञानानामप्रामाणिकत्वात्तद्विषयस्याव्यावहारिकत्वेऽपि इन्द्रियव्यापारकालीनत्वाज्जागरणत्वोपपत्तिः। ज्ञानोत्पत्त्यादिप्रक्रिया चाधस्तादुक्तैव। एवं जाग्रद्भोगजनककर्मक्षये स्वाप्नभोगजनककर्मोदये च सति निद्राख्यया तामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु देवतानुग्रहाभावान्निर्व्यापारतया लीनेषु विश्वोऽपि लीन इत्युच्यते। तदा च स्वप्नावस्था।

तत्र चान्तःकरणगतवासनानिमित्त इन्द्रियवृत्त्यभावकालीनोऽर्थोपलम्भः स्वप्नः। तत्र मन एव गजतुरगाद्यर्थाकारेण विवर्तते, अविद्यावृत्त्या च ज्ञायत इति केचित्। अविद्यैव शुक्तिरजतादिवत् स्वाप्नार्थाध्यासाकारेण परिणमते ज्ञायते चाविद्यावृत्त्येत्यन्ये। कः पक्षः श्रेयान्? उत्तरः। अविद्याया एव सर्वत्रार्थाध्यासज्ञानाध्यासोपादानत्वेन क्लृप्तत्वान्मनोगतवासनानिमित्तत्वेन च क्वचिन्मनःपरिणामत्वव्यपदेशात्। ननु तदा मनसो दृश्याकारपरिणामानभ्युपगमे द्रष्टृत्वसम्भवेनात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वासिद्धिरिति चेन्न। बहिरिन्द्रियजन्यवृत्त्यभावेन तदानीं मनसोऽग्राहकत्वात्, तत्सहकारेणैव तस्य ग्रहकत्वनियमात्, सवृत्तिकान्तःकरणावच्छिन्नस्यैव चैतन्यस्य प्रमातृत्वनियमात् तदाऽन्तःकरणसत्त्वेऽपि प्रमात्रभावः। किमधिष्ठानं स्वप्नाध्यासस्य? नोमवच्छिन्नं जीवचैतन्यमित्येके। मूलाज्ञानावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमित्यपरे। किं श्रेयः? मतभेदेनोभयमपि। तथा हि—जाग्रद्बोधेन स्वप्नभ्रमनिवृत्त्यभ्युपगमादधिष्ठानज्ञानादेव च भ्रमनिवृत्तेर्ब्रह्मचैतन्यस्य चाधिष्ठानत्वे संसारदशायां तज्ज्ञानाभावात्, ज्ञाने वा सर्वद्वैतनिवृत्तेर्न जाग्रद्बोधात्स्वप्ननिवृत्तिः स्यात्। 'स हि कर्ते'ति च जीवकर्तृत्वश्रुतेः आकाशादिप्रपञ्चवत् सर्वसाधारण्यापत्तेश्च न मूलाज्ञानावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमधिष्ठानम्।

ननु जीवचैतन्यस्यानावृतत्वेन सर्वदा भासमानत्वात् कथमधिष्ठानत्वम्? सत्यम्। तत्रापि स्वप्नाध्यासानुकूलव्यावहारिकसंघातभानविरोध्यवस्थाज्ञानाभ्युपगमाद्, स्वप्नदशायां चाहं मनुष्य इत्यादिप्रातीतिकसंघातान्तरभानाभ्युपगमात्। 'शय्यायां स्वपिमो'ति शय्यान्तरभानवत्। भानसामग्र्यभावश्च तुल्य एव। नन्वहं मनुष्य इत्यादिव्यावहारिकसंघातज्ञानस्य प्रमाणाजन्यत्वात्कथमज्ञाननिवर्तकता? अवस्थान्तरान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पने सुषुप्तावपि स्वप्न-

बाधकज्ञानमास्थीयेत। तच्चानिष्टम्, जाग्रत्त्वापत्तेरिति चेत्, साध्व-वोचः। स्वप्नावस्थाज्ञानस्यैवान्तःकरणलयसहितस्य सुषुप्तिरूपत्वान्न तत्र तद्बाधः। जागरणे तु मिथ्यैव स्वप्नोऽभादित्यनुभवादहमिति ज्ञानस्य प्रमाणाजन्यत्वेऽपि यथार्थत्वाच्छरीरादिज्ञानस्य च प्रमाण-जन्यत्वादवस्थाज्ञानविरोधित्वमनुभवसिद्धम्। विशेषाज्ञानं तु न प्रमाणजन्यवृत्तिमन्तरेण निवर्तते। साक्षिणश्चाविद्यानिवर्तकत्वाभाव अज्ञानसाधकत्वेनैव धर्मिग्राहकमानसिद्ध इति न किञ्चिदवद्यम्। यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति चाभ्युपगमात् शुक्तिज्ञानेनैव व्यावहारिकसंघातज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावपि पुनरपि कदाचिद्रजत-भ्रमवन्न स्वप्नाध्यासानुपपत्तिरिति जीवचैतन्यमेवाधिष्ठानमिति पक्षे न कोऽपि दोषः। यदा तु पुनर्ब्रह्मज्ञानादेवाज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमः; तदा रज्ज्वां दण्डभ्रमेण सर्वभ्रमतिरोधानवदधिष्ठानज्ञानाभावेऽपि जाग्रद्भ्रमेण स्वप्नभ्रमतिरोभावोपपत्तेः ब्रह्मचैतन्यमेव स्वप्ना-ध्यासाधिष्ठानमिति पक्षेऽपि न कश्चिद्दोषः। प्रतिजीवं स्वप्ना-ध्यासासाधारण्यं तु मनोगतवासनानामसाधारण्यादेव। मनोऽ-वच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमेवाधिष्ठानम्। एतस्मिन्नपि पक्षेऽवस्था-ज्ञानस्यावारकत्वाङ्गीकारान्न काप्यनुपपत्तिः। अत एव शास्त्रेषु क्वचित्क्वचित्तया व्यपदेशः।

ननु मनोऽवच्छिन्नचैतन्यस्याधिष्ठानत्वे 'अहं गज' इत्याद्य-हङ्कारसामानाधिकरण्येन गजप्रतीतिः स्यात् 'इदं रजतमि'ति शुक्तिसामानाधिकरण्येन रजतप्रतीतिवत्, न 'स्वयं गज' इति। ब्रह्मचैतन्यस्याधिष्ठानत्वपक्षेऽपि 'गज' इत्याकारैव प्रतीतिः स्यान्न 'स्वयं गज' इति। तत्रापीदङ्कारास्पदीभूतबाह्यार्थाभावस्य समान-त्वादिति चेन्न। आद्ये पक्षे अहङ्कारस्य शुक्तिवदधिष्ठानावच्छेद-कत्वात् 'शुक्तौ रजतमि'तिव'दहं गज' इति न भ्रमाकारप्रसङ्गः। 'अहमि'ति ज्ञानस्येव 'शुक्तिरि'ति ज्ञानस्यैव भ्रमविरोधित्वात्,

इदमंशस्य च भ्रमाविरोधिन एव तत्र भानाभ्युपगमात्। स्वप्ने तु गज इत्याकारवदयमित्याकारोऽपि कल्पित एव। उभयाकारबाधेऽप्यधिष्ठानीभूतचैतन्याबाधान्न शून्यवादप्रसङ्गः। जाग्रद्दशायामपि शुक्तीदङ्कारविलक्षणस्य प्रातीतिकस्यैव रजतेदङ्कारस्य भानाभ्युपगमाच्च। 'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेष्वि'ति न्यायात्। शुक्तीदमंशभानपक्षेऽपि नेदमंशसत्यत्वमध्यासे प्रयोजकम्। किन्त्वधिष्ठानसत्यत्वम्। अधिष्ठानं च तत्राज्ञातं शुक्तिचैतन्यमिवात्रापि साक्षिचैतन्यं विद्यते एवेत्युपपादितम्। तस्मान्न पक्षद्वयेऽपि काप्यनुपपत्तिः। अत्र च स्वाप्निकपदार्थभोक्ता तैजस इत्युच्यते। पित्ताख्यतेजःप्रधानकत्वात्। आदित्यादिज्योतिरन्तरेणापि भासकत्वादिति वा। एवं जाग्रत्स्वप्नभोगद्वयेन श्रान्तस्य जीवस्य तदुभयकारणकर्मक्षये ज्ञानशक्त्यवच्छिन्नस्य सवासनस्यान्तःकरणस्य कारणात्मनाऽवस्थाने सति विश्रामस्थानं सुषुप्त्यवस्था। 'न किञ्चिदवेदिषमि'ति कारणमात्रोपलम्भः सुषुप्तिः। तत्र जाग्रत्स्वप्नभोग्यपदार्थज्ञानाभावेऽपि साक्ष्याकारं सुखाकारमवस्थाज्ञानाकारं चाविद्याया वृत्तित्रयमभ्युपेयते। अहङ्काराभावाच्च नैका विशिष्टवृत्तिः, सुषुप्त्यभावप्रसङ्गाच्च। अत एव वृत्तिरूपस्योपलम्भस्याभावान्न प्रलयेऽतिव्याप्तिः। तत्र तत्कल्पनाबीजाभावात्। इह च 'सुखमहस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमि'ति सुप्तोत्थितस्य परामर्शात्। अननुभवे च परामर्शानुपपत्तेः। अन्तःकरणोपरागकालीनानुभवजन्यत्वाभावाच्च न तत्तोल्लेखाभावेऽपि स्मरणत्वानुपपत्तिः। स्मरणे तत्तोल्लेखनियमाभावाच्च जाग्रद्दशायामस्वाप्समित्यनुभवानुपपत्तेः लिङ्गाभावेनाश्रयासिद्ध्या चानुमानस्यासम्भवात्। अहङ्कारस्तूत्थानसमय एवानुभूयते। सुषुप्तौ लीनत्वेन तस्याननुभूतत्वात् स्मरणानुपपत्तेः सुखप्रतिबिम्बाश्रये दर्पणे जपाकुसुमलौहित्याध्यासेन 'रक्तं मुखमि'ति प्रतीतिवदहङ्काराश्रयतया साक्षिचैतन्यस्य स्मरणाश्रयत्वादहमस्वाप्समिति सामाना-

धिकरण्यप्रतीतिः न पुन'रहं सुखी'तिवदाश्रयतया। स्मृतिसंशय-विपर्ययाणां साक्षिचैतन्याश्रयत्वनियमादहङ्कारस्य च प्रमाणजन्य-ज्ञानाश्रयत्वनियमात्, प्रमात्वेनैव तत्कार्यतावच्छेदात्, अप्रमात्वा-वच्छेदेन च अविद्याया एव कारणत्वात्।

अत एवानाप्तवाक्यादिजन्यपरोक्षविभ्रमोऽप्यविद्यावृत्तिरेवेत्यभ्यु-पगमो वेदान्तविदाम्। तत्रान्तःकरणवृत्तिजनकसामग्रीसम्भवेऽपि प्रमात्वाभावापराधेनान्तःकरणस्यासामर्थ्यात्। नामादिषु ब्रह्मा-ध्यासस्तु इच्छाधीनतया भ्रमप्रमाविलक्षणा मनोवृत्तिरेव कामादिवत्, तदुक्तम्—'अत एव चोदनाजन्यत्वान्मानसी क्रियैव सा। न ज्ञानमि'ति। एतेन तर्कस्यापि मनोवृत्तित्वं व्याख्यातम्। व्याप्यारोपेण व्यापकप्रसञ्जनात्मकस्य तर्कस्येच्छाधीनतया भ्रमप्रमाविलक्षणत्वा-दिति। अत एव मननिदिध्यासनसहिते श्रवणाख्ये वेदान्तवाक्य-विचारे 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्यादिविधिरप्युप-पद्यते। तस्य चतुर्विधान्वयव्यतिरेकादितर्करूपत्वात्। दृग्दृश्यान्वय-व्यतिरेकः साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेकः, आगमापायितदवध्यन्वय-व्यतिरेकः, दुःखिपरमप्रेमास्पदान्वयव्यतिरेक इति समन्वयाध्याया-विरोधाध्यायसाधनाध्यायफलाध्यायाः। अनुवृत्तव्यावृत्तान्वय-व्यतिरेकः पञ्चमः। एतच्च सर्वेषां वेदान्तानुकूलतर्काणां चतुर्लक्षणी-मीमांसाप्रतिपादितानामुपलक्षणमित्यभियुक्ताः। विस्तरस्तु वेदान्त-कल्पलतिकायामनुसन्धेयः। तदेवं सुषुप्त्यवस्थायामस्त्यानन्दभोगस्त-तद्भोक्ता च सुषुप्त्यभिमानी प्राज्ञ इत्युच्यते। प्रकर्षेणाज्ञत्वात्तदानीं विशेषावच्छेदाभावेन प्रकृष्टज्ञत्वाद्वा। तदा चान्तःकरणस्य लयेऽपि तत्संस्कारेणावच्छेदान्न जीवाभावप्रसङ्गः, न वा सार्वज्ञ्यापत्तिः। ईशाभेदप्रतिपादनं च शरीरेन्द्रियाद्यभिमानरहितत्वेनोपचारात् तत्संस्कारस्य च निमित्तकारणत्वेन साक्ष्याश्रितकार्योपादानकोटाव-प्रवेशान्न तद्भेदेऽपि साक्षिभेदः। जागरणे त्वन्तःकरणस्य

प्रमात्राश्रितकार्योपादानकोटौ प्रवेशात्तद्भेदेन प्रमातृभेद एव। साक्षिण एव चाधिकोपाधिविशिष्टस्य प्रमातृत्वान्न प्रतिसन्धानानुपपत्तिरिति।

मातृमानप्रभेदेऽपि प्रतिदेहं न भिद्यते।
साक्षी वाह्यार्थवद्यस्मात्स आत्मेत्युच्यते ततः॥

व्यभिचारो मिथो यद्वत्प्रमात्रादेः स्वसाक्षिकः।
सर्वमात्राद्यभावार्थसाक्षित्वान्न तथात्मनः॥ इति।

वार्तिककारपादैर्व्यवहारदशायामपि साक्षिभेदनिराकरणात् सुषुप्तौ तद्भेदकल्पनं केषाञ्चिद्व्यामोह एवेत्यवधेयम्।

ननु 'दुःखमहमस्वाप्सम्' इति कस्यचित्कदाचित्परामर्शात् सुषुप्तौ दुःखानुभवोऽप्यस्तु। न। तदानीं दुःखसामग्रीविरहेण तदभावात्। सुखस्य चात्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वात् शय्यादेरसमीचीनत्वेन च दुःखमित्युपचारात् 'दुःखमहमस्वाप्सम्' इति प्रत्ययोपपत्तिः। अथवा अवस्थात्रयस्यापि त्रैविध्याङ्गीकारात् सुषुप्तावपि दुःखमुपपद्यते। तथा हि—प्रमाज्ञानं जाग्रज्जाग्रत्, शुक्तिरजतादिविभ्रमो जाग्रत्स्वप्नः, श्रमादिना स्तब्धीभावो जाग्रत्सुषुप्तिः। एवं स्वप्ने मन्त्रादिप्राप्तिः स्वप्नजाग्रत्, 'स्वप्नेऽपि स्वप्नो मया दृष्ट' इति बुद्धिः स्वप्नस्वप्नः, जाग्रद्दशायां कथयितुं न शक्यते, स्वप्नावस्थायां च यत्किञ्चिदनुभूयते, तत्स्वप्नसुषुप्तिः। एवं सुषुप्त्यवस्थायामपि सात्त्विकी या सुखाकारा वृत्तिः सा सुषुप्तिजाग्रत्, तदनन्तरं 'सुखमहमस्वाप्स'मिति परामर्शः। तत्रैव या राजसी वृत्तिः सा सुषुप्तिस्वप्नः, तदनन्तरमेव 'दुःखमहमस्वाप्स'मिति परामर्शोपपत्तिः। तत्रैव या तामसी वृत्तिः, सा सुषुप्तिसुषुप्तिः, तदनन्तरं 'गाढं मूढोऽहमस्वाप्स'मिति परामर्शः। यथा चैतत्, तथा वार्तिकवार्तिकामृतादौ स्पष्टम्। एवमध्यात्मं विश्वः, अधिभूतं विराट्, अधिदैवं विष्णुः। अध्यात्मं जाग्रत्,

अधिदैवम् पालनं, अधिभूतं सत्त्वगुणः। एवमध्यात्मं तैजसः, अधिभूतं हिरण्यगर्भः अधिदैवं ब्रह्मा। अध्यात्मं स्वप्नः, अधिदैवं सृष्टिः, अधिभूतं रजोगुणः। एवमध्यात्मं प्राज्ञः, अधिभूतमव्याकृतम्, अधिदैवं रुद्रः। अध्यात्मं सुषुप्तिः, अधिदैवं प्रलयः, अधिभूतं तमोगुणः। एवमध्यात्माधिभूताधिदैवानामेकत्वात् प्रणवावयवत्रयसहितानामुपहितानामैक्योपासनया हिरण्यगर्भलोकप्राप्तिः, अन्तःकरणशुद्धिद्वारा क्रममुक्तिश्च। एतत्सर्वोपाधिनिराकरणेन साक्षिचैतन्यमात्रज्ञानेन तु साक्षादेव मोक्ष इति। तदेवं त्रयाणामप्यवस्थात्रयसहितानां विश्वतैजसप्राज्ञानामविद्यात्मकत्वात् दृश्यत्वेन च मिथ्यात्वादनुपहितः केवलः साक्षी तुरीयाख्योऽहमस्मीत्यर्थः। एवं व्यवहारतः सर्वव्यवस्थोपपत्तेः परमार्थतः कस्या अपि व्यवस्थाया अभावाच्च काप्यनुपपत्तिः। विस्तरेण चैतत्प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामित्युपरम्यते ॥८॥

ननु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासहितानां त्रयाणामपि तदभिमानिनां मिथ्यत्वात्तत्साक्षिणोऽपि मिथ्यात्वं स्यादविशेषादित्याशङ्क्य विशेषाभिधानेन साक्षिणः सत्यत्वमाह—

अपि व्यापकत्वाद्धितत्वप्रयोगात्स्वतस्सिद्धभावादनन्याश्रयत्वात्।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥९॥

'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रिति साक्षिणं प्रकृत्य 'अतोऽन्यदार्तमि'ति श्रुतेः साक्षिणोऽन्यत्साक्ष्यं सर्वं जगत्तुच्छं न तु साक्षी। बाधावधित्वात् भ्रमाधिष्ठानतया ज्ञातत्वाच्च। तद्बाधग्राहकाभावाच्चेत्याद्यनुक्तसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः। 'अथ यदल्पं तन्मर्त्यमि'ति श्रुतेः परिच्छिन्नत्वतुच्छत्वयोः समव्याप्तत्वात्परिच्छिन्नत्वतुच्छत्वनिवृत्ती इत्याह—व्यापकत्वादिति। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति सर्वात्मत्वोपदेशेन देशकालापरिच्छिन्नत्वादाकाशादीनां च देशकालपरिच्छिन्नत्वे-

ऽप्यापेक्षिकमहत्त्वेन व्यापकत्वोपचारात्। ननु सर्वव्यापकत्वेन नित्यत्वाद्भावरूपत्वाच्चात्मा न दुःखनिवृत्तिरूपः। नापि सुखरूपः। सुखस्यानित्यत्वेन नित्यात्मस्वरूपत्वानुपपत्तेः। तथा चात्मस्वरूपो मोक्षोऽपुरुषार्थ एवेत्याशङ्क्य नेत्याह—हितत्वप्रयोगादिति। हितत्वं पुरुषार्थत्वम्। 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मे'ति 'यो वै भूमा तत्सुखम्, 'एष परम आनन्दः', (एष ह्येववानन्दयति) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'इत्यादिभिः श्रुतिभिः तस्य परमानन्दरूपत्वोपदेशात्। तस्य च नित्यत्वेऽपि लोके धर्मजन्यतत्तदन्तःकरणवृत्तिव्यङ्ग्यतया तदुत्पत्तिविनाशोपचारः। अज्ञानव्यवहितस्य च तस्य प्राप्तस्यैव ज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्त्या प्राप्तिरिव भवतीति तदुद्देशेन मुमुक्षुप्रवृत्त्युपपत्तिः। अध्यस्तस्य प्रपञ्चस्य दुःखरूपस्याधिष्ठानत्वात् स एवाभाव इति दुःखाभावरूपत्वेनापि तस्य पुरुषार्थता। ननु मोक्षे सुखं संवेद्यते, न वा? नाद्यः। तदानीं देहेन्द्रियाद्यभावेन तद्व्यञ्जकाभावात्, व्यञ्जकाभावेऽपि तत्संवेदनाभ्युपगमे संसारदशायामपि तथा प्रसङ्गात्। न द्वितीयः। अपुरुषार्थतापत्तेः। ज्ञायमानस्यैव तस्य पुरुषार्थत्वात्। अत एव शर्करातद्भोजिनोरिवेति वैष्णवंमन्यानामुद्गार इति चेन्नेत्याह—स्वतस्सिद्धभावादिति। स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वादित्यर्थः। यद्यपि संसारदशायामविद्यावृतस्वरूपत्वादात्मा परमानन्दरूपतया न प्रथते, तथापि तत्त्वविद्ययाऽविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव परमानन्दतया प्रकाशत इति न व्यञ्जकापेक्षा। ननु सुखस्य स्वप्रकाशज्ञानरूपत्वेऽपि नात्मरूपता। ज्ञानस्य धात्वर्थरूपतया क्रियात्वेन साश्रयत्वात्, जानामीति प्रतीतेर्ज्ञानमहस्मीत्यप्रतीतेश्च; तथा च कथमद्वैतवाद इत्याशङ्क्य नेत्याह—अनन्याश्रयत्वादिति। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुतेः स्वप्रकाशज्ञानानन्दरूप एवात्मा। अन्तःकरणाद्युपाधितादात्म्याध्यासेन च तद्वृत्तौ ज्ञाना-

ध्यासाज्जानामीति तदाश्रयत्वप्रतीतिः। धात्वर्थत्वमुत्पत्तिविनाश-वत्त्वं चान्तःकरणवृत्तेरेवेति ज्ञप्तिरूपमुख्यज्ञानस्य सर्वाधिष्ठानत्वे-नान्याश्रयत्वाभावान्न द्वैतापत्तिः। तेन ज्ञानसुखात्मक आत्मा सत्यः, तद्भिन्नं च सर्वं जगदसत्यमिति सिद्धम् ॥९॥

ननु सर्वस्य जगतस्तुच्छत्वे तन्निषेधेनात्मतत्त्वप्रतिपत्तिर्न स्यात्। न हि शशविषाणं निषिध्यते। 'क्वचित्प्रमितं क्वचिन्नि-षिध्यत' इति न्यायात्। तथा च निषेधानुपपत्त्यैव न जगतस्तुच्छ-मिति, नेत्याह—

न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतस्स्यान्न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम्।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥१०॥

एकत्वसङ्ख्यायोगि एकम्। तदपेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वसङ्ख्यायोगि द्वितीयम्। तत एकाभावे द्वितीयं कुतः स्यात्? द्वितीयं च तृतीया-दीनामप्युपलक्षणम्। ननु 'एकमेवाद्वितीयमि'ति श्रुत्या एकत्वं प्रतिपाद्यते। नेत्याह—न वा केवलत्वमिति। केवलत्वम् एकत्वम्। तस्याविद्यकत्वात्। यद्यात्मन एकत्वं श्रुत्या न प्रतिपाद्यते, तर्हि प्रत्यक्षादिप्रमाणवशादनेकत्वमेव स्यादिति चेन्नेत्याह—न चाकेवल-त्वमिति। अकेवलत्वम् अनेकत्वम्। 'नेह नानास्ति किञ्चन, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, अथात आदेशो नेति नेती'त्यादिश्रुतिभ्यः। तर्हि सर्वप्रतिषेधाच्छून्यमेव स्यादिति नेत्याह—न शून्यमिति। 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मे'ति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मे'ति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरि'ति. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्युपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्व-मसी'त्यादिश्रुतिभिः सत्यत्वप्रतिपादनात्, सर्वभ्रमाधिष्ठानत्वा-त्सर्वबाधावधित्वाच्च। तर्हि सत्यत्वज्ञानत्वादिधर्मवदपि स्यात्! नेत्याह—न चाशून्यमिति। एकमद्वितीयमिति पदद्वयेन सर्वभेद-

प्रतिपेधेऽप्येवकारेण धर्मधर्मिभावादिभेदप्रतिषेधात् । सर्वत्र हेतुमाह—अद्वैतकत्वादिति । द्विधा इतं द्वीतं तस्य भावो द्वैतम् । तदुक्तं वार्तिके—

द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते । इति ।

न विद्यते द्वैतं द्विधाभावो यत्र तदद्वैतमित्यक्षरार्थः। 'सलिल एको द्रष्टाद्वैत' इति श्रुतेः। प्रतियोगिज्ञानस्यैव लाघवेनाभावबुद्धौ कारणत्वात्, द्वैतस्यानिर्वचनीयत्वाङ्गीकारेण प्रत्यक्षादिवेद्यत्वान्निपेधोपपत्तिरित्यर्थः । तर्ह्यीदृश आत्माङ्गुलिनिर्देशेन प्रतिपाद्यतामिति, नेत्याह—कथं ब्रवीमीति । किमापेक्षे । अद्वैतकत्वेन वागविपयत्वात् । 'अवचनेनैव प्रोवाच' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया' इत्यादिश्रुतिभ्यः । वागविषयत्वे वेदान्तानां कथं तत्र प्रामाण्यमिति चेन्न । अविपयेऽप्यात्मनि तदाकारवृत्तिमात्रेण तदविद्यानिवर्तकत्वादित्याह—सर्ववेदान्तसिद्धमिति । तथा च श्रुतिः —

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

इत्यादिरविषयत्वमात्मनो दर्शयति । तदेवं वेदान्तवाक्यजन्याऽखण्डाकारवृत्त्या अविद्यानिवृत्तौ तत्कल्पितसकलानर्थनिवृत्तौ परमानन्दरूपस्सन् कृतकृत्यो भवतीति सिद्धम् ॥

न स्तौमि तं व्यासमशेषमर्थं समग्रसूत्रैरपि यो बबन्ध ।
विनापि तैस्सङ्ग्रथिताखिलार्थं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरं च ॥१॥

लघुरपि बह्वर्थवहश्चिन्तामणिरिव निबन्धोऽयम् ।
मधुसूदनेन मुनिना विहितो गुणिनां विनोदाय ॥२॥

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद् गुरोरेव मे न हि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्न हि ॥३॥

बहुयाचनया मयाऽयमल्पो बलभद्रस्य कृते कृतो निबन्धः।
यद्दुष्टमिहास्ति यच्च दुष्टं तदुदारास्सुधियो विवेचयन्तु ॥४॥

इति श्रीमद्भगवत्पूज्यपादशङ्कराचार्यकृता दशश्लोकी
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचिता
सिद्धान्तबिन्दुनाम्नी तट्टीका समाप्ता ॥

ॐ

अपरोक्षानुभूतिः

श्रीहरिं परमानन्दमुपदेष्टारमीश्वरम् ।
व्यापकं सर्वलोकानां कारणं तं नमाम्यहम् ॥१॥

अपरोक्षानुभूतिर्वै प्रोच्यते मोक्षसिद्धये ।
सद्भिरेव प्रयत्नेन वीक्षणीया मुहुर्मुहुः ॥२॥

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं च भवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥३॥

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥४॥

नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् ।
एवं यो निश्चयः सम्यग्विवेको वस्तुनः स वै ॥५॥

सदैव वासनात्यागः शमोऽयमिति शब्दितः ।
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते ॥६॥

विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा ।
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता ॥७॥

निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता ।
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम् ॥८॥

संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं मे स्यात्कदा विधे ।
इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता ॥९॥

उक्तसाधनयुक्तेन विचारः पुरुषेण हि ।
कर्तव्यो ज्ञानसिद्धयर्थमात्मनः शुभमिच्छता ॥१०॥

नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः ।
यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित् ॥११॥

कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्ताऽस्य विद्यते ।
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ॥१२॥

नाहं भूतगणो देहो नाहं चाक्षगणस्तथा ।
एतद्विलक्षणः कश्चिद्विचारः सोऽयमीदृशः ॥१३॥

अज्ञानप्रभवं सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते ।
सङ्कल्पो विविधः कर्ता विचारः सोऽयमीदृशः ॥१४॥

एतयोर्यदुपादानमेकं सूक्ष्मं सदव्ययम् ।
यथैव मृद्घटादीनां विचारः सोऽयमीदृशः ॥१५॥

अहमेकोऽपि सूक्ष्मश्च ज्ञाता साक्षी सदव्ययः ।
तदहं नात्र सन्देहो विचारः सोऽयमीदृशः ॥१६॥

आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः ।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥१७॥

आत्मा नियामकश्चान्तर्देहो बाह्यो नियम्यकः ।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥१८॥

आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः ।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥१९॥

आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते ।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥२०॥

आत्मा नित्यो हि सद्रूपो देहोऽनित्यो ह्यसन्मयः ।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥२१॥

आत्मनस्तत्प्रकाशत्वं यत्पदार्थावभासनम् ।
नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिर्भवत्यान्ध्यं यतो निशि ॥२२॥

देहोऽहमित्ययं मूढो धृत्वा तिष्ठत्यहो जनः ।
ममायमित्यपि ज्ञात्वा घटद्रष्टेव सर्वदा ॥२३॥

ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२४॥

निर्विकारो निराकारो निरवद्योऽहमव्ययः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२५॥

निरामयो निराभासो निर्विकल्पोऽहमाततः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२६॥

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो नित्यमुक्तोऽहमच्युतः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२७॥

निर्मलो निश्चलोऽनन्तः शुद्धोऽहमजरोऽमरः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२८॥

स्वदेहे शोभनं सन्तं पुरुषाख्यं च सम्मतम् ।
किं मूर्ख ! शून्यमात्मानं देहातीतं करोषि भोः ॥२९॥

स्वात्मानं शृणु मूर्ख ! त्वं श्रुत्या युक्त्या च पूरुषम् ।
देहातीतं सदाकारं सुदुर्दर्शं भवादृशैः ॥३०॥

अहंशब्देन विख्यात एक एव स्थितः परः ।
स्थूलस्त्वनेकतां प्राप्तः कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३१॥

अहं द्रष्टृतया सिद्धो देहो दृश्यतया स्थितः ।
ममायमिति निर्देशात्कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३२॥

अहं विकारहीनस्तु देहो नित्यं विकारवान् ।
इति प्रतीयते साक्षात्कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३३॥

यस्मात्परमिति श्रुत्या तया पुरुषलक्षणम् ।
विनिर्णीतं विमूढेन कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३४॥

सर्वं पुरुष एवेति सूक्ते पुरुषसंज्ञिते ।
अप्युच्यते यतः श्रुत्या कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३५॥

असङ्गः पुरुषः प्रोक्तो बृहदारण्यकेऽपि च ।
अनन्तमलसंश्लिष्टः कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३६॥

तत्रैव च समाख्यातः स्वयंज्योतिर्हि पूरुषः ।
जडः परप्रकाश्योऽसौ कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३७॥

प्रोक्तोऽपि कर्मकाण्डेन ह्यात्मा देहाद्विलक्षणः ।
नित्यश्च तत्फलं भुङ्क्ते देहपातादनन्तरम् ॥३८॥

लिङ्गं चानेकसंयुक्तं चलं दृश्यं विकारि च ।
अव्यापकमसद्रूपं तत्कथं स्यात् पुमानयम् ॥३९॥

एवं देहद्वयादन्य आत्मा पुरुष ईश्वरः ।
सर्वात्मा सर्वरूपश्च सर्वातीतोऽहमव्ययः ॥४०॥

इत्यात्मदेहभागेन प्रपञ्चस्यैव सत्यता ।
यथोक्ता तर्कशास्त्रेण ततः किं पुरुषार्थता ॥४१॥

इत्यात्मदेहभेदेन देहात्मत्वं निवारितम् ।
इदानीं देहभेदस्य ह्यसत्त्वं स्फुटमुच्यते ॥४२॥

चैतन्यस्यैकरूपत्वाद् भेदो युक्तो न कर्हिचित् ।
जीवत्वं च मृषा ज्ञेयं रज्जौ सर्पग्रहो यथा ॥४३॥

रज्ज्वज्ञानात् क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी ।
भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला ॥४४॥

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते ।
तस्मात्सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥४५॥

व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात् ।
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥४६॥

श्रुत्या निवारितं नूनं नानात्वं स्वमुखेन हि ।
कथं भासो भवेदन्यः स्थिते चाद्वयकारणे ॥४७॥

दोषोऽपि विहितः श्रुत्या मृत्योर्मृत्युं स गच्छति ।
इह पश्यति नानात्वं मायया वञ्चितो नरः ॥४८॥

ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः ।
तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीत्यवधारयेत् ॥४९॥

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च ।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिर्जगौ ॥५०॥

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम् ।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत् ॥५१॥

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ।
यः सन्तिष्ठति मूढात्मा भयं तस्याभिभाषितम् ॥५२॥

यत्राज्ञानाद्भवेद् द्वैतमितरस्तत्र पश्यति ।
आत्मत्वेन यदा सर्वं नेतरस्तत्र चाण्वपि ॥५३॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि ह्यात्मत्वेन विजानतः ।
न वै तस्य भवेन्मोहो न च शोकोऽद्वितीयतः ॥५४॥

अयमात्मा हि ब्रह्मैव सर्वात्मकतया स्थितः ।
इति निर्धारितं श्रुत्या बृहदारण्यसंस्थया ॥५५॥

अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन् ।
असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षणबाधतः ॥५६॥

स्वप्नो जागरणेऽलीकः स्वप्नेऽपि न हि जागरः ।
द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्युभयोर्न च ॥५७॥

त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम्।
अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येकश्चिदात्मकः ॥५८॥

यद्वन्मृदि घटभ्रान्तिं शुक्तौ वा रजतस्थितिम्।
तद्वद्ब्रह्मणि जीवत्वं वीक्ष्यमाणे न पश्यति ॥५९॥

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा।
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथा परे ॥६०॥

यथैव व्योम्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ॥६१॥

यथैव शून्ये वेतालो गन्धर्वाणां पुरं यथा।
यथाऽऽकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत्सत्ये जगत्स्थितिः ॥६२॥

यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम्।
पात्ररूपेण ताम्रं हि ब्रह्माण्डौघैस्तथाऽऽत्मता ॥६३॥

घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः।
जगन्नाम्ना चिदाभाति ज्ञेयं तत्तदभावतः ॥६४॥

सर्वोऽपि व्यवहारस्तु ब्रह्मणा क्रियते जनैः।
अज्ञानान्न विजानन्ति मृदेव हि घटादिकम् ॥६५॥

कार्यकारणता नित्यमास्ते घटमृदोर्यथा।
तथैव श्रुतियुक्तिभ्यां प्रपञ्चब्रह्मणोरिह ॥६६॥

गृह्यमाणे घटे यद्वन्मृत्तिका भाति वै बलात्।
वीक्ष्यमाणे प्रपञ्चेऽपि ब्रह्मैवाभाति भासुरम् ॥६७॥

सदैवात्मा विशुद्धोऽस्ति ह्यशुद्धो भाति वै सदा।
यथैव द्विविधा रज्जुर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽनिशम् ॥६८॥

यथैव मृन्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः।
आत्मानात्मविभागोऽयं मुधैव क्रियतेऽबुधैः ॥६९॥

सर्पत्वेन यथा रज्जू रजतत्वेन शुक्तिका।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथाऽऽत्मता ॥७०॥

घटत्वेन यथा पृथ्वी पटत्वेनेव तन्तवः।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथाऽऽत्मता ॥७१॥

कनकं कुण्डलत्वेन तरङ्गत्वेन वै जलम्।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथाऽऽत्मता ॥७२॥

पुरुषत्वे यथा स्थाणुर्जलत्वेन मरीचिका।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथाऽऽत्मता ॥७३॥

गृहत्वेनेव काष्ठानि खड्गत्वेनेव लोहता।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथाऽऽत्मता ॥७४॥

यथा वृक्षविपर्यासो जलाद्भवति कस्यचित्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥७५॥

पोतेन गच्छतः पुंसः सर्वं भातीव चञ्चलम्।
तद्वदात्मनि देवत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥७६॥

पीतत्वं हि यथा शुभ्रे दोषाद्भवति कस्यचित्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥७७॥

चक्षुर्भ्यां भ्रमशीलाभ्यां सर्वं भाति भ्रमात्मकम्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥७८॥

अलातं भ्रमणेनैव वर्तुलं भाति सूर्यवत्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥७९॥

महत्त्वे सर्ववस्तूनामणुत्वं ह्यतिदूरतः।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८०॥

सूक्ष्मत्वे सर्वभावानां स्थूलत्वं चोपनेत्रतः।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८१॥

काचभूमौ जलत्वं वा जलभूमौ हि काचता ।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८२॥
यद्वदग्नौ मणित्वं हि मणौ वा वह्निता पुमान् ।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८३॥
अभ्रेषु सत्सु धावत्सु सोमो धावति भाति वै ।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८४॥
यथैव दिग्विपर्यासो मोहाद्भवति कस्यचित् ।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८५॥
यथा शशी जले भाति चञ्चलत्वेन कस्यचित् ।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८६॥
एवमात्मन्यविद्यातो देहाध्यासो हि जायते ।
स एवात्मपरिज्ञानाल्लीयते च परात्मनि ॥८७॥
सर्वमात्मतया ज्ञातं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
अभावात्सर्वभावानां देहस्य चात्मता कुतः ॥८८॥
आत्मानं सततं जानन्कालं नय महाद्युते ।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥८९॥
उत्पन्नेऽप्यात्मविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति ।
इति यच्छ्रूयते शास्त्रे तन्निराक्रियतेऽधुना ॥९०॥
तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ।
देहादीनामसत्यत्वाद्यथा स्वप्नो विबोधतः ॥९१॥
कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम् ।
तत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित् ॥९२॥
स्वप्नदेहो यथाऽध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः ।
अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे हि तत्कुतः ॥९३॥

उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव कथ्यते ।
अज्ञानं चैव वेदान्तस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता ॥९४॥

यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ।
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ॥९५॥

रज्जुरूपे परिज्ञाते सर्पभ्रान्तिर्न तिष्ठति ।
अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चः शून्यतां व्रजेत् ॥९६॥

देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः ।
अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः ॥९७॥

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।
बहुत्वं तन्निषेधार्थं श्रुत्या गीतं च यत्स्फुटम् ॥९८॥

उच्यतेऽज्ञैर्बलाच्चैतत्तदाऽनर्थद्वयागमः ।
वेदान्तमतहानं च यतो ज्ञानमिति श्रुतिः ॥९९॥

त्रिपञ्चाङ्गान्यथो वक्ष्ये पूर्वोक्तस्य हि लब्धये ।
तैश्च सर्वैः सदा कार्यं निदिध्यासनमेव तु ॥१००॥

नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः ।
तस्माद्ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम् ॥१०१॥

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालता ।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥१०२॥

प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥१०३॥

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥१०४॥

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥१०५॥

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात् ।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः ॥१०६॥

यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः ॥१०७॥

वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥१०८॥

इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहजसंज्ञितम् ।
गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥१०९॥

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥११०॥

कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टो ह्यखण्डानन्द अद्वयः ॥१११॥

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम् ॥११२॥

सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम् ।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः ॥११३॥

यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ राजयोगिनाम् ॥११४॥

अङ्गानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते ।
नो चेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥११५॥

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥११६॥

दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥११७॥

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥११८॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥११९॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥१२०॥
विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥१२१॥
यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥१२२॥
ब्रह्मैवास्मीति तद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥१२३॥
निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ॥१२४॥
इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत् ।
वश्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रयुक्तः सम्भवेत्स्वयम् ॥१२५॥
ततः साधननिर्मुक्तिः सिद्धो भवति योगिराट् ।
तत्स्वरूपं न चैतस्य विषयो मनसो गिराम् ॥१२६॥
समाधौ क्रियमाणे तु विघ्ना आयान्ति वै बलात् ।
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥१२७॥
लयस्तमश्च विक्षेपो रसास्वादश्च शून्यता ।
एवं यद्विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविदा शनैः ॥१२८॥
भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥१२९॥

ये हि वृत्तिं जहत्येनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम् ।
ते तु वृथैव जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ॥१३०॥

ये हि वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वापि वर्धयन्ति ये ।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये ॥१३१॥

येषां वृत्तिः समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः ।
ते वै सद्ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ॥१३२॥

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः ।
तेऽप्यज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥१३३॥

निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना ।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः ॥१३४॥

कार्ये कारणताऽऽयाता कारणे नहि कार्यता ।
कारणत्वं ततो गच्छेत्कार्याभावे विचारतः ॥१३५॥

अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरम् ।
द्रष्टव्यं मृद्घटेनैव दृष्टान्तेन पुनः पुनः ॥१३६॥

अनेनैव प्रकारेण वृत्तिर्ब्रह्मात्मिका भवेत् ।
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानं ततः परम् ॥१३७॥

कारणं व्यतिरेकेण पुमानादौ विलोकयेत् ।
अन्वयेन पुनस्तद्धि कार्ये नित्यं प्रपश्यति ॥१३८॥

कार्ये हि कारणं पश्येत्पश्चात्कार्यं विसर्जयेत् ।
कारणत्वं ततो गच्छेदवशिष्टं भवेन्मुनिः ॥१३९॥

भावितं तीव्रवेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मना ।
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत् ॥१४०॥

अदृश्यं भावरूपं च सर्वमेव चिदात्मकम् ।
सावधानतया नित्यं स्वात्मानं भावयेद्बुधः ॥१४१॥

दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ।
विद्वान्नित्यसुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ॥१४२॥

एभिरङ्गैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः ।
किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः ॥१४३॥

परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः ।
गुरुदेवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो जवात् ॥१४४॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचिताऽपरोक्षानुभूतिः समाप्ता ॥

आत्मबोधः

तमोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् ।
मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयं आत्मबोधो विधियते ॥१॥

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो ही साक्षान्मोक्षेकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिद्धयति ॥२॥

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसङ्घवत् ॥३॥

अविच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशस्येति केवलः ।
स्वयंप्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥४॥

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥५॥

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसङ्कुलः ।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधे सत्यसन्भवेत् ॥६॥

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिका रजतं यथा ।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥७॥

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः ।
व्यक्तयो विविधास्सर्वा हाटके कटकादिवत् ॥८॥

यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः ।
तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति तन्नाशे केशलो भवेत् ॥९॥

नानोपाधिवशादेव जातिनामाश्रमादयः ।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥१०॥

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसञ्चितम् ।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥११॥

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥१२॥

अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥१३॥

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः ।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा ॥१४॥

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्यवघाततः ।
आत्मानमान्तरं शुद्धं विविञ्च्यात्तण्डुलं यथा ॥१५॥

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते ।
बुद्धावेवाभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥१६॥

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणम् ।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यादात्मानं राजवत्सदा ॥१७॥

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाविवेकिनाम् ।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥१८॥

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः ।
स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः ॥१९॥

देहेन्द्रियगुणान्कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि ।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलतादिवत् ॥२०॥

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि ।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादि यथाऽम्भसः ॥२१॥

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः ॥२२॥

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता ।
स्वभावस्सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलतात्मनः ॥२३॥

आत्मनस्सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम् ।
संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्तते ॥२४॥

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्वपि ।
जीवस्सर्वमलं ज्ञात्वा ज्ञाता द्रष्टेति मुह्यति ॥२५॥

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत् ।
नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातश्चेन्निर्भयो भवेत् ॥२६॥

आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाणि हि ।
दीपो घटादिवत्स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते ॥२७॥

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः ।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने ॥२८॥

निषिध्य सकलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यतः ।
विन्द्यादैक्यं महावाक्ये जीवात्मपरमात्मनोः ॥२९॥

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम् ।
एतद्विलक्षणं विन्द्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम् ॥३०॥

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्यलयादयः ।
शब्दादिविषयैः सङ्गो निरिन्द्रियतया न च ॥३१॥

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः ।
अप्राणो ह्यमनाश्शुभ्र इत्यादिश्रुतिशासनात् ॥३२॥

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥३३॥

अहमाकाशवत्सर्वंबहिरन्तर्गतोऽच्युतः ।
सदा सर्वसमश्शुद्धो निस्सङ्गो निर्मलोऽचलः ॥३४॥

एवं निरन्तरकृता ब्रह्मैवास्मीति वासना।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम् ॥३५॥

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् परब्रह्माहमेव तत् ॥३५॥

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ॥३७॥

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा ॥३८॥

रूपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित्।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥३९॥

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परात्मनि न विद्यते।
चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव तत् ॥४०॥

एवमात्माऽरणौ ध्यानमथने सततं कृते।
उदिताऽवगतिज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥४१॥

अरुणेनेव बोधेन पूर्वसन्तमसे हृते।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ॥४२॥

आत्मा तु सततं प्राप्तो ह्यप्राप्तवदविद्यया।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा ॥४३॥

स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता।
जीवस्य तात्त्विके रूपे सम्यक् दृष्टे निवर्तते ॥४४॥

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा।
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥४५॥

सम्यग्विज्ञानवान्योगी स्वात्मन्येवाखिलं स्थितम्।
एकं च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ॥४६॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ।
मृदो यथा घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥४७॥

जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान्पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् ।
स सच्चिदादिधर्मत्वं भेजे भ्रमरकीटवत् ॥४८॥

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान् ।
योगी शान्तिसमायुक्त आत्मारामो विराजते ॥४९॥

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वात्मसुखनिर्वृतः ।
घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ॥५०॥

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैर्न लिप्तो व्योमवन्मुनिः ।
सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत् ॥५१॥

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः ।
जले जलं वियद्व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥५२॥

यल्लाभान्न परो लाभो यत्सुखान्न परं सुखम् ।
यज्ज्ञानान्न परं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५३॥

यद् दृष्ट्वा न परं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा न परं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५४॥

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
अनन्तं नित्यमेकं यत् तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५५॥

अतद्व्यावृत्तिभेदैस्तु वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽव्ययम् ।
अखण्डानन्दमेकं यत् तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५६॥

अखण्डानन्दरूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः ।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः ॥५७॥

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्त्वतिप्रियः ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥५८॥

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५९॥

यद्भासा भास्यतेऽर्कादि भास्यैर्यत्तु न भास्यते ।
येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६०॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममेति ॥६१॥

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत् ।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥६२॥

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
ब्रह्मान्यदस्ति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ॥६३॥

दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत् ।
तत्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥६४॥

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥६५॥

श्रवणादिभिरुद्दीप्तो ज्ञानाग्निपरितापितः ।
जीवस्सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद्द्दृश्यते स्वयम् ॥६६॥

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोपहृत् ।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति भासयतेऽखिलम् ॥६७॥

दिग्देशकालाद्यनवेक्ष्य सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत् ॥६८॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितः आत्मबोधः ॥

मनीषापञ्चकम्

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी ।
सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञाऽपि यस्यास्ति चेत्
चण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम ॥१॥

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्रविस्तारितं
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणया सेशं मया कल्पितम् ।
इत्थं यस्य दृढा मतिस्सुखतरे नित्ये परे निर्मले
चण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम ॥२॥

शश्वन्नश्वरमेव विश्वमखिलं निश्चित्य वाचा गुरो-
र्नित्यं ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याजशान्तात्मना ।
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता संविन्मये पावके
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुरित्येषा मनीषा मम ॥३॥

या तिर्यङ्नरदेवताभिरहमित्यन्तः स्फुटा गृह्यते
यद्भासा हृदयाक्षदेहविषया भान्ति स्वतोऽचेतनाः ।
तां भास्यैः पिहितार्कमण्डलनिभां स्फूर्ति सदा भावयन्
योगी निर्वृतमानसो हि गुरुरित्येषा मनीषा मम ॥४॥

यत्सौख्याम्बुधिलेशलेशत इमे शक्रादयो निर्वृता
यच्चित्ते नितरां प्रशान्तकलने लब्ध्वा मुनिर्निर्वृतः ।
यस्मिन्नित्यसुखाम्बुधौ गलितधीर्ब्रह्मैव न ब्रह्मवित्
यः कश्चित् स सुरेन्द्रवन्दितपदो नूनं मनीषा मम ॥५॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं मनीषापञ्चकम् ॥

उपदेशपञ्चरत्नम्

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयतां
आत्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥१॥

सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढाऽऽधीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम् ।
सद्विद्वानुपसेव्यतामनुदिनं तत्पादुका सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥२॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरः पक्षःसमाश्रीयतां
दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम् ।
ब्रह्मास्मीति विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां
देहेऽहंमतिरुज्झ्यता बुधजनैर्वादस्समुत्सृज्यताम् ॥३॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतामनुदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम् ।
औदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यतां
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यताम् ॥४॥

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतस्समाधीयतां
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्माऽऽत्मना स्थीयताम् ॥५॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं उपदेशपञ्चरत्नम् ॥

वाक्यवृत्तिः

सर्गस्थितिप्रलयहेतुमचिन्त्यशक्तिं विश्वेश्वरं विदितविश्वमनन्तमूर्तिम् ।
निर्मुक्तबन्धनमपारसुखाम्बुराशिं श्रीवल्लभं विमलबोधघनं नमामि ।१।

यस्य प्रसादादहमेव विष्णुर्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च ।
इत्थं विजानामि सदात्मरूपं तस्याङ्घ्रिपद्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥२॥

तापत्रयार्कसन्तप्तः कश्चिदुद्विग्नमानसः ।
शमादिसाधनैर्युक्तः सद्गुरुं परिपृच्छति ॥३॥

अनायासेन येनास्मान्मुच्येयं भवबन्धनात् ।
तन्मे संक्षिप्य भगवन्केवलं कृपया वद ॥४॥

साध्वी ते वचनव्यक्तिः प्रतिभाति वदामि ते ।
इदं तदिति विस्पष्टं सावधानमनाः शृणु ॥५॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं यज्जीवपरमात्मनोः ।
तादात्म्यविषयं ज्ञानं तदिदं मुक्तिसाधनम् ॥६॥

को जीवः कः परश्चात्मा तादात्म्यं वा कथं तयोः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यं वा कथं तत्प्रतिपादयेत् ॥७॥

अत्र ब्रूमः समाधानं कोऽन्यो जीवस्त्वमेव हि ।
यस्त्वं पृच्छसि मां कोऽहं ब्रह्मैवासि न संशयः ॥८॥

पदार्थमेव जानामि नाद्यापि भगवन्स्फुटम् ।
अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं प्रतिपद्ये कथं वद ॥९॥

सत्यमाह भवानत्र विगानं नैव विद्यते ।
हेतुः पदार्थबोधो हि वाक्यार्थावगतेरिह ॥१०॥

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः ।
आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यसे ॥११॥

सत्यानन्दस्वरूपं धीसाक्षिणं बोधविग्रहम् ।
चिन्तयाऽऽत्मतया नित्यं त्यक्त्वा देहादिगां धियम् ॥१२॥

रूपादिमान्यतः पिण्डस्ततो नात्मा घटादिवत् ।
पृथिव्यादिमहाभूतविकारत्वाच्च कुम्भवत् ॥१३॥

अनात्मा यदि पिण्डोऽयमुक्तहेतुबलान्मतः ।
करामलकवत्साक्षादात्मानं प्रतिपादय ॥१४॥

घटद्रष्टा घटाद्भिन्नः सर्वथा न घटो यथा ।
देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यवधारय ॥१५॥

एवमिन्द्रियदृङ् नाहमिन्द्रियाणीति निश्चिनु ।
मनो बुद्धिस्तथा प्राणो नाहमित्यवधारय ॥१६॥

सङ्घातोऽपि तथा नाहमिति दृश्यविलक्षणम् ।
द्रष्टारमनुमानेन निपुणं सम्प्रधारय ॥१७॥

देहेन्द्रियादयो भावा हानादिव्यापृतिक्षमाः ।
यस्य सन्निधिमात्रेण सोऽहमित्यवधारय ॥१८॥

अनापन्नविकारः सन्नयस्कान्तवदेव यः ।
बुद्ध्यादींश्चालयेत्प्रत्यक् सोऽहमित्यवधारय ॥१९॥

अजडात्मवदाभान्ति यत्सान्निध्याज्जडा अपि ।
देहेन्द्रियमनःप्राणाः सोऽहमित्यवधारय ॥२०॥

आगमन्मे मनोऽन्यत्र साम्प्रतं च स्थिरीकृतम् ।
एवं यो वेत्ति धीवृत्ति सोऽहमित्यवधारय ॥२१॥

स्वप्नजागरिते सुप्तिं भावाभावौ धियां तथा ।
यो वेत्त्यविक्रियः साक्षात्सोऽहमित्यवधारय ॥२२॥

घटावभासको दीपो घटादन्यो यथेष्यते ।
देहावभासको देही तथाहं बोधविग्रहः ॥२३॥

पुत्रवित्तादयो भावा यस्य शेषतया प्रियाः ।
द्रष्टा सर्वप्रियतमः सोऽहमित्यवधारय ॥२४॥

परप्रेमास्पदतया मा न भूवमहं सदा ।
भूयासमिति यो द्रष्टा सोऽहमित्यवधारय ॥२५॥

यः साक्षिलक्षणो बोधस्त्वंपदार्थः स उच्यते ।
साक्षित्वमपि बोद्धृत्वमविकारितयाऽऽत्मनः ॥२६॥

देहेन्द्रियमनःप्राणाहंकृतिभ्यो विलक्षणः ।
प्रोज्झिताशेषषड्भावविकारस्त्वंपदाभिधः ॥२७॥

त्वमर्थमेव निश्चित्य तदर्थं चिन्तयेत्पुनः ।
अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ॥२८॥

निरस्ताशेषसंसारदोषोऽस्थूलादिलक्षणः ।
अदृश्यत्वादिगुणकः पराकृततमोमलः ॥२९॥

निरस्तातिशयानन्दः सत्यः प्रज्ञानविग्रहः ।
सत्तास्वलक्षणः पूर्णः परमात्मेति गीयते ॥३०॥

सर्वज्ञत्वं परेशत्वं तथा सम्पूर्णशक्तिता ।
वेदैः समर्थ्यते यस्य तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३१॥

यज्ज्ञानात्सर्वविज्ञानं श्रुतिषु प्रतिपादितम् ।
मृदाद्यनेकदृष्टान्तैस्तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३२॥

यदानन्त्यं प्रतिज्ञाय श्रुतिस्तत्सिद्धये जगौ ।
यत्कार्यत्वं प्रपञ्चस्य तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३३॥

विजिज्ञास्यतया यच्च वेदान्तेषु मुमुक्षुभिः ।
समर्थ्यतेऽतियत्नेन तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३४॥

जीवात्मना प्रवेशश्च नियन्तृत्वं च तान्प्रति ।
श्रूयते यस्य वेदेषु तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३५॥

कर्मणां फलदातृत्वं यस्यैव श्रूयते श्रुतौ ।
जीवानां हेतुकर्तृत्वं तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३६॥

तत्त्वंपदार्थौ निर्णीतौ वाक्यार्थश्चिन्त्यतेऽधुना ।
तादात्म्यमत्र वाक्यार्थस्तयोरेव पदार्थयोः ॥३७॥

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥३८॥

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥३९॥

इत्थमन्योऽन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥४०॥

तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥४१॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यं च तादात्म्यप्रतिपादने ।
लक्ष्यौ तत्त्वंपदार्थौ द्वावुपादाय प्रवर्तते ॥४२॥

हित्वा द्वौ शबलौ वाच्यौ वाक्यं वाक्यार्थबोधने ।
यथा प्रवर्ततेऽस्माभिस्तथा व्याख्यातमादरात् ॥४३॥

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥४४॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥४५॥

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।
विरुध्यते यतस्तस्माल्लक्षणा सम्प्रवर्तते ॥४६॥

मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥४७॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥४८॥

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत्।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥४९॥

श्रुत्याऽऽचार्यप्रसादेन दृढो बोधो यदा भवेत्।
निरस्ताशेषसंसारनिदानः पुरुषस्तदा ॥५०॥

विशीर्णकार्यकरणो भूतसूक्ष्मैरनावृतः।
विमुक्तकर्मनिगडः सद्य एव विमुच्यते ॥५०॥

प्रारब्धकर्मवेगेन जीवन्मुक्तो यदा भवेत्।
किञ्चित्कालमनारब्धकर्मबन्धस्य संक्षये ॥५२॥

निरस्तातिशयानन्दं वैष्णवं परमं पदम्।
पुनरावृत्तिरहितं निर्धारितमिति स्थितम् ॥५३॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचिता वाक्यवृत्तिः समाप्ता ॥

लघुवाक्यवृत्तिः

स्थूलो मांसमयो देहः सूक्ष्मः स्याद्वासनामयः ।
ज्ञानकर्मेन्द्रियैः साधं धीप्राणौ तच्छरीरगौ ॥१॥

अज्ञानं कारणं साक्षी बोधस्तेषां विभासकः ।
बोधाभासो बुद्धिगतः कर्ता स्यात्पुण्यपापयोः ॥२॥

स एव संसरेत्कर्मवशाल्लोकद्वये सदा ।
बोधाभासाच्छुद्धबोधं विविच्याद्‍तियत्नतः ॥३॥

जागरस्वप्नयोरेव बोधाभासविडम्बना ।
सुप्तौ तु तल्लये शुद्धबोधो जाड्यं प्रकाशयेत् ॥४॥

जागरेऽपि धियस्तूष्णींभावः शुद्धेन भास्यते ।
धीव्यापाराश्च तद्भास्याश्चिदाभासेन संयुताः ॥५॥

वह्नितप्तजलं तापयुक्तं देहस्य तापकम् ।
चिद्भास्या धीस्तदाभासयुक्तान्यं भासयेत्तथा ॥६॥

रूपादौ गुणदोषादिविकल्पा बुद्धिगाः क्रियाः ।
ताः क्रिया विषयैः साधं भासयन्ती चितिर्मता ॥७॥

रूपाच्च गुणदोषाभ्यां विविक्ता केवला चितिः ।
सैवानुवर्तते रूपरसादीनां विकल्पने ॥८॥

क्षणे क्षणेऽन्यथाभूता धीविकल्पाश्चितिर्न तु ।
मुक्तासु सूत्रवद्‍बुद्धिविकल्पेषु चितिःस्थिता ॥९॥

मुक्ताभिरावृतं सूत्रं मुक्तयोर्मध्य ईक्षते ।
तथावृता विकल्पैश्चित्स्पष्टा मध्ये विकल्पयोः ॥१०॥

नष्टे पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ।
निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते ॥११॥

एकद्वित्रिक्षणेनैवं विकल्पस्य निरोधनम् ।
क्रमेणाभ्यस्यतां यत्नाद्ब्रह्मानुभवकांक्षिभिः ॥१२॥

सविकल्पकजीवोऽयं ब्रह्म स्यान्निर्विकल्पकम् ।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन सोऽयमर्थोऽभिधीयते ॥१३॥

सविकल्पकचिद्योऽहं ब्रह्मैकं निर्विकल्पकम् ।
स्वतःसिद्धा विकल्पास्ते निरोद्धव्याः प्रयत्नतः ॥१४॥

शक्यः सर्वनिरोधश्चेत्समाधिर्ज्ञानिनां प्रियः ।
तदशक्तौ क्षणं रुध्वा श्रद्धेया ब्रह्मताऽत्मनः ॥१५॥

श्रद्धालुर्ब्रह्मतां स्वस्य चिन्तयेद् बुद्धिवृत्तिभिः ।
वाक्यवृत्त्या यथाशक्ति ज्ञात्वा ह्यभ्यस्यतां सदा ॥१६॥

तच्चिन्तनं तत्कथनं तत्परस्परबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥१७॥

देहात्मधीवद्ब्रह्मात्मधीदार्ढ्ये कृतकृत्यता ।
यदा तदायं म्रियतां मुक्तोऽसौ नात्र संशयः ॥१८॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यकृता लघुवाक्यवृत्तिः ॥

तत्त्वबोधः

वासुदेवेन्द्रयोगीन्द्रं नत्वा ज्ञानप्रदं गुरुम् ॥
मुमुक्षूणां हितार्थाय तत्त्वबोधोऽभिधीयते ॥१॥

साधनचतुष्टयसंपन्नाधिकारिणां मोक्षसाधनभूतं तत्त्वविवेक-प्रकारं वक्ष्यामः । साधनचतुष्टयं किम् ? नित्यानित्यवस्तुविवेकः ॥१॥ इहामुत्रार्थफलभोगविरागः ॥२॥ शमादिषट्कसंपत्तिः ॥३। मुमुक्षुत्वं चेति ॥४॥

नित्यानित्यवस्तुविवेकः कः ? नित्यवस्त्वेकं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम् । अयमेव नित्यानित्यवस्तुविवेकः ॥

विरागः कः ? इहस्वर्गभोगेषु इच्छाराहित्यम् ॥

शमादिसाधनसंपत्तिः का ? शमो दम उपरमस्तितिक्षा श्रद्धा समाधानं चेति ॥

शमः कः ? मनोनिग्रहः । दमः कः ? चक्षुरादिबाह्येन्द्रिय-निग्रहः । उपरमः कः ? स्वधर्मानुष्ठानमेव । तितिक्षा का ? शीतोष्णसुखदुःखादिसहिष्णुत्वम् ॥ श्रद्धा कीदृशी ? गुरुवेदांत-वाक्यादिषु विश्वासः श्रद्धा ॥ समाधानं किम् ? चित्तैकाग्रता ॥

मुमुक्षुत्वं किम् ? मोक्षो मे भूयादितीच्छा । एतत्साधन-चतुष्टयम् । ततस्तत्त्वविवेकस्याधिकारिणो भवंति ॥ तत्त्वविवेकः कः ? आत्मा सत्यस्तदन्यत् सर्वं मिथ्येति ।

आत्मा कः ? स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराद्व्यतिरिक्तः पंचकोशातीतः सन् अवस्थात्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः सन् यस्तिष्ठति स आत्मा ॥

स्थूलशरीरं किम् ? पंचीकृतपंचमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादिभोगायतनं शरीरम्, अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यतीति षड्विकारवदेतत्स्थूलशरीरम् ॥

सूक्ष्मशरीरं किम् ? अपंचीकृतपंचमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादिभोगसाधनं पंच ज्ञानेन्द्रियाणि पंच कर्मेन्द्रियाणि पंच प्राणादयः मनश्चैकं बुद्धिश्चैका एवं सप्तदशकलाभिः सह यत्तिष्ठति तत्सूक्ष्मशरीरम् ॥ श्रोत्रं त्वक् चक्षुः रसना घ्राणम् इति पंच ज्ञानेन्द्रियाणि ॥ श्रोत्रस्य दिग्देवता । त्वचो वायुः । चक्षुषः सूर्यः । रसनाया वरुणः । घ्राणस्य अश्विनौ इति ज्ञानेन्द्रियदेवताः ॥ श्रोत्रस्य विषयः शब्दग्रहणम् । त्वचो विषयः स्पर्शग्रहणम् । चक्षुषो विषयः रूपग्रहणम् । रसनाया विषयः रसग्रहणम् । घ्राणस्य विषयः गंधग्रहणम् इति ॥ वाक्पाणिपादपायूपस्थानि इति पंच कर्मेन्द्रियाणि ॥ वाचो देवता वह्निः । हस्तयोरिन्द्रः । पादयोर्विष्णुः । पायोर्मृत्युः । उपस्थस्य प्रजापतिरिति कर्मेन्द्रियदेवताः ॥ वाचो विषयः भाषणम् । पाण्योर्विषयः वस्तुग्रहणम् । पादयोर्विषयः गमनम् । पायोर्विषयः मलत्यागः । उपस्थस्य विषय आनन्द इति ॥

कारणशरीरं किम् ? अनिर्वाच्यानाद्यविद्यारूपं शरीरद्वयस्य कारणमात्रं सत्स्वरूपाऽज्ञानं निर्विकल्पकरूपं यदस्ति तत्कारणशरीरम् ॥

अवस्थात्रयं किम् ? जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः ॥

जाग्रदवस्था का ? श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दादिविषयैश्च ज्ञायते इति यत् सा जाग्रदवस्था । स्थूलशरीराभिमानी आत्मा विश्व इत्युच्यते ॥

स्वप्नावस्था केति चेत् ? जाग्रदवस्थायां यद् दृष्टं यच्छ्रुतं तज्जनितवासनया निद्रासमये यः प्रपञ्चः प्रतीयते सा स्वप्नावस्था । सूक्ष्मशरीराभिमानी आत्मा तैजस इत्युच्यते ॥

अतः सुषुप्त्यवस्था का ? अहं किमपि न जानामि सुखेन मया निद्राऽनुभूयत इति सुषुप्त्यवस्था। कारणशरीराभिमानी आत्मा प्राज्ञ इत्युच्यते ॥

पञ्च कोशाः के ? अन्नमयः प्राणमयः मनोमयः विज्ञानमयः आनन्दमयश्चेति ॥

अन्नमयः कः ? अन्नरसेनैव भूत्वा अन्नरसेनैव वृद्धिं प्राप्य अन्नरूपपृथिव्यां यद्विलीयते तदन्नमयः कोशः स्थूलशरीरम् ॥

प्राणमयः कः ? प्राणाद्याः पञ्च वायवः वागादीन्द्रियपञ्चकं कोशः।

मनोमयः कोशः कः ? मनश्च ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं मिलित्वा भवति स मनोमयः कोशः ॥

विज्ञानमयः कः ? बुद्धिज्ञानेन्द्रियपञ्चकं मिलित्वा यो भवति स विज्ञानमयः कोशः ॥

आनन्दमयः कः ? एवमेव कारणशरीरभूताविद्यास्थमलिनसत्त्वं प्रियादिवृत्तिसहितं सत् आनन्दमयः कोशः। एतत्कोशपञ्चकम्। मदीयं शरीरं मदीयाः प्राणाः मदीयं मनश्च मदीया बुद्धिर्मदीयं ज्ञानमिति स्वेनैव ज्ञायते तद्यथा मदीयत्वेन ज्ञातं कटककुण्डलगृहादिकं स्वस्माद्भिन्नं तथा पञ्चकोशादिकं मदीयत्वेन ज्ञातमात्मा न भवति ॥

आत्मा तर्हि कः ? सच्चिदानन्दस्वरूपः ॥

सत्किम् ? कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत् ॥ चित्किम् ? ज्ञानस्वरूपः ॥ आनन्दः कः ? सुखस्वरूपः। एवं सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वात्मानं विजानीयात् ॥ अथ चतुर्विंशतितत्त्वोत्पत्तिप्रकारं वक्ष्यामः ॥ ब्रह्माश्रया सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका माया अस्ति। तत आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोस्तेजः। तेजस आपः अद्भ्यः पृथिवी ॥ एतेषां पञ्चतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य सात्त्वि-

कांशाच्छ्रोत्रेन्द्रियं संभूतम् । वायोः सात्त्विकांशात्त्वगिंद्रियं संभूतम् । अग्नेः सात्त्विकांशाच्चक्षुरिन्द्रियं संभूतम् । जलस्य सात्त्विकांशाद्रसनेन्द्रियं संभूतम् । पृथिव्याः सात्त्विकांशाद् घ्राणेन्द्रियं संभूतम् । एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टिसात्त्विकांशान्मनोबुद्ध्यहंकारचित्तान्तःकरणानि संभूतानि ॥ संकल्पविकल्पात्मकं मनः । निश्चयात्मिका बुद्धिः । अहंकारः । चिन्तनकर्तृ चित्तम् । मनसो देवता चन्द्रमाः । बुद्धेर्ब्रह्मा । अहंकारस्य रुद्र । चित्तस्य वासुदेवः ॥ एतेषां पञ्चतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य राजसांशाद्वागिंद्रियं संभूतम् । वायोः राजसांशात् पादेन्द्रियं संभूतम् । वह्नेः राजसांशत् पाणींद्रियं संभूतम् । जलस्य राजसांशादुपस्थेन्द्रियं संभूतम् । पृथिव्या राजसांशाद् गुदेन्द्रियं संभूतम्। एतेषां समष्टिराजशांशात्पञ्च प्राणाः संभूताः॥ एतेषां पंचतत्त्वानां तामसांशात्पंचीकृतपंचतत्त्वानि भवन्ति । पंचीकरणं कथम् इति चेत् । एतेषां पंमहाभूतानां तामसांशस्वरूपम् एकम् एकम् भूतं द्विधा विभज्य एकमेकमर्धं पृथक् तूष्णीं व्यवस्थाप्य अपरमपरमर्धं चतुर्धा विभज्य स्वार्धमन्येषु अर्धेषुस्वभागचतुष्टयसंयोजनं कार्यम् । तदा पंचीकरणं भवति । एतेभ्यः पंचीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः स्थूलशरीरं भवति एवं पिंडब्रह्मांडयोरैक्यं संभूतम् ॥ स्थूलशरीराभिमानि जीवनामकं ब्रह्मप्रतिबिम्बं भवति स एव जीवः प्रकृत्या स्वस्मात् ईश्वरं भिन्नत्वेन जानाति । अविद्योपाधिः सन् आत्मा जीव इत्युच्यते ॥ मायोपाधिः सन् ईश्वर इत्युच्यते । एवमुपाधिभेदाज्जीवेश्वरभेददृष्टिर्यावत्पर्यन्तं तिष्ठति तावत्पर्यंन्तं जन्ममरणादिरूपसंसारो न निवर्तते । तस्मात्कारणान्न जीवेश्वरयोर्भेदबुद्धिः स्वीकार्या ॥

ननु साहंकारस्य किंचिज्ज्ञस्य जीवस्य निरहंकारस्य सर्वज्ञस्येश्वरस्य तत्त्वमसीति महावाक्यात्कथमभेदबुद्धिः स्यादुभयोः विरुद्धधर्माक्रांतत्वात् । इति चेन्न । स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानी त्वंपदवाच्यार्थः । उपाधिविनिर्मुक्तं समाधिदशासम्पन्नं शुद्धं चैतन्यं

त्वं पदलक्ष्यार्थः। एवं सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वरः तत्पदवाच्यार्थः। उपाधिशून्यं शुद्धचैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थः। एवं च जीवेश्वरयोः। चैतन्यरूपेणाऽभेदे बाधकाभावः। एवं च वेदान्तवाक्यैः सद्गुरूपदेशेन च सर्वेष्वपि भूतेषु येषां ब्रह्मबुद्धिरुत्पन्ना ते जीवन्मुक्ता इत्यर्थः। ननु जीवन्मुक्ताः कः ? यथा देहोऽहं पुरुषोऽहं ब्राह्मणोऽहं शूद्रोऽहमस्मीति दृढनिश्चयस्तथा नाहं ब्राह्मणः न शूद्रः न पुरुषः किन्तु असंगः सच्चिदानन्दस्वरूपः प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी चिदाकाशरूपोऽस्मीति दृढनिश्चयरूपोऽपरोक्षज्ञानवान् जीवन्मुक्तः। ब्रह्मैवाहमस्तीत्यपरोक्षज्ञानेन निखिलकर्मबन्धविनिर्मुक्तः स्यात्। कर्माणि कतिविधानि सन्तीति चेत् आगामिसंचितप्रारब्धभेदेन त्रिविधानि संति। ज्ञानोत्पत्त्यनंतरं ज्ञानिदेहकृतं पुण्यपापरूपं कर्म यदस्ति तदागामीत्यभिधीयते। संचितं कर्म किम् ? अनंतकोटिजन्मनां बीजभूतं सत् यत्कर्मजातं पूर्वार्जितं तिष्ठति तत्संचितं ज्ञेयम्।

प्रारब्धं कर्म किमिति चेत्। इदं शरीरमुत्पाद्य इह लोके एवं सुखदुःखादिप्रदं यत्कर्म तत्प्रारब्धं भोगेन नष्टं भवति प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति। संचितं कर्म ब्रह्मैवाहमिति निश्चयात्मकज्ञानेन नश्यति। आगामि कर्म अपि ज्ञानेन नश्यति किंच आगामिकर्मणां नलिनीदलगतजलवत् ज्ञानिनां सम्बन्धो नास्ति। किंच ये ज्ञानिनं स्तुवंति भजन्ति अर्चयन्ति तान्प्रति ज्ञानिकृतं आगामि पुण्यं गच्छति। ये ज्ञानिनं निन्दन्ति द्विषन्ति दुःखप्रदानं कुर्वन्ति तान्प्रति ज्ञानिकृतं सर्वमागामि क्रियमाणं यदवाच्यं कर्म पापात्मकं तद्गच्छति। तथा चात्मवित्संसारं तीर्त्वा ब्रह्मानन्दमिहैव प्राप्नोति तरति शोकमात्मविदिति श्रुतेः। तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथ वा। ज्ञानसंप्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥ इति स्मृतेश्च॥

इति तत्त्वबोधप्रकरणं समाप्तम्।

विवेक-चूडामणि

सर्ववेदान्तसिद्धान्तगोचरं तमगोचरम्।
गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥१॥

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम्।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ॥२॥

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥३॥

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥४॥

इतः को न्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥५॥

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः।
आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्ति-
र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥६॥

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः।
ब्रवीति कर्मणो मुक्तेरहेतुत्वं स्फुटं यतः ॥७॥

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान्
संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकं
तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा ॥८॥

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ॥९॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये ।
यत्यतां पण्डितैर्धीरैरात्माभ्यास उपस्थितैः ॥१०॥

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ॥११ ।

सम्यग्विचारतः सिद्धा रज्जुतत्त्वावधारणा ।
भ्रान्त्योदितमहासर्पभयदुःखविनाशिनी ॥१२॥

अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारेण हितोक्तितः ।
न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतेन वा ॥१३॥

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः ।
उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन्सहकारिणः ॥१४॥

अतो विचारः कर्तव्यो जिज्ञासोरात्मवस्तुनः ।
समासाद्य दयासिन्धुं गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ॥१५॥

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः ।
अधिकार्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः ॥१६॥

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता ॥१७॥

साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः ।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति ॥१८॥

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।
इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ॥१९॥

शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः ॥२०॥

सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ।
तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः ॥२१॥

देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ।
विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ॥२२॥

स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ।
विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ॥२३॥

उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः ।
बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ॥२४॥

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥२५॥

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥२६॥

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा ।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥२७॥

अहङ्कारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान् ।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥२८॥

मन्दमध्यमरूपापि वैराग्येण शमादिना ।
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ॥२९॥

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥३०॥

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः ।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता ॥३१॥

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥३२॥

स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः ।
उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः ॥३३॥

उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम् ।
श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ॥३४॥

ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ॥३५॥

तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः ।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ॥३६॥

स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो
कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या
ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥३७॥

दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं
दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः ।
भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः
शरण्यमन्यं यदहं न जाने ॥३८॥

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥३९॥

अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम् ।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥४०॥

ब्रह्मानन्दरसानुभूतिकलितैः पूतैः सुशीतैः सितै-
र्युष्मद्वाक्कलशोज्झितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय ।
सन्तप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो
धन्यास्ते भवदीक्षणक्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः ॥४१॥

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं
का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः ।
जाने न किञ्चित्कृपयाव मां भोः
संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥४२॥

तथा वदन्तं शरणागतं स्वं
संसारदावानलतापतप्तम् ।
निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्रदृष्ट्या
दद्यादभीतिं सहसा महात्मा ॥४३॥

विद्वान्स तस्मा उपसत्तिमीयुषे
मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे ।
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय
तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ॥४४॥

श्रीगुरुरुवाच

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः
संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः ।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं
तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥४५॥

अस्त्युपायो महान्कश्चित्संसारभयनाशनः ।
येन तीर्त्वा भवाम्भोधिं परमानन्दमाप्स्यसि ॥४६॥

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥४७॥

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षो-
मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः ।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य
मोक्षोऽविद्याकल्पितद्देहबन्धात् ॥४८॥

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव
ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः ।
तयोर्विवेकोदितबोधवह्नि-
रज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम् ॥४९॥

शिष्य उवाच

कृपया श्रूयतां स्वामिन्प्रश्नोऽयं क्रियते मया ।
तदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ॥५०॥

को नाम बन्धः कथमेष आगतः
कथं प्रतिष्ठास्य कथं विमोक्षः ।
कोऽसावनात्मा परमः क आत्मा
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ॥५१॥

श्रीगुरुरुवाच

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया ।
यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ॥५२॥

ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥५३॥

मस्तकन्यस्तभारादेर्दुःखमन्यैर्निवार्यते ।
क्षुदादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ॥५४॥

पथ्यमौषधसेवा च क्रियते येन रोगिणा ।
आरोग्यसिद्धिर्दृष्टास्य नान्यानुष्ठितकर्मणा ॥५५॥

वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा
स्वेनैव वेद्यं ननु पण्डितेन ।
चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव
ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ॥५६॥

अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम् ।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ॥५७॥

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥५८॥

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम् ।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ॥५९॥

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥६०॥

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥६१॥

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।
अत प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः ॥६२॥

अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना ।
किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥६३॥

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥६४॥

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥६५॥
अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम् ।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥६६॥

आप्तोक्तिं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिःशब्दैस्तु निर्गच्छति ।
तद्वद् ब्रह्मविदोपदेशमननध्यानादिभिर्लभ्यते
मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥६७॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये :
स्वैरेव यत्नः कर्तव्यो रोगादाविव पण्डितैः ॥६८॥

यस्त्वयाद्य कृतः प्रश्नो वरीयाञ्छास्त्रविन्मतः ।
सूत्रप्रायो निगूढार्थो ज्ञातव्यश्च मुमुक्षुभिः ॥६९॥
शृणुष्वावहितो विद्वन्यन्मया समुदीर्यते ।
तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥७०॥

मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते
वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु ।
ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा
न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ॥७१॥

ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्व-
ध्यानं चिरं नित्यनिरन्तरं मुनेः ।
ततोऽविकल्पं परमेत्य विद्वा-
निहैव निर्वाणसुखं समृच्छति ॥७२॥

यद्बोद्धव्यं तवेदानीमात्मानात्मविवेचनम् ।
तदुच्यते मया सम्यक् श्रुत्वात्मन्यवधारय ॥७३॥

मज्जास्थिमेदःपलरक्तचर्म-
त्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिरन्वितम् ।
पादोरुवक्षोभुजपृष्ठमस्तकै-
रङ्गैरुपाङ्गैरुपयुक्तमेतत् ॥७४॥

अहंममेति प्रथितं शरीरं
मोहास्पदं स्थूलमितीर्यते बुधैः ।
नभोनभस्वद्दहनाम्बुभूमयः
सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि ॥७५॥

परस्परांशैर्मिलितानि भूत्वा
स्थूलानि च स्थूलशरीरहेतवः ।
मात्रास्तदीया विषया भवन्ति
शब्दादयः पञ्च सुखाय भोक्तुः ॥७६॥

य एषु मूढा विषयेषु बद्धा
रागोरुपाशेन सुदुर्दमेन ।
आयान्ति निर्यान्त्यध ऊर्ध्वमुच्चैः
स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः ॥७७॥

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च
पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-
भृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥७८॥

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि ।
विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥७९॥
विषयाशामहापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।
स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ॥८०॥

आपातवैराग्यवतो मुमुक्षून्
भवाब्धिपारं प्रतियातुमुद्यतान् ।
आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले
विगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ॥८१॥

विषयाख्याग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हृतः ।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः ॥८२॥

विषमविषयमार्गैर्गच्छतोऽनच्छबुद्धेः
प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येव विद्धि ।
हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या
प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि ॥८३॥

मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति
त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा ।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-
प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥८४॥

अनुक्षणं यत्परिहृत्य कृत्य-
मनाद्यविद्याकृतबन्धमोक्षणम् ।
देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे
यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति ॥८५॥

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति ।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति ॥८६॥

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥८७॥

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु ।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥८८॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम् ।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः ॥८९॥

पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा ।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः ।
अवस्था जागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः ॥९०॥

बाह्येन्द्रियैः स्थूलपदार्थसेवां
स्रक्चन्दनस्त्र्यादिविचित्ररूपाम् ।
करोति जीवः स्वयमेतदात्मना
तस्मात्प्रशस्तिर्वपुषोऽस्य जागरे ॥९१॥

सर्वोऽपि बाह्यसंसारः पुरुषस्य यदाश्रयः ।
विद्धि देहमिदं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः ॥९२॥

स्थूलस्य सम्भवजरामरणानि धर्माः
स्थौल्यादयो बहुविधाः शिशुताद्यवस्था ।
वर्णाश्रमादिनियमा बहुधा यमाः स्युः
पूजावमानबहुमानमुखा विशेषाः ॥९३॥

बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि
घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात् ।
वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थः
कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु ॥९४॥

निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधी-
रहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः ।
मनस्तु सङ्कल्पविकल्पनादिभि-
र्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः ॥९५॥

अत्राभिमानादहमित्यहङ्कृतिः
स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम् ॥९६॥

प्राणापानव्यानोदानसमाना भवत्यसौ प्राणः ।
स्वयमेव वृत्तिभेदाद्विकृतिभेदात्सुवर्णसलिलादिवत् ॥९७॥

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च
प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च ।
बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी
पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः ॥९८॥

इदं शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं
लिङ्गं त्वपञ्चीकृतभूतसम्भवम् ।
सवासनं कर्मफलानुभावकं
स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः ॥९९॥

स्वप्नो भवत्यस्य विभक्त्यवस्था
स्वमात्रशेषेण विभाति यत्र ।
स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्-
कालीननानाविधवासनाभिः ।
कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते
यत्र स्वयंज्योतिरयं परात्मा ॥१००॥

धीमात्रकोपाधिरशेषसाक्षी
न लिप्यते तत्कृतकर्मलेशैः ।
यस्मादसङ्गस्तत एव कर्मभि-
र्न लिप्यते किञ्चिदुपाधिना कृतैः ॥१०१॥

सर्वव्यापृतिकरणं लिङ्गमिदं स्याच्चिदात्मनः पुंसः ।
वास्यादिकमिव तक्षणस्तेनैवात्मा भवत्यसङ्गोऽयम् ॥१०२॥

अन्धत्वमन्दत्वपटुत्वधर्माः
सौगुण्यवैगुण्यवशाद्धि चक्षुषः ।

वाधिर्यमूकत्वमुखास्तथैव
श्रोत्रादिधर्मा न तु वेत्तुरात्मनः ॥१०३॥

उच्छ्वासनिःश्वासविजृम्भणक्षुत्-
प्रस्पन्दनाद्युत्क्रमणादिकाः क्रियाः ।
प्राणादिकर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः
प्राणस्य धर्मावशनापिपासे ॥१०४॥

अन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि ।
अहमित्यभिमानेन तिष्ठत्याभासतेजसा ॥१०५॥

अहङ्कारः स विज्ञेयः कर्ता भोक्ताभिमान्ययम् ।
सत्त्वादिगुणयोगेन चावस्थात्रयमश्नुते ॥१०६॥

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये ।
सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः ॥१०७॥

आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः ।
स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः ॥१०८॥

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन ।
यत्सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते ।
श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति ॥१०९॥

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥११०॥

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।

साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥१११॥

शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या
सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा।
रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा
गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः ॥११२॥

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं
दुःखादयो ये मनसो विकाराः ॥११३॥

कामः क्रोधो लोभदम्भाद्यसूया-
हङ्कारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः।
धर्मा एते राजसाः पुम्प्रवृत्ति-
र्यस्मादेषा तद्रजो बन्धहेतुः ॥११४॥

एषावृतिर्नाप तमोगुणस्य
शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृते-
र्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः ॥११५॥

प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मार्थदृग्
व्यालीढस्तमसा न वेत्ति बहुधा सम्बोधितोऽपि स्फुटम्।
भ्रान्त्यारोपितमेव साधु कलयत्यालम्बते तद्गुणान्
हन्तासौ प्रबला दुरन्ततमसः शक्तिर्महत्यावृतिः ॥११६॥

अभावना वा विपरीतभावना-
सम्भावना विप्रतिपत्तिरस्याः।

संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं
विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ॥११७॥

अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्रा-
प्रमादमूढत्वमुखास्तमोगुणः ।
एतैः प्रयुक्तो न हि वेत्ति किञ्चि-
न्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ॥११८॥

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि
ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते ।
यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन्
प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जडम् ॥११९॥

मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्मा-
स्त्वमानिताद्या नियमा यमाद्याः ।
श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च
दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः ॥१२०॥

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः
स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः ।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा
यया सदानन्दरसं समृच्छति ॥१२१॥

अव्यक्तमेतत्त्रिगुणैर्निरुक्तं
तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः ।
सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था
प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिः ॥१२२॥

सर्वप्रकारप्रमितिप्रशान्ति-
र्बीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धेः ।

सुषुप्तिरेतस्य किल प्रतीतिः
किञ्चिन्न वेद्मीति जगत्प्रसिद्धेः ॥१२३॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादयः
सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः ।
व्योमादिभूतान्यखिलं च विश्व-
मव्यक्तपर्यन्तमिदं ह्यनात्मा ॥१२४॥

माया मायाकार्यं सर्वं महदादि देहपर्यन्तम् ।
असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम् ॥१२५॥

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि स्वरूपं परमात्मनः ।
यद्विज्ञाय नरो बन्धान्मुक्तः कैवल्यमश्नुते ॥१२६॥

अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहंप्रत्ययलम्बनः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पञ्चकोशविलक्षणः ॥१२७॥

यो विजानाति सकलं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
बुद्धितद्वृत्तिसद्भावमभावमहमित्ययम् ॥१२८॥

यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन ।
यश्चेतयति बुद्ध्यादि न तु यं चेतयत्ययम् ॥१२९॥

येन विश्वमिदं व्याप्तं यन्न व्याप्नोति किञ्चन ।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम् ॥१३०॥

यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः ।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव ॥१३१॥

अहङ्कारादिदेहान्ता विषयाश्च सुखादयः ।
वेद्यन्ते घटवद्येन नित्यबोधस्वरूपिणा ॥१३२॥

एषोऽन्तरात्मा पुरुषः पुराणो
निरन्तराखण्डसुखानुभूतिः ।
सदैकरूपः प्रतिबोधमात्रो
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥१३३॥

अत्रैव सत्त्वात्मनि धीगुहाया-
मव्याकृताकाश उरुप्रकाशः ।
आकाश उच्चै रविवत्प्रकाशते
स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन् ॥१३४॥

ज्ञाता मनोऽहङ्कृतिविक्रियाणां
देहेन्द्रियप्राणकृतक्रियाणाम् ।
अयोऽग्निवत्ताननुवर्तमानो
न चेष्टते नो विकरोति किञ्चन ॥१३५॥

न जायते नो म्रियते न वर्धते
न क्षीयते नो विकरोति नित्यः ।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्
न लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम् ॥१३६॥

प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः
सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः ।
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था-
स्वहमहमिति साक्षात् साक्षिरूपेण बुद्धेः ॥१३७॥

नियमितमनसा त्वं स्वमात्मानमात्म-
न्ययमहमिति साक्षाद्विद्धि बुद्धिप्रसादात् ।
जनिमरणतरङ्गापारसंसारसिन्धुं
प्रतर भव कृतार्थो ब्रह्मरूपेण संस्थः ॥१३८॥

अस्मिन्नात्मन्यमिति मतिर्बन्ध एषोऽस्य पुंसः
प्राप्तोऽज्ञानाज्जननमरणक्लेशसम्पातहेतुः ।
येनैवायं वपुरिदमसत्सत्यनित्यात्मबुद्ध्या ।
पुष्यत्युक्षत्यवति विषयैस्तन्तुभिः कोशकृद्वत् ॥१३९॥

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा ।
ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिक-
स्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे ॥१४०॥

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या
स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम् ।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा
तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम् ॥१४१॥

तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमा-
ननात्मानं मोहादहमिति शरीरं कलयति ।
ततः कामक्रोधप्रभृतिभिरमुं बन्धनगुणैः
परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिर्व्यथयति ॥१४२॥

महामोहग्राहग्रसनगलितात्मावगमनो
धियो नानावस्थाः स्वयमभिनयंस्तद्गुणतया ।
अपारे संसारे विषयविपूरे जलनिधौ
निमज्ज्योन्मज्ज्यायं भ्रमति कुमतिः कुत्सितगति ॥१४३॥

भानुप्रभासञ्जनिताभ्रपङ्क्ति-
र्भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा ।
आत्मोदिताहङ्कृतिरात्मतत्त्वं
तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम् ॥१४४॥

कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघै-
व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान् ।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धि
क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः ॥१४५॥

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः ।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम् ॥१४६॥

बीजं संसृतिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरङ्कुरो
रागः पल्लवमम्बु कर्म तु वपुः स्कन्धोऽसवः शाखिकाः ।
अग्राणीन्द्रियसंहतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं
नानाकर्मसमुद्भवंबहुविधं भोक्तात्र जीवः खगः ॥१४७॥

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो
नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः ।
जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःख-
प्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ॥१४८॥

नास्त्रैर्न शस्त्रैरनिलेन वह्निना
छेत्तुं न शक्यो न च कर्मकोटिभिः ।
विवेकविज्ञानमहासिना विना
धातुः प्रसादेन सितेन मञ्जुना ॥१४९॥

श्रुतिप्रमाणैकमतेः स्वधर्म-
निष्ठा तयैवात्मविशुद्धिरस्य ।
विशुद्धबुद्धेः परमात्मवेदनं
तेनैव संसारसमूलनाशः ॥१५०॥

कोशैरन्नमयाद्यैः पञ्चभिरात्मा न संवृतो भाति ।
निजशक्तिसमुत्पन्नैः शैवालपटलैरिवाम्बु वापीस्थम् ॥१५१॥

तच्छैवालापनये सम्यक् सलिलं प्रतीयते शुद्धम् ।
तृष्णासन्तापहरं सद्यः सौख्यप्रदं परं पुंसः ॥१५२॥

पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः ।
नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयंज्योतिः ॥१५३॥

आत्मानात्मविवेकः कर्तव्यो बन्धमुक्तये विदुषा ।
तेनैवानन्दी भवति स्वं विज्ञाय सच्चिदानन्दम् ॥१५४॥

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गा-
स्प्रत्यञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम् ।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं
तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ॥१५५॥

देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोश-
श्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ।
त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशि-
र्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः ॥१५६॥

पूर्वं जनेरपि मृतेरपि नायमस्ति
जातः क्षणं क्षणगुणोऽनियतस्वभावः ।
नैको जडश्च घटवत्परिदृश्यमानः
स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता ॥१५७॥

पाणिपादादिमान्देहो नात्मा व्यङ्गेऽपि जीवनात् ।
तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामकः ॥१५८॥

देहतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थादिसाक्षिणः ।
स्वत एव स्वतः सिद्धं तद्वैलक्षण्यमात्मनः ॥१५९॥

कुल्यराशिमांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः ।
कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः ॥१६०॥

त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशा-
वहंमतिं मूढजनः करोति ।
विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो
निजस्वरूपं परमार्थभूतम् ॥१६१॥

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धि-
र्देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः ।
विवेकविज्ञानवतो महात्मनो
ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि ॥१६२॥

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे
त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशौ ।
सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे
कुरुष्व शान्तिं परमां भजस्व ॥१६३॥

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां
विद्वानहंतां न जहाति यावत् ।
तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्ता-
प्यस्त्वेष वेदान्तनयान्तदर्शी ॥१६४॥

छायाशरीरे प्रतिबिम्बगात्रे
यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे ।
यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचि-
ज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु ॥१६५॥

देहात्मधीरेव नृणामसद्धियां
जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम् ।

यतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्ना-
त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा ॥१६६॥

कर्मेन्द्रियः पञ्चभिरञ्चितोऽयं
प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः ।
येनात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णः
प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु ॥१६७॥

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो
गन्तागन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः ।
यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं
स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः ॥१६८॥

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्या-
त्कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः ।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयां-
स्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भते यः ॥१६९॥

पञ्चेन्द्रियैः पञ्चभिरेव होतृभि-
र्प्रचीयमानो विषयाज्यधारया ।
जाज्वल्यमानो बहुवासनेन्धनै-
र्मनोमयाग्निर्दहति प्रपञ्चम् ॥१७०॥

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥१७१॥

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या
भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम् ।

तथैव जाग्रत्यपि नो विशेष-
स्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥१७२॥

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने
नैवास्ति किञ्चित्सकलप्रसिद्धेः ।
अतो मनःकल्पित एव पुंसः
संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ॥१७३॥

वायुनानीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते ।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ॥१७४॥

देहादिसर्वविषये परिकल्प्य रागं
बध्नाति तेन पुरुषं पशुवद्गुणेन ।
वैरस्यमत्र विषवत्सु विधाय पश्चा-
देनं विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ॥१७५॥

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तो-
र्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने ।
बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणै-
र्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम् ॥१७६॥

विवेकवैराग्यगुणातिरेकाच्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै ।
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षोस्ताभ्यां दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे ॥१७७॥

मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु ।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ॥१७८॥

मनः प्रसूते विषयानशेषान्स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः ।
शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान् गुणाक्रियाहेतुफलानि नित्यम् ॥१७९॥

असङ्गचिद्रूपममुं विमोह्य देहेन्द्रियप्राणगुणैर्निबध्य ।
अहंममेति भ्रमयत्यजस्रं मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु ॥१८०॥

अध्यासदोषात्पुरुषस्य संसृतिरध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः ।
रजस्तमोदोषवतोऽविवेकिनो जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत् ॥१८१॥

अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम् ॥१८२॥

तन्मनःशोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा ।
विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते ॥१८३॥

मोक्षैकसक्त्या विषयेषु रागं
निर्मूल्य संन्यस्य च सर्वकर्म ।
सच्छ्रद्धया यः श्रवणादिनिष्ठो
रजःस्वभावं स धुनोति बुद्धेः ॥१८४॥

मनोमयो नापि भवेत्परात्मा
ह्याद्यन्तवत्त्वात्परिणामिभावात् ।
दुःखात्मकत्वाद्विषयत्वहेतो-
र्द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः ॥१८५॥

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः ।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम् ॥१८६॥

अनुव्रजच्चित्प्रतिबिम्बशक्तिर्विज्ञानसंज्ञः प्रकृतेर्विकारः ।
ज्ञानक्रियावानहमित्यजस्रं देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम् ॥१८७॥

अनादिकालोऽयमहंस्वभावो जीवः समस्तव्यवहारवोढा ।
करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ॥१८८॥

भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु व्रजन्नायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः ।
अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्था सुखदुःखभोगः ॥१८९॥

देहादिनिष्ठाश्रमधर्मकर्मगुणाभिमानं सततं ममेति ।
विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः ।
अतो भवत्येष उपाधिरस्य यदात्मधीः संसरति भ्रमेण ॥१९०॥

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि स्फुरत्स्वयंज्योतिः ।
कूटस्थः सन्नात्मा कर्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थः ॥१९१॥

स्वयं परिच्छेदमुपेत्य बुद्धेस्तादात्म्यदोषेण परं मृषात्मनः ।
सर्वात्मकः सन्नपि वीक्षते स्वयं स्वतः पृथक्त्वेन मृदो घटानिव ॥१९२॥

उपाधिसम्बन्धवशात्परात्मा ह्युपाधिधर्माननु भाति तद्गुणः ।
अयोविकारानविकारिवह्निवत्सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात् ॥१९३॥

शिष्य उवाच

भ्रमेणाप्यन्यथा वास्तु जीवभावः परात्मनः ।
तदुपाधेरनादित्वान्नानादेर्नाश इष्यते ॥१९४॥

अतोऽस्य जीवभावोऽपि नित्यो भवति संसृतिः ।
न निवर्तेत तन्मोक्षः कथं मे श्रीगुरो वद ॥१९५॥

श्रीगुरुरुवाच

सम्यक्पृष्टं त्वया विद्वन्सावधानेन तच्छृणु ।
प्रामाणिकी न भवति भ्रान्त्या मोहितकल्पना ॥१९६॥

भ्रान्तिं विना त्वसङ्गस्य निष्क्रियस्य निराकृतेः ।
न घटेतार्थसम्बन्धो नभसो नीलतादिवत् ॥१९७॥

स्वस्य द्रष्टुर्निर्गुणस्याक्रियस्य
प्रत्यग्बोधानन्दरूपस्य बुद्धेः ।
भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न सत्यो
मोहापाये नास्त्यवस्तुस्वभावात् ॥१९८॥

यावद् भ्रान्तिस्तावदेवास्य सत्ता मिथ्याज्ञानोज्जृम्भितस्य प्रमादात् ।
रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत् ॥१९९॥

अनादित्वमविद्यायाः कार्यस्यापि तथेष्यते ।
उत्पन्नायां तु विद्यायामाविद्यकमनाद्यपि ॥२००॥

प्रबोधे स्वप्नवत्सर्वं सहमूलं विनश्यति ।
अनाद्यपीदं नोनित्यं प्रागभाव इव स्फुटम् ॥२०१॥

अनादेरपि विध्वंसः प्रागभावस्य वीक्षितः ।
यद्बुद्ध्युपाधिसम्बन्धात्परिकल्पितमात्मनि ॥२०२॥

जीवत्वं न ततोऽन्यत्तु स्वरूपेण विलक्षणम् ।
सम्बन्धः स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरःसरः ॥२०३॥

विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम् ॥२०४॥

तदात्मानात्मनोः सम्यग्विवेकेनैव सिध्यति ।
ततो विवेकः कर्तव्यः प्रत्यगात्मासदात्मनोः ॥२०५॥

जलं पङ्कवदत्यन्तं पङ्कापाये जलं स्फुटम् ।
यथा भाति तथात्मापि दोषाभावे स्फुटप्रभः ॥२०६॥

असन्निवृत्तौ तु सदात्मना स्फुटं प्रतीतिरेतस्य भवेत्प्रतीचः ।
ततो निरासः करणीय एवासदात्मनः साध्वहमादिवस्तुनः ॥२०७॥

अतो नायं परात्मा स्याद्विज्ञानमयशब्दभाक् ।
विकारित्वाज्जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुतः ।
दृश्यत्वाद्व्यभिचारित्वान्नानित्यो नित्य इष्यते ॥२०८॥

आनन्दप्रतिबिम्बचुम्बिततनुर्वृत्तिस्तमोजृम्भिता
स्यादानन्दमयः प्रियादि गुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः ।
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतनामानन्दरूपः स्वयं
भूत्वा नन्दति यत्र साधु तनु भृन्मात्रः प्रयत्नं विना ॥२०९॥

आनन्दमयकोशस्य सुषुप्तौ स्फूर्तिरुत्कटा ।
स्वप्नजागरयोरीषदिष्टसंदर्शनादिना ॥२१०॥

नैवायमानन्दमयः परात्मा सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात् ।
कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया विकारसङ्घातसमाहितत्वात् ॥२११॥

पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः ।
तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते ॥२१२॥

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरञ्जनः ।
सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता ॥२१३॥

शिष्य उवाच

मिथ्यात्वेन निषिद्धेषु कोशेष्वेतेषु पञ्चसु ।
सर्वाभावं विना किञ्चिन्न पश्याम्यत्र हे गुरो ।
विज्ञेयं किमु वस्त्वस्ति स्वात्मनात्र विपश्चिता ॥२१४॥

श्रीगुरुरुवाच

सत्यमुक्तं त्वया विद्वन्निपुणोऽसि विचारणे ।
अहमादिविकारास्ते तदभावोऽयमप्यनु ॥२१५॥

सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते ।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्धया सुसूक्ष्मया ॥२१६॥

तत्साक्षिकं भवेत्तत्तद्यद्यद्येनानुभूयते ।
कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्यते ॥२१७॥

असौ स्वसाक्षिको भावो यतः स्वेनानुभूयते ।
अतः परं स्वयं साक्षात्प्रत्यगात्मा न चेतरः ॥२१८॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरं योऽसौ समुज्जृम्भते
प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तःस्फुरन्नैकधा ।
नानाकारविकारभागिन इमान्पश्यन्नहंधीमुखान्
नित्यानन्दचिदात्मना स्फुरति तं विद्धि स्वमेतं हृदि ॥२१९॥

घटोदके बिम्बितमर्कबिम्बमालोक्य मूढो रविमेव मन्यते ।
तथा चिदाभासमुपाधिसंस्थं भ्रान्त्याहमित्येव जडोऽभिमन्यते ॥२२०॥

घटं जलं तद्गतमर्कबिम्बं विहाय सर्वं विनिरीक्ष्यतेऽर्कः ।
तटस्थ एतत्त्रितयावभासकः स्वयंप्रकाशो विदुषा यथा तथा ॥२२१॥

देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेतं विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम् ।
द्रष्टारमात्मानमखण्डबोधं सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम् ॥२२२॥

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्ममन्तर्बहिः शून्यमनन्यमात्मनः ।
विज्ञाय सम्यङ्निजरूपमेतत्पुमान्विपाप्मा विरजो विमृत्युः ॥२२३॥

विशोक आनन्दघनो विपश्चित्स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कस्यचित् ।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्धमुक्तेर्विना स्वतत्त्वावगमं मुमुक्षोः ॥२२४॥

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम् ।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः ॥२२५॥

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः।
विज्ञातव्यमतः सम्यग्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ॥२२६॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतः सिद्धम्।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति ॥२२७॥

सदिदं परमाद्वैतं स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात्।
न ह्यन्यदस्ति किञ्चित्सम्यक्परमार्थतत्त्वबोधे हि ॥२२८॥

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥२२९॥

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः ॥२३०॥

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते।
अतो घटः कल्पित एव मोहान्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम् ॥२३१॥

सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेव तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥२३२॥

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा।
तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं नाधिष्ठानाद्भिन्नतारोपितस्य ॥२३३॥

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनोऽनन्तत्वहानिर्निगमाप्रमाणता।
असत्यवादित्वमपीशितुः स्यान्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ॥२३४॥

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानीत्येवमेव व्यचीक्लृपत् ॥२३५॥

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम्।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा ॥२३६॥

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः पृथक्प्रतीतिस्तु मृषा गुणाहिवत् ।
आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ताधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥२३७॥

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमतः प्रतीतं ब्रह्मैव तत्तद्रजतं हि शुक्तिः ।
इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यते त्वारोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम् ॥२३८॥

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम् ।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ॥२३९॥

निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम् ।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति ॥२४०॥

ज्ञातृज्ञेयज्ञानशून्यमनन्तं निर्विकल्पम् ।
केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः ॥२४१॥

अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्णं महन्महः ॥२४२॥

तत्त्वं पदाभ्यामभिधीयमानयोर्ब्रह्मात्मनोः शोधितयोर्यदीत्थम् ।
श्रुत्या तयोस्तत्त्वमसीति सम्यगेकत्वमेव प्रतिपाद्यते मुहुः ॥२४३॥

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययोर्निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्मिणोः ।
खद्योतभान्वोरिव राजभृत्ययोः कूपाम्बुराश्योः परमाणुमेर्वोः ॥२४४॥

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः ।
ईशस्य माया महदादिकारणं जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशम् ॥२४५॥

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः सम्यङ्निरासे न परो न जीवः ।
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटकस्तयोरपोहे न भटो न राजा ॥२४६॥

अथात आदेश इति श्रुतिः स्वयं निषेधति ब्रह्मणि कल्पितं द्वयम् ।
श्रुतिप्रमाणानुगृहीतयुक्त्या तयोर्निरासः करणाय एव ॥२४७॥

नेदं नेदं कल्पितत्वान्न सत्यं रज्जौ दृष्टव्यालवत्स्वप्नवच्च ।
इत्थं दृश्यं साभियुक्त्या व्यपोह्य ज्ञेयः पश्चादेकभावस्तयोर्यः ॥२४८॥

ततस्तु तौ लक्षणया सुलक्ष्यौ तयोरखण्डैकरसत्वसिद्धये ।
नालं जहत्या न तथाजहत्या किन्तूभयार्थात्मिकयैव भाव्यम् ॥२४९॥

स देवदत्तोऽयमितीह चैकता विरुद्धधर्मांशमपास्य कथ्यते ।
यथा तथा तत्त्वमसीति वाक्ये विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा ॥२५०॥

संलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनोरखण्डभावः परिचीयते बुधैः ।
एवं महावाक्यशतेन कथ्यते ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभावः ॥२५१॥

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य सिद्धं स्वतो व्योमवदप्रतर्क्यम् ।
यतो मृषामात्रमिदं प्रतीतं जहीहि यत्स्वात्मतया गृहीतम् ।
ब्रह्माहमित्येव विशुद्धबुद्ध्या विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम् ॥२५२॥

मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाभित-
स्तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम् ।
यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥२५३॥

निद्राकल्पितदेशकालविषयज्ञात्रादि सर्वं यथा
मिथ्या तद्वदिहापि जाग्रति जगत्स्वाज्ञानकार्यत्वतः ।
यस्मादेवमिदं शरीरकरणप्राणाहमाद्यप्यसत्
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥२५४॥

जातिनीतिकुलगोत्रदूरगं नामरूपगुणदोषवर्जितम् ।
देशकालविषयातिवर्ति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५५॥

यत्परं सकलवागगोचरं गोचरं विमलबोधचक्षुषः ।
शुद्धचिद्घनमनादिवस्तु यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५६॥

षड्भिरूर्मिभिरयोगि योगिहृद्भावितं न करणैर्विभावितम् ।
बुद्ध्यवेद्यमनवद्यभूति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५७॥

भ्रान्तिकल्पितजगत्कलाश्रयं स्वाश्रयं च सदसद्विलक्षणम् ।
निष्कलं निरुपमानमृद्धिमद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५८॥

जन्मवृद्धिपरिणत्यपक्षयव्याधिनाशनविहीनमव्ययम् ।
विश्वसृष्ट्यवनघातकारणं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५९॥

अस्तभेदमनपास्तलक्षणं निस्तरङ्गजलराशिनिश्चलम् ।
नित्यमुक्तमविभक्तमूर्ति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६०॥

एकमेव सदनेककारणं कारणान्तरनिराशकारणम् ।
कार्यकारणविलक्षणं स्वयं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६१॥

निर्विकल्पकमनल्पमक्षरं यत्क्षराक्षरविलक्षणं परम् ।
नित्यमव्ययसुखं निरञ्जनं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६२॥

यद्विभाति सदनेकधा भ्रमान्नामरूपगुणविक्रियात्मना ।
हेमवत्स्वयमविक्रियं सदा ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६३॥

यच्चकास्त्यनपरं परात्परं प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम् ।
सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६४॥

उक्तमर्थमिममात्मनि स्वयं भावय प्रथितयुक्तिभिर्धिया ।
संशयादिरहितं कराम्बुवत् तेन तत्त्वनिगमो भविष्यति ॥२६५॥

स्वं बोधमात्रं परिशुद्धतत्त्वं विज्ञाय सङ्घे नृपवच्च सैन्ये ।
तदात्मनैवात्मनि सर्वदा स्थितो विलापय ब्रह्मणि दृश्यजातम् ॥२६६॥

बुद्धौ गुहायां सदसद्विलक्षणं ब्रह्मास्ति सत्यं परमद्वितीयम् ।
तदात्मना योऽत्र वसेद् गुहायां पुनर्न तस्याङ्गगुहा प्रवेशः ॥२६७॥

ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनानादिरेषा
कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य संसारहेतुः ।
प्रत्यग्दृष्ट्यात्मनि निवसता सापनेया प्रयत्ना-
न्मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत् ॥२६८॥

अहंममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि ।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया ॥२६९॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम् ।
सोऽहमित्येव सद्वृत्त्यानात्मन्यात्ममतिं जहि ॥२७०॥

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७१॥

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥२७२॥

संसारकारागृहमोक्षमिच्छोरयोमयं पादनिबद्धशृङ्खलम् ।
वदन्ति तज्ज्ञाः पटुवासनात्रयं योऽस्माद्विमुक्तः समुपैति मुक्तिम् ॥२७३॥

जलादिसम्पर्कवशात्प्रभूतदुर्गन्धधूतागरुदिव्यवासना ।
सङ्घर्षणेनैव विभाति सम्यग्विधूयमाने सति बाह्यगन्धे ॥२७४॥

अन्तःश्रितानन्तदुरन्तवासनाधूलीविलिप्ता परमात्मवासना ।
प्रज्ञातिसङ्घर्षणतो विशुद्धा प्रतीयते चन्दनगन्धवत्स्फुटा ॥२७५॥

अनात्मवासनाजालैस्तिरोभूतात्मवासना ।
नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशे भाति स्वयं स्फुटा ॥२७६॥

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मनस्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासनाः ।
निःशेषमोक्षे सति वासनानामात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या ॥२७७॥

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः ।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७८॥

तमो द्वाभ्यां रजः सत्त्वात्सत्त्वं शुद्धेन नश्यति ।
तस्मात्सत्त्वमवष्टभ्य स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७९॥

प्रारब्धं पुष्यति वपुरिति निश्चित्य निश्चलः ।
धैर्यमालम्ब्य यत्नेन स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८०॥

नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्यतद्व्यावृत्तिपूर्वकम् ।
वासनावेगतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८१॥

श्रुत्यायुक्त्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ।
क्वचिदाभासतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८२॥

अनादानविसर्गाभ्यामीषन्नास्ति क्रिया मुनेः ।
तदेकनिष्ठया नित्यं स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८३॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थाद्ब्रह्मात्मैकत्वबोधतः ।
ब्रह्मण्यात्मत्वदार्ढ्याय स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८४॥

अहंभावस्य देहेऽस्मिन्निःशेषविलयावधि ।
सावधानेन युक्तात्मा भवाध्यासापनयं कुरु ॥२८५॥

प्रतीतिर्जीवजगतोः स्वप्नवद्भाति यावता ।
तावन्निरन्तरं विद्वन्स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८६॥

निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरपि विस्मृतेः ।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥२८७॥

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव ॥२८८॥

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि ।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥२८९॥

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना ।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत् ॥२९०॥

चिदात्मनि सदानन्दे देहारूढामहंधियम् ।
निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ॥२९१॥

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२९२॥

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं चिदद्वयानन्दमरूपमक्रियम् ।
तदेत्य मिथ्यावपुरुत्सृजेतच्छैलूषवद्वेषमुपात्तमात्मनः ॥२९३॥

सर्वात्मना दृश्यमिदं मृषैव नैवाहमर्थः क्षणिकत्वदर्शनात् ।
जानाम्यहं सर्वमिति प्रतीतः कुतोऽहमादेः क्षणिकस्य सिध्येत् ॥२९४॥

अहंपदार्थस्त्वहमादिसाक्षी नित्यं सुषुप्तावपि भावदर्शनात् ।
ब्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिः स्वयं तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षणः ॥२९५॥

विकारिणां सर्वविकारवेत्ता नित्योऽविकारो भवितुं समर्हति ।
मनोरथस्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटं पुनः पुनर्दृष्टमसत्त्वमेतयोः ॥२९६॥

अतोऽभिमानं त्यज मांसपिण्डे पिण्डाभिमानिन्यपि बुद्धिकल्पिते ।
कालत्रयाबाध्यमखण्डबोधं ज्ञात्वा स्वमात्मानमुपेहि शान्तिम् ॥२९७॥

त्यजाभिमानं कुलगोत्रनामरूपाश्रमेष्वार्द्रशवाश्रितेषु ।
लिङ्गस्य धर्मानपि कर्तृतादींस्त्यक्त्वा भवाखण्डसुखस्वरूपः ॥२९८॥

सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः ।
तेषामेकं मूलं प्रथमविरो भवत्यहङ्कारः ॥२९९॥

यावत्स्यात्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहङ्कारेण दुरात्मना ।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा ॥३००॥

अहङ्कारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः ॥३०१॥

यो वा पुरे सोऽहमिति प्रतीतो बुद्ध्या विक्लृप्तस्तमसातिमूढया ।
तस्यैव निःशेषतया विनाशे ब्रह्मात्मभावः प्रतिबन्धशून्यः ॥३०२॥

ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताहङ्कारघोराहिना
संवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः ।
विज्ञानाख्यमहासिना द्युतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं
निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः ॥३०३॥

यावद्वा यत्किञ्चिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे ।
कथमारोग्याय भवेत्तद्वदहन्तापि योगिनो मुक्त्यै ॥३०४॥

अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्पसंहृत्या ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकादयमहमस्मीति विन्दते तत्त्वम् ॥३०५॥

अहङ्कर्तर्यस्मिन्नहमिति मतिं मुञ्च सहसा
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुषि ।
यदध्यासात्प्राप्ता जनिमृतिजरादुःखबहुला
प्रतीचश्चिन्मूर्तेस्तव सुखतनोः संसृतिरियम् ॥३०६॥

सदेकरूपस्य चिदात्मनो विभोरानन्दमूर्तेरनवद्यकीर्तेः ।
नैवान्यथा क्वाप्यविकारिणस्ते विनाहमध्यासममुष्य संसृतिः ॥३०७॥

तस्मादहङ्कारमिमं स्वशत्रुं
भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम् ।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं
भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ॥३०८॥

ततोऽहमादेर्विनिवर्त्य वृत्तिं
सन्त्यक्तरागः परमार्थलाभात् ।
तूष्णीं समास्स्वात्मसुखानुभूत्या
पूर्णात्मना ब्रह्मणि निर्विकल्पः ॥३०९॥

समूलकृत्तोऽपि महानहं पुन-
र्व्युल्लेखितः स्याद्यदि चेतसा क्षणम् ।
सञ्जीव्य विक्षेपशतं करोति
नभस्वता प्रावृषि वारिदो यथा ॥३१०॥

निगृह्य शत्रोरहमोऽवकाशः
क्वचिन्न देयो विषयानुचिन्त्या ।
स एव सञ्जीवनहेतुरस्य
प्रक्षीणजम्बीरतरोरिवाम्बु ॥३११॥

देहात्मना संस्थित एव कामी
विलक्षणः कामयिता कथं स्यात् ।
अतोऽर्थसन्धानपरत्वमेव
भेदप्रसक्त्या भवबन्धहेतुः ॥३१२॥

कार्यप्रवर्धनाद्बीजप्रवृद्धिः परिदृश्यते ।
कार्यनाशाद्बीजनाशस्तस्मात्कार्यं निरोधयेत् ॥३१३॥

वासनावृद्धितः कार्यं कार्यवृद्ध्या च वासना ।
वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते ॥३१४॥

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद्द्वयं प्रदहेद्यतिः ।
वासनावृद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः ॥३१५॥

ताभ्यां प्रवर्धमाना स सूते संसृतिमात्मनः ।
त्रयाणां च क्षयोपायः सर्वावस्थासु सर्वदा ॥३१६॥

सर्वत्र सर्वतः सर्वं ब्रह्ममात्रावलोकनम् ।
सद्भाववासनादार्ढ्यात्तत्त्रयं लयमश्नुते ॥३१७॥

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः ।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥३१८॥

सद्वासनास्फूर्तिविजृम्भणे सति
ह्यसौ विलीना त्वहमादिवासना ।
अतिप्रकृष्टाप्यरुणप्रभायां
विलीयते साधु यथा तमिस्रा ॥३१९॥

तमस्तमःकार्यमनर्थजालं
न दृश्यते सत्युदिते दिनेशे ।
तथाद्वयानन्दरसानुभूतौ
नैवास्ति बन्धो न च दुःखगन्धः ॥३२०॥

दृश्यं प्रतीतं प्रविलापयन्स्वयं
सन्मात्रमानन्दघनं विभावयन् ।
समाहितः सन्बहिरन्तरं वा
कालं नयेथाः सति कर्मबन्धे ॥३२१॥

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः ॥३२२॥

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः ।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ॥३२३॥

विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम् ।।३२४।।

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम् ।।३२५।।

लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्-
बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः
सोपानपङ्क्तौ पतितो यथा तथा ।।३२६।।

विषयेष्वाविशच्चेतः सङ्कल्पयति तद्गुणान्।
सम्यक्सङ्कल्पनात्कामः कामात्पुंसः प्रवर्तनम् ।।३२७।।

ततः स्वरूपविभ्रंशो विभ्रष्टस्तु पतत्यधः।
पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोह ईक्ष्यते।
सङ्कल्पं वर्जयेत्तस्मात्सर्वानर्थस्य कारणम् ।।३२८।।

अतः प्रमादान्न परोऽस्ति मृत्यु-
र्विवेकिनो ब्रह्मविदः समाधौ।
समाहितः सिद्धिमुपैति सम्यक्
समाहितात्मा भव सावधानः ।।३२९।।

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवलः।
यत्किञ्चित्पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजुः श्रुतिः ।।३३०।।

यदा कदा वापि विपश्चिदेष
ब्रह्मण्यनन्तेऽप्यणुमात्रभेदम् ।
पश्यत्यथामुष्य भयं तदेव
यद्वीक्षितं भिन्नतया प्रमादात् ।।३३१।।

श्रुतिस्मृतिन्यायशतैर्निषिद्धे दृश्येऽत्र यः स्वात्ममतिं करोति ।
उपैति दुःखोपरि दुःखजातं निषिद्धकर्ता स मलिम्लुचो यथा ॥३३२॥

सत्याभिसन्धानरतो विमुक्तो महत्त्वमात्मीयमुपैति नित्यम् ।
मिथ्याभिसन्धानरतस्तु नश्येद् दृष्टं तदेतद्यदचोरचोरयोः ॥३३३॥

यतिरसदनुसन्धिं बन्धहेतुं विहाय
स्वयमयमहमस्मीत्यात्मदृष्ट्यैव तिष्ठेत् ।
सुखयति ननु निष्ठा ब्रह्मणि स्वानुभूत्या
हरति परमविद्याकार्यदुःखं प्रतीतम् ॥३३४॥

बाह्यानुसन्धिः परिवर्धयेत्फलं दुर्वासनामेव ततस्ततोऽधिकाम् ।
ज्ञात्वा विवेकैः परिहृत्य बाह्यं स्वात्मानुसन्धिं विदधीत नित्यम् ॥३३५॥

बाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता मनःप्रसादे परमात्मदर्शनम् ।
तस्मिन्सुदृष्टे भवबन्धनाशो बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः ॥३३६॥

कः पण्डितः सन्सदसद्विवेकी श्रुतिप्रमाणः परमार्थदर्शी ।
जानन्हि कुर्यादसतोऽवलम्बं स्वपातहेतोः शिशुवन्मुमुक्षुः ॥ ३३७॥

देहादिसंसक्तिमतो न मुक्तिर्मुक्तस्य देहाद्यभिमत्यभावः ।
सुप्तस्य नो जागरणं न जाग्रतः स्वप्नस्तयोर्भिन्नगुणाश्रयत्वात् ॥३३८॥

अन्तर्बहिः स्वं स्थिरजङ्गमेषु ज्ञानात्मनाधारतया विलोक्य ।
त्यक्ताखिलोपाधिरखण्डरूपः पूर्णात्मना यः स्थित एष मुक्तः ॥३३९॥

सर्वात्मना बन्धविमुक्तिहेतुः सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित् ।
दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया ॥३४०॥

दृश्यस्याग्रहणं कथं नु घटते देहात्मना तिष्ठतो
बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनसस्तत्तत्क्रियां कुर्वतः ।
संन्यस्ताखिलधर्मकर्मविषयैर्नित्यात्मनिष्ठापरै-
स्तत्त्वज्ञैः करणीयमात्मनि सदानन्देच्छुभिर्यत्नतः ॥३४१॥

सर्वात्म्यसिद्धये भिक्षोः कृतश्रवणकर्मणः ।
समाधिं विदधात्येषा शान्तो दान्त इति श्रुतिः ॥३४२॥

आरूढशक्तेरहमो विनाशः कर्तुं न शक्यः सहसापि पण्डितैः ।
ये निर्विकल्पाख्यसमाधिनिश्चलास्तानन्तरानन्तभवा हि वासनाः ॥३४३॥

अहंबुद्ध्यैव मोहिन्या योजयित्वावृतेर्बलात् ।
विक्षेपशक्तिः पुरुषं विक्षेपयति तद्गुणैः ॥३४४॥

विक्षेपशक्तिविजयो विषमो विधातुं
निःशेषमावरणशक्तिनिवृत्त्यभावे ।
दृग्दृश्ययोः स्फुटपयोजलवद्विभागे
नश्येत्तदावरणमात्मनि च स्वभावात् ।
निःसंशयेन भवति प्रतिबन्धशून्यो
विक्षेपणं न हि तदा यदि चेन्मृषार्थे ॥३४५॥

सम्यग्विवेकः स्फुटबोधजन्योविभज्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्वम् ।
छिनत्ति मायाकृतमोहबन्धं यस्माद्विमुक्तस्य पुनर्न संसृतिः ॥३४६॥

परावरैकत्वविवेकवह्निर्दहत्यविद्यागहनं ह्यशेषम् ।
किं स्यात्पुनः संसरणस्य बीजमद्वैतभावं समुपेयुषोऽस्य ॥३४७॥

आवरणस्य निवृत्तिर्भवति च सम्यक्पदार्थदर्शनतः ।
मिथ्याज्ञानविनाशस्तद्वद्विक्षेपजनितदुःखनिवृत्तिः ॥३४८॥

एतत्त्रितयं दृष्टं सम्यग्रज्जुस्वरूपविज्ञानात् ।
तस्माद्वस्तु सतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ॥३४९॥

अयोऽग्नियोगादिव सत्समन्वयान्मात्रादिरूपेण विजृम्भते धीः ।
तत्कार्यमेतद्द्वितयं यतो मृषा दृष्टं भ्रमस्वप्नमनोरथेषु ॥३५०॥

ततो विकारा प्रकृतेरहंमुखा देहावसाना विषयाश्च सर्वे ।
क्षणोऽन्यथाभावितया ह्यमीषामसत्त्वमात्मा तु कदापि नान्यथा ॥३५१॥

निरद्वयाखण्डचिदेकरूपो बुद्ध्यादिसाक्षी सदसद्विलक्षणः ।
अहंपदप्रत्ययलक्षितार्थः प्रत्यक्सदानन्दघनः परात्मा ॥३५२॥
इत्थं विपश्चित्सदसद्विभज्य निश्चित्य तत्त्वं निजबोधदृष्ट्या ।
ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डबोधं तेभ्यो विमुक्तः स्वयमेव शाम्यति ॥३५३॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा
समाधिनाविकल्पेन यदाद्वैतात्मदर्शनम् ॥३५४

त्वमहमिदमितीयं कल्पना बुद्धिदोषात्
प्रभवति परमात्मन्यद्वये निर्विशेषे ।
प्रविलसति समाधावस्य सर्वो विकल्पो
विलयनमुपगच्छेद्वस्तुतत्त्वावधृत्या ॥३५५॥

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधिं
कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम् ।
तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान्
ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः ॥३५६॥

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं श्रोत्रादि चेतः स्वमहं चिदात्मनि ।
त एव मुक्ता भवपाशबन्धैर्नान्ये तु पारोक्ष्य कथाभिधायिनः ॥३५७॥

उपाधिभेदात्स्वयमेव भिद्यते चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः ।
तस्मादुपाधेर्विलयाय विद्वान्वसेत्सदाकल्पसमाधिनिष्ठया ॥३५८॥

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।
कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥३५९॥

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको ध्यायन्यथालिं ह्यलिभावमृच्छति ।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया ॥३६०॥

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति ।
समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ॥३६१॥

यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम् ॥३६२॥

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं पक्वं मनो ब्रह्मणि लीयते यदा ।
तदा समाधिः स विकल्पवर्जितः स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः ॥३६३॥

समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः ।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥३६४॥

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि ।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥३६५॥

निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥३६६॥

अतः समाधत्स्व यतेन्द्रियः सदा निरन्तरं शान्तमनाः प्रतीचि ।
विध्वंसय ध्वान्तमनाद्यविद्यया कृतं सदेकत्वविलोकनेन ॥३६७॥

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः ।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥३६८॥

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः
संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना ।
तेनानन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी सदा योगिन-
स्तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नान्मुनेः ॥३६९॥

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणी ।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे विलाप्य शान्तिं परमां भजस्व ॥३७०॥

देहप्राणेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः ।
यैर्यैर्वृत्तेः समायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ॥३७१॥

तन्निवृत्त्या मुनेः सम्यक्सर्वोपरमणं सुखम् ।
संदृश्यते सदानन्दरसानुभवविप्लवः ॥३७२॥

अन्तस्त्यागो बहिस्त्यागो विरक्तस्यैव युज्यते ।
त्यजत्यन्तर्बहिःसङ्गं विरक्तस्तु मुमुक्षया ॥३७३॥

बहिस्तु विषयैः सङ्गं तथान्तरहमादिभिः ।
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठितः ॥३७४॥

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत् पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति ॥३७५॥

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥३७६॥

वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मन-
स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितं स्वाराज्यसाम्राज्यधुक् ।
एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं
सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे ॥३७७॥

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्योः सृति-
स्त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिं मुञ्चातिदूरात्क्रियाः ।

देहादावसति त्यजात्मधिषणां प्रज्ञां कुरुष्वात्मनि
त्वंद्रष्टास्यमलोऽसि निर्द्वयपरब्रह्मासि यद्वस्तुतः ॥३७८॥

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियं
स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम् ।

ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्त्यानिशं
ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः ॥३७९॥

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥३८०॥

एष स्वयंज्योतिरशेषसाक्षी विज्ञानकोशे विलसत्यजस्रम् ।
लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षणमखण्डवृत्त्यात्मतयानुभावय ॥३८१॥

एतमच्छिन्नया वृत्त्या प्रत्ययान्तरशून्यया ।
उल्लेखयन्विजानीयात्स्वस्वरूपतया स्फुटम् ॥३८२॥

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु सन्त्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत् ॥३८३॥

विशुद्धमन्तःकरणं स्वरूपे निवेश्य साक्षिण्यवबोधमात्रे ।
शनैः शनैर्निश्चलतामुपानयन् पूर्णं स्वमेवानुविलोकयेत्ततः ॥३८४॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादिभिः
स्वाज्ञानक्लृप्तैरखिलैरुपाधिभिः ।
विमुक्तमात्मानमखण्डरूपं
पूर्णं महाकाशमिवावलोकयेत् ॥३८५॥

घटकलशकुशूलसूचिमुख्यै-
र्गगनमुपाधिशतैर्विमुक्तमेकम् ।
भवति न विविधं तथैव शुद्धं
परमहमादिविमुक्तमेकमेव ॥३८६॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः ।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम् ॥ ३८७॥

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं यद्विवेके
तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम् ।
भ्रान्तेर्नाशे भ्रान्तिदृष्टाहितत्त्वं
रज्जुस्तद्विश्वमात्मस्वरूपम् ॥३८८॥

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयंमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥३८९॥

अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयं च
स्वयं परस्तात्स्वयमेव पश्चात् ।
स्वयं ह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां
तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ॥३९०॥

तरङ्गफेनभ्रमबुद्बुदादि
सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा ।
चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत्
सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम् ॥३९१॥

सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयोः
सतोऽन्यन्नास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवतः ।
पृथक् किं मृत्स्नायाः कलशघटकुम्भाद्यवगतं
वदत्येष भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया ॥३९२॥

क्रियासमभिहारेण यत्र नान्यदिति श्रुतिः ।
ब्रवीति द्वैतराहित्यं मिथ्याध्यासनिवृत्तये ॥३९३॥

आकाशवन्निर्मलनिर्विकल्प-
निःसीमनिष्पन्दननिर्विकारम् ।
अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमद्वयं
स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम् ॥३९४॥

वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयं
ब्रह्मैतज्जगदाततं नु सकलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतेः ।
ब्रह्मैवाहमिति प्रबुद्धमतयः सन्त्यक्तबाह्याः स्फुटं
ब्रह्मीभूय वसन्ति सन्ततचिदानन्दात्मनैव ध्रुवम् ॥३९५॥

जहि मलमयकोशेऽहंधियोत्थापिताशां
प्रसभमनिलकल्पे लिङ्गदेहेऽपि पश्चात् ।
निगमगदितकीर्तिं नित्यमानन्दमूर्तिं
स्वयमिति परिचीय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ ॥३९६॥

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः ।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ॥३९७॥

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः ।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥३९८॥

समाहितायां सति चित्तवृत्तौ
परात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
न दृश्यते कश्चिदयं विकल्पः
प्रजल्पमात्रः परिशिष्यते ततः ॥३९९॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४००॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभावशून्यैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४०१॥

कल्पार्णव इवात्यन्तपरिपूर्णैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४०२॥

तेजसीव तमो यत्र प्रलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४०३॥

एकात्मके परे तत्त्वे भेदवार्ता कथं भवेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ॥४०४॥

न ह्यस्ति विश्वं परतत्त्वबोधात्
सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
कालत्रये नाप्यहिरीक्षितो गुणे
न ह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम् ॥४०५॥

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।
इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते ॥४०६॥

अनन्यत्वमधिष्ठानादारोप्यस्य निरीक्षितम् ।
पण्डितै रज्जुसर्पादौ विकल्पो भ्रान्तिजीवनः ॥४०७॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावेन कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥४०८॥

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् ।
निरवधिगगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥४०९॥

प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावं
समरसमसमानं मानसम्बन्धदूरम् ।
निगमवचनसिद्धं नित्यमस्मत्प्रसिद्धं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्मपूर्णं समाधौ ॥४१०॥

अजरममरमस्ताभासवस्तुस्वरूपं
स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम् ।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥४११॥

समाहितान्तःकरणः स्वरूपे विलोकयात्मानमखण्डवैभवम् ।
विच्छिन्धि बन्धं भवगन्धगन्धितं यत्नेन पुंस्त्वं सफलीकुरुष्व ॥४१२॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
भावयात्मानमात्मस्थं न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥४१३॥

छायेव पुंसः परिदृश्यमान-
माभासरूपेण फलानुभूत्या ।
शरीरमाराच्छववन्निरस्तं
पुनर्न सन्धत्त इदं महात्मा ॥४१४॥

सततविमलबोधानन्दरूपं समेत्य
त्यज जडमलरूपोपाधिमेतं सुदूरे ।
अथ पुनरपि नैष स्मर्यतां वान्तवस्तु
स्मरणविषयभूतं कल्पते कुत्सनाय ॥४१५॥

समूलमेतत्परिदह्य वह्नौ
सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
ततः स्वयं नित्यविशुद्धबोधा-
नन्दात्मना तिष्ठति विद्वरिष्ठः ॥४१६॥

प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं
प्रयातु वा तिष्ठतु गोरिव स्रक् ।
न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्ता-
नन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः ॥४१७॥

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः ।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति तत्त्ववित् ॥४१८॥

संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः ।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥४१९॥

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥४२०॥

यद्युत्तरोत्तराभावः पूर्वपूर्वं तु निष्फलम् ।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः ॥४२१॥

दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यायाः प्रस्तुतं फलम् ।
यत्कृतं भ्रान्तिवेलायां नाना कर्म जुगुप्सितम् ।
पश्चान्नरो विवेकेन तत्कथं कर्तुमर्हति ॥४२२॥

विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः
प्रवृत्तिरज्ञानफलं तदीक्षितम् ।
तज्ज्ञाज्ञयोर्यन्मृगतृष्णिकादौ
नो चेद्विदो दृष्टफलं किमस्मात् ॥४२३॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्विनाशो यद्यशेषतः ।
अनिच्छोर्विषयः किन्नु प्रवृत्तेः करणं स्वतः ॥४२४॥

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य परोऽवधिः ।
अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमोऽवधिः ।
लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा ॥४२५॥

ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्तबाह्यार्थधी-
रन्यावेदितभोग्यभोगकलनो निद्रालुवद्बालवत् ।
स्वप्नालोकितलोकवज्जगदिदं पश्यन्क्वचिल्लब्धधी-
रास्ते कश्चिदनन्तपुण्यफलभुग्धन्यः स मान्यो भुवि ॥४२६॥

स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते ।
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः ॥४२७॥

ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ॥
सुस्थिता सा भवेद्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥४२८॥

यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः ।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४२९॥

लीनधीरपि जागर्ति यो जाग्रद्धर्मवर्जितः ।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३०॥

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चिन्तः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३१॥

वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिञ्छायावदनुवर्तिनि ।
अहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३२॥

अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३३॥

गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन्स्वभावेन विलक्षणे ।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३४॥

इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयात्मनि ।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३५॥

ब्रह्मानन्दरसास्वादासक्तचित्ततया यतेः ।
अन्तर्बहिरविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३६॥

देहेन्द्रियादौ कर्तव्ये ममाहंभाववर्जितः ।
औदासीन्येन यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥४३७॥

विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभावः श्रुतेर्बलात् ।
भवबन्धविनिर्मुक्तः स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥४३८॥

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके ।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३९॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः ।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४०॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४१॥

यत्र प्रविष्टा विषयाः परेरिता नदीप्रवाहा इव वारिराशौ ।
लिनन्ति सन्मात्रतया न विक्रियामुत्पादयन्त्येष यतिर्विमुक्तः ॥४४२॥

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः ।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥४४३॥

प्राचीनवासनावेगादसौ संसरतीति चेत् ।
न सदेकत्वविज्ञानान्मन्दीभवति वासना ॥४४४॥

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि ।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः ॥४४५॥

निदिध्यासनशीलस्य बाह्यप्रत्यय ईक्ष्यते ।
ब्रवीति श्रुतिरेतस्य प्रारब्धं फलदर्शनात् ॥४४६॥

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते ।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ॥४४७॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम् ।
सञ्चितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥४४८॥

यत्कृतं स्वप्नवेलायां पुण्यं वा पापमुल्बणम् ।
सुप्तोत्थितस्य किं तत्स्यात्स्वर्गाय नरकाय वा ॥४४९॥

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा ।
न श्लिष्यते यतिः किञ्चित्कदाचिद्भाविकर्मभिः ॥४५०॥

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते ।
तथात्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते ॥४५१॥

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति ।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ॥४५२॥

व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥४५३॥

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्सञ्चितागामिनाम्
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतथा ये सर्वदा संस्थिता-
स्तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव ते निर्गुणम् ॥४५४॥

उपाधितादात्म्यविहीनकेवलब्रह्मात्मनैवात्मनि तिष्ठतो मुनेः।
प्रारब्धसद्भावकथा न युक्ता स्वप्नार्थसम्बन्धकथेव जाग्रतः ॥४५५॥

न हि प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे देहोपयोगिन्यपि च प्रपञ्चे।
करोत्यहन्तां ममतामिदन्तां किन्तु स्वयं तिष्ठति जागरेण ॥४५६॥

न तस्य मिथ्यार्थसमर्थनेच्छा न सङ्ग्रहस्तज्जगतोऽपि दृष्टः।
तत्रानुवृत्तिर्यदि चेन्मृषार्थे न निद्रया मुक्त इतीष्यते ध्रुवम् ॥४५७॥

तद्वत्परे ब्रह्मणि वर्तमानः सदात्मना तिष्ठति नान्यदीक्षते।
स्मृतिर्यथा स्वप्नविलोकितार्थे तथा विदः प्राशनमोचनादौ ॥४५८॥

कर्मणा निर्मितो देहः प्रारब्धं तस्य कल्प्यताम्।
नानादेरात्मनो युक्तं नैवात्मा कर्मनिर्मितः ॥४५९॥

अजो नित्य इति ब्रूते श्रुतिरेषा त्वमोघवाक्।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥४६०॥

प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥४६१॥

शरीरस्यापि प्रारब्धकल्पना भ्रान्तिरेव हि।
अध्यस्तस्य कुतः सत्त्वमसत्त्वस्य कुतो जनिः।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ॥४६२॥

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान्।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ॥४६३॥

न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ।
यतः श्रुतेरभिप्रायः परमार्थैकगोचरः ॥४६४॥

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६५॥

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६६॥

प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६७॥

अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६८॥

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६९॥

अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४७०॥

सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४७१॥

निरस्तरागा निरपास्तभोगाः शान्ताः सुदान्ता यतयो महान्तः ।
विज्ञाय तत्त्वं परमेतदन्ते प्राप्ताः परां निर्वृतिमात्मयोगात् ॥४७२॥

भवानपीदं परतत्त्वमात्मनः स्वरूपमानन्दघनं विचार्य ।
विधूय मोहं स्वमनःप्रकल्पितं मुक्तः कृतार्थो भवतु प्रबुद्धः ॥४७३॥

समाधिना साधु विनिश्चलात्मना पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोधचक्षुषा ।
निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चेच्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्प्यते ॥४७४॥

स्वस्याविद्याबन्धसम्बन्धमोक्षात्सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ ।
शास्त्रं युक्तिर्देशिकोक्तिः प्रमाणं चान्तः सिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम् ॥४७५॥

बन्धो मोक्षश्च तृप्तिश्च चिन्तारोग्यक्षुधादयः ।
स्वेनैव वेद्या यज्ज्ञानं परेषामानुमानिकम् ॥४७६॥

तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा ।
प्रज्ञयैव तरेद्विद्वानीश्वरानुगृहीतया ॥४७७॥

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
संसिद्धः ससुखं तिष्ठेन्निर्विकल्पात्मनात्मनि ॥४७८॥

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च ।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ॥४७९॥

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणात्परमवगम्य सतत्त्वमात्मयुक्त्या ।
प्रशमितकरणः समाहितात्मा क्वचिदचलाकृतिरात्मनिष्ठितोऽभूत् ॥४८०॥

कञ्चित्कालं समाधाय परे ब्रह्मणि मानसम् ।
व्युत्थाय परमानन्दादिदं वचनमब्रवीत् ॥४८१॥

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्तिर्ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या ।
इदं न जानेऽप्यनिदं न जाने किं वा कियद्वा सुखमस्त्यपारम् ॥४८२॥

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते
स्वानन्दामृतपूरपूरितपरब्रह्माम्बुधेर्वैभवम् ।
अम्भोराशिविशीर्णवार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो
यस्यांशांशलवे विलीनमधुनानन्दात्मना निर्वृतम् ॥४८३॥

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥४८४॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे ॥४८५॥

न किञ्चिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ॥४८६॥

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय ।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे भूम्ने सदापारदयाम्बुधाम्ने ॥४८७॥

यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजश्रमः
प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ॥४८८॥

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं तदनुग्रहात् ॥४८९॥

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमभङ्गुरः ।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहमतान्तोऽहं चिरन्तनः ॥४९०॥

अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमक्रियः ।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ॥४९१॥

द्रष्टुः श्रोतुर्वक्तुः कर्तुर्भोक्तुर्विभिन्न एवाहम् ।
नित्यनिरन्तरनिष्क्रियनिःसीमासङ्गपूर्णबोधात्मा ॥४९२॥

नाहमिदं नाहमदोऽप्युभयोरवभासकं परं शुद्धम् ।
बाह्याभ्यन्तरशून्यं पूर्णं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ॥४९३॥

निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इतिकल्पनादूरम् ।
नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ॥४९४॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः ।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥४९ ॥

सर्वेषु भूतेष्वहमेव संस्थितो ज्ञानात्मनान्तर्बहिराश्रयः सन् ।
भोक्ता च भोग्यं स्वयमेव सर्वं यद्यत्पृथग्दृष्टमिदन्तया पुरा ॥४९६॥

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥४९७॥

स्थूलादिभावा मयि कल्पिता भ्रमादारोपिता नु स्फुरणेन लोकैः ।
काले यथा कल्पकवत्सरायनर्त्वादयो निष्कलनिर्विकल्पे ॥४९८॥

आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्कदापि मूढैर्मतिदोषदूषितैः ।
नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं मरीचिकावारिमहाप्रवाहः ॥४९९॥

आकाशवल्लेपविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।
आहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ॥५००॥

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः ।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥५०१॥

उपाधिरायाति स एव गच्छति स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते ।
स एव जीर्यन्म्रियते सदाहं कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थितः ॥५०२॥

न मे प्रवृत्तिर्न च मे निवृत्तिः सदैकरूपस्य निरंशकस्य ।
एकात्मको यो निबिडो निरन्तरो व्योमेव पूर्णः स कथं नु चेष्टते ॥५०३॥

पुण्यानि पापानि निरिन्द्रियस्य निश्चेतसो निर्विकृतेर्निराकृतेः ।
कुतो ममाखण्डसुखानुभूतेर्ब्रूते ह्यनन्वागतमित्यपि श्रुतिः ॥५०४॥

छायया स्पृष्टमुष्णं वा शीतं वा सुष्ठु दुष्ठु वा ।
न स्पृशत्येव यत्किञ्चित्पुरुषं तद्विलक्षणम् ॥५०५॥

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ॥५०६॥

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो वह्नेर्यथा वायसि दाहकत्वम् ।
रज्जोर्यथारोपितवस्तुसङ्गस्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ॥५०७॥

कर्तापि वा कारयितापि नाहं भोक्तापि वा भोजयितापि नाहम् ।
द्रष्टापि वा दर्शयितापि नाहं सोऽहं स्वयंज्योतिरनीदृगात्मा ॥५०८॥

चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्यमौपाधिकं मूढधियो नयन्ति ।
स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं कर्तास्मि भोक्तास्मि हतोऽस्मि हेति ॥५०९॥

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥५१०॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वखलत्वमत्तताजडत्वबद्धत्वविमुक्तादयः ।
बुद्धेर्विकल्पा न तु सन्ति वस्तुतः स्वस्मिन्परे ब्रह्मणि केवलेऽद्वये ॥५११॥

सन्तु विकाराः प्रकृतेर्दशधा शतधा सहस्रधा वापि ।
किं मेऽसङ्गचितेस्तैर्न घनः क्वचिदम्बरं स्पृशति ॥५१२॥

अव्यक्तादिस्थूलपर्यन्तमेतद्विश्वं यत्राभासमात्रं प्रतीतम् ।
व्योमप्रख्यं सूक्ष्ममाद्यन्तहीनं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥५१३॥

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं सर्वाकारं सर्वगं सर्वशून्यम् ।
नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥५१४॥

यत्प्रत्यस्ताशेषमायाविशेषं प्रत्यग्रूपं प्रत्ययागम्यमानम् ।
सत्यज्ञानानन्तमानन्दरूपं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥५१५॥

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥५१६॥

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहमानन्दोऽहं निरन्तरः ॥५१७॥

स्वाराज्यसाम्राज्यविभूतिरेषा भवत्कृपाश्रीमहिमप्रसादात् ।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु ॥५१८॥

महास्वप्ने मायाकृतजनिजरामृत्युगहने
भ्रमन्तं क्लिश्यन्तं बहुलतरतापैरनुदिनम् ।
अहङ्कारव्याघ्रव्यथितमिममत्यन्तकृपया
प्रबोध्य प्रस्वापात्परमवितवान्मामसि गुरो ॥५१९॥

नमस्तस्मै सदेकस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ।
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते ॥५२०॥

इति नतमवलोक्य शिष्यवर्यं समधिगतात्मसुखं प्रबुद्धतत्त्वम् ।
प्रमुदितहृदयः स देशिकेन्द्रः पुनरिदमाह वचः परं महात्मा ॥५२१॥

ब्रह्मप्रत्ययसन्ततिर्जगदतो ब्रह्मैव सत्सर्वतः
पश्याध्यात्मदृशा प्रशान्तमनसा सर्वास्ववस्थास्वपि ।
रूपादन्यदवेक्षितुं किमभितश्चक्षुष्मतां विद्यते
तद्वत् ब्रह्मविदः सतः किमपरं बुद्धेर्विहारास्पदम् ॥५२२॥

कस्तां परानन्दरसानुभूतिमुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् ।
चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत् ॥५२३॥

असत्पदार्थानुभवे न किञ्चिन्न ह्यस्ति तृप्तिर्न च दुःखहानिः ।
तदद्वयानन्दरसानुभूत्या तृप्तः सुखं तिष्ठ सदात्मनिष्ठया ॥५२४॥

स्वयमेव सर्वथा पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानः कालं नय महामते ॥५२५॥

अखण्डबोधात्मनि निर्विकल्पे विकल्पनं व्योम्नि पुरः प्रकल्पनम् ।
तदद्वयानन्दमयात्मना सदा शान्तिं परामेत्य भजस्व मौनम् ॥५२६॥

तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिर्बुद्धेरसत्कल्पविकल्पहेतोः ।
ब्रह्मात्मना ब्रह्मविदो महात्मनो यत्राद्वयानन्दसुखं निरन्तरम् ॥५२७॥

नास्ति निर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम् ।
विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः ॥५२८॥

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥५२९॥

न देशकालासनदिग्यमादिलक्ष्याद्यपेक्षा प्रतिबद्धवृत्तेः ।
संसिद्धतत्त्वस्य महात्मनोऽस्ति स्ववेदने का नियमाद्यपेक्षा ॥५३०॥

घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः को न्वपेक्ष्यते ।
विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः ॥५३१॥

अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते ।
न देशं नापि वा कालं न शुद्धिं वाप्यपेक्षते ॥५३२॥

देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम् ।
तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ॥५३३॥

भानुनेव जगत्सर्वं भासते यस्य तेजसा ।
अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम् ॥५३४॥

वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि ।
येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत् ॥५३५॥

एष स्वयंज्योतिरनन्तशक्तिरात्माप्रमेयः सकलानुभूतिः ।
यमेव विज्ञाय विमुक्तबन्धो जयत्ययं ब्रह्मविदुत्तमोत्तमः ॥५३६॥

न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते न सज्जते नापि विरज्यते च ।
स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति स्वयं निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः ॥५३७॥

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ।
तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ॥५३८॥

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्षमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने ।
वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही
सञ्चारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडा परे ब्रह्मणि ॥५३९॥

विमानमालम्ब्य शरीरमेतद् भुनक्त्यशेषान्विषयानुपस्थितान् ।
परेच्छया बालवदात्मवेत्ता योऽव्यक्तलिङ्गोऽननुषक्तबाह्यः ॥५४०॥

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः ।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम् ॥५४१॥

कामान्नी कामरूपी संश्चरत्येकचरो मुनिः ।
स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ॥५४२॥

क्वचिन्मूढो विद्वान्क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः ।

क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥५४३॥

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः।
नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः ॥५४४॥

अपि कुर्वन्नकुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि।
शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ॥५४५॥

अशरीरं सदा सन्तमिमं ब्रह्मविदं क्वचित्।
प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ॥५४६॥

स्थूलादिसम्बन्धवतोऽभिमानिनः सुखं च दुःखं च शुभाशुभे च।
विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः कुतः शुभं वाप्यशुभं फलं वा ॥५४७॥

तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः।
ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ॥५४८॥

तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम्।
पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात् ॥५४९॥

अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति।
इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किञ्चित्प्राणवायुना ॥५५०॥

स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम्।
दैवेन नीयते देहो यथाकालोपभुक्तिषु ॥५५१॥

प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभिः
संसारिवच्चरति भुक्तिषु मुक्तदेहः।
सिद्धः स्वयं वसति साक्षिवदत्र तूष्णीं
चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्यः ॥५५२॥

नैवेन्द्रियाणि विषयेषु नियुङ्क्त एष
नैवोपयुङ्क्त उपदर्शनलक्षणस्थः।

नैव क्रियाफलमपीषदपेक्षते स
स्वानन्दसान्द्ररसपानसुमत्तचित्तः ॥५५३॥
लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना ।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥५५४॥
जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः ।
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ॥५५५॥
शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ।
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ॥५५६॥
यत्र क्वापि विशीर्णं सत्पर्णमिव तरोर्वपुः पतनात् ।
ब्रह्मीभूतस्य यतेः प्रागेव हि तच्चिदग्निना दग्धम् ॥५५७॥
सदात्मनि ब्रह्मणि तिष्ठतो मुनेः पूर्णाद्वयानन्दमयात्मना सदा ।
न देशकालाद्युचितप्रतीक्षा त्वङ्मांसविट्पिण्डविसर्जनाय ॥५५८॥
देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥५५९॥
कुल्यायामथ नद्यां वा शिवक्षेत्रेऽपि चत्वरे ।
पर्णं पतति चेत्तेन तरोः किं नु शुभाशुभम् ॥५६०॥
पत्रस्य पुष्पस्य फलस्य नाशवद् देहेन्द्रियप्राणधियां विनाशः ।
नैवात्मनः स्वस्य सदात्मकस्यानन्दाकृतेर्वृक्षवदस्ति चैषः ॥५६१॥
प्रज्ञानघन इत्यात्मलक्षणं सत्यसूचकम् ।
अनूद्यौपाधिकस्यैव कथयन्ति विनाशनम् ॥५६२॥
अविनाशी वा अरेऽयमात्मेति श्रुतिरात्मनः ।
प्रब्रवीत्यविनाशित्वं विनश्यत्सु विकारिषु ॥५६३॥
पाषाणवृक्षतृणधान्यकटाम्बराद्या
दग्धा भवन्ति हि मृदेव यथा तथैव ।

देहेन्द्रियासुमनआदि समस्तदृश्यं
ज्ञानाग्निदग्धमुपयाति परात्मभावम् ॥५६४॥

विलक्षणं यथा ध्वान्तं लीयते भानुतेजसि ।
तथैव सकलं दृश्यं ब्रह्मणि प्रविलीयते ॥५६५॥

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम् ।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ॥५६६॥

क्षीरं क्षीरे यथा लिप्तं तैलं तैले जलं जले ।
संयुक्तमेकतां याति तथात्मन्यात्मविन्मुनिः ॥५६७॥

एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ।
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः ॥५६८॥

सदात्मैकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ।
अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद् ब्रह्मणः कुत उद्भवः ॥५६९॥

मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ।
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ॥५७०॥

आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ।
नावृतिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम् ।
यद्यस्त्यद्वैतहानिः स्याद् द्वैतं नो सहते श्रुतिः ॥५७१॥

बन्धं च मोक्षं च मृषैव मूढा बुद्धेर्गुणं वस्तुनि कल्पयन्ति ।
दृगावृतिं मेघकृतां यथा रवौ यतोऽद्वयासङ्गचिदेकमक्षरम् ॥५७२॥

अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ॥५७३॥

अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ।
निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने ।
अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥५७४॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥५७५॥

सकलनिगमचूडास्वान्तसिद्धान्तरूपं
परमिदमतिगुह्यं दर्शितं ते मयाद्य ।
अपगतकलिदोषं कामनिर्मुक्तबुद्धिं
स्वसुतवदसकृत्त्वां भावयित्वा मुमुक्षुम् ॥५७६॥

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं प्रश्रयेण कृतानतिः ।
स तेन समनुज्ञातो ययौ निर्मुक्तबन्धनः ॥५७७॥

गुरुरेवं सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः ।
पावयन्वसुधां सर्वां विचचार निरन्तरम् ॥५७८॥

इत्याचार्यस्य शिष्यस्य संवादेनात्मलक्षणम् ।
निरूपितं मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥५७९॥

हितमिममुपदेशमाद्रियन्तां विहितनिरस्तचित्तदोषाः ।
भवसुखविरताः प्रशान्तचित्ताः श्रुतिरसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥५८०॥

संसाराध्वनि तापभानुकिरणप्रोद्भूतदाहव्यथा-
खिन्नानां जलकाङ्क्षया मरुभुवि श्रान्त्या परिभ्राम्यताम् ।
अत्यासन्नसुधाम्बुधिं सुखकरं ब्रह्माद्वयं दर्शय-
न्त्येषा शङ्करभारती विजयते निर्वाणसन्दायिनी ॥५८१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्कृतौ विवेकचूडामणिः समाप्तः ॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः

अखंडानंदसंबोधो वंदनाद्यस्य जायते ।
गोविंदं तमहं वंदे चिदानंदतनुं गुरुम् ॥१॥

अखंडं सच्चिदानंदमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥२॥

यदालंबो दरं हन्ति सतां प्रत्यूहसंभवम् ।
तदालंबे दयालंबं लंबोदरपदांबुजम् ॥३॥

वेदान्तशास्त्रसिद्धान्तसारसंग्रह उच्यते ।
प्रेक्षावतां मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥४॥

अस्य शास्त्रानुसारित्वादनुबंधचतुष्टयम् ।
यदेव मूलं शास्त्रस्य निर्दिष्टं तदिहोच्यते ॥५॥

अधिकारी च विषयः संबंधश्च प्रयोजनम् ।
शास्त्रारंभफलं प्राहुरनुबंधचतुष्टयम् ॥६॥

चतुर्भिः साधनैः सम्यक्संपन्नो युक्तिदक्षिणः ।
मेधावी पुरुषो विद्वानधिकार्यत्र संमतः ॥७॥

विषयः शुद्धचैतन्यं जीवब्रह्मैक्यलक्षणम् ।
यत्रैव दृश्यते सर्ववेदान्तानां समन्वयः ॥८॥

एतदैक्यप्रमेयस्य प्रमाणस्यापि च श्रुतेः ।
संबंधः कथ्यते सद्भिर्बोध्यबोधकलक्षणः ॥९॥

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सन्तः प्राहुः प्रयोजनम् ।
येन निःशेषसंसारबंधात्सद्यः प्रमुच्यते ॥१०॥

प्रयोजनं संप्रवृत्तेः कारणं फललक्षणम् ।
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते ॥११॥

साधनचतुष्टयसंपत्तिर्यस्यास्ति धीमतः पुंसः ।
तस्यैवैतत्फलसिद्धिर्नान्यस्य किंचिदूनस्य ॥१२॥

चत्वारि साधनान्यत्र वदन्ति परमर्षयः ।
मुक्तिर्येषां नु सद्भावे नाभावे सिध्यति ध्रुवम् ॥१३॥

आद्यं नित्यानित्यवस्तुविवेकः साधनं मतम् ।
इहामुत्रार्थफलभोगविरागो द्वितीयकम् ॥१४॥

शमादिषट्कसंपत्तिस्तृतीयं साधनं मतम् ।
तुरीयं तु मुमुक्षुत्वं साधनं शास्त्रसंमतम् ॥१५॥

ब्रह्मैव नित्यमन्यत्तु ह्यनित्यमिति वेदनम् ।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेक इति कथ्यते ॥१६॥

मृदादिकारणं नित्यं त्रिषु कालेषु दर्शनात् ।
घटाद्यनित्यं तत्कार्यं यतस्तन्नाश ईक्ष्यते ॥१७॥

तथैवैतज्जगत्सर्वमनित्यं ब्रह्मकार्यतः ।
तत्कारणं परं ब्रह्म भवेन्नित्यं मृदादिवत् ॥१८॥

सर्गं वक्त्यस्य तमाद्वा एतस्मादित्यपि श्रुतिः ।
सकाशाद्ब्रह्मणस्तस्मादनित्यत्वे न संशयः ॥१९॥

सर्वस्यानित्यत्वे सावयवत्वेन सर्वतःसिद्धे ।
वैकुंठादिषु नित्यत्वमतिभ्रम एव मूढबुद्धीनाम् ॥२०॥

अनित्यत्वं च नित्यत्वमेवं यच्छ्रुतियुक्तिभिः ।
विवेचनं नित्यानित्यविवेक इति कथ्यते ॥२१॥

ऐहिकामुष्मिकार्थेषु ह्यनित्यत्वेन निश्चयात् ।
नैःस्पृह्यं तुच्छबुद्धया यत्तद्वैराग्यमितीर्यते ॥२२॥

नित्यानित्यपदार्थविवेकात्पुरुषस्य जायते सद्यः ।
स्रक्चंदनवनितादौ सर्वत्रानित्यवस्तुनि विरक्तिः ॥२३॥

काकस्य विष्ठावदसह्यबुद्धिर्भोग्येषु सा तीव्रविरक्तिरिष्यते ।
विरक्तितीव्रत्वनिदानमाहुर्भोग्येषु दोषेक्षणमेव सन्तः ॥२४॥

प्रदृश्यते वस्तुनि यत्र दोषो न तत्र पुंसोऽस्ति पुनः प्रवृत्तिः ।
अन्तर्महारोगवतीं विजानन्को नाम वेश्यामपि रूपिणीं व्रजेत् ॥२५॥

अत्रापि चान्यत्र च विद्यमानपदार्थसंमर्शनमेव कार्यम् ।
यथाप्रकारार्थगुणाभिमर्दानं संदर्शयत्येव तदीयदोषम् ॥२६॥

कुक्षौ स्वमातुर्मलमूत्रमध्ये स्थितिं तदा विट्क्रिमिदंशनं च ।
तदीयकौक्षेयकवह्निदाहं विचार्य को वा विरतिं न याति ॥२७॥

स्वकीयविण्मूत्रविसर्जनं तच्चोत्तानगत्या शयनं तदा यत् ।
बालग्रहाद्याहतिभावच शैशवं विचार्य को वा विरतिं न याति ॥२८॥

स्वीयैः परैस्ताडनमज्ञभावमत्यंतचापल्यमसत्क्रियां च ।
कुमारभावे प्रतिषिद्धवृत्तिं विचार्य को वा विरतिं न याति ॥२९॥

मदोद्धतिं मान्यतिरस्कृतिं च कामातुरत्वं समयातिलंघनम् ।
तां तां युवत्योदितदुष्टचेष्टां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३०॥

विरूपतां सर्वजनादवज्ञां सर्वत्र दैन्यं निजबुद्धिहैन्यम् ।
वृद्धत्वसंभावितदुर्दशां तां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३१॥

पित्तज्वरार्शःक्षयगुल्मशूलश्लेष्मादिरोगोदिततीव्रदुःखम् ।
दुर्गन्धमस्वास्थ्यमनूनचिंतां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३२॥

यमावलोकोदितभीतिकंपमर्मव्यथोच्छ्वासगतीश्च वेदनाम् ।
प्राणप्रयाणे परिदृश्यमानां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३३॥

अङ्गारनद्यां तपने च कुम्भीपाकेऽपि वीच्यामसिपत्रकानने ।
दूतैर्यमस्य क्रियमाणबाधां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३४॥

पुण्यक्षये पुण्यकृतो नभःस्थैर्निपात्यमानान्शिथिलीकृतांगान् ।
नक्षत्ररूपेण दिवश्च्युतांस्तान्विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३५॥

पाय्वर्कवह्नींद्रमुखान्सुरेन्द्रानीशोग्रभीत्या ग्रथितांतरंगान् ।
विपक्षलोकैः परिदूयमानान्विचार्य को वा विरतिं न या ॥३६॥

श्रुत्वा निरुक्तं सुखतारतम्यं ब्रह्मांतमारभ्य महीमहेशम् ।
औपाधिकं तत्तु न वास्तवं चेदालोच्य को वा विरतिं न याति ॥३७॥

सालोक्यसामीप्यसरूपतादिभेदस्तु सत्कर्मविशेषसिद्धः ।
न कर्मसिद्धस्य तु नित्यतेति विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३८॥

यत्रास्ति लोके गतितारतम्यं उच्चावचत्वान्वितमत्र तत्कृतम् ।
यथेह तद्वत्खलु दुःखमस्तीत्यालोच्य को वा विरतिं न याति ॥३९॥

को नाम लोके पुरुषो विवेकी विनश्वरे तुच्छसुखे गृहादौ ।
कुर्याद्रतिं नित्यमवेक्षमाणो वृथैव मोहान्म्रियमाणजंतून् ॥४०॥

सुखं किमस्त्यत्र विचार्यमाणे गृहेऽपि वा योषिति वा पदार्थे ।
मायातमोऽधीकृतचक्षुषो ये त एव मुह्यन्ति विवेकशून्याः ॥४१॥

अविचारितरमणीयं सर्वमुदुम्बरफलोपमं भोग्यम् ।
अज्ञानापमुभोग्यं न तु तज्ज्ञानां योषिति वा पदार्थे ॥४२॥

गतेऽपि तोये सुषिरं कुलीरो हातुं ह्यशक्तो म्रियते विमोहात् ।
यथा तथा गेहसुखानुषक्तो विनाशमायाति नरो भ्रमेण ॥४३॥

कोशक्रिमिस्तंतुभिरात्मदेहमावेष्टय चावेष्टय च गुप्तिमिच्छन् ।
स्वयं विनिर्गन्तुमशक्त एव संस्ततस्तदन्ते म्रियते च लग्नः ॥४४॥

यथा तथा पुत्रकलत्रमित्रस्नेहानुबंधैर्ग्रथितो गृहस्थः ।
कदापि वा तान्परिमुच्य गेहाद्गन्तुं न शक्तो म्रियते मुधैव ॥४५॥

कारागृहस्यास्य च को विशेषः प्रदृश्यते साधु विचार्यमाणे ।
मुक्तेः प्रतीपत्वमिहापि पुंसः कांतासुखाभ्युत्थितमोहपाशैः ॥४६॥

गृहस्पृहा पादनिबद्धशृंखला कांतासुताशा पटुकंठपाशाः ।
शीर्षे पतद्भूयंशनिर्हि साक्षात्प्राणान्तहेतुः प्रबला धनाशा ॥४७॥

आशापाशशतेन पाशितपदो नोत्थातुमेव क्षमः
कामक्रोधमदादिभिः प्रतिभटैः संरक्ष्यमाणोऽनिशम् ।
संमोहावरणेन गोपनवतः संसारकारागृहा-
न्निर्गन्तुं त्रिविधेषणापरवशः कः शक्नुयाद्रागिषु ॥४८॥

कामांधकारेण निरुद्धदृष्टिर्मुह्यत्यसत्यप्यबलास्वरूपे ।
न ह्यंधदृष्टेरसतः सतो वा सुखत्वदुःखत्वविचारणास्ति ॥४९॥

श्लेष्मोद्गारि मुखं स्रवन्मलवती नासाश्रुमल्लोचनं
स्वेदस्रावि मलाभिपूर्णमभितो दुर्गंधदुष्टं वपुः ।
अन्यद्वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं क्वचिन्नार्हति
स्त्रीरूपं कथमीदृशं सुमनसां पात्रीभवेन्नेत्रयोः ॥५०॥

दूरादवेक्ष्याग्निशिखां पतंगो रम्यत्वबुद्धया विनिपत्य नश्यति ।
यथा तथा नष्टदृगेष सूक्ष्मं कथं निरीक्षेत विमुक्तिमार्गम् ॥५१॥

कामेन कान्तां परिगृह्य तद्वज्जनोऽप्ययं नश्यति नष्टदृष्टिः ।
मांसास्थिमज्जामलमूत्रपात्रं स्त्रियं स्वयं रम्यतयेव पश्यति ॥५२॥

काम एव यमः साक्षात्कान्ता वैतरणी नदी ।
विवेकिनां मुमुक्षूणां निलयस्तु यमालयः ॥५३॥

यमालये वापि गृहेऽपि नो नृणां तापत्रयक्लेशनिवृत्तिरस्ति ।
किंचित्समालोक्य तु तद्विरामं सुखात्मना पश्यति मूढलोकः ॥५४॥

यमस्य कामस्य च तारतम्यं विचार्यमाणे महदस्ति लोके ।
हितं करोत्यस्य यमोऽप्रियः सन्कामस्त्वनर्थं कुरुते प्रियः सन् ॥५५॥

यमोऽसतामेव करोत्यनर्थं सतां तु सौख्यं कुरुते हितः सन् ।
कामः सतामेव गतिं निरुन्धन्करोत्यनर्थं ह्यसतां नु का कथा ॥५६॥

विश्वस्य वृद्धिं स्वयमेव कांक्षन्प्रवर्तकं कामिजनं ससर्ज ।
तेनैव लोकः परिमुह्यमानः प्रवर्धते चन्द्रमसेव चाब्धिः ॥५७॥

कामो नाम महान्जगद्भ्रमयिता स्थित्वांतरंगे स्वयं
स्त्रीपुंसावितरेतरांगकगुणैर्हासैश्च भावैः स्फुटम् ।
अन्योन्यं परिमोह्य नैजतमसा प्रेमानुबन्धेन तौ
बद्ध्वा भ्रामयति प्रपंचरचनां संवर्धयन्ब्रह्महा ॥५८॥

अतोंऽतरंगस्थितकामवेगाद्भोग्ये प्रवृत्तिः स्वत एव सिद्धा ।
सर्वस्य जंतोर्ध्रुवमन्यथा चेदबोधितार्थेषु कथं प्रवृत्तिः ॥५९॥

तेनैव सर्वजन्तूनां कामना बलवत्तरा ।
जीर्यत्यपि च देहेऽस्मिन्कामना नैव जीर्यते ॥६०॥

अवेक्ष्य विषये दोषं बुद्धियुक्तो विचक्षणः ।
कामपाशेन यो मुक्तः स मुक्तेः पथि गोचरः ॥६१॥

कामस्य विजयोपायं सूक्ष्मं वक्ष्याम्यहं सताम् ।
संकल्पस्य परित्याग उपायः सुलभो मतः ॥६२॥

श्रुते दृष्टेऽपि वा भोग्ये यस्मिन्कस्मिंश्च वस्तुनि ।
समीचीनत्वधीत्यागात्कामो नोदेति कर्हिचित् ॥६३॥

कामस्य बीजं संकल्पः संकल्पादेव जायते ।
बीजे नष्टेऽङ्कुर इव तस्मिन्नष्टे विनश्यति ॥६४॥

नः कोऽपि सम्यक्त्वधिया विनैव भोग्यं नरः कामयितुं समर्थः ।
यतस्ततः कामजयेच्छुरेतां सम्यक्त्वबुद्धिं विषये निहन्यात् ॥६५॥

भोग्ये नरः कामजयेच्छुरेतां सुखत्वबुद्धिं विषये निहन्यात् ।
यावत्सुखत्वभ्रमधीः पदार्थे तावन्न जेतुं प्रभवेद्धि कामम् ॥६६॥

संकल्पानुदये हेतुर्यथाभूतार्थदर्शनम् ।
अनर्थचिंतनं चाभ्यां नावकाशोऽस्य विद्यते ॥६७॥

रत्ने यदि शिलाबुद्धिर्जायते वा भयं ततः ।
समीचीनत्वधीर्नैति नोपादेयत्वधीरपि ॥६८॥

यथार्थदर्शनं वस्तुन्यनर्थस्यापि चिंतनम् ।
संकल्पस्यापि कामस्य तद्वधोपाय इष्यते ॥६९॥

धनं भयनिबंधनं सततदुःखसंवर्धनं
प्रचंडतरकर्दनं स्फुटितबंधुसंबंधनम् ।
विशिष्टगुणबाधनं कृपणधीसमाराधनं
न मुक्तिगतिसाधनं भवति नापि हृच्छोधनम् ॥७०॥

राज्ञो भयं चोरभयं प्रमादाद्भयं तथा ज्ञातिभयं च वस्तुतः ।
धनं भयग्रस्तमनर्थमूलं यतः सतां नैव सुखाय कल्पते ॥७१॥

अर्जने रक्षणे दाने व्यये वापि च वस्तुतः ।
दुःखमेव सदा नृणां न धनं सुखसाधनम् ॥७२॥

सतामपि पदार्थस्य लाभाल्लोभः प्रवर्धते ।
विवेको लुप्यते लोभात्तस्मिँल्लुप्ते विनश्यति ॥७३॥

दहत्यलाभे निःस्वत्वं लाभे लोभो दहत्यमुम् ।
तस्मात्संतापकं वित्तं कस्य सौख्यं प्रयच्छति ॥७४॥

भोगेन मत्तता जंतोर्दानेन पुनरुद्भवः ।
वृथैवोभयथा वित्तं नास्त्येव गतिरन्यथा ॥७५॥

धनेन मदवृद्धिः स्यान्मदेन स्मृतिनाशनम् ।
स्मृतिनाशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥७६॥

सुखयति धनमेवेत्यंतराशापिशाच्या
दृढतरमुपगूढो मूढलोको जडात्मा ।
निवसति तदुपान्ते संततं प्रेक्षमाणो
व्रजति तदपि पश्चात्प्राणमेतस्य हृत्वा ॥७७॥

संपन्नोऽन्धवदेव किंचिदपरं नो वीक्षते चक्षुषा
सद्भिर्वर्जितमार्ग एव चरति प्रोत्सारितो बालिशैः ।
तस्मिन्नेव मुहुः स्खलत्प्रतिपदं गत्वान्धकूपे पत-
त्यस्यांधत्वनिवर्तकौषधमिदं दारिद्र्यमेवांजनम् ॥७८॥

लोभः क्रोधश्च दंभश्च मदो मत्सर एव च ।
वर्धंते वित्तसंप्राप्त्या कथं तच्चित्तशोधनम् ॥७९॥

अलाभाद्द्विगुणं दुःखं वित्तस्य व्ययसंभवे ।
ततोऽपि त्रिगुणं दुःखं दुर्व्यये विदुषामपि ॥८०॥

नित्याहितेन वित्तेन भयचिंतानपायिना ।
चित्तस्वास्थ्यं कुतो जन्तोर्गृहस्थेनाहिना यथा ॥८१॥

कांतारे विजने वने जनपदे सेतौ निरीतौ च वा
चोरैर्वापि तथेतरैर्नरवरैर्युक्तो वियुक्तोऽपि वा ।
निःस्वः स्वस्थतया सुखेन वसति ह्यादीयमाणो जनैः
क्लिश्नात्येव धनी सदाकुलमतिर्भीतश्च पुत्रादपि ॥८२॥

तस्मादनर्थस्य निदानमर्थः पुमर्थसिद्धिर्न भवत्यनेन ।
ततो वनान्ते निवसन्ति सन्तः संन्यस्य सर्वं प्रतिकूलमर्थम् ॥८३॥

श्रद्धाभक्तिमतीं सतीं गुणवतीं पुत्राञ्श्रुतान्संमता-
नक्षय्यं वसुधानुभोगविभवैः श्रीसुन्दरं मंदिरम् ।
सर्वं नश्वरमित्यवेत्य कवयः श्रुत्युक्तिभिर्युक्तिभिः
संन्यस्यन्त्यपरे तु तत्सुखमिति भ्राम्यन्ति दुःखार्णवे ॥८४॥

सुखमिति मलराशौ ये रमन्तेऽत्र गेहे
क्रिमय इव कलत्रक्षेत्रपुत्रानुषक्त्या ।
सुरपद इव तेषां नैव मोक्षप्रसंग-
स्त्वपि तु निरयगर्भावासदुःखप्रवाहः ॥८५॥

येषामाशा निराशा स्याद्दारापत्यधनादिषु ।
तेषां सिध्यति नान्येषां मोक्षाशाभिमुखी गतिः ॥८६॥

सत्कर्मक्षयपाप्मनां श्रुतिमतां सिद्धात्मनां धीमतां
नित्यानित्यपदार्थशोधनमिदं युक्त्या मुहुः कुर्वताम् ।
तस्मादुत्थमहाविरक्त्यसिमतां मोक्षैककांक्षावतां
धन्यानां सुलभं स्त्रियादिविषयेष्वाशालताच्छेदनम् ॥८७॥

संसारमृत्योर्बलिनः प्रवेष्टुं द्वाराणि तु त्रीणि महान्ति लोके ।
कान्ता च जिह्वा कनकं च तानि रुणद्धि यस्तस्य भयं न मृत्योः ॥८८॥

मुक्तिश्रीनगरस्य दुर्जयतरं द्वारं यदस्यादिमं
तस्य द्वे अररे धनं च युवती ताभ्यां पिनद्धं दृढम् ।

कामाख्यार्गलदारुणा बलवता द्वारं तदेतत्त्रयं
धीरो यस्तु भिनत्ति सोऽर्हति सुखं भोक्तुं विमुक्तिश्रियः ॥८९॥

आरूढस्य विवेकाश्वं तीव्रवैराग्यखड्गिनः ।
तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते ॥९०॥

विवेकजां तीव्रविरक्तिमेव मुक्तेर्निदानं निगदन्ति सन्तः ।
तस्माद्विवेकी विरतिं मुमुक्षुः संपादयेत्तां प्रथमं प्रयत्नात् ॥९१॥

पुमानजातनिर्वेदो देहबंधं जिहासितुम् ।
न हि शक्नोति निर्वेदो बंधभेदो महानसौ ॥९२॥

वैराग्यरहिता एव यमालय इवालये ।
क्लिश्नन्ति त्रिविधैस्तापैर्मोहिता अपि पंडिताः ॥९३॥

शमो दमस्तितिक्षोपरतिः श्रद्धा ततः परम् ।
समाधानमिति प्रोक्तं षडेवैते शमादयः ॥९४॥

एकवृत्त्येव मनसः स्वलक्ष्ये नियतस्थितिः ।
शम इत्युच्यते सद्भिः शमलक्षणवेदिभिः ॥९५॥

उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्य इति च त्रिधा ।
निरूपितो विपश्चिद्भिः तत्तल्लक्षणवेदिभिः ॥९६॥

स्वविकारं परित्यज्य वस्तुमात्रतया स्थितिः ।
मनसः सोत्तमा शांतिर्ब्रह्मनिर्वाणलक्षणा ॥९७॥

प्रत्यक्प्रत्ययसंतानप्रवाहकरणं धियः ।
यदेषा मध्यमा शान्तिः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा ॥९८॥

विषयव्यापृतिं त्यक्त्वा श्रवणैकमनःस्थितिः ।
मनसश्चेतरा शान्तिर्मिश्रसत्त्वैकलक्षणा ॥९९॥

प्राच्योदीच्यांगसद्भावे शमः सिध्यति नान्यथा ।
तीव्रा विरक्तिः प्राच्यांगमुदीच्यांगं दमादयः ॥१००॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च मदो मोहश्च मत्सरः ।
न जिताः षडिमे येन तस्य शान्तिर्न सिध्यति ॥१०१॥

शब्दादिविषयेभ्यो यो विषवन्न निवर्तते ।
तीव्रमोक्षेच्छया भिक्षोस्तस्य शान्तिर्न सिध्यति ॥१०२॥

येन नाराधितो देवो यस्य नो गुर्वनुग्रहः ।
न वश्यं हृदयं यस्य तस्य शान्तिर्न सिध्यति ॥१०३॥

मनःप्रसादसिद्ध्यर्थं साधनं श्रूयतां बुधैः ।
मनःप्रसादो यत्सत्त्वे यदभावे न सिध्यति ॥१०४॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च दया भूतेष्ववक्रता ।
विषयेष्वतिवैतृष्ण्यं शौचं दंभविवर्जनम् ॥१०५॥

सत्यं निर्ममता स्थैर्यमभिमानविसर्जनम् ।
ईश्वरध्यानपरता ब्रह्मविद्भिः सहस्थितिः ॥१०६॥

ज्ञानशास्त्रैकपरता समता सुखदुःखयोः ।
मानानासक्तिरेकांतशीलता च मुमुक्षुता ॥१०७॥

यस्यैतद्विद्यते सर्वं तस्य चित्तं प्रसीदति ।
न त्वेतद्धर्मशून्यस्य प्रकारांतरकोटिभिः ॥१०८॥

स्मरणं दर्शनं स्त्रीणां गुणकर्मानुकीर्तनम् ।
समीचीनत्वधीस्तासु प्रीतिः संभाषणं मिथः ॥१०९॥

सहवासश्च संसर्गोऽष्टधा मैथुनं विदुः ।
एतद्विलक्षणं ब्रह्मचर्यं चित्तप्रसादकम् ॥११०॥

अहिंसा वाङ्मनःकायैः प्राणिमात्राप्रपीडनम् ।
स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा ॥१११॥

अनुकंपा दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ।
करणत्रितयेष्वेकरूपतावक्रता मता ॥११२॥

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥११३॥

बाह्यमाभ्यंतरं चेति द्विविधं शौचमुच्यते ।
मृज्जलाभ्यां कृतं शौचं बाह्यं शारीरकं स्मृतम् ॥११४॥

अज्ञानदूरीकरणं मानसं शौचमांतरम् ।
अंतःशौचे स्थिते सम्यग्बाह्यं नावश्यकं नृणाम् ॥११५॥

ध्यानपूजादिकं लोके द्रष्टर्येव करोति यः ।
पारमार्थिकधीहीनः स दंभाचार उच्यते ॥११६॥

पुंसस्तथानाचरणमदंभित्वं विदुर्बुधाः ।
यत्स्वेन दृष्टं सम्यक्च श्रुतं तस्यैव भाषणम् ॥११७॥

सत्यमित्युच्यते ब्रह्म सत्यमित्यभिभाषणम् ।
देहादिषु स्वकीयत्वदृढबुद्धिविसर्जनम् ॥११८॥

निर्ममत्वं स्मृतं येन कैवल्यं लभते बुधः ।
गुरुवेदान्तवचनैर्निश्चितार्थे दृढस्थितिः ॥११९॥

तदेकवृत्त्या तत्स्थैर्यं नैश्चल्यं न तु वर्ष्मणः ।
विद्यैश्वर्यतपोरूपकुलवर्णाश्रमादिभिः ॥१२०॥

संजाताहंकृतित्यागस्त्वभिमानविसर्जनम् ।
त्रिभिश्च करणैः सम्यग्धित्वा वैषयिकीं क्रियाम् ॥१२१॥

स्वात्मैकचिंतनं यत्तदीश्वरध्यानमीरितम् ।
छायेव सर्वदा वासो ब्रह्मविद्भिः सह स्थितिः ॥१२२॥

यद्यदुक्तं ज्ञानशास्त्रे श्रवणादिकमेषु यः ।
निरतः कर्मधीहीनः ज्ञाननिष्ठः स एव हि ॥१२३॥

धनकांताज्वरादीनां प्राप्तकाले सुखादिभिः ।
विकारहीनतैव स्यात्सुखदुःखसमानता ॥१२४॥

श्रेष्ठं पूज्यं विदित्वा मां मानयन्तु जना भुवि ।
इत्यासक्त्या विहीनत्वं मानानासक्तिरुच्यते ॥१२५॥

सच्चिंतनस्य संबाधो विघ्नोऽयं निर्जने ततः ।
स्थेयमित्येक एवास्ति चेत्सैवैकान्तशीलता ॥१२६॥

संसारबंधनिर्मुक्तिः कदा झटिति मे भवेत् ।
इति या सुदृढा बुद्धिरीरिता सा मुमुक्षता ॥१२७॥

ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्बुद्धेर्दोषनिवृत्तये ।
दंडनं दम इत्याहुर्दमशब्दार्थकोविदाः ॥१२८॥

तत्तद्वृत्तिनिरोधेन बाह्येन्द्रियविनिग्रहः ।
योगिनो दम इत्याहुर्मनसः शान्तिसाधनम् ॥१२९॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु प्रवृत्तेषु यदृच्छया ।
अनुधावति तान्येव मनो वायुमिवानलः ॥१३०॥

इन्द्रियेषु निरुद्धेषु त्यक्त्वा वेगं मनः स्वयम् ।
सत्त्वभावमुपादत्ते प्रसादस्तेन जायते ।
प्रसन्ने सति चित्तेऽस्य मुक्तिः सिध्यति नान्यथा ॥१३१॥

मनःप्रसादस्य निदानमेव निरोधनं यत्सकलेन्द्रियाणाम् ।
बाह्येन्द्रिये साधु निरुध्यमाने बाह्यार्थभोगो मनसो वियुज्यते ॥१३२॥

तेन स्वदोष्टृत्वं परिमुच्य चित्तं शनैः शनैः शान्तिमुपाददाति ।
चित्तस्य बाह्यार्थविमोक्षमेव मोक्षं विदुर्मोक्षणलक्षणज्ञाः ॥१३३॥

दमं विना साधु मनःप्रसादहेतुं न विद्मः सुकरं मुमुक्षोः ।
दमेन चित्तं निजदोषजातं विसृज्य शान्तिं समुपैति शीघ्रम् ॥१३४॥

प्राणायामाद्भवति मनसो निश्चलत्वं प्रसादो
यस्याप्यस्य प्रतिनियतदिग्देशकालाद्यवेक्ष्य ।
सम्यग्दृष्ट्या क्वचिदपि तथा नो दमो हन्यते तत्
कुर्याद्धीमान्दममनलसश्चित्तशान्त्यै प्रयत्नात् ॥१३५॥

सर्वेन्द्रियाणां गतिनिग्रहेण भोग्येषु दोषाद्यवमर्शनेन ।
ईशप्रसादाच्च गुरोः प्रसादाच्छान्तिं समायात्यचिरेण चित्तम् ॥१३६॥

आध्यात्मिकादि यद्दुःखं प्राप्तं प्रारब्धवेगवः ।
अचिन्तया तत्सहनं तितिक्षेति निगद्यते ॥१३७॥

रक्षा तितिक्षासदृशी मुमुक्षोर्न विद्यतेऽमो पविना न विद्यते ।
यामेव धीराः कवचीव विघ्नान्सर्वांस्तृणीकृत्य जयन्ति मायाम् ॥१३८॥

क्षमावतामेव हि योगसिद्धिः स्वाराज्यलक्ष्मीसुखभोगसिद्धिः ।
क्षमाविहीना निपतन्ति विघ्नैर्वातैर्हताः पर्णचया इव द्रुमात् ॥१३९॥

तितिक्षया तपो दानं यज्ञस्तीर्थं व्रतं श्रुतम् ।
भूतिः स्वर्गोऽपवर्गश्च प्राप्यते तत्तदर्थिभिः ॥१४०॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च साधूनामप्यगर्हणम् ।
पराक्षेपादिसहनं तितिक्षोरेव सिध्यति ॥१४१॥

साधनेष्वपि सर्वेषु तितिक्षोत्तमसाधनम् ।
यत्र विघ्नाः पलायन्ते दैविका अपि भौतिकाः ॥१४२॥

तितिक्षोरेव विघ्नेभ्यस्त्वनिवर्तितचेतसः ।
सिध्यन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्याः समृद्धयः ॥१४३॥

तस्मान्मुमुक्षोरधिका तितिक्षा संपादनीयेप्सितकार्यसिद्धयै ।
तीव्रा मुमुक्षा च महत्युपेक्षा चोभे तितिक्षा सहकारि कारणम् ॥१४४॥

तत्तत्कालसमागतामतामयततेः शान्त्यै प्रवृत्तो यदि
स्यात्तत्तत्परिहारकौषधरतस्तच्चिन्तने तत्परः ।
तद्भिक्षुः श्रवणादिधर्मरहितो भूत्वा मृतश्चेत्ततः
किं सिद्धं फलमाप्नुयादुभयथा भ्रष्टो भवेत्स्वार्थतः ॥१४५॥

योगमभ्यस्यतो भिक्षोर्योगाच्चलितचेतसः ।
प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानित्यादि प्राह केशवः ॥१४६॥

न तु कृत्वेव संन्यासं तूष्णीमेव मृतस्य हि ।
पुण्यलोकगतिं ब्रूते भगवान्न्यासमात्रतः ॥१४७॥

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।
इत्यनुष्ठेयसंत्यागात्सिद्ध्यभावमुवाच च ॥१४८॥

तस्मात्तितिक्षया सोढ्वा तत्तद्दुःखमुपागतम् ।
कुर्याच्छक्त्यनुरूपेण श्रवणादि शनैः शनैः ॥१४९॥

प्रयोजनं तितिक्षायाः साधितायाः प्रयत्नतः ।
प्राप्तदुःखासहिष्णुत्वे न किंचिदपि दृश्यते ॥१५०॥

साधनत्वेन दृष्टानां सर्वेषामपि कर्मणाम् ।
विधिना यः परित्यागः स संन्यासः सतां मतः ॥१५१॥

उपरमयति कर्माणीत्युपरतिशब्देन कथ्यते न्यासः।
न्यासेन हि सर्वेषां श्रुत्या प्रोक्तो विकर्मणां त्यागः ॥१५२॥

कर्मणा साध्यमानस्यनित्यत्वं श्रूयते यतः।
कर्मणानेन किं नित्यफलेप्सोः परमार्थिनः ॥१५३॥

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं परिगण्यते।
चतुर्विधं कर्मसाध्यं फलं नान्यदितः परम् ॥१५४॥

नैतदन्यतरं ब्रह्म कदा भवितुमर्हति।
स्वतःसिद्धं सर्वदाप्तं शुद्धं निर्मलमक्रियम् ॥१५५॥

न चास्य कश्चिज्जनितेत्यागमेन निषिध्यते।
कारणं ब्रह्म तत्तस्माद्ब्रह्म नोत्पाद्यमिष्यते ॥१५६॥

आप्त्राप्ययोस्तु भेदश्चेदाप्त्रा चाप्यमवाप्यते।
आप्तृस्वरूपमेवैतद्ब्रह्म नाप्यं कदाचन ॥१५७॥

मलिनस्यैव संस्कारो दर्पणादेरिहेष्यते।
व्योमवन्नित्यशुद्धस्य ब्रह्मणो नैव संस्क्रिया ॥१५८॥

केन दुष्टेन युज्येत वस्तु निर्मलमक्रियम्।
यद्योगादागतं दोष संस्कारो विनिवर्तयेत् ॥१५९॥

निर्गुणस्य गुणाधानमपि नैवोपपद्यते।
केवलो निर्गुणश्चेति नैर्गुण्यं श्रूयते यतः ॥१६०॥

सावयवस्य क्षीरादेर्वस्तुनः परिणामिनः।
येन केन विकारित्वं स्यान्नो निष्कर्मवस्तुनः ॥१६१॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
इत्येव वस्तुनस्तत्त्वं श्रुतियुक्तिव्यवस्थितम् ॥१६२॥

तस्मान्न कर्मसाध्यत्वं ब्रह्मणोऽस्ति कुतश्चन ।
कर्मसाध्यं त्वनित्यं हि ब्रह्म नित्यं सनातनम् ॥१६३॥

देहादिः क्षीयते लोको यथैवं कर्मणा चितः ।
तथैवामुष्मिको लोको संचितः पुण्यकर्मणा ॥१६४॥

कृतकत्वमनित्यत्वे हेतुर्जागर्ति सर्वदा ।
तस्मादनित्ये स्वर्गादौ पंडितः को नु मुह्यति ॥१६५॥

जगद्धेतोऽस्तु नित्यत्वं सर्वेषामपि संमतम् ।
जगद्धेतुत्वमस्यैव वावदीति श्रुतिर्मुहुः ॥११६॥

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमिति च श्रुतिः ।
अस्यैव नित्यतां ब्रूते जगद्धेतोः सतः स्फुटम् ॥१६७॥

न कर्मणा न प्रजया धनेनेति स्वयं श्रुतिः ।
कर्मणो मोक्षहेतुत्वं साक्षादेव निषेधति ॥१६८॥

प्रत्यग्ब्रह्मविचारपूर्वमुभयोरेकत्वबोधाद्विना
कैवल्यं पुरुषस्य सिध्यति परब्रह्मात्मतालक्षणम् ।
न ज्ञानैरपि कीर्तनैरपि जपैर्नो कृच्छ्रचान्द्रायणै-
र्नो वाप्यध्वरयज्ञदाननिगमैर्नो मन्त्रतन्त्रैरपि ॥१६९॥

ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति श्रुत्या निगद्यते ।
ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वमन्यव्यावृत्तिपूर्वकम् ॥१७०॥

विवेकिनो विरक्तस्य ब्रह्मनित्यत्ववेदिनः ।
तदभावेच्छोरनित्यार्थे तत्सामग्र्ये कुतोऽरतिः ॥१७१॥

तस्मादनित्ये स्वर्गादौ साधनत्वेन चोदितम् ।
नित्यं नैमित्तिकं चापि सर्वं कर्म ससाधनम् ॥१७२॥

मुमुक्षुणा परित्याज्यं ब्रह्मभावमभीप्सुना ।
मुमुक्षोरपि कर्मास्तु श्रवणं चापि साधनम् ।।१७३।।

हस्तवद्द्वयमेतस्य स्वकार्यं साधयिष्यति ।
यदा विजृंभते दीपो ऋजूकरणकर्मणा ।।१७४।।

तथा श्रवणजो बोधः पुंसो विहितकर्मणा ।
अतः सापेक्षितं ज्ञानमथवापि समुच्चयम् ।।१७५।।

मोक्षस्य साधनमिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ।
मुमुक्षोर्युज्यते त्यागः कथं विहितकर्मणः ।।१७६।।

इति शंका न कर्तव्या मूढवत्पण्डितोत्तमैः ।
कर्मणः फलमन्यत्तु श्रवणस्य फलं पृथक् ।।१७७।।

वैलक्षण्यं च सामग्र्योश्चोभयत्राधिकारिणोः ।
कामी कर्मण्यधिकृतो निष्कामी श्रवणे मतः ।।१७८।।

अर्थी समर्थ इत्यादि लक्षणं कर्मिणो मतम् ।
परीक्ष्य लोकानित्यादि लक्षणं मोक्षकांक्षिणः ।।१७९।।

मोक्षाधिकारी संन्यासी गृहस्थः किल कर्मणि ।
कर्मणः साधनं भार्यास्रुक्स्रुवादिपरिग्रहः ।।१८०।।

नैवान्यसाधनापेक्षा शुश्रूषोस्तु गुरुं विना ।
उपर्युपर्यहंकारो वर्धते कर्मणा भृशम् ।।१८१।।

अहंकारस्य विच्छितिः श्रवणेन प्रतिक्षणम् ।
प्रवर्तकं कर्मशास्त्रं ज्ञानशास्त्रं निवर्तकम् ।।१८२।।

इत्यादिवैपरीत्यं तत्साधने चाधिकारिणोः ।
द्वयोः परस्परापेक्षा विद्यते न कदाचन ।।१८३।।

सामग्र्योश्चोभयोस्तद्वदुभयत्राधिकारिणोः ।
ऊर्ध्वं नयति विज्ञानमधः प्रापयति क्रिया ॥१८४॥

कथमन्योन्यसापेक्षा कथं वापि समुच्चयः ।
यथाग्नेस्तृणकूटस्य तेजसस्तिमिरस्य च ॥१८५॥

सहयोगो न घटते तथैव ज्ञानकर्मणोः ।
किमुपकुर्याज्ज्ञानस्य कर्मस्वप्रतियोगिनः ।
यस्य संनिधिमात्रेण स्वयं न स्फूर्तिमृच्छति ॥१८६॥

कोटीन्धनाद्रिज्वलितोऽपि वह्निरर्कस्य नार्हत्युपकर्तुमीषत् ।
यथा तथा कर्मसहस्रकोटिर्ज्ञानस्य किं नु स्वयमेव लीयते ॥१८७॥

एककर्त्राश्रयौ हस्तौ कर्मण्यधिकृतावुभौ ।
सहयोगस्तयोर्युक्तो न तथा ज्ञानकर्मणोः ॥१८८॥

कर्त्रा कर्तुमकर्तुं वाप्यन्यथा कर्म शक्यते ।
न तथा वस्तुनो ज्ञानं कर्तृतंत्रं कदाचन ॥१८९॥

यथा वस्तु तथा ज्ञानं प्रमाणेन विजायते ।
नापेक्षते च यत्किंचित्कर्म वा युक्तिकौशलम् ॥१९०॥

ज्ञानस्य वस्तुतंत्रत्वे संशयाद्युदयः कथम् ।
अतो न वास्तवं ज्ञानमिति नो शंक्यतां बुधैः ॥१९१॥

प्रमाणासौष्ठवावृत्तं संशयादि न वास्तवम् ।
श्रुतिप्रमाणसुष्ठुत्वे ज्ञानं भवति वास्तवम् ॥१९२॥

वस्तु तावत्परं ब्रह्म नित्यं सत्यं ध्रुवं विभु ।
श्रुतिप्रमाणे तज्ज्ञानं स्यादेव निरपेक्षकम् ॥१९३॥

रूपज्ञानं यथा सम्यग्दृष्टो सत्यां भवेत्तथा।
श्रुतिप्रमाणे सत्येव ज्ञानं भवति वास्तवम् ॥१९४॥

न कर्म यत्किंचिदपेक्षते हि रूपोपलब्धौ पुरुषस्य चक्षुः।
ज्ञानं तथैव श्रवणादिजन्यं वस्तुप्रकाशे निरपेक्षमेव ॥१९५॥

कर्तृतंत्रं भवेत्कर्म कर्मतंत्रं शुभाशुभम्।
प्रमाणतंत्रं विज्ञानं मायातंत्रमिदं जगत् ॥१९६॥

विद्यां चाविद्यां चेति सहोक्तिरियमुपकृता सद्भिः।
सत्कर्मोपासनयोर्न त्वात्मज्ञानकर्मणोः क्वापि ॥१९७॥

नित्यानित्यपदार्थबोधरहितो यश्चोभयत्र स्रगा-
द्यर्थानामनुभूतिलग्नहृदयो निर्विण्णबुद्धिर्जनः।
तस्यैवास्य जडस्य कर्म विहितं श्रुत्या विरज्याभितो
मोक्षेच्छोर्न विधीयते तु परमानन्दार्थिनो धीमतः ॥१९८॥

मोक्षेच्छया यदहरेव विरज्यतेऽसौ
न्यासस्तदेव विहितो विदुषो मुमुक्षोः।
श्रुत्या तथैव परया च ततः सुधीभिः
प्रामाणिकोऽयमिति चेतसि निश्चितव्यः ॥१९९॥

स्वापरोक्षस्य वेदादेः साधनत्वं निषेधति।
नाहं वेदैर्न तपसेत्यादिना भगवानपि ॥२००॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वे एते श्रुतिगोचरे।
प्रवृत्त्या बध्यते जन्तुर्निवृत्त्या तु विमुच्यते ॥२०१॥

यत्र स्ववंधोऽभिमतो मूढस्यापि क्वचित्ततः।
निवृत्तिः कर्मसंन्यासः कर्तव्यो मोक्षकांक्षिभिः ॥२०२॥

न ज्ञानकर्मणोर्यस्मात्सहयोगस्तु युज्यते ।
तस्मात्त्याज्यं प्रयत्नेन कर्म ज्ञानेच्छुना ध्रुवम् ॥२०३॥

इष्टसाधनताबुद्ध्या गृहीतस्यापि वस्तुनः ।
विज्ञाय फल्गुतां पश्चात्कः पुनस्तत्प्रतीक्षते ॥२०४॥

उपरतिशब्दार्थो ह्युपरमणं पूर्वदृष्टवृत्तिभ्यः ।
सोऽयं मुख्यो गौणश्चेति च वृत्त्या द्विरूपतां धत्ते ॥२०५॥

वृत्तेर्दृश्यपरित्यागो मुख्यार्थ इति कथ्यते ।
गौणार्थः कर्मसंन्यासः श्रुतेरङ्गतया मतः ॥२०६॥

पुंसः प्रधानसिद्ध्यर्थमङ्गस्याश्रयणं ध्रुवम् ।
कर्तव्यमङ्गहीनं चेत्प्रधानं नैव सिध्यति ॥२०७॥

संन्यसेत्सुविरक्तः सन्निहामुत्रार्थतः सुखात् ।
अविरक्तस्य संन्यासो निष्फलोऽप्याज्ञयागवत् ॥२०८॥

संन्यस्य तु यतिः कुर्यान्न पूर्वविषयस्मृतिम् ।
तां तां तस्मरणे तस्य जुगुप्सा जायते यतः ॥२०९॥

गुरुवेदान्तवाक्येषु बुद्धिर्या निश्चयात्मिका ।
सत्यमित्येव सा श्रद्धा निदानं मुक्तिसिद्धये ॥२१०॥

श्रद्धावतामेव सतां पुमर्थः समीरितः सिध्यति नेतरेषाम् ।
उक्तं सुसूक्ष्मं परमार्थतत्त्वं श्रद्धत्स्व सोम्येति च वक्ति वेदः ॥२११॥

श्रद्धाविहीनस्य तु न प्रवृत्तिः प्रवृत्तिशून्यस्य न साध्यसिद्धिः ।
अश्रद्धयेवाभिहताश्च सर्वे मज्जन्ति संसारमहासमुद्रे ॥२१२॥

देवे च वेदे च गुरौ च मंत्रे तीर्थे महात्मन्यपि भेषजे च ।
श्रद्धा भवत्यस्य यथा यथान्तस्तथा तथा सिद्धिरुदेति पुंसाम् ॥२१३॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यं वस्तुसद्भावनिश्चयात् ।
सद्भावनिश्चयस्तत्र श्रद्धया शास्त्रसिद्धया ॥२१४॥

तस्माच्छ्रद्धा सुसंपाद्या गुरुवेदान्तवाक्ययोः ।
मुमुक्षो श्रद्दधानस्य फलं सिध्यति नान्यथा ॥२१५॥

यथार्थवादिता पुंसां श्रद्धाजननकारणम् ।
वेदस्येश्वरवाक्यत्वाद्यथार्थत्वे न संशयः ॥२१६॥

मुक्तस्येश्वररूपत्वाद्गुरोर्वागपि तादृशी ।
तस्मात्तद्वाक्ययोः श्रद्धा सतां सिध्यति धीमताम् ॥२१७॥

श्रुत्युक्तार्थावगाहाय विदुषा ज्ञेयवस्तुनि ।
चित्तस्य सम्यगाधानं समाधानमितीर्यते ॥२१८॥

चित्तस्य साध्यैकपरत्वमेव पुमर्थसिद्धेर्नियमेव कारणम् ।
नैवान्यथा सिध्यति साध्यमीषन्मनःप्रमादे विफलः प्रयत्नः ॥२१९॥

चित्तं च दृष्टिं कारणं तथान्यदेकत्र बध्नाति हि लक्ष्यभेत्ता ।
किञ्चित्प्रमादे सति लक्ष्यभेत्तुर्बाणप्रयोगो विफलो यथा तथा ॥२२०॥

सिद्धेश्चित्तसमाधानमसाधारणकारणम् ।
यतस्ततो मुमुक्षुणां भवितव्यं सदामुना ॥२२१॥

अत्यन्ततीव्रवैराग्यं फललिप्सा महत्तरा ।
तदेतदुभयं विद्यात्समाधानस्य कारणम् ॥२२२॥

बहिरंगं श्रुतिः प्राह ब्रह्मचर्यादिमुक्तये ।
शमादिषट्कमेवैतदन्तरंगं विदुर्बुधाः ॥२२३॥

अन्तरंगं हि बलवद्बहिरंगाद्यतस्ततः ।
शमादिषट्कं जिज्ञासोरवश्यं भाव्यमान्तरम् ॥२२४॥

अन्तरंगविहीनस्य कृतश्रवणकोटयः ।
न फलन्ति यथा योद्धुरधीरस्यास्त्रसंपदः ॥२२५॥

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्यद्विद्वान्मोक्तुमिच्छति ।
संसारपाशबंधं तन्मुमुक्षुत्वं निगद्यते ॥२२६॥

साधनानां तु सर्वेषां मुमुक्षा मूलकारणम् ।
अनिच्छोरप्रवृत्तस्य क्व श्रुतिः क्व नु तत्फलम् ॥२२७॥

तीव्रमध्यममंदातिमंदभेदाश्चतुर्विधाः ।
मुमुक्षा तत्प्रकारोऽपि कीर्त्यंते श्रूयतां बुधैः ॥२२८॥

तापैस्त्रिभिर्नित्यमनेकरूपैः संतप्यमानो क्षुभितान्तरात्मा ।
परिग्रहं सर्वमनर्थबुद्धया जहाति सा तीव्रतरा मुमुक्षा ॥२२९॥

तापत्रयं तीव्रमवेक्ष्य वस्तुं दृष्ट्वा कलत्रं तनयान्विहातुम् ।
मध्ये द्वयोर्लोडनमात्मनो यत्सैषा मता माध्यमिकी मुमुक्षा ॥२३०॥

मोक्षस्य कालोऽस्ति किमद्य मे त्वरा भुक्त्वैव भोगात्कृतसर्वकार्यः ।
मुक्त्यै यतिष्येऽहमथेति बुद्धिरेषैव मंदा कथिता मुमुक्षा ॥२३१॥

मार्गे प्रयातुर्मणिलाभवन्मे लभेत मोक्षो यदि तर्हि धन्यः ।
इत्याशया मूढधियां मतिर्या सैषातिमन्दाभिमता मुमुक्षा ॥२३२॥

जन्मानेकसहस्रेषु तपसाऽऽराधितेश्वरः ।
तेन निःशेषनिर्धूतहृदयस्थितकल्मषः ॥२३३॥

शास्त्रविद्गुणदोषज्ञो भोग्यमात्रे विनिःस्पृहः ।
नित्यानित्यपदार्थज्ञो मुक्तिकामो दृढव्रतः ॥२३४॥

निष्टप्तमग्निना पात्रमुद्वास्य त्वरया यथा ।
जहाति गेहं तद्वच्च तीव्रमोक्षेच्छया द्विजः ॥२३५॥

स एव सद्यस्तरति संसृतिं गुर्वनुग्रहात् ।
यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात्स जीवन्नेव मुच्यते ॥२३६॥

जन्मान्तरे मध्यमस्तु तदन्यस्तु युगान्तरे ।
चतुर्थः कल्पकोट्यां वा नैव बंधाद्विमुच्यते ॥२३७॥

नृजन्म जन्तोरतिदुर्लभं विदुस्ततोऽपि पुंस्त्वं च ततो विवेकः ।
लब्ध्वा तदेतत्त्रितयं महात्मा यतेत मुक्त्यै सहसा विरक्तः ॥२३८॥

पुत्रमित्रकलत्रादिसुखं जन्मनि जन्मनि ।
मर्त्यत्वं पुरुषत्वं च विवेकश्च न लभ्यते ॥२३९॥

लब्ध्वा सुदुर्लभतरं नरजन्म जंतु-
स्तत्रापि पौरुषमतः सदसद्विवेकम् ।
संप्राप्य चैहिकसुखाभिरतो यदि स्या-
द्धिक्तस्य जन्म कुमतेः पुरुषाधमस्य ॥२४०॥

खादते मोदते नित्यं शुनकः सूकरः खरः ।
तेषामेषां विशेषः को वृत्तिर्येषां तु तैः समा ॥२४१॥

यावन्नाश्रयते रोगो यावन्नाक्रमते जरा ।
यावन्न धीर्विपर्येति यावन्मृत्युं न पश्यति ॥२४२॥

तावदेव नरः स्वस्थः सारग्रहणतत्परः ।
विवेकी प्रयतेताशु भवबंधविमुक्तये ॥२४३॥

देवर्षिपितृमर्त्यर्णबंधमुक्तास्तु कोटिशः ।
भवबंधविमुक्तस्तु यः कश्चिद्ब्रह्मवित्तमः ॥२४४॥

अंतर्बन्धेन बद्धस्य किं बहिर्बन्धमोचनैः ।
तदन्तर्बन्धमुक्त्यर्थं क्रियतां कृतिभिः कृतिः ॥२४५॥

क्रुतिपर्यवसानैव मता तीव्रमुमुक्षुता ।
अन्या तु रञ्जनामात्रा यत्र नो दृश्यते क्रुतिः ।।२४६।।

गेहादिसर्वमपहाय लघुत्वबुद्धया
सौखेच्छया स्वपतिनानलमाविविक्षोः ।
कान्ताजनस्य नियता सुदृढा त्वरा या
सैषा फलान्तगमने करणं मुमुक्षोः ।।२४७।।

नित्यानित्यविवेकश्च देहक्षणिकतामतिः ।
मृत्योर्भीतिश्च तापश्च मुमुक्षावृद्धिकारणम् ।।२४८।।

शिरो विवेकस्त्वत्यंतं वैराग्यं वपुरुच्यते ।
शमादयः षडंगानि मोक्षेच्छा प्राण इष्यते ।।२४९।।

इदृंशांगसमायुक्तो जिज्ञासुर्युक्तिकोविदः ।
शूरो मृत्युं निहन्त्येव सम्यग्ज्ञानासिना ध्रुवम् ।।२५०।।

उक्तसाधनसंपन्नो जिज्ञासुर्यतिरात्मनः ।
जिज्ञासार्थे गुरुं गच्छेत्समित्पाणिर्नयोज्ज्वलः ।।२५१।।

श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो यः प्रशान्तः समदर्शनः ।
निर्ममो निरहंकारो निर्द्वंद्वो निष्परिग्रहः ।।२५२।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः करुणामृतसागरः
एवंलक्षणसंपन्नः स गुरुर्ब्रह्मवित्तमः ।
उपास्याद्यः प्रयत्नेन जिज्ञासोः स्वार्थसिद्धये ।।२५३।।

जन्मानेकशतैः सदादरयुजा भक्त्या समाराधितो
भक्तैर्वैदिकलक्षणेन विधिना संतुष्ट ईशः स्वयम् ।
साक्षाच्छ्रीगुरुरूपमेत्य कृपया दृग्गोचरः सन्प्रभुः
तत्त्वं साधु विबोध्य तारयति तान्संसारदुःखार्णवात् ।।२५४।।

अविद्याहृदयग्रंथिविमोक्षोऽपि भवेद्यतः ।
तमेव गुरुरित्याहुर्गुरुशब्दार्थवेदिनः ॥२५५॥

शिव एव गुरुः साक्षात् गुरुरेव शिवः स्वयम् ।
उभयोरंतरं किञ्चिन्न द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥२५६॥

बंधमुक्तं ब्रह्मनिष्ठं कृतकृत्यं भजेद्गुरुम् ।
यस्य प्रसादात्संसारसागरो गोष्पदायते ॥२५७॥

शुश्रूषया सदा भक्त्या प्रणामैर्विनयोक्तिभिः ।
प्रसन्नं गुरुमासाद्य प्रष्टव्यं ज्ञेयमात्मनः ॥२५८॥

भगवन्करुणासिंधो भवसिंधोर्भवांस्तरिः ।
यमाश्रित्याश्रमेणैव परं पारं गता बुधाः ॥२५९॥

जन्मांतरकृतानन्तपुण्यकर्मफलोदयः ।
अद्य संनिहितो यस्मात्त्वत्कृपापात्रमस्म्यहम् ॥२६०॥

संप्रीतिमक्ष्णोर्वदद्प्रसादमानन्दमन्तः करणस्य सद्यः ।
विलोकनं ब्रह्मविदस्तनोति छिनत्ति मोहं सुगतिं व्यनक्ति ॥२६१॥

हुताशनानां शशिनामिनानामप्यर्बुदं वापि न यन्निहंतुम् ।
शक्नोति तद्ध्वान्तमनन्तमान्तरं हन्त्यात्मवेत्ता सकृदीक्षणेन ॥२६२॥

दुष्पारे भवसागरे जनिमृतिव्याध्यादिदुःखोत्कटे
घोरे पुत्रकलत्रमित्रबहुलग्राहाकरे भीकरे ।
कर्मोत्तुङ्गतरङ्गभङ्गनिकरैराकृष्यमाणो मुहुः
यातायातगतिभ्रमेण शरणं किंचिन्न पश्याम्यहम् ॥२६३॥

केन वा पुण्यशेषेण तव पादांबुजद्वयम् ।
दृष्टवानस्मि मामार्तं मृत्योस्त्राहि दयादृशा ॥२६४॥

वदन्तमेवं तं शिष्यं दृष्ट्वैव दयया गुरुः ।
दद्यादभयमेतस्मै मा भैष्टेति मुहुर्मुहुः ॥२६५॥

विद्वन्मृत्युभयं जहीहि भवतो नास्त्येव मृत्युः क्वचि-
न्नित्यस्य द्वयवर्जितस्य परमानंदात्मनो ब्रह्मणः ।
भ्रान्त्या किंचिदवेक्ष्य भीतमनसा मिथ्या त्वया कथ्यते
मां त्राहीति हि सुप्तवत्प्रलपनं शून्यात्मकं ते मृषा ॥२६६॥

निद्रागाढतमोवृतः किल जनः स्वप्ने भुजंगादिना
ग्रस्तं स्वं समवेक्ष्य यत्प्रलपति त्रासाद्धतोऽस्मीत्यलम् ।
आप्तेन प्रतिबोधितः करतलेनाताड्य पृष्टः स्वयं
किंचिन्नेति वदत्यमुष्य वचनं स्यात्तत्किमर्थं वद ॥२६७॥

रज्जोस्तु तत्त्वमनवेक्ष्य गृहीतसर्प-
भावः पुमानयमहिर्दंसतीति मोहात् ।
आक्रोशति प्रतिबिभेति च कंपते त-
न्मिथ्यैव नात्र भुजगोऽस्ति विचार्यमाणे ॥२६८॥

तद्वत्त्वयाप्यात्मन उक्तमेतज्जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःखम् ।
मृषैव सर्वं भ्रमकल्पितं ते सम्यग्विचार्यात्मनि मुञ्च भीतिम् ॥२६९॥

भवाननात्मनो धर्मानात्मन्यारोप्य शोचति ।
तदज्ञानकृतं सर्वं भयं त्यक्त्वा सुखी भव ॥२७०॥

शिष्य :—

श्रीमद्भिरुक्तं सकलं मृषेति दृष्टान्त एव ह्युपपद्यते तत् ।
दार्ष्टान्तिके नैव भवादिदुःखं प्रत्यक्षतः सर्वजनप्रसिद्धम् ॥२७१॥

प्रत्यक्षेणानुभूतार्थः कथं मिथ्यात्वमर्हति ।
चक्षुषो विषयं कुंभं कथं मिथ्या करोम्यहम् ॥२७२॥

विद्यमानस्य मिथ्यात्वं कथं नु घटते प्रभो।
प्रत्यक्षं खलु सर्वेषां प्रमाणं प्रस्फुटार्थकम् ॥२७३॥

मर्त्यस्य मम जन्मादिदुःखभाजोऽल्पजीविनः।
ब्रह्मत्वमपि नित्यत्वं परमानन्दता कथम् ॥२७४॥

क्व आत्मा कस्त्वनात्मा च किमु लक्षणमेतयोः।
आत्मन्यनात्मधर्माणामारोपः क्रियते कथम् ॥२७५॥

किमज्ञानं तदुत्पन्नभयत्यागोऽपि वा कथम्।
किमु ज्ञानं तदुत्पन्नसुखप्राप्तिश्च वा कथम् ॥२७६॥

सर्वमेतद्यथापूर्वं करामलकवत्स्फुटम्।
प्रतिपादय मे स्वामिन् श्रीगुरो करुणानिधे ॥२७७॥

श्रीगुरुः—

धन्यः कृतार्थस्त्वमहो विवेकः शिवप्रसादस्तव विद्यते महान्।
विसृज्य तु प्राकृतलोकमार्गं ब्रह्मावगन्तुं यतसे यतस्त्वम् ॥२७८॥

शिवप्रसादेन विना न सिद्धिः शिवप्रसादेन विना न बुद्धिः।
शिवप्रसादेन विना न युक्तिः शिवप्रसादेन विना न मुक्तिः ॥२७९॥

यस्य प्रसादेन विमुक्तसंगाः शुकादयः संसृतिबंधमुक्ताः।
तस्य प्रसादो बहुजन्मलभ्यो भक्त्यैकगम्यो भवमुक्तिहेतुः ॥२८०॥

विवेको जन्तूनां प्रभवति जनिष्वेव बहुषु
प्रसादादेवेशाद्बहुसुकृतपाकोदयवशात्।
यतस्तस्मादेव त्वमपि परमार्थावगमने
कृतारम्भः पुंसामिदमिह विवेकस्य तु फलम् ॥२८१॥

मर्त्यत्वसिद्धेरपि पुंस्त्वसिद्धेर्विप्रत्वसिद्धेश्च विवेकसिद्धेः ।
वदन्ति मुख्यं फलमेव मोक्षं व्यर्थं समस्तं यदि चेन्न मोक्षः ॥२८२॥

प्रश्नः समीचीनतरस्तवायं यदात्मतत्त्वावगमे प्रवृत्तिः ।
ततस्तवैतत्सकलं समूलं निवेदयिष्यामि मुदा शृणुष्व ॥२८३॥

मर्त्यत्वं त्वयि कल्पितं भ्रमवशात्तेनैव जन्मादयः
तत्संभावितमेव दुःखमपि ते नो वस्तुतस्तन्मृषा ।
निद्रामोहवशादुपागतसुखं दुःखं च किं नु त्वया ।
सत्यत्वेन विलोकितं क्वचिदपि ब्रूहि प्रबोधागमे ॥२८४॥

नाशेषलोकैरनुभूयमानः प्रत्यक्षतोऽयं सकलप्रपंचः ।
कथं मृषा स्यादिति शङ्कनीयं विचारशून्येन विमुह्यता त्वया ॥२८५॥

दिवांधदृष्टेस्तु दिवांधकारः प्रत्यक्षसिद्धोऽपि स किं यथार्थः ।
तद्वद्भ्रमेणावगतः पदार्थो भ्रान्तस्य सत्यः सुमतेर्मृषैव ॥२८६॥

घटोऽयमित्यत्र घटाभिधानः प्रत्यक्षतः कश्चिदुदेति दृष्टेः ।
विचार्यमाणे स तु नास्ति तत्र मृदस्ति तद्भावविलक्षणा सा ॥२८७॥

प्रादेशमात्रः परिदृश्यतेऽर्कः शास्त्रेण संदर्शितलक्षयोजनः ।
मानान्तरेण क्वचिदेति बाधां प्रत्यक्षमप्यत्र हि न व्यवस्था ॥२८८॥

तस्मात्त्वयीदं भ्रमतः प्रतीतं मृषैव नो सत्यमवेहि साक्षात् ।
ब्रह्म त्वमेवासि सुखस्वरूपं त्वत्तो न भिन्नं विचिनुष्व बुद्धौ ॥२८९॥

लोकान्तरे वात्र गुहान्तरे वा तीर्थान्तरे कर्मपरंपरांतरे ।
शास्त्रान्तरे नास्त्यनुपश्यतामिह स्वयं परं ब्रह्म विचार्यमाणे ॥२९०॥

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु पश्यति ।
गोपः कक्षगतं छागं यथा कूपेषु दुर्मतिः ॥२९१॥

स्वमात्मानं परं मत्वा परमात्मानमन्यथा।
विमृग्यते पुनः स्वात्मा बहिः कोशेषु पण्डितैः ॥२९२॥

विस्मृत्य वस्तुनस्तत्त्वमध्यारोप्य च वस्तुनि।
अवस्तुतां च तद्धर्मान्मुधा शोचति नान्यथा ॥२९३॥

आत्मानात्मविवेकं ते वक्ष्यामि शृणु सादरम्।
यस्य श्रवणमात्रेण मुच्यतेऽनात्मबंधनात् ॥२९४॥

इत्युक्त्वाभिमुखीकृत्य शिष्यं करुणया गुरुः।
अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंचयन् ॥२९५॥

सम्यक्प्रबोधयत्तत्त्वं शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना।
सर्वेषामुपकाराय तत्प्रकारोऽत्र दर्श्यते ॥२९६॥

वस्तुन्यवस्त्वारोपो यः सोऽध्यारोप इतीर्यते।
असर्पभूते रज्ज्वादौ सर्पत्वारोपणं यथा ॥२९७॥

वस्तु तावत्परं ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणम्।
इदमारोपितं यत्र भाति खे नीलतादिवत् ॥२९८॥

तत्कारणं यदज्ञानं सकार्यं सद्विलक्षणम्।
अवस्त्वित्युच्यते सद्भिर्यस्य बाधा प्रदृश्यते ॥२९९॥

अवस्तु तत्प्रमाणैर्यद्बाध्यते शुक्तिरौप्यवत्।
न बाध्यते यत्तद्वस्तु त्रिषु कालेषु शुक्तिवत् ॥३००॥

शुक्तेर्बाधा न खल्वस्ति रजतस्य यथा तथा।
अवस्तुसंज्ञितं यत्तज्जगदध्यासकारणम् ॥३०१॥

सदसद्भ्यामनिर्वाच्यज्ञानं त्रिगुणात्मकम्।
वस्तु तत्त्वावबोधैकबाध्यं तद्भावलक्षणम् ॥३०२॥

मिथ्यासंबंधतस्तत्र ब्रह्मण्याश्रित्य तिष्ठति ।
मणौ शक्तिर्यथा तद्वन्नैतदाश्रयदूषकम् ॥३०३॥

सद्भावे लिंगमेतस्य कार्यमेतच्चराचरम् ।
मानं श्रुतिः स्मृतिश्चाज्ञोऽहमित्यनुभवोऽपि च ॥३०४॥

अज्ञानं प्रकृतिः शक्तिरविद्येति निगद्यते ।
तदेतत्सन्न भवति नासद्वा शुक्तिरौप्यवत् ॥३०५॥

सतो भिन्नमभिन्नं वा न दीपस्य प्रभा यथा ।
न सावयवमन्यद्वा बीजस्यांकुरवत्क्वचित् ॥३०६॥

अत एतदनिर्वाच्यमित्येव कवयो विदुः ।
समष्टिव्यष्टिरूपेण द्विधाज्ञानं निगद्यते ॥३०७॥

नानात्वेन प्रतीतानामज्ञानानामभेदतः ।
एकत्वेन समष्टिः स्याद्भूरुहाणां वनं यथा ॥३०८॥

इयं समष्टिरुत्कृष्टा सत्त्वांशोत्कर्षतः पुरा ।
मायेति कथ्यते तज्ज्ञैः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा ॥३०९॥

मायोपहितचैतन्यं साभासं सत्त्वबृंहितम् ।
सर्वज्ञत्वादिगुणकं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ॥३१०॥

अव्याकृतं तदव्यक्तमीश इत्यपि गीयते ।
सर्वशक्तिगुणोपेतः सर्वज्ञानावभासकः ॥३११॥

स्वतंत्रः सत्यसंकल्पः सत्यकामः स ईश्वरः ।
तस्यैतस्य महाविष्णोर्महाशक्तेर्महीयसः ॥३१२॥

सर्वज्ञत्वेश्वरत्वादिकारणत्वान्मनीषिणः ।
कारणं वपुरित्याहुः समष्टिं सत्त्वबृंहितम् ॥३१३॥

आनन्दप्रचुरत्वेन साधकत्वेन कोशवत् ।
सैषानंदमयः कोश इतीशस्य निगद्यते ॥३१४॥

सर्वोपरमहेतुत्वात्सुषुप्तिस्थानमिष्यते ।
प्राकृतः प्रलयो यत्र श्राव्यते श्रुतिभिर्मुहुः ॥३१५॥

अज्ञानं व्यष्ट्यभिप्रायादनेकत्वेन भिद्यते ।
अज्ञानवृत्तयो नाना तत्तद्गुणविलक्षणाः ॥३१६॥

वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायाद्भूरुहा इत्यनेकता ।
यथा तथैवाज्ञानस्य व्यष्टितः स्यादनेकता ॥३१७॥

व्यष्टिर्मलिनसत्त्वैषा रजसा तमसा युता ।
ततो निकृष्टा भवति योवाधिः प्रत्यगात्मनः ॥३१८॥

चैतन्यं व्यष्ट्यवच्छिन्नं प्रत्यगात्मेति गीयते ।
साभासं व्यष्ट्युपहितं सत्तादात्म्येन तद्गुणैः ॥३१९॥

अभिभूतः स एवात्मा जीव इत्यभिधीयते ।
किंचिज्ज्ञत्वानीश्वरत्वसंसारित्वादिधर्मवान् ॥३२०॥

अस्य व्यष्टिरहंकारकारणत्वेन कारणम् ।
वपुस्तत्राभिमान्यात्मा प्राज्ञ इत्युच्यते बुधैः ॥३२१॥

प्राज्ञत्वमस्यैकाज्ञानभासकत्वेन संमतम् ।
व्यष्टेर्निकृष्टत्वेनास्य नानेकाज्ञानभासकम् ॥३२२॥

स्वरूपाच्छादकत्वेनाप्यानन्दप्रचुरत्वतः ।
कारणं वपुरानन्दमयः कोश इतीर्यते ॥३२३॥

अस्यावस्था सुषुप्तिः स्याद्यत्रानन्दः प्रकृष्यते ।
एषोऽहं सुखमस्वाप्सं न तु किंचिदवेदिषम् ॥३२४॥

इत्यानन्दसमुत्कर्षः प्रवुद्धेषु प्रदृश्यते ।
समष्टेरपि च व्यष्टेरुभयोर्वनवृक्षवत् ॥३२५॥

अभेद एव नो भेदो जात्यैकत्वेन वस्तुतः ।
अभेद एव ज्ञातव्यस्तथेशप्राज्ञयोरपि ॥३२६॥

सत्युपाध्योरभिन्नत्वे क्व भेदस्तद्विशिष्टयोः ।
एकीभावे तरंगाब्ध्योः को भेदः प्रतिबिम्बयोः ॥३२७॥

अज्ञानतदवच्छिन्नाभासयोरुभयोरपि ।
आधारं शुद्धचैतन्यं यत्तत्तुर्यमितीर्यते ॥३२८॥

एतदेवाविविक्तं सदुपाधिभ्यां च तद्गुणैः ।
महावाक्यस्य वाच्यार्थो विविक्तं लक्ष्य इष्यते ॥३२९॥

अनन्तशक्तिसंपन्नो मायोपाधिक ईश्वरः ।
ईक्षामात्रेण सृजति विश्वमेतच्चराचरम् ॥३३०॥

अद्वितीयस्वमात्रोऽसौ निरुपादान ईश्वरः ।
स्वयमेव कथं सर्वं सृजतीति न शङ्क्यताम् ॥३३१॥

निमित्तमप्युपादानं स्वयमेव भवन्प्रभुः ।
चराचरात्मकं विश्वं सृजत्यवति लुम्पति ॥३३२॥

स्वप्राधान्येन जगतो निमित्तमपि कारणम् ।
उपादानं तथोपाधिप्राधान्येन भवत्ययम् ॥३३३॥

यथा लूता निमित्तं च स्वप्रधानतया भवेत् ।
स्वशरीरप्रधानत्वेनोपादानं तथेश्वरः ॥३३४॥

तमःप्रधानप्रकृतिविशिष्टात्परमात्मनः ।
अभूत्स्वकाशादाकाशमाकाशाद्वायुरुच्यते ॥३३५॥

वायोरग्निस्तथैवाग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी क्रमात् ।
शक्तेस्तमःप्रधानत्वं तत्कार्ये जाड्यदर्शनात् ॥३३६॥

आरम्भन्ते कार्यगुणान्ये कारणगुणा हि ते ।
एतानि सूक्ष्मभूतानि भूतमात्रा अपि क्रमात् ॥३३७॥

एतेभ्यः सूक्ष्मभूतेभ्यः सूक्ष्मदेहा भवन्त्यपि ।
स्थूलान्यपि च भूतानि चान्योन्यांशविमेलनात् ॥३३८॥

अपञ्चीकृतभूतेभ्यो जातं सप्तदशाङ्गकम् ।
संसारकारणं लिंगमात्मनो भोगसाधनम् ॥३३९॥

श्रोत्रादिपञ्चकं चैव वागादीनां च पञ्चकम् ।
प्राणादिपञ्चकं बुद्धिमनसी लिङ्गमुच्यते ॥३४०॥

श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानि पंच जातानि ।
आकाशादीनां सत्त्वांशेभ्यो धीन्द्रियाण्यनुक्रमतः ॥३४१॥

आकाशादिगताः पञ्च सात्त्विकांशाः परस्परम् ।
मिलित्वैवान्तःकरणमभवत्सर्वकारणम् ॥३४२॥

प्रकाशत्वादेतेषां सात्त्विकांशत्वमिष्यते ।
प्रकाशकत्वं सत्त्वस्य स्वच्छत्वेन यतस्ततः ॥३४३॥

तदन्तःकरणं वृत्तिभेदेन स्याच्चतुर्विधम् ।
मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति तदुच्यते ॥३४४॥

संकल्पान्मन इत्याहुर्बुद्धिरर्थस्य निश्चयात् ।
अभिमानादहंकारश्चित्तमर्थस्य चिंतनात् ॥३४५॥

मनस्यपि च बुद्धौ च चित्ताहंकारयोः क्रमात् ।
अन्तर्भावोऽत्र बोद्धव्यो लिङ्गलक्षणसिद्धये । ३४६॥

चिंतनं च मनोधर्मः संकल्पादिर्यथा तथा।
अंतर्भावो मनस्यैव सम्यक्चित्तस्य सिध्यति ॥३४७॥

देहादावहमित्येव भावो दृढतरो धियः।
दृश्यतेऽहंकृतेस्तस्मादन्तर्भावोऽत्र युज्यते ॥३४८॥

तस्मादेव तु बुद्धेः कर्तृत्वं तदितरस्य करणत्वम्।
सिध्यत्यात्मन उभयाद्विद्यात्संसारकारणं मोहात् ॥३४९॥

विज्ञानमयकोशः स्याद्बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सह।
विज्ञानप्रचुरत्वेनाप्याच्छादकतयात्मनः ॥३५०॥

विज्ञानमयकोशोऽयमिति विद्वद्भिरुच्यते।
अयं महानहंकारवृत्तिमान्कर्तृलक्षणः।
सर्वसंसारनिर्वोढा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥३५१॥

अहं ममेत्येव सदाभिमानं देहेन्द्रियादौ कुरुते गृहादौ।
जीवाभिमानः पुरुषोऽयमेव कर्ता च भोक्ता च सुखी च दुःखी ॥३५२॥

स्ववासनाप्रेरित एव नित्यं करोति कर्मोभयलक्षणं च।
भुङ्क्ते तदुत्पन्नफलं विशिष्टं सुखं च दुःखं च परत्र चात्र ॥३५३॥

नानायोनिसहस्रेषु जायमानो मुहुर्मुहुः।
म्रियमाणो भ्रमत्येव जीवः संसारमंडले ॥३५४॥

मनो मनोमयः कोशो भवेज्ज्ञानेन्द्रियैः सह।
प्राचुर्यं मनसो यत्र दृश्यतेऽसौ मनोमयः ॥३५५॥

चिताविषादहर्षाद्याः कामाद्या अस्य वृत्तयः।
मनुते मनसैवैष फलं कामयते बहिः।
यतते कुरुते भुङ्क्ते तन्मनः सर्वकारणम् ॥३५६॥

मनो ह्यमुष्य प्रणवस्य हेतुरन्तर्बहिश्चार्थमनेन वेत्ति ।
शृणोति जिघ्रत्यमुनैव चेक्षते वक्ति स्पृशत्यत्ति करोति सर्वम् ॥३५७॥

बंधश्च मोक्षो मनसैव पुंसामर्थोऽप्यनर्थोऽप्यमुनैव सिध्यति ।
शुद्धेन मोक्षो मलिनेन बन्धो विवेकतोऽर्थोऽप्यविवेकतोऽन्यः ॥३५८॥

रजस्तमोभ्यां मलिनं त्वशुद्धमज्ञानजं सत्त्वगुणेन रिक्तम् ।
मनस्तमोदोषसमन्वितत्वाज्जडत्वमोहालसताप्रमादैः ।
तिरस्कृतं सन्न तु वेत्ति वास्तवं पदार्थतत्त्वं ह्युपलभ्यमानम् ॥३५९॥

रजोदोषैर्युक्तं यदि भवति विक्षेपकगुणैः
प्रतीपैः कामाद्यैरनिशमभिभूतं व्यथयति ।
कथंचित्सूक्ष्मार्थावगतिमदपि भ्राम्यति भृशं
मनोदीपो यद्वत्प्रबलमरुता ध्वस्तमहिमा ॥३६०॥

ततो मुमुक्षुर्भवबन्धमुक्त्यै रजस्तमोभ्यां च तदीयकार्यैः ।
वियोज्य चित्तं परिशुद्धसत्त्वं प्रियं प्रयत्नेन सदैव कुर्यात् ॥३६१॥

गर्भावासजनिप्रणाशनजराव्याध्यादिषु प्राणिनां
यद्दुःखं परिदृश्यते च नरके तच्चिन्तयित्वा मुहुः ।
दोषानेव विलोक्य सर्वविषयेष्वाशां विमुच्याभित-
श्चित्तग्रंथिविमोचनाय सुमतिः सत्त्वं समालम्बताम् ॥३६२॥

यमेषु निरतो यस्तु नियमेषु च यत्नतः ।
विवेकिनस्तस्य चित्तं प्रसादमधिगच्छति ॥३६३॥

आसुरीं संपदं त्यक्त्वा भजेद्यो दैवसंपदम् ।
मोक्षैककांक्षया नित्यं तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३६४॥

परद्रव्यपरद्रोहपरनिंदापरस्त्रियः ।
नालंबते मनो यस्य तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३६५॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः समत्वेन पश्यति ।
सुखं दुःखं विवेकेन तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३६६॥

अत्यन्तं श्रद्धया भक्त्या गुरुमीश्वरमात्मनि ।
यो भजत्यनिशं क्षांतस्तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३६७॥

शिष्टान्नमीशार्चनमार्यसेवां तीर्थाटनं स्वाश्रमधर्मनिष्ठाम् ।
यमानुषक्तिं नियमानुवृत्तिं चित्तप्रसादाय वदन्ति तज्ज्ञाः ॥३६८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनाम् ।
पूतिपर्युषितादीनां त्यागः सत्त्वाय कल्पते ॥३६९॥

श्रुत्वा सत्त्वपुराणानां सेवया सत्त्ववस्तुनः ।
अनुवृत्त्या च साधूनां सत्त्ववृत्तिः प्रजायते ॥३७०॥

यस्य चित्तं निर्विषयं हृदयं यस्य शीतलम् ।
तस्य मित्रं जगत्सर्वं तस्य मुक्तिः करस्थिता ॥३७१॥

हितपरिमितभोजी नित्यमेकान्तसेवी
सकृदुचितहितोक्तिः स्वल्पनिद्राविहारः ।
अनुनियमनशीलो यो भजत्युक्तकाले
स लभत इह शीघ्रं साधु चित्तप्रसादम् ॥३७२॥

चित्तप्रसादेन विनावगन्तुं वंधं न शक्नोति परात्मतत्त्वम् ।
तत्त्वावगत्या तु विना विमुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्मसहस्रकोटिषु ॥३७३॥

मनःप्रसादः पुरुषस्य वंधो मनःप्रसादो भवबन्धमुक्तिः ।
मनःप्रसादाधिगमाय तस्मान्मनोनिरासं विदधीत विद्वान् ॥३७४॥

पंचानामेव भूतानां रजोंशेभ्योऽभवन्क्रमात् ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्यनु ॥३७५॥

समस्तेभ्यो रजोंशेभ्यो व्योमादीनां क्रियात्मकाः।
प्राणादयः समुत्पन्नाः पंचाप्यांतरवायवः ॥३७६॥

प्राणः प्राग्गमनेन स्यादपानोऽर्वाग्गमनेन च।
व्यानस्तु विष्वग्गमनादुत्क्रान्त्योदान इष्यते ॥३७७॥

अशितान्नरसादीनां समीकरणधर्मतः।
समान इत्यभिप्रेतो वायुर्यस्तेषु पंचमः ॥३७८॥

क्रियैव दिश्यते प्रायः प्राणकर्मेन्द्रियेष्वलम्।
ततस्तेषां रजोंशेभ्यो जनिरंगीकृता बुधैः ॥३७९॥

राजसीं तु क्रियाशक्तिं तमःशक्तिं जडात्मिकाम्।
प्रकाशरूपिणीं सत्त्वशक्तिं प्राहुर्महर्षयः ॥३८०॥

एते प्राणादयः पञ्च पञ्चकर्मेन्द्रियैः सह।
भवेत्प्राणमयः कोशः स्थूलो येनैव चेष्टते ॥३८१॥

यद्यन्निष्पाद्यते कर्म पुण्यं वा पापमेव वा।
वागादिभिश्च वपुषा तत्प्राणमयकर्तृकम् ॥३८२॥

वायुनोच्चालितो वृक्षो नानारूपेण चेष्टते।
तस्मिन्विनिश्चले सोऽपि निश्चलः स्याद्यथा तथा ॥३८३॥

प्राणकर्मेन्द्रियैर्देहः प्रेर्यमाणः प्रवर्तते।
नानाक्रियासु सर्वत्र विहिताविहितादिषु ॥३८४॥

कोशत्रयं मिलित्वैतद्वपुः स्यात्सूक्ष्ममात्मनः।
अतिसूक्ष्मतया लीनस्यात्मनो गमकत्वतः ॥३८५॥

लिंगमित्युच्यते स्थूलापेक्षया सूक्ष्ममिष्यते।
सर्वं लिंगवपुर्जातमेकधीविषयत्वतः ॥३८६॥

समष्टिः स्यात्तरुगणः सामान्येन वनं यथा।
एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सफलं जगुः ॥३८७॥

हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा प्राण इत्यपि पण्डिताः।
हिरण्मये बुद्धिगर्भे प्रचकास्ति हिरण्यवत् ॥३८८॥

हिरण्यगर्भ इत्यस्य व्यपदेशस्ततो मतः।
समस्तलिङ्गदेहेषु सूत्रवन्मणिपंक्तिषु।
व्याप्य स्थितत्वात्सूत्रात्मा प्राणनात्प्राण उच्यते ॥३८९॥

नैकधीविषयत्वेन लिंगं व्यष्टिर्भवत्यथ।
यदेतद्व्यष्ट्युपहितं चिदाभाससमन्वितम् ॥३९०॥

चैतन्यं तैजस इति निगदन्ति मनीषिणः।
तेजोमयान्तःकरणोपाधित्वेनैव तैजसः ॥३९१॥

स्थूलात्सूक्ष्मतया व्यष्टिरस्य सूक्ष्मवपुर्मतम्।
अस्य जागरसंस्कारमयत्वाद्वपुरुच्यते ॥३९२॥

स्वप्ने जागरकालीनवासनापरिकल्पितान्।
तैजसो विषयान्भुंक्ते सूक्ष्मार्थान्सूक्ष्मवृत्तिभिः ॥३९३॥

समष्टेरपि च व्यष्टेः सामान्येनैव पूर्ववत्।
अभेद एव ज्ञातव्यो जात्यैकत्वे कुतो भिदा ॥३९४॥

द्वयोरुपाध्योरेकत्वे तयोरप्यभिमानिनोः।
सूत्रात्मनस्तैजसस्याप्यभेदः पूर्ववन्मतः ॥३९५॥

एवं सूक्ष्मप्रपंचस्य प्रकारः शास्त्रसंमतः।
अथ स्थूलप्रपंचस्य प्रकारः कथ्यते शृणु ॥३९६॥

तान्येव सूक्ष्मभूतानि व्योमादीनि परस्परम् ।
पंचीकृतानि स्थूलानि भवन्ति शृणु तत्क्रमम् ॥३९७॥

खादीनां भूतमेकैकं सममेव द्विधा द्विधा ।
विभज्य भागं तत्राद्यं त्यक्त्वा भागं द्वितीयकम् ॥३९८॥

चतुर्धा सुविभज्याथ तमेकैकं विनिक्षिपेत् ।
चतुर्णां प्रथमे भागे क्रमेण स्वार्धमंतरा ॥३९९॥

ततो व्योमादिभूतानां भागाः पञ्च भवन्ति ते ।
स्वस्वार्धभागेनान्येभ्यः प्राप्तं भागचतुष्टयम् ॥४००॥

संयोज्य स्थूलतां यान्ति व्योमादीनि यथाक्रमम् ।
अमुष्य पंचीकरणस्याप्रामाण्यं न शङ्क्यताम् ॥४०१॥

उपलक्षणमस्यापि तत्त्रिवृत्करणश्रुतिः ।
पंचानामपि भूतानां श्रूयतेऽन्यत्र संभवः ॥४०२॥

ततः प्रामाणिकं पञ्चीकरणं मन्यतां बुधैः ।
प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादन्यथा क्रियते यदि ॥४०३॥

आकाशवाय्वोर्धर्मस्तु वह्न्याद्यादावुपलभ्यते ।
यथा तथाकाशवाय्वोर्नाग्न्यादेर्धर्म इक्ष्यते ॥४०४॥

अतोऽप्रामाणिकमिति न किंचिदपि चिन्त्यताम् ।
खांशव्याप्तिश्च खव्याप्तिर्विद्यते पावकादिषु ॥४०५॥

तेनोपलभ्यते शब्दः कारणस्यातिरेकतः ।
तथा नभस्वतो धर्मोऽप्यग्न्यादावुपलभ्यते ॥४०६॥

न तथा विद्यते व्याप्तिर्वह्न्यादेः खनभस्वतोः ।
सूक्ष्मत्वादंशकव्याप्तेस्तद्धर्मो नोपलभ्यते ॥४०७॥

कारणस्यानुरूपेण कार्यं सर्वत्र दृश्यते ।
तस्मात्प्रामाण्यमेष्टव्यं बुधैः पंचीकृतेरपि ॥४०८॥

अनेनोद्भूतगुणकं भूतं वक्ष्येऽवधारय ।
शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणोऽनिलः ॥४०९॥

तेजः शब्दस्पर्शरूपैर्गुणवत्कारणं क्रमात् ।
आपश्चतुर्गुणः शब्दस्पर्शरूपरसैः क्रमात् ॥४१०॥

एतैश्चतुर्भिर्गन्धेन सह पञ्चगुणा मही ।
आकाशांशतया श्रोत्रं शब्दं गृह्णाति तद्गुणम् ॥४११॥

त्वङ्मारुतांशकतया स्पर्शं गृह्णाति तद्गुणम् ।
तेजोंशकतया चक्षू रूपं गृह्णाति तद्गुणम् ॥४१२॥

अबंशकतया जिह्वा रसं गृह्णाति तद्गुणम् ।
भूम्यंशकतया घ्राणं गंधं गृह्णाति तद्गुणम् ॥४१३॥

करोति खांशकतया वाक्शब्दोच्चारणक्रियाम् ।
वाय्वंशकतया पादौ गमनादिक्रियापरौ ॥४१४॥

तेजोंशकतया पाणी वह्न्याद्यर्चनतत्परौ ।
जलांशकतयोपस्थो रेतोमूत्रविसर्गकृत् ॥४१५॥

भूम्यंशकतया पायुः कठिनं मलमुत्सृजेत् ।
श्रोत्रस्य दैवत दिक्स्यात्त्वचो वायुर्दृशो रविः ॥४१६॥

जिह्वाया वरुणो दैवं घ्राणस्य त्वश्विनावुभौ ।
वाचोऽग्निर्हस्तयोरिन्द्रः पादयोस्तु त्रिविक्रमः ॥४१७॥

पायोर्मृत्युरुपस्थस्य त्वधिदैवं प्रजापतिः ।
मनसो दैवतं चन्द्रो बुद्धेर्दैवं बृहस्पतिः ॥४१८॥

रुद्रस्त्वहंकृतेर्देवं क्षेत्रज्ञश्चित्तदेवतम् ।
दिगाद्या देवताः सर्वाः खादिसत्त्वांशसंभवाः ॥४१९॥

संमिता इंद्रियस्थानेष्विंद्रियाणां समंततः ।
निगृह्णन्त्यनुगृह्णन्ति प्राणिकर्मानुरूपतः ॥४२०॥

शरीरकरणग्रामा प्राणाहमधिदेवताः ।
पंचैते हेतवः प्रोक्ता निष्पत्तौ सर्वकर्मणाम ॥४२१॥

कर्मानुरूपेण गुणोदयो भवेद्गुणानुरूपेण मनःप्रवृत्तिः ।
मनोनुवृत्तेरुभयात्मकेन्द्रियैर्निवर्त्यंते पुण्यमपुण्यमत्र ॥४२२॥

करोति विज्ञानमयोऽभिमानं कर्ताहमेवेति तदात्मना स्थितिः ।
आत्मा तु साक्षी न करोति किंचिन्न कारयत्येव तटस्थवत्सदा ॥४२३॥

द्रष्टा श्रोता वक्ता कर्ता भोक्ता भवत्यहंकारः ।
स्वयमेतद्विकृतीनां साक्षी निर्लेप एवात्मा ॥४२४॥

आत्मनः साक्षिमात्रत्वं न कर्तृत्वं न भोक्तृता ।
रविवत्प्राणिभिर्लोके क्रियमाणेषु कर्मसु ॥४२५॥

न ह्यर्कः कुरुते कर्म न कारयति जन्तवः ।
स्वस्वभावानुरोधेन वर्तन्ते स्वस्वकर्मसु ॥४२६॥

तथैव प्रत्यगात्मापि रविवन्निष्क्रियात्मना ।
उदासीनतयैवास्ते देहादीनां प्रवृत्तिषु ॥४२७॥

अज्ञात्वैवं परं तत्त्वं मायामोहितचेतसः ।
स्वात्मन्यारोपयन्त्येतत्कर्तृत्वाद्यन्यगोचरम् ॥४२८॥

आत्मस्वरूपमविचार्य विमूढबुद्धि-
रारोपयत्यखिलमेतदनात्मकार्यम् ।

स्वात्मन्यसङ्गचितिनिष्क्रिय एव चन्द्रे
दूरस्थमेघकृतभावनवद्भ्रमेण ॥४२९॥

आत्मानात्मविवेकं स्फुटतरमग्रे निवेदयिष्यामः ।
इममाकर्णय विद्वन् जगदुत्पत्तिप्रकारमावृत्त्या ॥४३०॥

पञ्चीकृतेभ्यः खादिभ्यो भूतेभ्यस्त्वीक्षयेशितुः ।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं ब्रह्माण्डं सचराचरम् ॥४३१॥

व्रीह्याद्योषधयः सर्वा वायुतेजोम्बुभूमयः ।
सर्वेषामप्यभूदन्नं चतुर्विधशरीरिणाम् ॥०३२॥

केचिन्मारुतभोजनाः खलु परे चंद्रार्कतेजोशनाः
केचित्तोयकणाशिनोऽपरिमिताः केचित्तु मृद्भक्षकाः ।
केचित्तत्पर्णशिलातृणादनपराः केचित्तु मांसाशिनः
केचिद्व्रीहियवान्नभोजनपरा जीवन्त्यमी जन्तवः ॥४३३॥

जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाद्याश्चतुर्विधाः ।
स्वस्वकर्मानुरूपेण जातास्तिष्ठन्ति जन्तवः ॥४३४॥

यत्र जाता जरायुभ्यस्ते नराद्या जरायुजाः ।
अण्डजास्ते स्युरण्डेभ्यो जाता ये विहगादयः ॥४३५॥

स्वेदाज्जाताः स्वेदजास्ते यूका लूक्षादयोऽपि च ।
भूमिमुद्भिद्य ये जाता उद्भिज्जास्ते द्रुमादयः ॥४३६॥

इदं स्थूलवपुर्जातं भौतिकं च चतुर्विधम् ।
सामान्येन समष्टिः स्यादेकधीविषयत्वतः ॥४३७॥

एतत्समष्ट्यवच्छिन्नं चैतन्यं फलसंयुतम् ।
प्राहुर्वैश्वानर इति विराडिति च वैदिकाः ॥४३८॥

वैश्वानरो विश्वनरेष्वात्मत्वेनाभिमानतः ।
विराट स्याद्विविधत्वेन स्वयमेव विराजनात् ॥४३९॥

चतुर्विधं भूतजातं तत्तज्जातिविशेषतः ।
नैकधीविषयत्वेन पूर्ववद्व्यष्टिरिष्यते ॥४४०॥

साभासं व्यष्ट्युपहितं तत्तादात्म्यमुपागतम् ।
चैतन्यं विश्व इत्याहुर्वेदान्तनयकोविदाः ॥४४१॥

विश्वोऽस्मिन्स्थूलदेहेऽत्र स्वाभिमानेन तिष्ठति ।
यतस्ततो विश्व इति नाम्ना सार्थो भवत्ययम् ॥४४२॥

व्यष्टिरेषास्य विश्वस्य भवति स्थूलविग्रहः ।
उच्यतेऽन्नविकारित्वात्कोशोऽन्नमय इत्ययम् ॥४४३॥

देहोऽयं पितृभुक्तान्नविकाराच्छुक्लशोणितात् ।
जातः प्रवर्धतेऽन्नेन तदभावे विनश्यति ॥४४४॥

तस्मादन्नविकारित्वेनायमन्नमयो मतः ।
आच्छादकत्वादेतस्याप्यसेः कोशवदात्मनः ॥४४५॥

आत्मनः स्थूलभोगानामेतदायतनं विदुः ।
शब्दादिविषयान्भुंक्ते स्थूलान्स्थूलात्मनि स्थितः ॥४४६॥

बहिरात्मा ततः स्थूलभोगायतनमुच्यते ।
इंद्रियैरुपनीतानां शब्दादीनामयं स्वयम् ।
देहेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४४७॥

एकादशद्वारवतीह देहे सौधे महाराज इवाक्षवर्गैः ।
संसेव्यमानो विषयोपभोगानुपाधिसंस्थो बुभुजेऽयमात्मा ॥४४८॥

ज्ञानेंद्रियाणि निजदैवतचोदितानि
कर्मेन्द्रियाण्यपि तथा मनआदिकानि।
स्वस्वप्रयोजनविधौ नियतानि सन्ति
यत्नेन किंकरजना इव तं भजन्ते ॥४४९॥

यत्रोपभुंक्ते विषयान्स्थूलानेष महामतिः।
अहं ममेति सैषास्यावस्था जाग्रदितीर्यते ॥४५०॥

एतत्समष्टिव्यष्ट्योश्चोभयोरप्यभिमानिनोः।
तद्विश्ववैश्वानरयोरभेदः पूर्ववन्मतः ॥४५१॥

स्थूलसूक्ष्मकारणाख्याः प्रपंचा ये निरूपिताः।
ते सर्वेऽपि मिलित्वैकः प्रपंचोऽपि महान्भवेत् ॥४५२॥

महाप्रपंचावच्छिन्नं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम्।
विराडादीशपर्यन्तं चैतन्यं चैकमेव तत् ॥४५३॥

यदनाद्यन्तमव्यक्तं चैतन्यमजक्षरम्।
महाप्रपंचेन सहाविविक्तं सदयोऽग्निवत् ॥४५४॥

तत्सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यस्य वाक्यस्य पंडितैः।
वाच्यार्थं इति निर्णीतं विविक्तं लक्ष्य इत्यपि ॥४५५॥

स्थूलाद्यज्ञानपर्यन्तं कार्यकारणलक्षणम्।
दृश्यं सर्वमनात्मेति विजानीहि विचक्षण ॥४५६॥

अंतःकरणतद्वृत्तिद्रष्टृ नित्यमविक्रियम्।
चैतन्यं यत्तदात्मेति बुद्धया बुध्यस्व सूक्ष्मया ॥४५७॥

एष प्रत्यक्स्वप्रकाशो निरंशोऽसंगः शुद्धः सर्वदैकस्वभावः।
नित्याखण्डानन्दरूपो निरीहः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥४५८॥

नैव प्रत्यग्जायते वर्धते नो किंचिन्नापक्षीयते नैव नाशम् ।
आत्मा नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो नासौ हन्यो हन्यमाने शरीरे ॥४५९॥

जन्मास्तित्वविवृद्धयः परिणतिश्चापक्षतिर्नाशनं
दृश्यस्यैव भवन्ति षड्विकृतयो नानाविधा व्याधयः ।
स्थूलत्वादि च नीलताद्यपि मितिर्वर्णाश्रमादिप्रथा
दृश्यन्ते वपुषो न चात्मन इमे तद्विक्रियासाक्षिणः ॥४६०॥

अस्मिन्नात्मन्यनात्मत्वमनात्मन्यात्मतां पुनः ।
विपरीततयाध्यस्य संसरन्ति विमोहतः ॥४६१॥

भ्रान्त्या मनुष्योऽहमहं द्विजोऽहं तज्ज्ञोऽहमज्ञोऽहमतीव पापी ।
भ्रष्टोऽस्मि शिष्टोऽस्मि सुखी च दुःखीत्येवं विमुह्यात्मनि कल्पयन्ति ।४६२

अनात्मनो जन्मजरामृतिक्षुधातृष्णासुखक्लेशभयादिधर्मान् ।
विपर्ययेण ह्यतथाविधेऽस्मिन्नारोपयन्त्यात्मनि बुद्धिदोषात् ॥४६३॥

भ्रान्त्या यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन गुणेन वा ।
दोषेणाप्यणुमात्रेण स न सम्बध्यते क्वचित् ॥४६४॥

किं मरुन्मृगतृष्णाम्बुपूरेणार्द्रत्वमृच्छति ।
दृष्टिसंस्थितपीतेन शंखः पीतायते किमु ॥४६५॥

शिष्यः—

प्रत्यगात्मन्यविषयेऽनात्माध्यासः कथं प्रभो ॥४६६॥

पुरो दृष्टे हि विषयेऽध्यस्यन्ति विषयान्तरम् ।
तद्दृष्टं शुक्तिरज्ज्वादौ सादृश्याद्यनुबन्धतः ॥४६७॥

परत्र पूर्वदृष्टस्यावभासः स्मृतिलक्षणः ।
अध्यासः स कथं स्वामिन् भवेदात्मन्यगोचरे ॥४६८॥

नानुभूतः कदाप्यात्माननुभूतस्य वस्तुनः ।
सादृश्यं सिध्यति कथमनात्मनि विलक्षणे ॥४६९॥

अनात्मन्यात्मताध्यासः कथमेव समागतः ।
निवृत्तिः कथमेतस्य केनोपायेन सिध्यति ॥४७०॥

उपाधियोग उभयोः सम एवेशजीवयोः ।
जीवस्यैव कथं बन्धो नेश्वरस्यास्ति तत्कथम् ॥४७१॥

एतत्सर्वं दयादृष्ट्या करामलकवत्स्फुटम् ।
प्रतिपादाय सर्वज्ञ श्रीगुरो करुणानिधे ॥४७२॥

श्रीगुरुः—

न सावयव एकस्य नात्मा विषय इष्यते ।
अस्यास्मत्प्रत्ययार्थत्वादपरोक्षाच्च सर्वशः ॥४७३॥

प्रसिद्धिरात्मनोऽस्त्येव न कस्यापि च दृश्यते ।
प्रत्ययो नाहमस्मीति न ह्यस्ति प्रत्यगात्मनि ॥४७४॥

न कस्यापि स्वसद्भावे प्रमाणमभिकांक्ष्यते ।
प्रमाणानां च प्रामाण्यं यन्मूलं किं तु बोधयेत् ॥४७५॥

मायाकार्यैस्तिरोभूतो नैष आत्मानुभूयते ।
मेघवृन्दैर्यथा भानुस्तथायमहमादिभिः ॥४७६॥

पुरस्थ एव विषये वस्तुन्यध्यस्यतामिति ।
नियमो न कृतः सद्भिर्भ्रान्तिरेवात्र कारणम् ॥४७७॥

दृगाद्यविषये व्योम्नि नीलतादि यथाऽबुधाः ।
अध्यस्यन्ति तथैवास्मिन्नात्मन्यपि मतिभ्रमात् ॥४७८॥

अनात्मन्यात्मताध्यासे न सादृश्यमपेक्षते ।
पीतोऽयं शङ्ख इत्यादौ सादृश्यं किमपेक्षितम् ॥४७९॥

निरुपाधिभ्रमेष्वस्मिन्नैवापेक्षा प्रदृश्यते ।
सोपाधिष्वेव तद्दृष्टं रज्जुसर्पभ्रमादिषु ॥४८०॥

तथापि किंचिद्वक्ष्यामि सादृश्यं शृणु तत्परः ।
अत्यन्तनिर्मलः सूक्ष्म आत्मायमतिभास्वरः ॥४८१॥

बुद्धिस्तथैव सत्त्वात्मा साभासा भास्वराऽमला ।
सान्निध्यादात्मवद्भाति सूर्यवत्स्फटिको यथा ॥४८२॥

आत्माभासं ततो बुद्धिर्बुद्ध्याभासं ततो मनः ।
अक्षाणि मनआभासान्यक्षाभासमिदं वपुः ॥४८३॥

अत एवात्मताबुद्धिर्देहाक्षादावनात्मनि ।
मूढानां प्रतिबिम्बादौ बालानामिव दृश्यते ।
सादृश्यं विद्यते बुद्धावात्मनोऽध्यासकारणम् ॥४८४॥

अनात्मन्यहमित्येव योऽयमध्यास ईरितः ।
स्यादुत्तरोत्तराध्यासे पूर्वपूर्वस्तु कारणम् ॥४८५॥

सुप्तिमूर्च्छोत्थितेष्वेव दृष्टः संसारलक्षणः ।
अनादिरेवाविद्यातः संस्कारोऽपि च तादृशः ॥४८६॥

अध्यासबाधागमनस्य कारणं शृणु प्रवाक्ष्यामि समाहितात्मा ।
यस्मादिदं प्राप्तमनर्थजातं जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःखम् ॥४८७॥

आत्मोपाधेरविद्याया अस्ति शक्तिद्वयं महत् ।
विक्षेप आवृतिश्चेति याभ्यां संसार आत्मनः ॥४८८॥

आवृतिस्तमसः शक्तिस्तद्ध्यावरणकारणम् ।
मूलाविद्येति सा प्रोक्ता यथा संमोहितं जगत् ॥४८९॥

विवेकवानप्यतियौक्तिकोऽपि श्रुतात्मतत्त्वोऽपि च पंडितोऽपि ।
शक्त्या यया संवृतबोधदृष्टिरात्मानमात्मस्थमिमं न वेद ॥४९०॥

विक्षेपनाम्नी रजसस्तु शक्तिः प्रवृत्तिहेतुः पुरुषस्य नित्यम् ।
स्थूलादिलिंगान्तमशेषमेतद्यया सदात्मन्यसदेव सूयते ॥४९१॥

निद्रा यथा पुरुषमप्रमत्तं समावृणोतीयमति प्रतीचम् ।
तथावृणोत्यावृतिशक्तिरन्तर्विक्षेपशक्ति परिजृम्भयन्ती ॥४९२॥

शक्त्या महत्यावरणाभिधानया समावृते सत्यमलस्वरूपे ।
पुमाननात्मन्यहमेष एवेत्यात्मत्वबुद्धिं विदधाति मोहात् ॥४९३॥

यथा प्रसुप्तिप्रतिभासदेहे स्वात्मत्वधीरेष तथा ह्यनात्मनः ।
जन्माप्ययक्षुद्भयतृट्छ्रमादीनारोपयत्यात्मनि तस्य धर्मान् ॥४९४॥

विक्षेपशक्त्या परिचोद्यमानः करोति कर्माण्युभयात्मकानि ।
भुञ्जान एतत्फलमप्युपात्तं परिभ्रमत्येव भवांबुराशौ ॥४९५॥

अध्यासदोषात्समुपागतोऽयं संसारबंधः प्रबलप्रतीचः ।
यद्योगतः क्लिश्यति गर्भवासजन्माप्ययक्लेशभयैरजस्रम् ॥४९६॥

अध्यासो नाम खल्वेष वस्तुनो योऽन्यथाग्रहः ।
स्वाभाविकभ्रान्तिमूलं संसृतेरादिकारणम् ॥४९७॥

सर्वानर्थस्य तद्बीजं योऽन्यथाग्रह आत्मनः ।
ततः संसारसंपातः संततक्लेशलक्षणः ॥४९८॥

अध्यासादेव संसारो नष्टेऽध्यासे न दृश्यते ।
तदेतदुभयं स्पष्टं पश्य त्वं बद्धमुक्तयोः ॥४९९॥

बद्धं प्रवृत्तितो विद्धि मुक्तं विद्धि निवृत्तितः।
प्रवृत्तिरेव संसारो निवृत्तिर्मुक्तिरिष्यते ॥५००॥

आत्मनः सोऽयमध्यासो मिथ्याज्ञानपुरःसरः।
असत्कल्पोऽपि संसारं तनुते रज्जुसर्पवत् ॥५०१॥

उपाधियोगसाम्येऽपि जीववत्परमात्मनः।
उपाधिभेदान्नो वंधस्तत्कार्यमपि किंचन ॥५०२॥

अस्योपाधिः शुद्धसत्त्वप्रधाना माया यत्र स्वस्य नास्त्यल्पभावः।
सत्त्वस्यैवोत्कृष्टता तेन वंधो नो विक्षेपस्तत्कृतो लेशमात्रः ॥५०३॥

सर्वज्ञोऽप्रतिबद्धबोधविभवस्तेनैव देवः स्वयं
मायां स्वामवलंव्य निश्चलतया स्वच्छंदवृत्तिः प्रभुः।
सृष्टिस्थित्यदनप्रवेशयमनव्यापारमात्रेच्छया
कुर्वन्क्रीडति तद्रजस्तम उभे संस्तभ्य शक्त्या स्वया ॥५०४॥

तस्मादावृतिविक्षेपौ किंचित्कर्तुं न शक्नुतः।
स्वयमेव स्वतंत्रोऽसौ तत्प्रवृत्तिनिरोधयोः ॥५०५॥

तमेव सा धीकर्मेति श्रुतिर्वक्ति महेशितुः।
निग्रहानुग्रहे शक्तिरावृतिक्षेपयोर्यतः ॥५०६॥

रजसस्तमसश्चैव प्राबल्यं सत्त्वहानतः।
जीवोपाधौ तथा जीवे तत्कार्यं बलवत्तरम् ॥५०७॥

तेन बन्धोऽस्य जीवस्य संसारोऽपि च तत्कृतः।
संप्राप्तः सर्वदा यत्र दुःखं भूयः स ईक्षते ॥५०८॥

एतस्य संसृतेर्हेतुरध्यासोऽर्थविपर्ययः।
अध्यासमूलमज्ञानमाहुरावृतिलक्षणम् ॥५०९॥

अज्ञानस्य निवृत्तिस्तु ज्ञानेनैव न कर्मणा ।
अविरोधितया कर्म नैवाज्ञानस्य बाधकम् ॥५१०॥

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते ।
कर्मणः कार्यमेवैषा जन्ममृत्युपरम्परा ॥५११॥

नैतस्मात्कर्मणः कार्यमन्यदस्ति विलक्षणम् ।
अज्ञानकार्यं तत्कर्म यतोऽज्ञानेन वर्धते ॥५१२॥

यद्येन वर्धते तेन नाशस्तस्य न सिध्यति ।
येन यस्य सहावस्था निरोधाय न कल्पते ॥५१३॥

नाशकत्वं तदुभयोः को नु कल्पयितुं क्षमः ।
सर्वं कर्माविरोध्येव सदाऽज्ञानस्य सर्वदा ॥५१४॥

ततोऽज्ञानस्य विच्छित्तिः कर्मणा नैव सिध्यति ।
यस्य प्रध्वस्तजनको यत्संयोगोऽस्ति तत्क्षणे ॥५१५॥

तयोरेव विरोधित्वं युक्तं भिन्नस्वभावयोः ।
तमःप्रकाशयोर्यद्वत्परस्परविरोधिता ॥५१६॥

अज्ञानज्ञानयोस्तद्वदुभयोरेव दृश्यते ।
न ज्ञानेन विना नाशस्तस्या केनापि सिध्यति ॥५१७॥

कस्मादज्ञानविच्छित्त्यै ज्ञानं संपादयेत्सुधीः ।
आत्मानात्मविवेकेन ज्ञानं सिध्यति नान्यथा ॥५१८॥

युक्त्याऽऽत्मानात्मनोस्तस्मात्करणीयं विवेचनम् ।
अनात्मन्यात्मताबुद्धिग्रंथिर्येन विदीर्यते ॥५१९॥

आत्मानात्मविवेकार्थं विवादोऽयं निरूप्यते ।
येनात्मानात्मनोस्तत्त्वं विविक्तं प्रस्फुटायते ॥५२०॥

मूढा अश्रुतवेदान्ताः स्वयं पण्डितमानिनः ।
ईशप्रसादरहिताः सद्गुरोश्च बहिर्मुखाः ॥५२१॥

विवदन्ति प्रकारं तं श्रृणु वक्ष्यामि सादरम् ।
अत्यंतपामरः कश्चित्पुत्र आत्मेति मन्यते ॥५२२॥

आत्मनीव स्वपुत्रेऽपि प्रबलप्रीतिदर्शनात् ।
पुत्रे तु पुष्टे पुष्टोऽहं नष्टे नष्टोऽहमित्यतः ॥५२३॥

अनुभूतिबलाच्चापि युक्तितोऽपि श्रुतेरपि ।
आत्मा वै पुत्रनामासीत्येवं च वदति श्रुतिः ॥५२४॥

दीपाद्दीपो यथा तद्वत्पितुः पुत्रः प्रजायते ।
पितुर्गुणानां तनये बीजांकुरवदीक्षणात् ॥५२५॥

अतोऽयं पुत्र आत्मेति मन्यते भ्रान्तिमत्तमः ।
तन्मतं दूषयत्यन्यः पुत्र आत्मा कथं त्विति ॥५२६॥

प्रीतिमात्रात्कथं पुत्र आत्मा भवितुमर्हति ।
अन्यत्रापीक्ष्यते प्रीतिः क्षेत्रपात्रधनादिषु ॥५२७॥

पुत्राद्विशिष्टा देहेऽस्मिन्प्राणिनां प्रीतिरिष्यते ।
प्रदीप्ते भवने पुत्रं त्यक्त्वा जन्तुः पलायते ॥५२८॥

तं विक्रीणाति देहार्थं प्रतिकूलं निहन्ति च ।
तस्मादात्मा तु तनयो न भवेच्च कदाचन ॥५२९॥

गुणरूपादिसादृश्यं दीपवन्न सुते पितुः ।
अव्यङ्गाज्जायते व्यङ्गः सगुणादपि दुर्गुणः ॥५३०॥

आभासमात्रास्ताः सर्वा युक्तयोऽप्युक्तयोऽपि च ।
पुत्रस्य पितृवद्गेहे सर्वकार्येषु वस्तुषु ॥५३१॥

स्वामित्वद्योतनायास्मिन्नात्मत्वमुपचर्यते ।
श्रुत्या तु मुख्यया वृत्त्या पुत्र आत्मेति नोच्यते ॥५३२॥

औपचारिकमात्मत्वं पुत्रे तस्मान्न मुख्यतः ।
अहंपदप्रत्ययार्थो देह एव न चेतरः ॥५३३॥

प्रत्यक्षः सर्वजन्तूनां देहोऽहमिति निश्चयः ।
एष पुरुषोऽन्नरसमय इत्यपि च श्रुतिः ॥५३४॥

पुरुषत्वं वदत्यस्य स्वात्मा हि पुरुषस्ततः ।
आत्मायं देह एवेति चार्वाकेण विनिश्चितम् ॥५३५॥

तन्मतं दूषयत्यन्योऽसहमानः पृथग्जनः ।
देह आत्मा कथं नु स्यात्परतन्त्रो ह्यचेतनः ॥५३६॥

इन्द्रियैश्चाल्यमानोऽयं चेष्टते न स्वतः क्वचित् ।
आश्रयश्चक्षुरादीनां गृहवद्गृहमेधिनाम् ॥५३७॥

बाल्यादिनानावस्थावाञ्शुक्लशोणितसंभवः ।
अतः कदापि देहस्य नात्मत्वमुपपद्यते ॥५३८॥

बधिरोऽहं च काणोऽहं मूक इत्यनुभूतितः ।
इन्द्रियाणि भवन्त्यात्मा येषामस्त्यर्थवेदनम् ॥५३९॥

इन्द्रियाणां चेतनत्वं देहे प्राणाः प्रजापतिम् ।
एतमेत्येत्यूचुरिति श्रुत्यैव प्रतिपाद्यते ॥५४०॥

यतस्तस्मादिन्द्रियाणां युक्तमात्मत्वमित्यमुम् ।
निश्चयं दूषयत्यन्योऽसहमानः पृथग्जनः ॥५४१॥

इन्द्रियाणि कथं त्वात्मा करणानि कुठारवत् ।
कारणस्य कुठारादेश्चेतनत्वं न हीक्ष्यते ॥५४२॥

श्रुत्याधिदेवतामेव इन्द्रियेषूपचर्यते ।
न तु साक्षादिन्द्रियाणां चेतनत्वमुदीर्यते ॥५४३॥

अचेतनस्य दीपादेरर्थभासकता यथा ।
तथैव चक्षुरादीनां जडानामपि सिध्यति ॥५४४॥

इन्द्रियाणां चेष्टयिता प्राणोऽयं पंचवृत्तिकः ।
सर्वावस्थास्ववस्थावान्सोऽयमात्मत्वमर्हति ।
अहं क्षुधावांस्तृष्णावानित्याद्यनुभवादपि ॥५४५॥

श्रुत्यान्योऽन्तर आत्मा प्राणमय इतीर्यते यस्मात् ।
तस्मात्प्राणस्यात्मत्वं युक्तं नो करणसंज्ञानां क्वापि ॥५४६॥

इति निश्चयमेतस्य दूपयत्यपरो जडः ।
भवत्यात्मा कथं प्राणो वायुरेवैष आन्तरः ॥५४७॥

बहिर्यात्यन्तरायाति भस्त्रिकावायुवन्मुहुः ।
न हितं वाहितं वा स्वमन्यद्वा वेद किंचन ॥५४८॥

जडस्वभावश्चपलः कर्मयुक्तश्च सर्वदा ।
प्राणस्य भानं मनसि स्थिते सुप्ते न दृश्यते ॥५४९॥

मनस्तु सर्वं जानाति सर्ववेदनकारणम् ।
यत्तस्मान्मन एवात्मा प्राणस्तु न कदाचन ॥५५०॥

संकल्पवानहं चिंतावानहं च विकल्पवान् ।
इत्याद्यनुभवादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः ॥५५१॥

इत्यादिश्रुतिसद्भावाद्युक्ता मनस आत्मता ।
इति निश्चयमेवस्य दूषयत्यपरो जडः ॥५५२॥

कथं मनस आत्मत्वं करणस्य दृगादिवत् ।
कर्तृप्रयोज्यं करणं न स्वयं तु प्रवर्तते ॥५५३॥

करणप्रयोक्ता यः कर्ता तस्यैवात्मत्वमर्हति ।
आत्मा स्वतन्त्रः पुरुषो न प्रयोज्यः कदाचन ॥५५४॥

अहं कर्तास्म्यहं भोक्ता सुखीत्यनुभवादपि ।
बुद्धिरात्मा भवत्येव बुद्धिधर्मो ह्यहंकृतिः ॥५५५॥

अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय इति वदति निगमः ।
मनसोऽपि च भिन्नं विज्ञानमयं कर्तृरूपमात्मानम् ॥५५६॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ।
इत्यस्य कर्तृता श्रुत्या मुखतः प्रतिपाद्यते ।
तस्माद्युक्तात्मता बुद्धेरिति बौद्धेन निश्चितम् ॥५५७॥

प्राभाकरस्तार्किकश्च तावुभावप्यमर्षया ।
तन्निश्चयं दूषयतो बुद्धिरात्मा कथं न्विति ॥५५८॥

बुद्धेरज्ञानकार्यत्वाद्विनाशित्वात्प्रतिक्षणम् ।
बुद्ध्यादीनां च सर्वेषामज्ञाने लयदर्शनात् ॥५५९॥

आज्ञोऽहमित्यनुभवादास्त्रीबालादिगोचरात् ।
भवत्यज्ञानमेवात्मा न तु बुद्धिः कदाचन ॥५६०॥

विज्ञानमयादन्यं त्वानन्दमयं परं तथात्मानम् ।
अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय इति वदति वेदोऽपि ॥५६१॥

दुःखप्रत्ययशून्यत्वादानन्दमयता मता ।
अज्ञाने सकल सुप्तौ बुद्ध्यादि प्रविलीयते ॥५६२॥

दुःखिनोऽपि सुषुप्तौ त्वानंदमयता ततः।
सुप्तौ किंचिन्न जानामीत्यनुभूतिश्च दृश्यते ॥५६३॥

यत एवमतो युक्ता ह्यज्ञानस्यात्मता ध्रुवम्।
इति तन्निश्चयं भाट्टा दूषयन्ति स्वयुक्तिभिः ॥५६४॥

कथमज्ञानमेवात्मा ज्ञानं चाप्युपलभ्यते।
ज्ञानाभावे कथं विद्युरज्ञोऽहमिति चाज्ञताम्।
अस्वाप्सं सुखमेवाहं न जानाम्यत्र किंचन ॥५६५॥

इत्यज्ञानमपि ज्ञानं प्रबुद्धेषु प्रदृश्यते।
प्रज्ञानघन एवानन्दमय इत्यपि श्रुतिः ॥५६३॥

प्रब्रवीत्युभयात्मत्वमात्मनः स्वयमेव सा।
आत्मातश्चिज्जडतनुः खद्योत इव सम्मतः ॥५६७॥

न केवलाज्ञानमयो घटकुड्यादिवज्जडः।
इति निश्चयमेतेषां दूषयत्यपरो जडः ॥५६८॥

ज्ञानाज्ञानमयस्त्वात्मा कथं भवितुमर्हति।
परस्परविरुद्धत्वात्तेजस्तिमिरवत्तयोः ॥५६९॥

सामानाधिकरण्यं वा संयोगो वा समाश्रयः।
तमः प्रकाशवज्ज्ञानाज्ञानयोर्न हि सिध्यति ॥५७०॥

अज्ञानमपि विज्ञानं बुद्धिर्वापि च तद्गुणाः।
सुषुप्तौ नोपलभ्यन्ते यत्किंचिदपि वापरम् ॥५७१॥

मात्रादिलक्षणं किं नु शून्यमेवोपलभ्यते।
सुषुप्तौ नान्यदस्त्येव नाहमप्यासमित्यनु ॥५७२॥

सुप्तोत्थितजनैः सर्वैः शून्यमेवानुस्मर्यते ।
यत्ततः शून्यमेवात्मा न ज्ञानाज्ञानलक्षणः ॥५७३॥

वेदेनाप्यसदेवेदमग्र आसीदिति स्फुटम् ।
निरुच्यते यतस्तस्माच्छून्यस्यैवात्मता मता ॥५७४॥

असन्नेव घटः पूर्वं जायमानः प्रदृश्यते ।
न हि कुम्भः पुरैवान्तः स्थित्वोदेति बहिर्मुखः ॥५७५॥

यत्तस्मादसतः सर्वं सदिदं समजायत ।
ततः सर्वात्मना शून्यस्यैवात्मत्वं समर्हति ॥५७६॥

इत्येवं पण्डितंमन्यैः परस्परविरोधिभिः ।
तत्तन्मतानुरूपाल्पश्रुतियुक्त्यनुभूतिभिः ॥५७७॥

निर्णीतमतजातानि खण्डितान्येव पण्डितैः ।
श्रुतिभिश्चाप्यनुभवैर्बाधकैः प्रतिवादिनाम् ॥५७८॥

यतस्तस्मात्तु पुत्रादेः शून्यान्तस्य विशेषतः ।
सुसाधितमनात्मत्वं श्रुतियुक्त्यनुभूतिभिः ॥५७९॥

न हि प्रमाणान्तरबाधितस्य याथार्थ्यमङ्गीक्रियते महद्भिः ।
पुत्रादिशून्यान्तमनात्मतत्त्वमित्येव विस्पष्टमतः सुजातम् ॥५८०॥

शिष्यः—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने शून्यं विना नान्यदिहोपलभ्यते ।
शून्यं त्वनात्मा न ततः परः कोऽप्यात्माभिधानस्त्वनुभूयतेऽर्थः ॥५८१॥

यद्यस्ति चात्मा किमु नोपलभ्यते सुप्तौ यथा तिष्ठति किं प्रमाणम् ।
किं लक्षणोऽसौ स कथं न बाध्यते प्रबाध्यमानेष्वहमादिषु स्वयम् ॥५८२॥

एतत्संशयजातं मे हृदयग्रन्थिलक्षणम् ।
छिन्धि युक्तिमहाखड्गधारया कृपया गुरो ॥५८३॥

श्रीगुरुः—

अतिसूक्ष्मतरः प्रश्नस्तवायं सदृशो मतः ।
सूक्ष्मार्थदर्शनं सूक्ष्मबुद्धिष्वेव प्रदृश्यते ॥५८४॥

शृणु वक्ष्यामि सकलं यद्यत्पृष्टं त्वयाधुना ।
रहस्यं परमं सूक्ष्मं ज्ञातव्यं च मुमुक्षुभिः ॥५८५॥

बुद्धयादि सकलं सुप्तावनुलीनं स्वकारणे ।
अव्यक्ते वटवद्बीजे तिष्ठत्यविकृतात्मना ॥५८६

तिष्ठत्येव स्वरूपेण न तु शून्यायते जगत् ।
क्वचिदङ्कुररूपेण क्वचिद्बीजात्मना घटः ।
कार्यकारणरूपेण यथा तिष्ठत्यदस्तथा ॥५८७॥

अव्याकृतात्मनावस्थां जगतो वदति श्रुतिः ।
सुषुप्त्यादिषु तद्भेदं तद्ध्यव्याकृतमित्यसौ ॥५८८॥

इममर्थमविज्ञाय निर्णीतं श्रुतियुक्तिभिः ।
जगतो दर्शनं शून्यमिति प्राहुरतद्विदः ॥५८९॥

नासतः सन उत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते ।
उदेति नरशृंगात्किं खपुष्पात्किं भविष्यति ॥५९०॥

प्रभवति न हि कुम्भोऽविद्यमानो मृदश्चे-
त्प्रभवतु सिकताया वाथवा वारिणो वा ।
न हि भवति च ताभ्यां सर्वथा क्वापि तस्मा-
द्यतउदयति योऽर्थोऽस्त्यत्र तस्य स्वभावः ॥५९१॥

अन्यथा विपरीतं स्यात्कार्यकारणलक्षणम् ।
नियतं सर्वशास्त्रेषु सर्वलोकेषु सर्वतः ॥५९२॥

कथमसतः सज्जायेतेति श्रुत्या निषिध्यते तस्मात् ।
असतः सज्जननं नो घटते मिथ्यैव शून्यशब्दार्थः ॥५९३॥

अव्यक्तशब्दिते प्राज्ञे सत्यात्मन्यत्र जाग्रति ।
कथं सिद्ध्यति शून्यत्वं तस्य भ्रान्तशिरोमणे ॥५९४॥

सुषुप्तौ शून्यमेवेति केन पुंसा तवेरितम् ।
हेतुनानुमितं केन कथं ज्ञानं त्वयोच्यताम् ॥५९५॥

इति पृष्टो मूढतमो वदिष्यति किमुत्तरम् ।
नैवानुरूपकं लिङ्गं वक्ता वा नास्ति कश्चन ।
सुषुप्तिस्थितशून्यस्य बोद्धा को न्वात्मनः परः ॥५९६॥

स्वेनानुभूतं स्वयमेव वक्ति स्वसुप्तिकाले स्थितशून्यभावम् ।
तत्र स्वसत्तामनवेक्ष्य मूढः स्वस्यापि शून्यत्वमयं ब्रवीति ॥५९७॥

अवेद्यमानः स्वयमन्यलोकैः सौषुप्तिकं धर्ममवैति साक्षात् ।
बुद्ध्याद्यभावस्य च योऽत्र बोद्धा स एव आत्मा खलु निर्विकारः ।५९८।

यस्येदं सकलं विभाति महसा तस्य स्वयंज्योतिषः
सूर्यस्येव किमस्ति भासकमिह प्रज्ञादि सर्वं जडम् ।
न ह्यर्कस्य विभासकं क्षितितले दृष्टं तथैवात्मनो
नान्यः कोऽप्यनुभासकोऽनुभविता नातः परः कश्चन ।५९९।

येनानुभूयते सर्वं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
विज्ञातारमिमं को नु कथं वदितुमर्हति ॥६००॥

सर्वस्य दाहको वह्निर्वह्नेर्नान्योऽस्ति दाहकः ।
यथा तथात्मनो ज्ञातुर्ज्ञाता कोऽपि न दृश्यते ॥६०१॥

उपलभ्येत केनायं ह्युपलब्धा स्वयं ततः ।
उपलब्ध्यन्तराभावान्नायमात्मोपलभ्यते ॥६०२॥

बुद्ध्यादिवेद्यविलयादयमेक एव
सुप्तौ न पश्यति शृणोति न वेत्ति किंचित् ।
सौषुप्तिकस्य तमसः स्वयमेव साक्षी
भूत्वात्र तिष्ठति सुखेन च निर्विकल्पः ॥६०३॥

सुषुप्तावात्मसद्भावे प्रमाणं पण्डितोत्तमाः ।
विदुः स्वप्रत्यभिज्ञानमाबालवृद्धसंमतम् ॥६०४॥

प्रत्यभिजायमानत्वाल्लिङ्गमात्रानुमापकम् ।
स्मर्यमाणस्य सद्भावः सुखमस्वाप्समित्ययम् ॥६०५॥

पुरानुभूतो नो चेत्तु स्मृतेरनुदयो भवेत् ।
इत्यादितर्कयुक्तिश्च सद्भावे मानमात्मनः ॥६०६॥

यत्रात्मनोऽकामयितृत्वबुद्धिः स्वप्नानपेक्षापि च उत्सुपुप्तम् ।
इत्यात्मसद्भाव उदीर्यतेऽत्र श्रुत्यापि तस्माच्छ्रुतिरत्र मानम् ॥६०७॥

अकामयितृता स्वप्नादर्शनं घटते कथम् ।
अविद्यमानस्य तत आत्मास्तित्वं प्रतीयते ॥६०७॥

एतैः प्रमाणैरस्तीति ज्ञातः साक्षितया बुधैः ।
आत्मायं केवलः शुद्धः सच्चिदानन्दलक्षणः ॥६०९॥

सत्त्वचित्त्वानन्दतादिलक्षणं प्रत्यगात्मनः ।
कालत्रयेऽप्यबाध्यत्वं सत्यं नित्यस्वरूपतः ॥६१०॥

शुद्धचैतन्यरूपत्वं चित्त्वं ज्ञानस्वरूपतः ।
अखण्डसुखरूपत्वादानन्दत्वमितीर्यते ॥६११॥

अनुस्यूतात्मनः सत्ता जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
अहमस्मीत्यतो नित्यो भवत्यात्मायमव्ययः ॥६१२॥

सर्वदाप्यासमित्येवाभिन्नप्रत्यय ईक्ष्यते ।
कदापि नासमित्यस्मादात्मनो नित्यता मता ॥६१३॥

आयातासु गतासु शैशवमुखावस्थासु जाग्रन्मुखा-
स्वन्यास्वप्यखिलासु वृत्तिषु धियो दुष्टास्वदुष्टास्वपि ।
गङ्गाभङ्गपरम्परासु जलवत्सत्तानुवृत्तात्मन-
स्तिष्ठत्येव सदा स्थिराहमहमित्येकात्मता साक्षिणः ॥६१४॥

प्रतिपदमहमादयो विभिन्नाः क्षणपरिणामितया विकारिणस्ते ।
न परिणतिरमुष्य निष्कलत्वादयमविकार्यत एव नित्य आत्मा ॥६१५॥

यः स्वप्नमद्राक्षमहं सुखं योऽस्वाप्सं स एवास्म्यथ जागरूकः ।
इत्येवमच्छिन्नतयानुभूयते सत्तात्मनो नास्ति हि संशयोऽत्र ॥६१६॥

श्रुत्युक्ताः षोडशकलाश्चिदाभासस्य नात्मनः ।
निष्कलत्वान्नास्य लयस्तस्मान्नित्यत्वमात्मनः ॥६१७॥

जडप्रकाशकः सूर्यः प्रकाशात्मैव नो जडः ।
बुद्ध्यादिभासकस्तस्माच्चित्स्वरूपस्तथा मतः ॥६१८॥

कुड्यादेस्तु जडस्य नैव घटते भानं स्वतः सर्वदा
सूर्यादिप्रभया विना क्वचिदपि प्रत्यक्षमेतत्तथा ।
बुद्ध्यादेरपि न स्वतोऽस्त्यणुरपि स्फूर्तिर्विनेवात्मना
सोऽयं केवलचिन्मयश्रुतिमतो भानुर्यथा रुङ्मयः ॥६१९॥

स्वभासने वान्यपदार्थभासने नार्कः प्रकाशान्तरमीप्सदिच्छति ।
स्वबोधने वाप्यहमादिबोधने तथैव चिद्धातुरयं परात्मा ॥६२०॥

अन्यप्रकाशं न किमप्यपेक्ष्य यतोऽयमाभाति निजात्मनैव ।
ततः स्वयंज्योतिरयं चिदात्मा न ह्यात्मभाने परदीप्त्यपेक्षा ॥६२१॥

यं न प्रकाशयति किंचिदिनोऽपि चन्द्रः
नो विद्युतः किमुत वह्निरयं मिताभः ।
यं भान्तमेतमनुभाति जगत्समस्तं
सोऽयं स्वयं स्फुरति सर्वदशासु चात्मा ॥६२२॥

आत्मनः सुखरूपत्वादानन्दत्वं स्वलक्षणम् ।
परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मनः ॥६२३॥

सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीतिः सावधिरीक्ष्यते ।
कदापि नावधिः प्रीतेः स्वात्मनि प्राणिनां क्वचित् ॥६२४॥

क्षीणेन्द्रियस्य जीर्णस्य संप्राप्तोत्क्रमणस्य वा ।
अस्ति जीवितुमेवाशा स्वात्मा प्रियतमो यतः ॥६२५॥

आत्मातः परमप्रेमास्पदः सर्वशरीरिणाम् ।
यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमृच्छति ॥६२६॥

एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि ।
अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः ॥६२७॥

प्रियत्वेन मतं यत्तु तत्सदा नाप्रियं नृणाम् ।
विपत्तावपि संपत्तौ यथात्मा न तथापरः ॥६२८॥

आत्मा खलु प्रियतमोऽसुभृतां यदर्थाः
भार्यात्मजाप्तगृहवित्तमुखाः पदार्थाः ।
वाणिज्यकर्षणगवावनराजसेवा-
भैषज्यकप्रभृतयो विविधाः क्रियाश्च ॥६२९॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् ।
आत्मार्थमेव नान्यार्थं नातः प्रियतमः परः ॥६३०॥

तस्मादात्मा केवलानन्दरूपो यः सर्वस्माद्वस्तुनः प्रेष्ठ उक्तः ।
यो वा अस्मान्मन्यतेऽन्यं प्रियं यं सोऽयं तस्माच्छोकमेवानुभुंक्ते ॥६३१॥

शिष्यः—

अपरः क्रियते प्रश्नो मयायं क्षम्यतां प्रभो ।
अज्ञत्वागपराधाय कल्पते न महात्मनाम् ॥६३२॥

आत्मान्यः सुखमन्यच्च नात्मनः सुखरूपता ।
आत्मनः सुखमाशास्यं यतते सकलो जनः ॥६३३॥

आत्मनः सुखरूपत्वे प्रयत्नः किमु देहिनाम् ।
एष मे संशयः स्वामिन् कृपयैव निरस्यताम् ॥६३४॥

श्रीगुरुः—

आनन्दरूपमात्मानमज्ञात्वैव पृथग्जनः ।
बहिःसुखाय यतते न तु कश्चिद्विदन्बुधः ॥६३५॥

अज्ञात्वैव हि निक्षेपं भिक्षामटति दुर्मतिः ।
स्ववेश्मनि निधिं ज्ञात्वा को नु भिक्षामटेत्सुधीः ॥६३६॥

स्थूलं च सूक्ष्मं च वपुः स्वभावतो
दुःखात्मकं स्वात्मतया गृहीत्वा ।
विस्मृत्य च स्वं सुखरूपमात्मनः
दुःखप्रदेभ्यः सुखमज्ञ इच्छति ॥६३७॥

न हि दुःखप्रदं वस्तु सुखं दातुं समर्हति ।
किं विषं पिबतो जन्तोरमृतत्वं प्रयच्छति ॥६३८॥

आत्मान्यः सुखमन्यच्चेत्येवं निश्चित्य पामरः ।
बहिःसुखाय यतते सत्यमेव न संशयः ॥६३९॥

इष्टस्य वस्तुनो ध्यानदर्शनाद्युपभुक्तिषु ।
प्रतीयते य आनन्दः सर्वेषामिह देहिनाम् ॥६४०॥

स वस्तुधर्मो नो यस्मान्मनस्येवोपलभ्यते ।
वस्तुधर्मस्य मनसि कथं स्यादुपलम्भनम् ॥६४१॥

अन्यत्र त्वन्यधर्माणामुपलम्भो न दृश्यते ।
तस्मान्न वस्तुधर्मोऽयमानन्दस्तु कदाचन ॥६४२॥

नाप्येष धर्मो मनसोऽसत्यर्थे तददर्शनात् ।
असति व्यंजके व्यंग्यं नोदेतीति न मन्यताम् ॥६४३॥

सत्यर्थेऽपि च नोदेति ह्यानन्दस्तूक्तलक्षणः ।
सत्यपि व्यञ्जके व्यंग्यानुदयो नैव सम्मतः ॥६४४॥

दुरदृष्टादिकं नात्र प्रतिबन्धः प्रकल्प्यताम् ।
प्रियस्य वस्तुनो लाभे दुरदृष्टं न सिध्यति ॥६४५॥

तस्मान्न मानसो धर्मो निर्गुणत्वान्न चात्मनः ।
किं तु पुण्यस्य सान्निध्यादिष्टस्यापि च वस्तुनः ॥६४६॥

सत्त्वप्रधाने चित्तेऽस्मिस्त्वात्मैव प्रतिबिंबति ।
आनन्दलक्षणः स्वच्छे पयसीव सुधाकरः ॥६४७॥

सोऽयमाभास आनन्दश्चित्ते यः प्रतिबिंबितः ।
पुण्योत्कर्षापकर्षाभ्यां भवत्युच्चावचः स्वयम् ॥६४८॥

सार्वभौमादिब्रह्मान्तं श्रुत्या यः प्रतिपादितः ।
स क्षयिष्णुः सातिशयः प्रक्षीणे कारणे लयम् ॥६४९॥

यात्येष विषयानन्दो यस्तु पुण्यैकसाधनः ।
ये तु वैषयिकानन्दं भुञ्जते पुण्यकारिणः ॥६५०॥

दुःखं च भोगकालेऽपि तेषामन्ते महत्तरम् ।
सुखं विषयसंपृक्तं विषसंपृक्तभक्तवत् ॥६५१॥

भोगकालेऽपि भोगान्ते दुःखमेव प्रयच्छति ।
सुखमुच्चावचत्वेन क्षयिष्णुत्वभयेन च ॥६५२॥

भोगकाले भवेन्नृणां ब्रह्मादिपदभाजिनाम् ।
राजस्थानप्रविष्टानां तारतम्यं मतं यथा ॥६५३॥

तथैव दुःखं जन्तूनां ब्रह्मादिपदभाजिनाम् ।
न कांक्षणीयं विदुषा तस्माद्वैषयिकं सुखम् ॥६५४॥

यो बिम्बभूत आनन्दः स आत्मानन्दलक्षणः ।
शाश्वतो निर्द्वयः पूर्णो नित्य एकोऽपि निर्भयः ॥६५५॥

लक्ष्यते प्रतिबिम्बेनाभासानन्देन बिम्बवत् ।
प्रतिबिम्बो बिम्बमूलो विना बिम्बं न सिध्यति ॥६५६॥

यत्तयो बिम्ब आनन्दः प्रतिबिम्बेन लक्ष्यते ।
युक्त्यैव पंडितजनैर्न कदाप्यनुभूयते ॥६५७॥

अविद्याकार्यकरणसंघातेषु पुरोदितः ।
आत्मा जाग्रत्यपि स्वप्ने न भवत्येव गोचरः ॥६५८॥

स्थूलस्यापि च सूक्ष्मस्य दुःखरूपस्य वर्ष्मणः ।
लये सुषुप्तौ स्फुरति प्रत्यगानन्दलक्षणः ॥६५९॥

न ह्यत्र विषयः कश्चिन्नापि बुद्ध्यादि किंचन ।
आत्मैव केवलानन्दमात्रस्तिष्ठति निर्द्वयः ॥६६०॥

प्रत्यभिज्ञायते सर्वैरेव सुप्तोत्थितैर्जनैः ।
सुखमात्रतया नात्र संशयं कर्तुमर्हसि ॥६६१॥

त्वयापि प्रत्यभिज्ञातं सुखमात्रत्वमात्मनः ।
सुषुप्तादुत्थितवता सुखमस्वाप्समित्यनु ॥६६२॥

दुःखाभावः सुखमिति यदुक्तं पूर्ववादिना ।
अनाघ्रातोपनिषदा तदसारं मृषा वचः ॥६६३॥

दुःखाभावस्तु लोष्टादौ विद्यते नानुभूयते ।
सुखलेशोऽपि सर्वेषां प्रत्यक्षं तदिदं खलु ॥६६४॥

सदयं ह्येष एवेति प्रस्तुत्य वदति श्रुतिः ।
सद्घनोऽयं चिद्घनोऽपमानन्दघन इत्यपि ॥६६५॥

आनन्दघनतामस्य स्वरूपं प्रत्यगात्मनः ।
धन्यैर्महात्मभिर्धीरैर्ब्रह्मविद्भिः सदुत्तमैः ॥६६६॥

अपरोक्षतयैवात्मा समाधावनुभूयते ।
केवलानन्दमात्रत्वेनैवमत्र न संशयः ॥६६७॥

स्वस्वोपाध्यनुरूपेण ब्रह्माद्याः सर्वजन्तवः ।
उपजीवन्त्यमुष्यैव मात्रामानन्दलक्षणाम् ॥६६८॥

आस्वाद्यते यो भक्ष्येषु सुखकृन्मधुरो रसः ।
स गुडस्येव नो तेषां माधुर्यं विद्यते क्वचित् ॥६६९॥

तद्वद्विपयसान्निध्यादानन्दो यः प्रतीयते ।
बिम्बानन्दांशविस्फूर्तिरेवासौ न जडात्मनाम् ॥६७०॥

यस्य कस्यापि योगेन यत्र कुत्रापि दृश्यते ।
आनन्दः स परस्यैव ब्रह्मणः स्फूर्तिलक्षणः ॥६७१॥

यथा कुवलयोल्लासश्चंद्रस्यैव प्रसादतः।
तथानन्दोदयोऽप्येषां स्फुरणादेव वस्तुनः॥६७२॥

सत्त्वं चित्त्वं तथानंदस्वरूपं परमात्मनः।
निर्गुणस्य गुणायोगाद्गुणास्तु न भवन्ति ते॥६७३॥

विशेषणं तु व्यावृत्त्यै भवेद्द्रव्यान्तरे सति।
परमात्माद्वितीयोऽयं प्रपंचस्य मृषात्वतः॥६७४॥

वस्त्वन्तरस्याभावेन न व्यावृत्त्यः कदाचन।
केवलो निर्गुणश्चेति निर्गुणत्वं निरुच्यते॥६७५॥

श्रुत्यैव न ततस्तेषां गुणत्वमुपपद्यते।
उष्णत्वं च प्रकाशश्च यथा वह्नेस्तथात्मनः॥६७६॥

सत्त्वचित्त्वानन्दतादि स्वरूपमिति निश्चितम्।
अत एव सजातीयविजातीयादिलक्षणः॥६७७॥

भेदो न विद्यते वस्तुन्यद्वितीये परात्मनि।
प्रपंचस्यापवादेन विजातीयकृता भिदा॥६७८॥

नेष्यते तत्प्रकारं ते वक्ष्यामि शृणु सादरम्।
अहेर्गुणविवर्तस्य गुणमात्रस्य वस्तुतः॥६७९॥

विवर्तस्यास्य जगतः सन्मात्रत्वेन दर्शनम्।
अपवाद इति प्राहुरद्वैतब्रह्मदर्शिनः॥६८०॥

व्युत्क्रमेण तदुत्पत्तेर्द्रष्टव्यं सूक्ष्मबुद्धिभिः।
प्रतीतस्यास्य जगतः सन्मात्रत्वं सुयुक्तिभिः॥६८१॥

चतुर्विधं स्थूलशरीरजातं तद्भोज्यमन्नादि तदाश्रयादि।
ब्रह्माण्डमेतत्सकलं स्थविष्ठमीक्षेत पञ्चीकृतभूतमात्रम्॥६८२॥

यत्कार्यरूपेण यदीक्ष्यते तत्तन्मात्रमेवात्र विचार्यमाणे।
मृत्कार्यभूतं कलशादि सम्यग्विचारितं सन्न मृदो विभिद्यते ॥६८३॥

अन्तर्बहिश्चापि मृदेव दृश्यते मृदो न भिन्नं कलशादि किंचन।
ग्रीवादिमद्यत्कलशं तदित्थं न वाच्यमेतच्च मृदेव नान्यत् ॥६८४॥

स्वरूपतस्तत्कलशादिनाम्ना मृदेव मूढैरभिधीयते ततः।
नाम्नो हि भेदो न तु वस्तुभेदः प्रदृश्यते तत्र विचार्यमाणे ॥६८५॥

तस्माद्धि कार्यं न कदापि भिन्नं स्वकारणादस्ति यतस्ततोऽङ्ग।
यद्भौतिकं सर्वमिदं तथैव तद्भूतमात्रं न ततोऽपि भिन्नम् ॥६८६॥

तच्चापि पञ्चीकृतभूतजातं शब्दादिभिः स्वस्वगुणैश्च सार्धम्।
वपूंषि सूक्ष्माणि च सर्वमेतद्भवत्यपञ्चीकृतभूतमात्रम् ॥६८७॥

तदप्यपञ्चीकृतभूतजातं रजस्तमःसत्त्वगुणैश्च सार्धम्।
अव्यक्तमात्रं भवति स्वरूपतः साभासमव्यक्तमिदं स्वयं च ॥६८८॥

आधारभूतं यदखंडमाद्यं शुद्धं परं ब्रह्म सदैकरूपम्।
सन्मात्रमेवान्त्यथ नो विकल्पः सतः परं केवलमेव वस्तु ॥६८९॥

एकश्चन्द्रः सद्वितीयो यथा स्याद्दृष्टेर्दोषादेव पुंसस्तथैकम्।
ब्रह्मास्त्येतद्बुद्धिदोषेण नाना दोषे नष्टे भाति वस्त्वेकमेव ॥६९०॥

रज्जोः स्वरूपाधिगमे न सर्पधी रज्ज्वां विलीना तु यथा तथैव।
ब्रह्मावगत्या तु जगत्प्रतीतिस्तत्रैव लीना तु सह भ्रमेण ॥६९१॥

भ्रान्त्योदितद्वैतमतिप्रशान्त्या सदैकमेवास्ति सदाऽद्वितीयम्।
ततो विजातीयकृतोऽत्र भेदो न विद्यते ब्रह्मणि निर्विकल्पे ॥६९२॥

यदास्त्युपाधिस्तदभिन्न आत्मा तदा सजातीय इवावभाति।
स्वप्नार्थतस्तस्य मृषात्मकत्वात्तदप्रतीतौ स्वयमेव आत्मा।

ब्रह्मैक्यतामेति पृथङ् न भाति ततः सजातीयकृतो न भेदः ॥६९३॥

घटाभावे घटाकाशो महाकाशो यथा तथा ।
उपाध्यभावे त्वात्मैष स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ॥६९४॥

पूर्ण एव सदाकाशो घटे सत्यप्यसत्यपि ।
नित्यपूर्णस्य नभसो विच्छेदः केन सिध्यति ॥६९५॥

अच्छिन्नश्छिन्नवद्भाति पामराणां घटादिना ।
ग्रामक्षेत्राद्यवधिभिर्भिन्नेव वसुधा यथा ॥६९६॥

तथैव परगं ब्रह्म महतां च महत्तमम् ।
परिच्छिन्नमिवाभाति भ्रान्त्या कल्पितवस्तुना ॥६९७॥

तस्माद्ब्रह्मात्मनोर्भेदः कल्पितो न तु वास्तवः ।
अत एव मुहुः श्रुत्याप्येकत्वं प्रतिपाद्यते ॥६९८॥

ब्रह्मात्मनोस्तत्त्वमसीत्यद्वयत्वोपपत्तये ।
प्रत्यक्षादिविरोधेन वाच्ययोर्नोपयुज्यते ।
तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं लक्ष्ययोरेव सिध्यति ॥६९९॥

शिष्यः—

स्यात्तत्त्वंपदयोः स्वामिन्नर्थः कतिविधो मतः ।
पदयोः को नु वाच्यार्थो लक्ष्यार्थ उभयोश्च कः ॥७००॥

वाच्यैकत्वविवक्षायां विरोधः कः प्रतीयते ।
लक्ष्यार्थयोरभिन्नत्वे स कथं विनिवर्तते ॥७०१॥

एकत्वकथने का वा लक्षणाङ्गीकृता ।
एतत्सर्वं करुणया सम्यक्त्वं प्रतिपादय ॥७०२॥

श्रीगुरुः—

शृणुष्वाहितो विद्वन् अद्य ते फलितं तपः।
वाक्यार्थश्रुतिमात्रेण सम्यग्ज्ञानं भविष्यति ॥७०३॥

यावन्न तत्त्वम्पदयोरर्थः सम्यग्विचार्यते।
तावदेव नृणां बंधो मृत्युसंसारलक्षणः ॥७०४॥

अवस्था सच्चिदानंदाखंडैकरसरूपिणी।
मोक्षः सिध्यति वाक्यार्थापरोक्षज्ञानतः सताम् ॥७०५॥

वाक्यार्थ एव ज्ञातव्यो मुमुक्षोर्भवमुक्तये।
तस्मादवहितो भूत्वा शृणु वक्ष्ये समासतः ॥७०६॥

अर्था बहुविधाः प्रोक्ता वाक्यानां पण्डितोत्तमैः।
वाच्यलक्ष्यादिभेदेन प्रस्तुतं श्रूयतां त्वया ॥७०७॥

वाक्ये तत्त्वमसीत्यत्र विद्यते यत्पदत्रयम्।
तत्रादौ विद्यमानस्य तत्पदस्य निगद्यते ॥७०८॥

शास्त्रार्थकोविदैरर्थो वाच्यो लक्ष्य इति द्विधा।
वाच्यार्थं ते प्रवक्ष्यामि पंडितैर्य उदीरितः ॥७०९॥

समष्टिरूपमज्ञानं साभासं सत्त्वबृंहितम्।
वियदादिविराडन्तं स्वकार्येण समन्वितम् ॥७१०॥

चैतन्यं तदवच्छिन्नं सत्यज्ञानादिलक्षणम्।
सर्वज्ञत्वेश्वरत्वांतर्यामित्वादिगुणैर्युतम् ॥७११॥

जगत्स्रष्टृत्वपातृत्वसंहर्तृत्वादिधर्मकम्।
सर्वात्मना भासमानं यदमेयं गुणैश्च तत् ॥७१२॥

अव्यक्तमपरं ब्रह्म वाच्यार्थ इति कथ्यते।
नीलमुत्पलमित्यत्र यथा वाक्यार्थसंगतिः ॥७१३॥

तथा तत्त्वमसीत्यत्र नास्ति वाक्यार्थसंगतिः।
पटाद्व्यावर्तते नील उत्पलेन विशेषितः ॥७१४॥

शौक्ल्याद्व्यावर्तते नीलेनोत्पलं तु विशेषितम्।
इत्थमन्योन्यभेदस्य व्यावर्तकतया तयोः ॥७१५॥

विशेषणविशेष्यत्वसंसर्गस्येतरस्य वा।
वाक्यार्थत्वे प्रमाणान्तरविरोधो न विद्यते ॥७१६॥

अतः संगच्छते सम्यग्वाक्यार्थो बाधवर्जितः।
एवं तत्त्वमसीत्यत्र वाक्यार्थो न समंजसः ॥७१७॥

तदर्थस्य परोक्षत्वादिविशिष्टचितेरपि।
त्वमर्थस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचितेरपि ॥७१८॥

तथैवान्योन्यभेदस्य व्यावर्तकतया तयोः।
विशेषणविशेष्यस्य संसर्गस्येतरस्य वा ॥७१९॥

वाक्यार्थत्वे विरोधोऽस्ति प्रत्यक्षादिकृतस्ततः।
संगच्छते न वाक्यार्थस्तद्विरोधं च वच्मि ते ॥७२०॥

सर्वेशत्वस्वतंत्रत्वसर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः।
सर्वोत्तमः सत्यकामः सत्यसंकल्प ईश्वरः ॥७२१॥

तत्पदार्थस्त्वमर्थस्तु किंचिज्ज्ञो दुःखजीवनः।
संसार्ययं तद्गतिको जीवः प्राकृतलक्षणः ॥७२२॥

कथमेकत्वमनयोर्घटते विपरीतयोः।
प्रत्यक्षेण विरोधोऽयमुभयोरुपलभ्यते ॥७२३॥

विरुद्धधर्माक्रांतत्वात्परस्परविलक्षणौ ।
जीवेशौ वह्नितुहिनाविव शब्दार्थतोऽपि च ॥७२४॥

प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादित्यैक्ये तयोः परित्यक्ते ।
श्रुतिवचनविरोधो भवति मतान्स्मृतिवचनविरोधश्च ॥७२५॥

श्रुत्याप्येकत्वमनयोस्तात्पर्येण निगद्यते ।
मुहुस्तत्त्वमसीत्यस्मादङ्गीकार्यं श्रुतेर्वचः ॥७२६॥

वाक्यार्थत्वे विशिष्टस्य संसर्गस्य च वा पुनः ।
अयथार्थतया सोऽयं वाक्यार्थो न मतः श्रुतेः ॥७२७॥

अखंडैकरसत्वेन वाक्यार्थः श्रुतिसंमतः ।
स्थूलसूक्ष्मप्रपंचस्य सन्मात्रत्वं पुनः पुनः ॥७२८॥

दर्शयित्वा सुषुप्तौ तद्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ।
उपपाद्य सदैकत्वं प्रदर्शयितुमिच्छया ॥७२९॥

ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युक्त्यैव सदात्मनोः ।
ब्रवीति श्रुतिरेकत्वं ब्रह्मणोऽद्वैतसिद्धये ॥७३०॥

सति प्रपंचे जीवे वाद्वैतत्वं ब्रह्मणः कुतः ।
अतस्तयोरखंडत्वमेकत्वं श्रुतिसंमतम् ॥७३१॥

विरुद्धांशपरित्यागात्प्रत्यक्षादिनं बाधते ।
अविरुद्धांशग्रहणान्न श्रुत्यापि विरुध्यते ॥७३२॥

लक्षणा ह्युपगंतव्या ततो वाक्यार्थसिद्धये ।
वाच्यार्थानुपपत्त्यैव लक्षणाभ्युपगम्यते ॥७३३॥

संबंधानुपपत्त्या च लक्षणेति जगुर्बुधाः ।
गंगायां घोष इत्यादौ या जहल्लक्षणा मता ॥७३४॥

न सा तत्त्वमसीत्यत्र वाक्य एषा प्रवर्तते ।
गंगाया अपि घोषस्याधाराधेयत्वलक्षणम् ॥७३५॥

सर्वो विरुद्धवाक्यार्थस्तत्र प्रत्यक्षतस्ततः ।
गंगासंबन्धवत्तीरे लक्षणा संप्रवर्तते ॥७३६॥

तथा तत्त्वमसीत्यत्र चैतन्यैकत्वलक्षणे ।
विवक्षिते तु वाक्यार्थेऽपरोक्षत्वादिलक्षणः ॥७३७॥

विरुध्यते भागमात्रो न तु सर्वो विरुध्यते ।
तस्माज्जहल्लक्षणायाः प्रवृत्तिर्नात्र युज्यते ॥७३८॥

वाच्यार्थस्य तु सर्वस्य त्यागे न फलमीक्ष्यते ।
नारिकेलफलस्येव कठिनत्वधिया नृणाम् ॥७३९॥

गंगापदं यथा स्वार्थं त्यक्त्वा लक्षयते तटम् ।
तत्पदं त्वंपदं वापि त्यक्त्वा स्वार्थं यथाखिलम् ॥७४०॥

तदर्थं वा त्वमर्थं वा यदि लक्षयति स्वयम् ।
तदा जहल्लक्षणायाः प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥७४१॥

न शंकनीयमित्यार्यैर्ज्ञातार्थे न हि लक्षणा ।
तत्पदं त्वंपदं वापि श्रूयते च प्रतीयते ॥७४२॥

तदर्थे च कथं तत्र संप्रवर्तेत लक्षणा ।
अत्र शोणो धावतीति वाक्यवन्न प्रवर्तते ॥७४३॥

अजहल्लक्षणा वापि सा जहल्लक्षणा यथा ।
गुणस्य गमनं लोके विरुद्धं द्रव्यमन्तरा ॥७४४॥

अतस्तमपरित्यज्य तद्गुणाश्रयलक्षणः ।
लक्ष्यादिर्लक्ष्यते तत्र लक्षणासौ प्रवर्तते ॥७४५॥

वाक्ये तत्त्वमसीत्यत्र ब्रह्मात्मैकत्वबोधके।
परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचितोर्द्वयोः ॥७४६॥

एकत्वरूपवाक्यार्थो विरुद्धांशाविवर्जनात्।
न सिध्यति यतस्तस्मान्नाजहल्लक्षणा मता ॥७४७॥

तत्पदं त्वंपदं चापि स्वकीयार्थविरोधिनम्।
अंशं सम्यक्परित्यज्य स्वाविरुद्धांशसंयुतम् ॥७४८॥

तदर्थं वा त्वमर्थं वा सम्यग्लक्षयतः स्वयम्।
भागलक्षणया साध्यं किमस्तीति न शङ्क्यताम् ॥७४९॥

अविरुद्धं पदार्थान्तरांशं स्वांशं च तत्कथम्।
एकं पदं लक्षणया संलक्षयितुमर्हति ॥७५०॥

पदांतरेण सिद्धायां पदार्थप्रमितौ स्वतः।
तदर्थप्रत्ययापेक्षा पुनर्लक्षणया कुतः ॥७५१॥

तस्मात्तत्त्वमसीत्यत्र लक्षणा भागलक्षणा।
वाक्यार्थसत्त्वाखण्डैकरसतासिद्धये मता ॥७५२॥

भागं विरुद्धं संत्यज्याविरोधो लक्ष्यते यदा।
सा भागलक्षणेत्याहुर्लक्षणज्ञा विचक्षणाः ॥७५३॥

सोऽयं देवदत्त इति वाक्यं वाक्यार्थ एव वा।
देवदत्तैक्यरूपस्ववाक्यार्थानवबोधकम् ॥७५४॥

देशकालादिवैशिष्ट्यं विरुद्धांशं निरस्य च।
अविरुद्धं देवदत्तदेहमात्रं स्वलक्षणम् ॥७५५॥

भागलक्षणया सम्यग्लक्षयत्यनया यथा।
तथा तत्त्वमसीत्यत्र वाक्य वाक्यार्थ एव वा ॥७५६॥

परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचितोर्द्वयोः ।
एकत्वरूपवाक्यार्थविरुद्धांशमुपस्थितम् ॥७५७॥

परोक्षत्वापरोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिलक्षणम् ।
बुद्ध्यादिस्थूलपर्यन्तमाविद्यकमनात्मकम् ॥७५८॥

परित्यज्य विरुद्धांशं शुद्धचैतन्यलक्षणम् ।
वस्तु केवलसन्मात्रं निर्विकल्पं निरंजनम् ॥७५९॥

लक्षयत्यनया सम्यग्भागलक्षणया ततः ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥७६०॥

निर्विशेषं निराभासमतादृशमनीदृशम् ।
अनिर्देश्यमनाद्यन्तमनन्तं शान्तमच्युतम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं निर्गुणं ब्रह्म शिष्यते ॥७६१॥

उपाधिवैशिष्ट्यकृतो विरोधो ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या ।
उपाधिवैशिष्ट्य उदस्यमाने न कश्चिदप्यस्ति विरोध एतयोः ॥७६२॥

तयोरुपाधिश्च विशिष्टता च तद्धर्मभाक्त्वं च विलक्षणत्वम् ।
भ्रांत्या कृतं सर्वमिदं मृषैव स्वप्नार्थवज्जाग्रति नैव सत्यम् ॥७६३॥

निद्रासूतशरीरधर्मसुखदुःखादिप्रपंचोऽपि वा
जीवेशादिभिदापि वा न च ऋतं कर्तुं क्वचिच्छक्यते ।
मायाकल्पितदेशकालजगदीशादिभ्रमस्तादृशः
को भेदोऽस्त्यनयोर्द्वयोस्तु कमतः सत्योऽन्यतः को भवेत् ॥७६४॥

न स्वप्नजागरणयोरुभयोर्विशेषः
संदृश्यते क्वचिदपि भ्रमजैर्विकल्पैः ।
यद्दृष्टदर्शनमुखैरत एव मिथ्या
स्वप्नो यथा ननु तथैव हि जागरोऽपि ॥७६५॥

अविद्याकार्यतस्तुल्यो द्वावपि स्वप्नजागरौ।
दृष्टदर्शनदृश्यादिकल्पनोभयतः समा ॥७६६॥

अभाव उभयोः सुप्तौ सर्वैरप्यनुभूयते।
न कश्चिदनयोर्भेदस्तस्मान्मिथ्यात्वमर्हतः ॥७६७॥

भ्रान्त्या ब्रह्मणि भेदोऽयं सजातीयादिलक्षणः।
कालत्रयेऽपि हे विद्वन् वस्तुतो नैव कश्चन ॥७६८॥

यत्र नान्यत्पश्यतीति श्रुतिर्द्वैतं निषेधति।
कल्पितस्य भ्रमाद्भूम्नि मिथ्यात्वावगमाय तत् ॥७६९॥

यतस्ततो ब्रह्म सदाऽद्वितीयं विकल्पशून्यं निरुपाधि निर्मलम्।
निरन्तरानन्दघनं निरीहं निरास्पदं केवलमेकमेव ॥७७०॥

नैवास्ति काचन भिदा न गुणप्रतीति-
र्नो वाक्प्रवृत्तिरपि वा न मनःप्रवृत्तिः।
यत्केवलं परमशान्तमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमवभाति सदद्वितीयम् ॥७७१॥

यदिदं परमं सत्यं सत्त्वं सच्चित्सुखात्मकम्।
अजरामरणं नित्यं सत्यमेतद्वचो मम ॥७७२॥

न हि त्वं देहोऽसावसुरपि च वाप्यक्षनिकरो
मनो वा बुद्धिर्वा क्वचिदपि तथाहंकृतिरपि।
न चैषां संघातस्त्वमु भवति विद्वन् शृणु परं
यदेतेषां साक्षी स्फुरणममलं तत्त्वमसि हि ॥७७३॥

यज्जायते वस्तु तदेव वर्धते तदेव मृत्युं समुपैति काले।
जन्मैव तेनास्ति तथैव मृत्युर्नास्त्येव नित्यस्य विभोरजस्य ॥७७४॥

य एष देहो जनितः स एव समेधते नश्यति कर्मयोगात् ।
त्वमेतदीयास्वखिलास्ववस्थास्ववस्थितः साक्ष्यसि बोधमात्रः ॥७७५॥

यत्स्वप्रकाशमखिलात्मकमासुषुप्ते-
रेकात्मनाहमहमित्यवभाति नित्यम् ।
बुद्धेः समस्तविकृतेरविकारि बोद्धृ
यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७७६॥

स्वात्मन्यनस्तमयसंविदि कल्पितस्य
व्योमादिसर्वजगतः प्रददाति सत्ताम् ।
स्फूर्तिं स्वकीयमहसा वितनोति साक्षा-
द्यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७७७॥

सम्यक्समाधिनिरतैर्विमलान्तरंगैः
साक्षादवेक्ष्य निजतत्त्वमपारसौख्यम् ।
संतुष्यते परमहंसकुलैरजस्रं
यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७७८॥

अन्तर्बहिः स्वयमखंडितमेकरूप-
मारोपितार्थवदुदंचति मूढबुद्धेः ।
मृत्स्नादिवद्विगतविक्रियमात्मवेद्यं
यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७७९॥

श्रुत्युक्तमव्ययमनन्तमनादिमध्य-
मव्यक्तमक्षरमनाश्रयमप्रमेयम् ।
आनन्दसद्घनमनामयमद्वितीयं
यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७८०॥

शरीरतद्योगतदीयधर्माद्यारोपणं भ्रान्तिवशात्त्वयीदम् ।
न वस्तुतः किंचिदतस्त्यजस्त्वं मृत्योर्भयं क्वास्ति तवासि पूर्णः ॥७८१॥

यद्यद्दृष्टं भ्रान्तिमत्या स्वदृष्ट्या
तत्तत्सम्यग्वस्तुदृष्ट्या त्वमेव ।
त्वत्तो नान्यद्वस्तु किंचित्तु लोके
कस्माद्भीतिस्ते भवेदद्वयस्य ॥७८२॥

पश्यतस्त्वहमेवेदं सर्वमित्यात्मनाखिलम् ।
भयं स्याद्विदुषः कस्मात्स्वस्मान्न भयमिष्यते ॥७८३॥

तस्मात्त्वमभयं नित्यं केवलानन्दलक्षणम् ।
निष्कलं निष्क्रियं शांतं ब्रह्मैवासि सदाऽद्वयम् ॥७८४॥

ज्ञातृज्ञानज्ञेयविहीनं ज्ञातुरभिन्नं ज्ञानमखंडम् ।
ज्ञेयाज्ञेयत्वादिविमुक्तं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८५॥

अन्तःप्रज्ञात्वादिविकल्पैरस्पृष्टं यत्तद्दृशिमात्रम् ।
सत्तामात्रं समरसमेकं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८६॥

सर्वाकारं सर्वमसर्वं सर्वनिषेधावधिभूतं यत् ।
सत्यं शाश्वतमेकमनंतं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८७॥

नित्यानन्दाखण्डैकरसं निष्कलमक्रियमस्तविकारम् ।
प्रत्यगभिन्नं परमव्यक्तं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८८॥

त्वं प्रत्यस्ताशेषविशेषं व्योमेवांतर्बहिरपि पूर्णम् ।
ब्रह्मानन्दं परमद्वैतं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८९॥

ब्रह्मैवाहमहं ब्रह्म निर्गुणं निर्विकल्पम् ।
इत्येवाखण्डया वृत्त्या तिष्ठ ब्रह्मणि निष्क्रिये ॥७९०॥

अखण्डामेवैतां घटितपरमानन्दलहरीं
परिध्वस्तद्वैतप्रमितिममलां वृत्तिमनिशम् ।

अमुञ्चानः स्वात्मन्यनुपमसुखे ब्रह्मणि परे
रमस्व प्रारब्धं क्षपय सुखवृत्त्या त्वमनया ॥७९१॥

ब्रह्मानन्दरसास्वादतत्परेणैव चेतसा ।
समाधिनिष्ठितो भूत्वा तिष्ठ विद्वन्सदा मुने ॥७९२॥

शिष्यः—

अखंडाख्या वृत्तिरेषा वाक्यार्थश्रुतिमात्रतः ।
श्रोतुः संजायते किं वा क्रियान्तरमपेक्षते ॥७९३॥

समाधिः कः कतिविधस्तत्सिद्धेः किमु साधनम् ।
समाधेरन्तरायाः के सर्वमेतन्निरूप्यताम् ॥७९४॥

श्रीगुरुः—

मुख्यगौणादिभेदेन विद्यन्तेऽत्राधिकारिणः ।
तेषां प्रज्ञानुसारेणाखण्डा वृत्तिरुदेष्यते ॥७९५॥

श्रद्धाभक्तिपुरःसरेण विहितेनैवेश्वरं कर्मणा
संतोष्यार्जिततत्प्रसादमहिमा जन्मान्तरेष्वेव यः ।
नित्यानित्यविवेकतीव्रविरतिन्यासादिभिः साधने-
र्युक्तः सः श्रवणे सतामभिमतो मुख्याधिकारी द्विजः ॥७९६॥

अध्यारोपापवादक्रममनुसरता देशिकेनात्र वेत्त्रा
वाक्यार्थे बोध्यमाने सति सपदि सतः शुद्धबुद्धेरमुष्य ।
नित्यानन्दाद्वितीयं निरुपममलं यत्परं तत्त्वमेकं
तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्युदयति परमाखण्डताकारवृत्तिः ॥७९७॥

अखण्डाकारवृत्तिः सा चिदाभाससमन्विता ।
आत्माभिन्नं परं ब्रह्म विषयीकृत्य केवलम् ॥७९८॥

बाधते तद्गताज्ञानं यदावरणलक्षणम् ।
अखण्डाकारया वृत्त्या त्वज्ञाने बाधिते सति ॥७९९॥

तत्कार्यं सकलं तेन समं भवति बाधितम् ।
तन्तुदाहे तु तत्कार्यपटदाहो यथा तथा ॥८००॥

तस्य कार्यतया जीववृत्तिर्भवति बाधिता ।
उपप्रभा यथा सूर्यं प्रकाशयितुमक्षमा ॥८०१॥

तद्वदेव चिदाभासचैतन्यं वृत्तिसंस्थितम् ।
स्वप्रकाशं परं ब्रह्म प्रकाशयितुमक्षमम् ॥८०२॥

प्रचंडातपमध्यस्थदीपवन्नष्टदीधितिः ।
तत्तेजसाभिभूतं सल्लीनोपाधितया ततः ॥८०३॥

बिंबभूतपरब्रह्ममात्रं भवति केवलम् ।
यथापनीते त्वादर्शे प्रतिबिंबमुखं स्वयम् ॥८०४॥

मुखमात्रं भवेत्तद्वदेतच्चोपाधिसंक्षयात् ।
घटाज्ञाने यथा वृत्त्या व्याप्तया बाधिते सति ॥८०५॥

घटं विस्फुरयत्येप चिदाभासः स्वतेजसा ।
न तथा स्वप्रभे ब्रह्मण्याभास उपयुज्यते ॥८०६॥

अत एव मतं वृत्तिव्याप्यत्वं वस्तुनः सताम् ।
न फलव्याप्यता तेन न विरोधः परस्परम् ॥८०७॥

श्रुत्योदितस्ततो ब्रह्म ज्ञेयं बुद्धयैव सूक्ष्मया ।
प्रज्ञामान्द्यं भवेद्येषां तेषां न श्रुतिमात्रतः ॥८०८॥

स्वादखंडाकारवृत्तिर्विना तु मननादिना ।
श्रवणान्मननाद्ध्यानात्तात्पर्येण निरंतरम् ॥८०९॥

बुद्धेः सूक्ष्मत्वमायाति ततो वस्तूपलभ्यते ।
मंदप्रज्ञावतां तस्मात्करणीयं पुनः पुनः ॥८१०॥

श्रवणं मननं ध्यानं सम्यग्वस्तूपलब्धये ।
सर्ववेदान्तवाक्यानां षड्भिर्लिंगैः सदद्वये ॥८११॥

परे ब्रह्मणि तात्पर्यनिश्चयं श्रवणं विदुः ।
श्रुतस्यैवाद्वितीयस्य वस्तुनः प्रत्यगात्मनः ॥८१२॥

वेदान्तवाक्यानुगुणयुक्तिभिस्त्वनुचिंतनम् ।
मननं तच्छ्रुतार्थस्य साक्षात्करणकारणम् ॥८१३॥

विजातीयशरीरादिप्रत्ययत्यागपूर्वकम् ।
सजातीयात्मवृत्तीनां प्रवाहकरणं यथा ।
तैलधारावदच्छिन्नवृत्त्या तद्ध्यानमिष्यते ॥८१४॥

तावत्कालं प्रयत्नेन कर्तव्यं श्रवणं सदा ।
प्रमाणसंशयो यावत्स्वबुद्धेर्न निवर्तते ॥८१५॥

प्रमेयसंशयो यावत्तावत्तु श्रुतियुक्तिभिः ।
आत्मयाथार्थ्यनिश्चित्यै कर्तव्यं मननं मुहुः ॥८१६॥

विपरीतात्मधीर्यावन्न विनश्यति चेतसि ।
तावन्निरन्तरं ध्यानं कर्तव्यं मोक्षमिच्छता ॥८१७॥

यावन्न तर्केण निरासितोऽपि दृश्यप्रपंचस्त्वपरोक्षबोधात् ।
विलीयते तावदमुष्य भिक्षोर्ध्यानादि सम्यक्करणीयमेव ॥८१८॥

सविकल्पो निर्विकल्प इति द्वेधा निगद्यते ।
समाधिः सविकल्पस्य लक्षणं वच्मि तच्छृणु ॥८१९॥

ज्ञात्राद्यविलयेनैव ज्ञेये ब्रह्मणि केवले ।
तदाकाराकारितया चित्तवृत्तेरवस्थितिः ॥८२०॥

सद्भिः स एव विज्ञेयः समाधिः सविकल्पकः ।
मृद एवावभानेऽपि मृण्मयद्विपभावनत् ॥८२१॥

सन्मात्रवस्तुभानेऽपि त्रिपुटी भाति सन्मयी ।
समाधिरत एवायं सविकल्प इतीर्यते ॥८२२॥

ज्ञात्रादिभावमुत्सृज्य ज्ञेयमात्रस्थितिर्दृढा ।
मनसो निर्विकल्पः स्यात्समाधिर्योगसंज्ञितः ॥८२३॥

जले निक्षिप्तलवणं जलमात्रतया स्थितम् ।
पृथङ् न भाति किं न्वंभ एकमेवावभासते ॥८२४॥

यथा तथैव सा वृत्तिर्ब्रह्ममात्रतया स्थिता ।
पृथङ् न भाति ब्रह्मैवाद्वितीयमवभासते ॥८२५॥

ज्ञात्रादिकल्पनाभावान्मतोऽयं निर्विकल्पकः ।
वृत्तेः सद्भावबाधाभ्यामुभयोर्भेद इष्यते ॥८२६॥

समाधिसुप्त्योर्ज्ञानं चाज्ञानं सुप्त्यात्र नेष्यते ।
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्वाविमौ हृदि ॥८२७॥

मुमुक्षोर्यत्नतः कार्यो विपरीतनिवृत्तये ।
कृतेऽस्मिन्विपरीताया भावनाया निवर्तनम् ॥८२८॥

ज्ञानस्यप्रतिबद्धत्वं सदानन्दश्च सिध्यति ।
दृश्यानुविद्धः शब्दानुविद्धश्चेति द्विधा मतः ॥८२९॥

सविकल्पस्तयोर्यत्तल्लक्षणं वच्मि तच्छृणु ।
कामादिप्रत्ययैर्दृश्यैः संसर्गो यत्र दृश्यते ॥८३०॥

सोऽयं दृश्यानुविद्धः स्यात्समाधिः सविकल्पकः ।
अहंममेदमित्यादिकामक्रोधादिवृत्तयः ॥८३१॥

दृश्यन्ते येन संदृष्टा दृश्याः स्युरहमादयः ।
कामादिसर्ववृत्तीनां द्रष्टारमविकारिणम् ॥८३२॥

साक्षिणं स्वं विजानीयाद्यस्ताः पश्यति निष्क्रियः ।
कामादीनामहं साक्षी दृश्यन्ते ते मया ततः ॥८३३॥

इति साक्षितयात्मानं जानात्यात्मनि साक्षिणम् ।
दृश्यं कामादि सकलं स्वात्मन्येव विलापयेत् ॥८३४॥

नाहं देहो नाप्यसुर्नाक्षिवर्गो नाहंकरो नो मनो नापि बुद्धिः ।
अन्तस्तेषां चापि तद्विक्रियाणां साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३५॥

वाचः साक्षी प्राणवृत्तेश्च साक्षी बुद्धेः साक्षी बुद्धिवृत्तेश्च साक्षी ।
चक्षुः श्रोत्रादीन्द्रियाणां च साक्षी साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३६॥

नाहं स्थूलो नापि सूक्ष्मो न दीर्घो
नाहं बालो नो युवा नापि वृद्धः ।
नाहं काणो नापि मूको न पंढः
साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३७॥

नास्म्यागन्ता नापि गन्ता न हन्ता
नाहं कर्ता न प्रयोक्ता न वक्ता ।
नाहं भोक्ता नो सुखी नैव दुःखी
साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३८॥

नाहं योगी नो वियोगी न रागी
नाहं क्रोधी नैव कामी न लोभी ।
नाहं बद्धो नापि युक्तो न मुक्तः
साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३९॥

नान्तःप्रज्ञो नो बहिःप्रज्ञको वा
नैव प्रज्ञो नापि चाप्रज्ञ एषः ।
नाहं श्रोता नापि मन्ता न बोद्धा
साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८४०॥

न मेऽस्ति देहेंद्रियबुद्धियोगो न पुण्यलेशोऽपि न पापलेशः ।
क्षुधापिपासादिषडूर्मिदूरः सदा विमुक्तोऽस्मि चिदेव केवलः ॥८४१॥

अपाणिपादोऽहमवाक्चक्षुषी
अप्राण एवास्म्यमना ह्यबुद्धिः ।
व्योमेव पूर्णोऽस्मि विनिर्मलोऽस्मि
सदैकरूपोऽस्मि चिदेव केवलः ॥८४२॥

इति स्वमात्मानमवेक्षमाणः प्रतीतदृश्यं प्रविलापयन्सदा ।
जहाति विद्वान्विपरीतभावं स्वाभाविकं भ्रांतिवशात्प्रतीतम् ॥८४३॥

विपरीतात्मतास्फूर्तिरेव मुक्तिरितीर्यते ।
सदासमाहितस्यैव सैषा सिध्यति नान्यथा ॥८४४॥

न वेषभाषाभिरमुष्य मुक्तिर्या केवलाखंडचिदात्मना स्थितिः ।
तत्सिद्धये स्वात्मनि सर्वदा स्थितो जह्यादहन्तां ममतामुपाधौ ॥८४५॥

स्वात्मतत्त्वं समालम्ब्य कुर्यात्प्रकृतिनाशनम् ।
तेनैव मुक्तो भवति नान्यथा कर्मकोटिभिः ॥८४६॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
इत्येवैषा वैदिकी वाग्ब्रवीति क्लेशक्षत्यां जन्ममृत्युप्रहाणिम् ॥८४७॥

भूयो जन्माद्यप्रसक्तिर्विमुक्तिः क्लेशक्षत्यां भाति जन्माद्यभावः ।
क्लेशक्षत्या हेतुरात्मैकनिष्ठा तस्मात्कार्या ह्यात्मनिष्ठा मुमुक्षोः॥८४८॥

क्लेशाः स्युर्वासना एव अंतोजन्मादिकारणम् ।
ज्ञाननिष्ठाग्निना दाहे तासां नो जन्महेतुता ॥८४९॥

बीजान्यग्निप्रदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ॥८५०॥

तस्मान्मुमुक्षोः कर्तव्या ज्ञाननिष्ठा प्रयत्नतः ।
निःशेषवासनाक्षत्यै विपरीतनिवृत्तये ॥८५१॥

ज्ञाननिष्ठातत्परस्य नैव कर्मोपयुज्यते ।
कर्मणो ज्ञाननिष्ठाया न सिध्यति सहस्थितिः ॥८५२॥

परस्परविरुद्धत्वात्तयोर्भिन्नस्वभावयोः ।
कर्तृत्वभावनापूर्वं कर्म ज्ञानं विलक्षणम् ॥८५३॥

देहात्मबुद्धेर्विच्छित्त्यै ज्ञानं कर्म विवृद्धये ।
अज्ञानमूलकं कर्म ज्ञानं तूभयनाशकम् ॥८५४॥

ज्ञानेन कर्मणो योगः कथं सिध्यति वैरिणा ।
सहयोगो न घटते यथा तिमिरतेजसोः ॥८५५॥

निमेषोन्मेषयोर्वापि तथैव ज्ञानकर्मणोः ।
प्रतीचीं पश्यतः पुंसां कुतः प्राचीविलोकनम् ।
प्रत्यक्प्रवणचित्तस्य कुतः कर्मणि योग्यता ॥८५६॥

ज्ञानैकनिष्ठानिरतस्य भिक्षोर्नैवावकाशोऽस्ति हि कर्मतन्त्रे ।
तदेव कर्मास्य तदेव संध्या तदेव सर्वं न ततोऽन्यदस्ति ॥८५७॥

बुद्धिकल्पितमालिन्यक्षालनं स्नानमात्मनः ।
तेनैव शुद्धिरेतस्य न मृदा न जलेन च ॥८५८॥

स्वस्वरूपे मनःस्थानमनुष्ठानं तदिष्यते ।
करणत्रयसाध्यं यत्तन्मृषा तदसत्यतः ॥८५९॥

विनिषिध्याखिलं दृश्यं स्वस्वरूपेण या स्थितिः ।
सा संध्या तदनुष्ठानं तद्दानं तद्धि भोजनम् ॥८६०॥

विज्ञातपरमार्थानां शुद्धसत्त्वात्मनां सताम् ।
यतीनां किमनुष्ठानं स्वानुसंधिं विना परम् ॥८६१॥

तस्मात्क्रियान्तरं त्यक्त्वा ज्ञाननिष्ठापरो यतिः ।
सदात्मनिष्ठया तिष्ठेन्निश्चलस्तत्परायणः ॥८६२॥

कर्तव्यं स्वोचितं कर्म योगमारोढुमिच्छता ।
आरोहणं कुर्वतस्तु कर्म नारोहणं मतम् ॥८६३॥

योगं समारोहति यो मुमुक्षुः क्रियान्तरं तस्य न युक्तमीषत् ।
क्रियान्तरासक्तमनाः पतत्यसौ तालद्रुमारोहणकर्तृवद्ध्रुवम् ॥८६४॥

योगारूढस्य सिद्धस्य कृतकृत्यस्य धीमतः ।
नास्त्येव हि बहिर्दृष्टिः का कथा तत्र कर्मणाम् ।
दृश्यानुविद्धः कथितः समाधिः सविकल्पकः ॥८६५॥

शुद्धोऽहं बुद्धोऽहं प्रत्यग्रूपेण नित्यसिद्धोऽहम् ।
शान्तोऽहमनन्तोऽहं सततपरानन्दसिंधुरेवाहम् ॥८६६॥

आद्योऽहमनाद्योऽहं वाङ्मनसा साध्यवस्तुमात्रोऽहम् ।
निगमवचोवेद्योऽहमनवद्याखंडबोधरूपोऽहम् ॥८६७॥

विदिताविदितान्योऽहं मायातत्कार्यलेशशून्योऽहम् ।
केवलदृगात्मकोऽहं संविन्मात्रः सकृद्विभातोऽहम् ॥८६८॥

अपरोऽहमनपरोऽहं बहिरंतश्चापि पूर्ण एवाहम् ।
अजरोऽहमक्षरोऽहं नित्यानंदोऽहमद्वितीयोऽहम् ॥८६९॥

प्रत्यगभिन्नमखंडं सत्यज्ञानादिलक्षणं शुद्धम् ।
श्रुत्यवगम्यं तथ्यं ब्रह्मैवाहं परं ज्योतिः ॥८७०॥

एवं सन्मात्रगाहिन्या वृत्त्या तन्मात्रगाहकैः ।
शब्दैः समर्पितं वस्तु भावयेन्निश्चलो यतिः ॥८७१॥

कामादिदृश्यप्रविलापपूर्वकं शुद्धोऽहमित्यादिकशब्दमिश्रः ।
दृश्येव निष्ठस्य य एष भावः शब्दानुविद्धः कथितः समाधिः ॥८७२॥

दृश्यस्यापि च साक्षित्वात्समुल्लेखनमात्मनि ।
निवर्तकमनोवस्था निर्विकल्प इतीर्यते ॥८७३॥

सविकल्पसमाधिं यो दीर्घकालं निरंतरम् ।
संस्कारपूर्वकं कुर्यान्निर्विकल्पोऽस्य सिध्यति ॥८७४॥

निर्विकल्पकसमाधिनिष्ठया तिष्ठतो भवति नित्यता ध्रुवम् ।
उद्भवाद्यपगतिर्निरर्गला नित्यनिश्चलनिरंतनिर्वृतिः ॥८७५॥

विद्वानहमिदमिति वा किंचिद्बाह्याभ्यंतरवेदनशून्यः ।
स्वानन्दामृतसिंधुनिमग्नस्तूष्णीमास्ते कश्चिदनन्यः ॥८७६॥

निर्विकल्पं परं ब्रह्म यत्तस्मिन्नेव निष्ठिताः ।
एते धन्या एव मुक्ता जीवन्तोऽपि बहिर्दृशाम् ॥८७७॥

यथा समाधित्रितयं यत्नेन क्रियते हृदि ।
तथैव बाह्यदेशेऽपि कार्यं द्वैतनिवृत्तये ॥८७८॥

तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि निशामय समासतः ।
अधिष्ठानं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥८७९॥

तत्राध्यस्तमिदं भाति नामरूपात्मकं जगत् ।
सत्त्वं चित्त्वं तथानन्दरूपं यद्ब्रह्मणस्त्रयम् ॥८८०॥

अध्यस्तजगतो रूपं नामरूपमिदं द्वयम् ।
एतानि सच्चिदानन्दनामरूपाणि पञ्च च ॥८८१॥

एकीकृत्योच्यते मूर्खैरिदं विश्वमिति भ्रमात् ।
शैत्यं श्वेतं रसं द्राव्यं तरंग इति नाम च ॥८८२॥

एकीकृत्य तरंगोऽयमिति निर्दिश्यते यथा ।
आरोपिते नामरूपे उपेक्ष्य ब्रह्मणः सतः ॥८८३॥

स्वरूपमात्रग्रहणं समाधिर्बाह्य आदिमः ।
सच्चिदानन्दस्वरूपस्य सकाशाद्ब्रह्मणो यतिः ॥८८४॥

नामरूपे पृथक्कृत्वा ब्रह्मण्येव विलापयन् ।
अधिष्ठानं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
यत्तदेवाहमित्येव निश्चितात्मा भवेद्ध्रुवम् ॥८८५॥

इयं भूर्न सन्नापि तोयं न तेजो
न वायुर्न खं नापि तत्कार्यंजातम् ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं
सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८८६॥

न शब्दो न रूपं न च स्पर्शको वा
तथा नो रसो नापि गन्धो न चान्यः ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं
सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८८७॥

न सद्द्रव्यजातं गुणा न क्रिया वा
न जातिर्विशेषो न चान्यः कदापि ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं
सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८८८॥

न देहो न चाक्षाणि न प्राणवायु-
र्मनो नापि बुद्धिर्न चित्तं ह्यहंधीः ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं
सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८८९॥

न देशो न कालो न दिग्वापि सत्स्या-
न्न वस्त्वंतरं स्थूलसूक्ष्मादिरूपम् ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं
सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८९०॥

एतद्दृश्यं नामरूपात्मकं योऽधिष्ठानं तद्ब्रह्म सत्यं सदेति ।
गच्छंस्तिष्ठन्वा शयानोऽपि नित्यं कुर्याद्विद्वान्बाह्यदृश्यानुविद्धम् ॥८९१॥

अध्यस्तनामरूपादिप्रविलापेन निर्मलम् ।
अद्वैतं परमानन्दं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९२॥

निर्विकारं निराकारं निरञ्जनमनामयम् ।
आद्यन्तरहितं पूर्णं ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥८९३॥

निष्कलंकं निरातंकं त्रिविधच्छेदवर्जितम् ।
आनंदमक्षरं मुक्तं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९४॥

निर्विशेषं निराभासं नित्यमुक्तमविक्रियम् ।
प्रज्ञानैकरसं सत्यं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९५॥

शुद्धं बुद्धं तत्त्वसिद्धं परं प्रत्यगखंडितम् ।
स्वप्रकाशं पराकाशं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९६॥

सुसूक्ष्ममस्तितामात्रं निर्विकल्पं महत्तमम् ।
केवलं परमाद्वैतं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९७॥

इत्येवं निर्विकारादिशब्दमात्रसमर्पितम् ।
ध्यायतः केवलं वस्तु लक्ष्ये चित्तं प्रतिष्ठति ॥८९८॥

ब्रह्मानन्दरसावेशादेकीभूय तदात्मना ।
वृत्तेर्या निश्चलावस्था स समाधिरकल्पकः ॥८९९॥

उत्थाने वाप्यनुत्थानेऽप्यप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
समाधिषट्कं कुर्वीत सर्वदा प्रयतो यतिः ॥९००॥

विपरीतार्थधीर्यावन्न निःशेषं निवर्तते ।
स्वरूपस्फुरणं यावन्न प्रसिध्यत्यनिर्गलम् ।
तावत्समाधिषट्केन नयेत्कालं निरंतरम् ॥९०१

न प्रमादोऽत्र कर्तव्यो विदुषा मोक्षमिच्छता ।
प्रमादे जृम्भते माया सूर्यापाये तमो यथा ॥९०२॥

स्वानुभूतिं परित्यज्य न तिष्ठन्ति क्षणं बुधाः ।
स्वानुभूतौ प्रमादो यः स मृत्युर्न यमः सताम् ॥९०३॥

अस्मिन्समाधौ कुरुते प्रयासं यस्तस्य नैवास्ति पुनर्विकल्पः ।
सर्वात्मभावोऽप्यमुनैव सिध्येत्सर्वात्मभावः खलु केवलत्वम् ॥९०४॥

सर्वात्मभावो विदुषो ब्रह्मविद्याफलं विदुः ।
जीवन्मुक्तस्य तस्यैव स्वानंदानुभवः फलम् ॥९०५॥

योऽहंममेत्याचसदात्मगाहको ग्रन्थिलयं याति स वासनामयः ।
समाधिना नश्यति कर्मबंधो ब्रह्मात्मबोधोऽप्रतिबन्ध इष्यते ॥९०६॥

एव निष्कंटकः पंथा मुक्तेर्ब्रह्मात्मना स्थितेः ।
शुद्धात्मनां मुमुक्षूणां यत्सदेकत्वदर्शनम् ॥९०९॥

तस्मात्त्वं चाप्यप्रमत्तः समाधीन्कृत्वा ग्रंथिं साधु निर्दह्य युक्तः ।
नित्यं ब्रह्मानन्दपीयूषसिन्धौ मज्जन्क्रीडन्मोदमानो रमस्व ॥९०८॥

निर्विकल्पसमाधिर्यो वृत्तिर्नैश्चल्यलक्षणा ।
तमेव योग इत्याहुर्योगशास्त्रार्थकोविदाः ॥९०९॥

अष्टावङ्गानि योगस्य यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारश्चापि च धारणा ॥९१०।

ध्यानं समाधिरित्येव निगदन्ति मनीषिणः ।
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ॥९११॥

यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ।
सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ॥९१२॥

नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ।
सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ॥९१३॥

आसनं तद्विजानीयादितरत्सुखनाशनम् ।
चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ॥९१४॥

निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।
निषेधनं प्रपंचस्य रेचकाख्यः समीरणः ॥९१५॥

ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुंभकः प्राणसंयमः ॥९१६॥

अयं चापि प्रवुद्धानामज्ञानां प्राणपीडनम्।
विषयेष्वात्मतां त्यक्त्वा मनसश्चिति मज्जनम् ॥९१७॥

प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः।
यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ॥९१८॥

मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता।
ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालंबतया स्थितिः ॥९१९॥

ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी।
निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ॥९२०॥

वृत्तिविस्मरणं सम्यक्समाधिर्ध्यानसंज्ञिकः।
समाधौ क्रियमाणे तु विघ्ना ह्यायान्ति वै बलात् ॥९२१॥

अनुसंधानराहित्यमालस्यं भोगलालसम्।
भयं तमश्च विक्षेपस्तेजःस्पंदश्च शून्यता ॥९२२॥

एवं यद्विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं तद्ब्रह्मविज्जनैः।
विघ्नानेतान्परित्यक्त्वा प्रमादरहितो वशी।
समाधिनिष्ठया ब्रह्म साक्षाद्भवितुमर्हसि ॥९२३॥

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणा-
त्परमवगम्य स्वतत्त्वमात्मयुक्त्या।
प्रशमितकरणः समाहितात्मा
क्वचिदचलाकृतिरात्मनिष्ठितोऽभूत् ॥९२४॥

बहुकालं समाधाय स्वस्वरूपे तु मानसम्।
उत्थाय परमानन्दाद्गुरुमेत्य पुनर्मुदा।
प्रमाणपूर्वकं धीमान्सगद्गदमुवाच ह ॥९२५॥

नमो नमस्ते गुरवे नित्यानन्दस्वरूपिणे ।
मुक्तसङ्गाय शान्ताय त्यक्ताहंताय ते नमः ॥९२६॥

दयाधाम्ने नमो भूम्ने महिम्नः पारमस्य ते ।
नैवास्ति यत्कटाक्षेण ब्रह्मैवाभवमद्वयम् ॥९२७॥

किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।
यन्मया पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥९२८॥

मयि सुखबोधपयोधौ महति ब्रह्माण्डबुद्बुदसहस्रम् ।
मायामयेन मरुता भूत्वा भूत्वा पुनस्तिरोधत्ते ॥९२९॥

नित्यानन्दस्वरूपोऽहमात्माहं त्वदनुग्रहात् ।
पूर्णोऽहमनवद्योऽहं केवलोऽहं च सद्गुरो ॥९३०॥

अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमक्रियः ।
आनंदघन एवाहमसंगोऽहं सदाशिवः ॥९३१॥

त्वत्कटाक्षवरचान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजः श्रमः ।
प्राप्तवानहमखंडवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ॥९३२॥

छायया स्पृष्टमुष्णं वा शीतं वा दुष्टु सुष्ठु वा ।
न स्पृशत्येव यत्किंचित्पुरुषं तद्विलक्षणम् ॥९३३॥

न साक्षिणं साक्ष्यधर्मा न स्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ॥९३४॥

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो वह्नेर्यथा वायसि दाहकत्वम् ।
रज्जोर्यथारोपितवस्तुसंगस्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ॥९३५॥

इत्युक्त्वा स गुरुं स्तुत्वा प्रश्रयेण कृतानतिः ।
मुमुक्षोरुपकाराय प्रष्टव्यांशमपृच्छत ॥९३६॥

जीवन्मुक्तस्य भगवन्ननुभूतेश्च लक्षणम् ।
विदेहमुक्तस्य च मे कृपया ब्रूहि तत्त्वतः ॥९३७॥

गुरुः—

वक्ष्ये तुभ्यं ज्ञानभूमिकाया लक्षणमादितः ।
ज्ञाने यस्मिस्त्वया सर्वं ज्ञातं स्यात्पृष्टमद्य यत् ॥९३८॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात्प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥९३९॥

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥९४०॥

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्योऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छा चोच्यते बुधैः ॥९४१॥

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥९४२॥

विचारणशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वरक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥९४३॥

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात् ।
सत्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥९४४॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥९४५॥

भूमिकापंचकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥९४६॥

परप्रयुक्तेन चिरप्रयत्नेनावबोधनम् ।
पदार्थाभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥९४७॥

षड्भूमिकाचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलंभनात् ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥९४८॥

इदं ममेति सर्वेषु दृश्यभावेष्वभावना ।
जाग्रज्जाग्रदिति प्राहुर्महान्तो ब्रह्मवित्तमाः ॥९४९॥

विदित्वा सच्चिदानन्दे मयि दृश्यपरम्पराम् ।
नामरूपपरित्यागो जाग्रत्स्वप्नः समीर्यते ॥९५०॥

परिपूर्णचिदाकाशे मयि बोधात्मतां विना ।
न किंचिदन्यदस्तीति जाग्रत्सुप्तिः समीर्यते ॥९५१॥

मूलाज्ञानविनाशेन कारणाभासचेष्टितैः ।
बन्धो न मेऽतिस्वल्पोऽपि स्वप्नजाग्रदितीर्यते ॥९५२॥

कारणाज्ञाननाशाद्यद्द्रष्टृदर्शनदृश्यता ।
न कार्यमस्ति तज्ज्ञानं स्वप्नस्वप्नः समीर्यते ॥९५३॥

अतिसूक्ष्मविमर्शेन स्वधीवृत्तिरचंचला ।
विलीयते यदा बोधे स्वप्नसुप्तिरितीर्यते ॥९५४॥

चिन्मयाकारमतयो धीवृत्तिप्रसरैर्गतः ।
आनंदानुभवो विद्वन् सुप्तिजाग्रदितीर्यते ॥९५५॥

वृत्तौ चिरानुभूतान्तरानन्दानुभवस्थितौ ।
समात्मतां यो यात्येष सुप्तिस्वप्न इतीर्यते ॥९५६॥

दृश्यधीवृत्तिरेतस्य केवलीभावभावना ।
परं बोधैकतावाप्तिः सुप्तिसुप्तिरितीर्यते ९५७॥

परब्रह्मवदाभाति निर्विकारैकरूपिणी ।
सर्वावस्थासु धारैका तुर्याख्या परिकीर्तिता ॥९५८॥

इत्यवस्थासमुल्लासं विमृशन्मुच्यते सुखी ।
शुभेच्छादित्रयं भूमिभेदाभेदयुतं स्मृतम् ॥९५९॥

यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रदितीर्यते ।
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते ॥९६०॥

पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं तुर्यभूमिसुयोगतः ।
पंचमी भूमिमारुह्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ॥९६१॥

शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठेदद्वैतमात्रके ।
अन्तर्मुखतया नित्यं षष्ठीं भूमिमुपाश्रितः ॥९६२॥

परिश्रान्ततया गाढनिद्रालुरिव लक्ष्यते ।
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूम्यां सम्यग्विवासनः ॥९६३॥

तुर्यावस्थां सप्तभूमिं क्रमात्प्राप्नोति योगिराट् ।
विदेहमुक्तिरेवात्र तुर्यातीतदशोच्यते ॥९६४॥

यत्र नासन्न सच्चापि नाहं नाप्यनहंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥९६५॥

अंतःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ।
अंतःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥९६६॥

यथास्थितमिदं सर्वं व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९६७॥

नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखे मनःप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९६८॥

यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९६९॥

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७०॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७१॥

यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७२॥

द्वैतवर्जितचिन्मात्रे पदे परमपावने ।
अक्षुब्धचित्तविश्रान्तः स जीवन्मुक्तं उच्यते ॥९७३॥

इदं जगदयं सोऽयं दृश्यजातमवास्तवम् ।
यस्य चित्ते न स्फुरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७४॥

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः ।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७५॥

देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम् ।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७६॥

यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः ।
परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७७॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७८॥

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तित्वं पवनोऽस्पंदतामिव ॥९७९॥

ततस्तत्सम्भवभूवासो यद्गिरामप्यगोचरम् ।
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ॥९८०॥

विज्ञानं विज्ञानविदां मलानां च मलात्मकम् ।
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ॥९८१॥

शिवः शैवागमस्थानां कालः कालैकवादिनाम् ।
तत्सर्वशास्त्रसिद्धान्तं यत्सर्वहृदयानुगम् ।
यत्सर्वं सर्वगं वस्तु तत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ॥९८२॥

ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वापि न चिन्त्यते ।
चिन्मात्रेव यस्तिष्ठेद्विदेहो मुक्त एव सः ॥९८३॥

यस्य प्रपंचभानं न ब्रह्माकारमपीह न।
अतीतातीतभावो यो विदेहो मुक्त एव सः ॥९८४॥

चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्त्यावभासकः।
चित्तवृत्तिविहीनो यो विदेहो मुक्त एव सः ॥९८५॥

जीवात्मेति परात्मेति सर्वचिन्ताविवर्जितः।
सर्वसंकल्पहीनात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥९८६॥

ओंकारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः।
अवस्थात्रयहीनात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥९८७॥

अहिनिर्ल्वयनीसर्पनिर्मोको जीववर्जितः।
वल्मीके पतितस्तिष्ठेत्तं सर्पो नाभिमन्यते ॥९८८॥

एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं नाभिमन्यते।
प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके ॥९८९॥

नेति नेतीत्यरूपत्वादशरीरो भवत्ययम्।
विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयम् ॥९९०॥

विराड् हिरण्यगर्भश्चेश्वरश्चेति च ते त्रयम्।
ब्रह्माण्डं चैव पिंडाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥९९१॥

स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि।
तूष्णीमेव ततस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किंचन ॥९९२॥

कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम्।
किंचिद्भेदं न तस्यास्ति किंचिद्वापि न विद्यते ॥९९३॥

जीवेश्वरेति वाक्ये च वेदशास्त्रेष्वहं त्विति।
इदं चैतन्यमेवेत्यहं चैतन्यमित्यपि ॥९९४॥

इति निश्चयशून्यो यो विदेहो मुक्त एव सः।
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ॥९९५॥

द्वैतवर्जितचिन्मात्रे पदे परमपावने ।
अक्षुब्धचित्तविश्रान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७३॥

इदं जगदयं सोऽयं दृश्यजातमवास्तवम् ।
यस्य चित्ते न स्फुरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७४॥

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः ।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७५॥

देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम् ।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७६॥

यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः ।
परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७७॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७८॥

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तित्वं पवनोऽस्पंदतामिव ॥९७९॥

ततस्तत्सम्भवासो यद्गिरामप्यगोचरम् ।
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ॥९८०॥

विज्ञानं विज्ञानविदां मलानां च मलात्मकम् ।
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ॥९८१॥

शिवः शैवागमस्थानां कालः कालैकवादिनाम् ।
तत्सर्वशास्त्रसिद्धान्तं यत्सर्वहृदयानुगम् ।
यत्सर्वं सर्वगं वस्तु तत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ॥९८२॥

ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वापि न चिन्त्यते ।
चिन्मात्रेव यस्तिष्ठेद्विदेहो मुक्त एव सः ॥९८३॥

यस्य प्रपंचभानं न ब्रह्माकारमपीह न।
अतीतातीतभावो यो विदेहो मुक्त एव सः ॥९८४॥

चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्त्यावभासकः।
चित्तवृत्तिविहीनो यो विदेहो मुक्त एव सः ॥९८५॥

जीवात्मेति परात्मेति सर्वचिन्ताविवर्जितः।
सर्वसंकल्पहीनात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥९८६॥

ओंकारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः।
अवस्थात्रयहीनात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥९८७॥

अहिनिर्ल्वयनीसर्पनिर्मोको जीववर्जितः।
वल्मीके पतितस्तिष्ठेत्तं सर्पो नाभिमन्यते ॥९८८॥

एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं नाभिमन्यते।
प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके ॥९८९॥

नेति नेतीत्यरूपत्वादशरीरो भवत्ययम्।
विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयम् ॥९९०॥

विराड् हिरण्यगर्भश्चेश्वरश्चेति च ते त्रयम्।
ब्रह्माण्डं चैव पिंडाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥९९१॥

स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि।
तूष्णीमेव ततस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किंचन ॥९९२॥

कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम्।
किंचिद्भेदं न तस्यास्ति किंचिद्वापि न विद्यते ॥९९३॥

जीवेश्वरेति वाक्ये च वेदशास्त्रेष्वहं त्विति।
इदं चैतन्यमेवेत्यहं चैतन्यमित्यपि ॥९९४॥

इति निश्चयशून्यो यो विदेहो मुक्त एव सः।
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ॥९९५॥

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखात्मकम् ।
शान्तं च तदतीतं च परं ब्रह्म तदुच्यते ॥९९६॥

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मैव तद्विना ॥९९७॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥९९८॥

यावद्यावच्च सद्बुद्धे स्वयं संत्यज्यतेऽखिलम् ।
तावत्तावत्परानन्दः परमात्मैव शिष्यते ॥९९९॥

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ।
परे ब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ॥१०००॥

यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते ।
असंकल्पेन शस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा ॥१००१॥

सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ।
इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं शिष्यस्तु छिन्नसंशयः ॥१००२॥

ज्ञानज्ञेयः संप्रणम्य सद्गुरोश्चरणाम्बुजम् ।
स तेन समनुज्ञातो ययौ निर्मुक्तबन्धनः ॥१००३॥

गुरुरेव सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः ।
पावयन्वसुधां सर्वां विचचार निरुत्तरः ॥१००४॥

इत्याचार्यस्य शिष्यस्य संवादेनात्मलक्षणम् ।
निरूपितं मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥१००५॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहनामकः ।
ग्रन्थोऽयं हृदयग्रन्थिविच्छित्त्यै रचितः सताम् ॥१००६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः संपूर्णः ॥

शिवानन्दलहरी

कलाभ्यां चूडालंकृतशशिकलाभ्यां निजतपः-
फलाभ्यां भक्तेषु प्रकटितफलाभ्यां भवतु मे ।
शिवाभ्यामस्तोकत्रिभुवनशिवाभ्यां हृदि पुन-
र्भवाभ्यामानन्दस्फुरदनुभवाभ्यां नतिरियम् ॥१॥

गलन्ती शंभो त्वच्चरितसरितः किल्बिषरजो
दलन्ती धीकुल्यासरणिषु पतन्ती विजयताम् ।
दिशन्ती संसारभ्रमणपरितापोपशमनं
वसन्ती मच्चेतोह्रदभुवि शिवानन्दलहरी ॥२॥

त्रयीवेद्यं हृद्यं त्रिपुरहरमाद्यं त्रिनयनं
जटाभारोदारं चलदुरगहारं मृगधरम् ।
महादेवं देवं मयि सदयभावं पशुपतिं
चिदालम्बं साम्बं शिवमतिविडम्बं हृदि भजे ॥३॥

सहस्रं वर्तन्ते जगति विबुधाः क्षुद्रफलदा
न मन्ये स्वप्ने वा तदनुसरणं तत्कृतफलम् ।
हरिब्रह्मादीनामपि निकटभाजामसुलभं
चिरं याचे शंभो शिव तव पदाम्भोजभजनम् ॥४॥

स्मृतौ शास्त्रे वैद्ये शकुनकविता गानफणितौ
पुराणे मन्त्रे वा स्तुतिनटनहास्येष्वचतुरः ।
कथं राज्ञां प्रीतिर्भवति मयि कोऽहं पशुपते
पशुं मां सर्वज्ञ प्रथितकृपया पालय विभो ॥५॥

घटो वा मृत्पिण्डोऽप्यणुरपि च धूमोऽग्निरचलः
पटो वा तन्तुर्वा परिहरति किं घोरशमनम् ।

वृथा कण्ठक्षोभं वहसि तरसा तर्कवचसा
पदाम्भोजं शंभोर्भज परमसौख्यं व्रज सुधीः ॥६॥

मनस्ते पादाब्जे निवसतु वचः स्तोत्रफणितौ
करौ चाभ्यर्चायां श्रुतिरपि कथाकर्णनविधौ ।
तव ध्याने बुद्धिर्नयनयुगलं मूर्तिविभवे
परग्रन्थान्कैर्वा परमशिव जाने परमतः ॥७॥

यथा बुद्धिः शुक्तौ रजतमिति काचाश्मनि मणि-
र्जले पैष्टे क्षीरं भवति मृगतृष्णासु सलिलम् ।
तथा देवभ्रान्त्या भजति भवदन्यं जडजनो
महादेवेशं त्वां मनसि च न मत्वा पशुपते ॥८॥

गभीरे कासारे विशति विजने घोरविपिने
विशाले शैले च भ्रमति कुसुमार्थं जडमतिः ।
समर्प्यैकं चेतःसरसिजमुमानाथ भवते
सुखेनावस्थातुं जन इह न जानाति किमहो ॥९॥

नरत्वं देवत्वं नगवनमृगत्वं मशकता
पशुत्वं कीटत्वं भवतु विहगत्वादिजननम् ।
सदा त्वत्पादाब्जस्मरणपरमानन्दलहरी-
विहारासक्तं चेद्धृदयमिह किं तेन वपुषा ॥१०॥

वटुर्वा गेही वा यतिरपि जटी वा तदितरो
नरो वा यः कश्चिद्भवतु भव किं तेन भवति ।
यदीयं हृत्पद्मं यदि भवदधीनं पशुपते
तदीयस्त्वं शंभो भवसि भवभारं च वहसि ॥११॥

गुहायां गेहे वा बहिरपि वने वाद्रिशिखरे
जले वा वह्नौ वा वसतु वसतेः किं वद फलम् ।

सदा यस्यैवान्तःकरणमपि शंभो तव पदे
स्थितं चेद्योगोऽसौ स च परमयोगी स च सुखी ॥१२॥

असारे संसारे निजभजनदूरे जडधिया
भ्रमन्तं मामन्धं परमकृपया पातुमुचितम् ।
मदन्यः को दीनस्तव कृपणरक्षातिनिपुण-
स्त्वदन्यः को वा मे त्रिजगति शरण्यः पशुपते ॥१३॥

प्रभुस्त्वं दीनानां खलु परमबन्धुः पशुपते
प्रमुख्योऽहं तेषामपि किमुत बन्धुत्वमनयोः ।
त्वयैव क्षन्तव्याः शिव मदपराधाश्च सकलाः
प्रयत्नात्कर्तव्यं मदवनमियं बन्धुसरणिः ॥१४॥

उपेक्षा नो चेत्किं न हरसि भवद्ध्यानविमुखां
दुराशाभूयिष्ठां विधिलिपिमशक्तो यदि भवान् ।
शिरस्तद्वैधात्रं न न खलु सुवृत्तं पशुपते
कथं वा निर्यत्नं करनखमुखेनैव लुञ्ठितम् ॥१५॥

विरिञ्चिर्दीर्घायुर्भवतु भवता तत्परशिर-
श्चतुष्कं संरक्ष्यं स खलु भुवि दैन्यं लिखितवान् ।
विचारः को वा मां विशदकृपया पाति शिव ते
कटाक्षव्यापारः स्वयमपि च दीनावनपरः ॥१६॥

फलाद्वा पुण्यानां मयि करुणया वा त्वयि विभो
प्रसन्नेऽपि स्वामिन् भवदमलपादाब्जयुगलम् ।
कथं पश्येयं मां स्थगयति नमः संभ्रमजुषां
निलिम्पानां श्रेणिर्निजकनकमाणिक्यमुकुटैः ॥१७॥

त्वमेको लोकानां परमफलदो दिव्यपदवीं
वहन्तस्त्वन्मूलां पुनरपि भजन्ते हरिमुखाः ।

कियद्वा दाक्षिण्यं तव शिव मदाशा च कियती
कदा वा मद्रक्षां वहसि करुणापूरितदृशा ॥१८॥

दुराशाभूयिष्ठे दुरधिपगृहद्वारघटके
दुरन्ते संसारे दुरितनिलये दुःखजनके ।
मदायासं किं न व्यपनयसि कस्योपकृतये
वदेयं प्रीतिश्चेत्तव शिव कृपार्थाः खलु वयम् ॥१९॥

सदा मोहाटव्यां चरति युवतीनां कुचगिरौ
नटत्याशाशाखास्वटति झटिति स्वैरमभितः ।
कपालिन् भिक्षो मे हृदयकपिमत्यन्तचपलं
दृढं भक्त्या बद्ध्वा शिव भवदधीनं कुरु विभो ॥२०॥

धृतिस्तम्भाधारां दृढगुणनिबद्धां सगमनां
विचित्रां पद्माढ्यां प्रतिदिवससन्मार्गघटिताम् ।
स्मरारे मच्चेतः स्फुटपटकुटीं प्राप्य विशदां
जय स्वामिन् शक्त्या सह शिवगणैः सेवित विभो ॥२१॥

प्रलोभाद्यैरर्थाहरणपरतन्त्रो धनिगृहे
प्रवेशोद्युक्तः सन् भ्रमति बहुधा तस्करपते ।
इमं चेतश्चोरं कथमिह सहे शंकरविभो
तवाधीनं कृत्वा मयि निरपराधे कुरु कृपाम् ॥ २॥

करोमि त्वत्पूजां सपदि सुखदो मे भव विभो
विधित्वं विष्णुत्वं दिशसि खलु तस्याः फलमिति ।
पुनश्च त्वां द्रष्टुं दिवि भुवि वहन् पक्षिमृगता-
मदृष्ट्वा तत्खेदं कथमिव सहे शंकर विभो ॥२३॥

कदा वा कैलासे कनकमणिसौधे सह गणै-
र्वसन् शंभोरग्रे स्फुटघटितमूर्धाञ्जलिपुटः ।

विभो साम्ब स्वामिन् परमशिव पाहीति निगद-
न्विधातॄणां कल्पान् क्षणमिव विनेष्यामि सुखतः ॥२४॥

स्तवैर्ब्रह्मादीनां जयजयवचोभिर्नियमिनां
गणानां केलीभिर्मदकलमहोक्षस्य ककुदि ।
स्थितं नीलग्रीवं त्रिनयनमुमाश्लिष्टवपुषं
कदा त्वां पश्येयं करधृतमृगं खण्डपरशुम् ॥२५॥

कदा वा त्वां दृष्ट्वा गिरिश तव भव्याङ्घ्रियुगलं
गृहीत्वा हस्ताभ्यां शिरसि नयने वक्षसि वहन् ।
समाश्लिष्याघ्राय स्फुटजलजगन्धान् परिमला-
नलभ्यां ब्रह्माद्यैर्मुदमनुभविष्यामि हृदये ॥२६॥

करस्थे हेमाद्रौ गिरिश निकटस्थे धनपतौ
गृहस्थे स्वर्भूजामरसुरभिचिन्तामणिगणे ।
शिरस्थे शीतांशौ चरणयुगलस्थेऽखिलशुभे
कमर्थं दास्येऽहं भवतु भवदर्थं मम मनः ॥२६॥

सारूप्यं तव पूजने शिव महादेवेति संकीर्तने
सामीप्यं शिवभक्तिधुर्यजनतासांगत्यसंभाषणे ।
सालोक्यं च चराचरात्मकतनुध्याने भवानीपते
सायुज्यं मम सिद्धमत्र भवति स्वामिन्कृतार्थोऽस्म्यहम् ॥२८॥

त्वत्पादाम्बुजमर्चयामि परमं त्वां चिन्तयाम्यन्वहं
त्वामीशं शरणं व्रजामि वचसा त्वामेव याचे विभो ।
वीक्षां मे दिश चाक्षुषीं सकरुणां दिव्यैश्चिरं प्रार्थितां
शंभो लोकगुरो मदीयमनसः सौख्योपदेशं कुरु ॥२९॥

वस्त्रोद्धूतविधौ सहस्रकरता पुष्पार्चने विष्णुता
गन्धे गन्धवहात्मतान्नपचने बर्हिर्मुखाध्यक्षता ।

पात्रे काञ्चनगर्भतास्ति मयि चेद्बालेन्दुचूडामणे
शुश्रूषां करवाणि ते पशुपते स्वामिस्त्रिलोकीगुरो ॥३०॥

नालं वा परमोपकारकमिदं त्वेकं पशूनां पते
पश्यन्कुक्षिगतांश्चराचरगणान् वाह्यस्थितान्रक्षितुम् ।
सर्वामर्त्यपलायनौषधमतिज्वालाकरं भीकरं
निक्षिप्तं गरलं गले न गिलितं नोद्गीर्णमेव त्वया ॥३१॥

ज्वालोग्रः सकलामरातिभयदः क्ष्वेलः कथं वा त्वया
दृष्टः किं च करे धृतः करतले किं पक्वजम्बूफलम् ।
जिह्वायां निहितश्च सिद्धघुटिका वा कण्ठदेशे भृतः
किं ते नीलमणिर्विभूषणमयं शंभो महात्मन्वद ॥३२॥

नालं वा सकृदेव देव भवतः सेवा नतिर्वा नुतिः
पूजा वा स्मरणं कथाश्रवणमप्यालोकनं मादृशाम् ।
स्वामिन्नस्थिरदेवतानुसरणायासेन किं लभ्यते
का वा मुक्तिरितः कुतो भवति चेत्किं प्रार्थनीयं तदा ॥३३॥

किं ब्रूमस्तव साहसं पशुपते कस्यास्ति शंभो भव-
द्धैर्यं चेदृशमात्मनः स्थितिरियं चान्यैः कथं लभ्यते ।
भ्रश्यद्देवगणं त्रसन्मुनिगणं नश्यत्प्रपञ्चं लयं
पश्यन्निर्भय एक एव विहरत्यानन्दसान्द्रो भवान् ॥३४॥

योगक्षेमधुरंधरस्य सकलश्रेयः प्रदोद्योगिनो
दृष्टादृष्टमतोपदेशकृतिनो बाह्यान्तरव्यापिनः ।
सर्वज्ञस्य दयाकरस्य भवतः किं वेदितव्यं मया
शंभो त्वं परमान्तरङ्ग इति मे चित्ते स्मराम्यन्वहम् ॥३५॥

भक्तो भक्तिगुणावृते मुदमृतापूर्णे प्रसन्ने मनः-
कुम्भे साम्ब तवाङ्घ्रिपल्लवयुगं संस्थाप्य संवित्फलम् ।

सत्त्वं मन्त्रमुदीरयन्निजशरीरागारशुद्धिं वह-
न्पुण्याहं प्रकटीकरोमि रुचिरं कल्याणमापादयन् ॥३६॥

आम्नायाम्बुधिमादरेण सुमनःसंघाः समुद्यन्मनो
मन्थानं दृढभक्तिरज्जुसहितं कृत्वा मथित्वा ततः ।
सोमं कल्पतरुं सुपर्वसुरभिं चिन्तामणिं धीमतां
नित्यानन्दसुधां निरन्तररमासौभाग्यमातन्वते ॥३७॥

प्राक्पुण्याचलमार्गदर्शितसुधामूर्तिः प्रसन्नः शिवः
सोमः सद्गणसेवितो मृगधरः पूर्णस्तमोमोचकः ।
चेतः पुष्करलक्षितो भवति चेदानन्दपाथोनिधिः
प्रागल्भ्येन विजृम्भते सुमनसां वृत्तिस्तदा जायते ॥३८॥

धर्मो मे चतुरङ्घ्रिकः सुचरितः पापं विनाशं गतं
कामक्रोधमदादयो विगलिताः कालाः सुखाविष्कृताः ।
ज्ञानानन्दमहौषधिः सुफलिता कैवल्यनाथे सदा
मान्ये मानसपुण्डरीकनगरे राजावतंसे स्थिते ॥३९॥

धीयन्त्रेण वचोघटेन कविताकुल्योपकुल्याक्रमै-
रानीतैश्च सदाशिवस्य चरिताम्भोराशिदिव्यामृतैः ।
हृत्केदारयुताश्च भक्तिकलमाः साफल्यमातन्वते
दुर्भिक्षान्मम सेवकस्य भगवन्विश्वेश भीतिः कुतः ॥४०॥

पापोत्पातविमोचनाय रुचिरैश्वर्याय मृत्युंजय
स्तोत्रध्याननतिप्रदक्षिणसपर्यालोकनाकर्णने ।
जिह्वाचित्तशिरोऽङ्घ्रिहस्तनयनश्रोत्रैरहं प्रार्थितो
मामाज्ञापय तन्निरूपय मुहुर्मामेव मा मेऽवचः ॥४१॥

गाम्भीर्यं परिखापदं घनधृतिः प्राकार उद्यद्गुण-
स्तोमश्चाप्तबलं घनेन्द्रियचयो द्वाराणि देहे स्थितः ।

विद्या वस्तुसमृद्धिरित्यखिलसामग्रीसमेते सदा
दुर्गातिप्रियदेव मामकमनोदुर्गे निवासं कुरु ॥४२॥

मा गच्छ त्वमितस्ततो गिरिश भो मय्येव वासं कुरु
स्वामिन्नादिकिरात मामकमनःकान्तारसीमान्तरे ।
वर्तन्ते बहुशो मृगा मदजुषो मात्सर्यमोहादय-
स्तान्हत्वा मृगयाविनोदरुचितालाभं च संप्राप्स्यसि ॥४३॥

करलग्नमृगः करीन्द्रभङ्गो
घनशार्दूलविखण्डनोऽस्तजन्तुः ।
गिरिशो विशदाकृतिश्च चेतः-
कुहरे पञ्चमुखोऽस्ति मे कुतो भीः ॥४४॥

छन्दःशाखिशिखान्वितैर्द्विजवरैः संसेविते शाश्वते
सौख्यापादिनि खेदभेदिनि सुधासारैः फलैर्दीपिते ।
चेतःपक्षिशिखामणे त्यज वृथासंचारमन्यैरलं
नित्यं शंकरपादपद्मयुगलीनीडे विहारं कुरु ॥४५॥

आकीर्णे नखराजिकान्तिविभवैरुद्यत्सुधावैभवै-
राधौतेऽपि च पद्मरागललिते हंसव्रजैराश्रिते ।
नित्यं भक्तिवधूगणैश्च रहसि स्वेच्छाविहारं कुरु
स्थित्वा मानसराजहंस गिरिजानाथाङ्घ्रिसौधान्तरे ॥४६॥

शंभुध्यानवसन्तसङ्गिनि हृदारामेऽघजीर्णच्छदाः
स्रस्ता भक्तिलताच्छटा विलसिताः पुण्यप्रवालश्रिताः ।
दीप्यन्ते गुणकोरका जपवचः पुष्पाणि सद्वासना
ज्ञानानन्दसुधामरन्दलहरी संवित्फलाभ्युन्नतिः ॥४७॥

नित्यानन्दरसालयं सुरमुनिस्वान्ताम्बुजाताश्रयं
स्वच्छं सद्द्विजसेवितं कलुषहृत्सद्वासनाविष्कृतम् ।

शंभुध्यानसरोवरं व्रज मनोहंसावतंस स्थिरं
किं क्षुद्राश्रयपल्लवभ्रमणसंजातश्रमं प्राप्स्यसि ॥४८॥

आनन्दामृतपूरिता हरपदाम्भोजालवालोद्यता
स्थैर्योपघ्नमुपेत्य भक्तिलतिका शाखोपशाखान्विता ।
उच्चैर्मानसकायमानपटलीमाक्रम्य निष्कल्मषा
नित्याभीष्टफलप्रदा भवतु मे सत्कर्मसंवर्धिता ॥४९॥

संध्यारम्भविजृम्भितं श्रुतिशिरःस्थानान्तराधिष्ठितं
सप्रेमभ्रमराभिराममसकृत्सद्वासनाशोभितम् ।
भोगीन्द्राभरणं समस्तसुमनः पूज्यं गुणाविष्कृतं
सेवे श्रीगिरिमल्लिकार्जुनमहालिङ्गं शिवालिङ्गितम् ॥५०॥

भृङ्गीच्छानटनोत्कटः करिमदग्राही स्फुरन्माधवा-
ह्लादो नादयुतो महासितवपुः पञ्चेषुणा चादृतः ।
सत्पक्षः सुमनोवनेषु स पुनः साक्षान्मदीये मनो-
राजीवे भ्रमराधिपो विहरतां श्रीशैलवासी विभुः ॥५१॥

कारुण्यामृतवर्षिणं घनविपद्ग्रीष्मच्छिदाकर्मठं
विद्यासस्यफलोदयाय सुमनःसंसेव्यमिच्छाकृतिम् ।
नृत्यद्भक्तमयूरमद्रिनिलयं चञ्चज्जटामण्डलं
शंभो वाञ्छति नीलकंधर सदा त्वां मे मनश्चातकः ॥५२॥

आकाशेन शिखी समस्तफणिनां नेत्रा कलापी नता-
नुग्राहिप्रणवोपदेशनिनदैः केकीति यो गीयते ।
श्यामां शैलसमुद्भवां घनरुचिं दृष्ट्वा नटन्तं मुदा
वेदान्तोपवने विहाररसिकं तं नीलकण्ठं भजे ॥५३॥

संध्या घर्मदिनात्ययो हरिकराघातप्रभूतानक-
ध्वानो वारिदगर्जितं दिविषदां दृष्टिच्छटा चञ्चला ।

भक्तानां परितोषबाष्पविततिर्वृष्टिर्मयूरी शिवा
यस्मिन्नुज्ज्वलताण्डवं विजयते तं नीलकण्ठं भजे ॥५४॥

आद्यायामिततेजसे श्रुतिपदैर्वेद्याय साध्याय ते
विद्यानन्दमयात्मने त्रिजगतः संरक्षणोद्योगिने ।
ध्येयायाखिलयोगिभिः सुरगणैर्गेयाय मायाविने
सम्यक्ताण्डवसंभ्रमाय जटिने सेयं नतिः शंभवे ॥५५॥

नित्याय त्रिगुणात्मने पुरजिते कात्यायनीश्रेयसे
सत्यायादिकुटुम्बिने मुनिमनः प्रत्यक्षचिन्मूर्तये
मायासृष्टजगत्त्रयाय सकलाम्नायान्तसंचारिणे
सायंताण्डवसंभ्रमाय जटिने सेयं नतिः शंभवे ॥५६॥

नित्यं स्वोदरपूरणाय सकलानुद्दिश्य वित्ताशया
व्यर्थं पर्यटनं करोमि भवतः सेवां न जाने विभो ।
मज्जन्मान्तरपुण्यपाकबलतस्त्वं शर्व सर्वान्तर-
स्तिष्ठस्येव हि तेन वा पशुपते ते रक्षणीयोऽस्म्यहम् ॥५७॥

एको वारिजबान्धवः क्षितिनभोव्याप्तं तमोमण्डलं
भित्त्वा लोचनगोचरोऽपि भवति त्वं कोटिसूर्यप्रभः ।
वेद्यः किं न भवस्यहो घनतरं कीदृग्भवेन्मत्तम-
स्तत्सर्वं व्यपनीय मे पशुपते साक्षात्प्रसन्नो भव ॥५८॥

हंसः पद्मवनं समिच्छति यथा नीलाम्बुदं चातकः
कोकः कोकनदप्रियं प्रतिदिनं चन्द्रं चकोरस्तथा ।
चेतो वाञ्छति मामकं पशुपते चिन्मार्गमृग्यं विभो
गौरीनाथ भवत्पदाब्जयुगलं कैवल्यसौख्यप्रदम् ॥५९॥

रोधस्तोयहृतः श्रमेण पथिकश्छायां तरोर्वृष्टितो
भीतः स्वस्थगृहं गृहस्थमतिथिर्दीनः प्रभुं धार्मिकम् ।

दीपं संतमसाकुलश्च शिखिनं शीतावृतस्त्वं तथा
चेतः सर्वभयापहं व्रज सुखं शंभोः पदाम्भोरुहम् ॥६०॥

अङ्कोलं निजबीजसंततिरयस्कान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुं लता क्षितिरुहं सिन्धुः सरिद्वल्लभम् ।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादारविन्दद्वयं
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते ॥६१॥

आनन्दाश्रुभिरातनोति पुलकं नैर्मल्यतश्छादनं
वाचाशङ्खमुखे स्थितैश्च जठरापूर्तिं चरित्रामृतैः ।
रुद्राक्षैर्भसितेन देव वपुषो रक्षां भवद्भावना-
पर्यङ्के विनिवेश्य भक्तिजननी भक्तार्भकं रक्षति ॥६२॥

मार्गावर्तितपादुका पशुपतेरङ्गस्य कूर्चायते
गण्डूषाम्बुनिषेचनं पुररिपोर्दिव्याभिषेकायते ।
किंचिद्भक्षितमांसशेषकवलं नव्योपहारायते
भक्तिः किं न करोत्यहो वनचरो भक्तावतंसायते ॥६३॥

वक्षस्ताडनमन्तकस्य कठिनापस्मारसंमर्दनं
भूभृत्पर्यटनं नमत्सुरशिरःकोटीरसंघर्षणम् ।
कर्मेदं मृदुलस्य तावकपदद्वन्द्वस्य किं वोचितं
मच्चेतोमणिपादुकाविहरणं शंभो सदाङ्गीकुरु ॥६४॥

वक्षस्ताडनशङ्कया विचलितो वैवस्वतो निर्जराः
कोटीरोज्ज्वलरत्नदीपकलिकानीराजनं कुर्वते ।
दृष्ट्वा मुक्तिवधूस्तनोति निभृताश्लेषं भवानीपते
यच्चेतस्तव पादपद्मभजनं तस्येह किं दुर्लभम् ॥६५॥

क्रीडार्थं सृजसि प्रपञ्चमखिलं क्रीडामृगास्ते जना
यत्कर्माचरितं मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत् ।

शंभो स्वस्य कुतूहलस्य करणं मच्चेष्टितं निश्चितं
तस्मान्मामकरक्षणं पशुपते कर्तव्यमेव त्वया ॥६६॥

बहुविधपरितोषवाष्पपूरस्फुटपुलकाङ्कितचारुभोगभूमिम् ।
चिरपदफलकाङ्क्षिसेव्यमानां परमसदाशिवभावनां प्रपद्ये ॥६७॥

अमितमुदमृतं मुहुर्दुहन्तीं विमलभवत्पदगोष्ठमावसन्तीम् ।
सदय पशुपते सुपुण्यपाकां मम परिपालय भक्तिधेनुमेकाम् ॥६८॥

जडता पशुता कलङ्किता कुटिलचरत्वं च नास्ति मयि देव ।
अस्ति यदि राजमौले भवदाभरणस्य नास्मि किं पात्रम् ॥६९॥

अरहसि रहसि स्वतन्त्रबुद्धया वरिवसितुं सुलभः प्रसन्नमूर्तिः ।
अगणितफलदायकः प्रभुर्मे जगदधिको हृदि राजशेखरोऽस्ति ॥७०॥

आरूढभक्तिगुणकुञ्चितभावचाप-
युक्तैः शिवस्मरणबाणगणैरमोघैः ।
निर्जित्य किल्बिषरिपून्विजयी सुधीन्द्रः
सानन्दमावहति सुस्थिरराजलक्ष्मीम् ॥७१॥

ध्यानाञ्जनेन समवेक्ष्य तमःप्रदेशं
भित्त्वा महाबलिभिरीश्वरनाममन्त्रैः ।
दिव्याश्रितं भुजगभूषणमुद्वहन्ति
ये पादपद्ममिह ते शिव ते कृतार्थाः ॥७२॥

भूदारतामुदवहद्यदपेक्षया श्रीभूदार एव किमतः सुमते लभस्व ।
केदारमाकलितमुक्तिमहौषधीनां पादारविन्दभजनं परमेश्वरस्य ॥७३॥

आशापाशक्लेशदुर्वासनादिभेदोद्युक्तैर्दिव्यगन्धैरमन्दैः ।
आशाशाटीकस्य पादारविन्दं चेतःपेटीं वासितां मे तनोतु ॥७४॥

कल्याणिनं सरसचित्रगतिं सवेगं
सर्वेङ्गितज्ञमनघं ध्रुवलक्षणाढ्यम् ।

चेतस्तुरङ्गमधिरुह्य चर स्मरारे
नेतः समस्तजगतां वृषभाधिरूढ ॥७५॥

भक्तिर्महेशपदपुष्करमावसन्ती
कादम्बिनीव कुरुते परितोषवर्षम् ।
संपूरितो भवति यस्य मनस्तटाक-
स्तज्जन्मसस्यमखिलं सफलं च नान्यत् ॥७६॥

बुद्धिः स्थिरा भवितुमीश्वरपादपद्म-
सक्ता वधूर्विरहिणीव सदा स्मरन्ती ।
सद्भावनास्मरणदर्शनकीर्तनादि
संमोहितेव शिवमन्त्रजपेन विन्ते ॥७७॥

सदुपचारविधिष्वनुबोधितां सविनयां सुहृदं समुपाश्रिताम् ।
मम समुद्धर बुद्धिमिमां प्रभो वरगुणेन नवोढवधूमिव ॥७८॥

नित्यं योगिमनःसरोजदलसंचारश्रमस्त्वत्क्रमः
शम्भो तेन कथं कठोरयमराड्वक्षः कवाटक्षतिः ।
अत्यन्तं मृदुलं त्वदङ्घ्रियुगलं हा मे मनश्चिन्तय-
त्येतल्लोचनगोचरं कुरु विभो हस्तेन संवाहये ॥७९॥

एष्यत्येष जनिं मनोऽस्य कठिनं तस्मिन्नटानीति म-
द्रक्षायै गिरिसीम्नि कोमलपदन्यासः पुराभ्यासितः ।
नो चेद्दिव्यगृहान्तरेषु सुमनस्तल्पेषु वेद्यादिषु
प्रायः सत्सु शिलातलेषु नटनं शंभो किमर्थं तव ॥८०॥

कंचित्कालमुमामहेश भवतः पादारविन्दार्चनैः
कंचिद्ध्यानसमाधिभिश्च नतिभिः कंचित्कथाकर्णनैः ।
कंचित्कंचिदवेक्षणैश्च नुतिभिः कंचिद्दशामीदृशीं
यः प्राप्नोति मुदा त्वदर्पितमना जीवन्स मुक्तः खलु ॥८१॥

वाणत्वं वृषभत्वमर्धवपुषा भार्यात्वमार्यापते
घोणित्वं सखिता मृदङ्गवहता चेत्यादि रूपं दधौ।
त्वत्पादे नयनार्पणं च कृतवांस्त्वद्देहभागो हरिः
पूज्यात्पूज्यतरः स एव हि न चेत्को वा तदन्योऽधिकः ॥८२॥

जननमृतियुतानां सेवया देवतानां
न भवति सुखलेशः संशयो नास्ति तत्र।
अजनिममृतरूपं साम्बमीशं भजन्ते
य इह परमसौख्यं ते हि धन्या लभन्ते ॥८३॥

शिव तव परिचर्यासंनिधानाय गौर्या
भव मम गुणधुर्यां बुद्धिकन्यां प्रदास्ये।
सकलभुवनबन्धो सच्चिदानन्दसिन्धो
सदय हृदयगेहे सर्वदा संवस त्वम् ॥८४॥

जलधिमथनदक्षो नैव पातालभेदी
न च वनमृगयायां नैव लब्धः प्रवीणः।
अशनकुसुमभूषावस्त्रमुख्यां सपर्यां
कथय कथमहं ते कल्पयानीन्दुमौले ॥८५॥

पूजाद्रव्यसमृद्धयो विरचिताः पूजां कथं कुर्महे
पक्षित्वं न च वा किटित्वमपि न प्राप्तं मया दुर्लभम्।
जाने मस्तकमङ्घ्रिपल्लवमुमाजाने न तेऽहं विभो
न ज्ञातं हि पितामहेन हरिणा तत्त्वेन तद्रूपिणा ॥८६॥

अशनं गरलं फणी कलापो वसनं चर्म च वाहनं महोक्षः।
मम दास्यसि किं किमस्ति शंभो तव पादाम्बुजभक्तिमेव देहि ॥८७॥

यदा कृताम्भोनिधिसेतुबन्धनः करस्थलाधःकृतपर्वताधिपः।
भवानि ते लङ्घितपद्मसंभवस्तदा शिवार्चास्तवभावनक्षमः ॥८८॥

नतिभिर्नुतिभिस्त्वमीश पूजाविधिभिर्ध्यानसमाधिभिर्न तुष्टः ।
धनुषा मुसलेन चाश्मभिर्वा वद ते प्रीतिकरं तथा करोमि ॥८९॥

वचसा चरितं वदामि शंभोरहमुद्योगविधासु तेऽप्रसक्तः ।
मनसाकृतिमीश्वरस्य सेवे शिरसा चैव सदाशिवं नमामि ॥९०॥

आद्याविद्या हृद्गता निर्गतासीद्विद्या हृद्या हृद्गता त्वत्प्रसादात् ।
सेवे नित्यं श्रीकरं त्वत्पदाब्जं भावे मुक्तेर्भाजनं राजमौले ॥९१॥

दूरीकृतानि दुरितानि दुरक्षराणि
दौर्भाग्यदुःखदुरहंकृतिदुर्वचांसि ।
सारं त्वदीयचरितं नितरां पिबन्तं
गौरीश मामिह समुद्धर सत्कटाक्षैः ॥९२॥

सोमकलाधरमौलौ कोमलघनकंधरे महामहसि ।
स्वामिनि गिरिजानाथे मामकहृदयं निरन्तरं रमताम् ॥९३॥

सा रसना ते नयने तावेव करौ स एव कृतकृत्यः ।
या ये यौ यो भर्गं वदतीक्षेते सदार्चतः स्मरति ॥९४॥

अतिमृदुलौ मम चरणावतिकठिनं ते मनो भवानीश ।
इति विचिकित्सां संत्यज शिव कथमासीद्गिरौ तथा वेशः ॥९५॥

धैर्याङ्कुशेन निभृतं रभसादाकृष्य भक्तिशृङ्खलया ।
पुरहर चरणालाने हृदयमदेभं बधान चिद्यन्त्रैः ॥९६॥

प्रचरत्यभितः प्रगल्भवृत्त्या मदवानेष मनःकरी गरीयान् ।
परिगृह्य नयेन भक्तिरज्ज्वा परम स्थाणु पदं दृढं नयामुम् ॥९७॥

सर्वालंकारयुक्तां सकलपदयुतां साधुवृत्तां सुवर्णां
सद्भिः संस्तूयमानां सरसगुणयुतां लक्षितां लक्षणाढ्याम्
उद्यद्भूषाविशेषामुपगतविनयां द्योतमानार्थरेखां
कल्याणीं देव गौरीप्रिय मम कविताकन्यकां त्वं गृहाण ॥९८॥

इदं ते युक्तं वा परमशिव कारुण्यजलधे
गतौ तिर्यग्रूपं तव पदशिरोदर्शनधिया ।
हरिब्रह्माणौ तौ दिवि भुवि चरन्तौ श्रमयुतौ
कथं शंभो स्वामिन्कथय मम वेद्योऽसि पुरतः ॥९९॥

स्तोत्रेणालमहं प्रवच्मि न मृषा देवा विरिञ्चादयः
स्तुत्यानां गणनाप्रसङ्गसमये त्वामग्रगण्यं विदुः ।
माहात्म्याग्रविचारणप्रकरणे धानातुषस्तोमव-
द्धूतास्त्वां विदुरुत्तमोत्तमफलं शंभो भवत्सेवकाः ॥१००॥

॥ इति शिवानन्दलहरी ॥

काशीपञ्चकम्

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च ।
ज्ञानप्रवाहा विमलादिगङ्गा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥१॥

यस्यामिदं कल्पितमिन्द्रजालं चराचरं भाति मनोविलासम् ।
सच्चित्सुखैका परमात्मरूपा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥२॥

कोशेषु पञ्चस्वधिराजमानाबुद्धिर्भवानी प्रतिदेहगेहम् ।
साक्षी शिवः सर्वगतोऽन्तरात्मा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥३॥

काश्यां हि काशते काशी काशी सर्वप्रकाशिका ।
सा काशी विदिता येन तेन प्राप्ता हि काशिका ॥४॥

काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगङ्गा
भक्तिः श्रद्धा गयेयं निजगुरुचरणध्यानयोगः प्रयागः ।
विश्वेशोऽयं तुरीयः सकलजनमनःसाक्षिभूतोऽन्तरात्मा
देहे सर्वं मदीये यदि वसति पुनस्तीर्थमन्यत्किमस्ति ॥५॥

॥ इति काशीपञ्चकम् ॥

श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रम् (१)

उपासकानां यदुपासनीयमुपात्तवासं वटशाखिमूले ।
दद्धाम दाक्षिण्यजुषा स्वमूर्त्या जागर्तु चित्ते मम बोधरूपम् ॥१॥

अद्राक्षमक्षीणदयानिधानमाचार्यमाद्यं वटमूलभागे ।
मौनेन मन्दस्मितभूषितेन महर्षिलोकस्य तमो नुदन्तम् ॥२॥

विद्रावितशेषतमोगणेन मुद्राविशेषेण मुहुर्मुनीनाम् ।
निरस्य मायां दयया विधत्ते देवो महांस्तत्त्वमसीति बोधम् ॥३॥

अपारकारुण्यसुधातरङ्गैरपाङ्गपातैरवलोकयन्तम् ।
कठोरसंसारनिदाघतप्तान्मुनीनहं नौमि गुरुं गुरूणाम् ॥४॥

ममाद्यदेवो वटमूलवासी कृपाविशेषात्कृतसंनिधानः ।
ओंकाररूपामुपदिश्य विद्यामाविद्यकध्वान्तमपाकरोतु ॥५॥

कलाभिरिन्दोरिव कल्पिताङ्गं मुक्ताकलापैरिव बद्धमूर्तिम् ।
आलोकये देशिकमप्रमेयमनाद्यविद्यातिमिरप्रभातम् ॥६॥

स्वदक्षजानुस्थितवामपादं पादोदरालंकृतयोगपट्टम् ।
अपस्मृतेराहितपादमङ्गं प्रणौमि देवं प्रणिधानवन्तम् ॥७॥

तत्त्वार्थमन्तेवसतामृषीणां युवाऽपि यः सन्नुपदेष्टुमीष्टे ।
प्रणौमि तं प्राक्तनपुण्यजालैराचार्यमाश्चर्यगुणाधिवासम् ॥८॥

एकेन मुद्रां परशुं करेण करेण चान्येन मृगं दधानः ।
स्वजानुविन्यस्तकरः पुरस्तादाचार्यचूडामणिराविरस्तु ॥९॥

आलेपवन्तं मदनाङ्गभूत्या शार्दूलकृत्त्या परिधानवन्तम् ।
आलोकये कंचन देशिकेन्द्रमज्ञानवाराकरवाडवाग्निम् ॥१०॥

चारुस्मितं सोमकलावतंसं वीणाधरं व्यक्तजटाकलापम् ।
उपासते केचन योगिनस्त्वामुपात्तनादानुभवप्रमोदम् ॥११॥

उपासते यं मुनयः शुकाद्या निराशिषो निर्ममताधिवासाः ।
तं दक्षिणामूर्तितनुं महेशमुपास्महे मोहमहार्तिशान्त्यै ॥१२॥

कान्त्या निन्दितकुन्दकन्दलवपुर्न्यग्रोधमूले वस-
न्कारुण्यामृतवारिभिर्मुनिजनं संभावयन्वीक्षितैः ।
मोहध्वान्तविभेदनं विरचयन्बोधेन तत्तादृशा
देवस्तत्त्वमसीति बोधयतु मां मुद्रावता पाणिना ॥१३॥

अगौरगात्रैरललाटनेत्रैरशान्तवेषैरभुजङ्गभूषैः ।
अबोधमुद्रैरनपास्तनिद्रैरपूर्णकामैरमरैरलं नः ॥१४॥

दैवतानि कति सन्ति चावनौ नैव तानि मनसो मतानि मे ।
दीक्षितं जडधियामनुग्रहे दक्षिणाभिमुखमेव दैवतम् ॥१५॥

मुदिताय मुग्धशशिनावतंसिने भसितावलेपरमणीयमूर्तये ।
जगदिन्द्रजालरचनापटीयसे महसे नमोऽस्तु वटमूलवासिने ॥१६॥

व्यालम्बिनीभिः परितो जटाभिः कलावशेषेण कलाधरेण ।
पश्यल्ललाटेन मुखेन्दुना च प्रकाशसे चेतसि निर्मलानाम् ॥१७॥

उपासकानां त्वमुमासहायः पूर्णेन्दुभावं प्रकटीकरोषि ।
यदद्य ते दर्शनमात्रतो मे द्रवत्यहो मानसचन्द्रकान्तः ॥१८॥

यस्ते प्रसन्नामनुसन्दधानो मूर्तिं मुदा मुग्धशशाङ्कमौलेः ।
ऐश्वर्यमायुर्लभते च विद्यामन्ते च वेदान्तमहारहस्यम् ॥१९॥

॥ इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रम् ॥

प्रातःस्मरणस्तोत्रम्

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम् ।
यः स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं
तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसङ्घः ॥१॥

प्रातर्भजामि मनसां वचसामगम्यं
वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
यं नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचं-
स्तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥२॥

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्तौ
रज्ज्वां भुजंगम इव प्रतिभासितं वै ॥३॥

श्लोकत्रयमिदं पुण्यं लोकत्रयविभूषणम् ।
प्रातःकाले पठेद्यस्तु स गच्छेत्परमं पदम् ॥

॥ इति प्रातःस्मरणस्तोत्रम् ॥

षटपदीस्तोत्रम्

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥१॥

दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे ।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥२॥

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥३॥

उद्धृतनग नगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे ।
दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः ॥४॥

मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवताऽवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥५॥

दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द ।
भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे ॥६॥

नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु ॥७॥

॥ इति षट्पदी ॥

निर्गुणमानसपूजा

शिष्य उवाच—

अखण्डे सच्चिदानन्दे निर्विकल्पैकरूपिणि ।
स्थितेऽद्वितीयभावेऽपि कथं पूजा विधीयते ॥१॥

पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः ॥२॥

निर्मलस्य कुतः स्नानं वासो विश्वोदरस्य च ।
अगोत्रस्य त्ववर्णस्य कुतस्तस्योपवीतकम् ॥३॥

निर्लेपस्य कुतो गन्धः पुष्पं निर्वासनस्य च ।
निर्विशेषस्य का भूषा कोऽलंकारो निराकृतेः ॥४॥

निरञ्जनस्य किं धूपैर्दीपैर्वा सर्वसाक्षिणः ।
निजानन्दैकतृप्तस्य नैवेद्यं किं भवेदिह ॥५॥

विश्वानन्दयितुस्तस्य किं ताम्बूलं प्रकल्पते ।
स्वयंप्रकाशचिद्रूपो योऽसावर्कादिभासकः ॥६॥

गीयते श्रुतिभिस्तस्य नीराजनविधिः कुतः ।
प्रदक्षिणमनन्तस्य प्रणामोऽद्वयवस्तुनः ॥७॥

वेदवाचामवेद्यस्य किं वा स्तोत्रं विधीयते ।
अन्तर्बहिः संस्थितस्य कथमुद्वासनं भवेत् ॥८॥

श्रीगुरुरुवाच—

आराधयामि मणिसन्निभमात्मलिङ्गं
मायापुरीहृदयपङ्कजसन्निविष्टम् ।
श्रद्धानदीविमलचित्तजलाभिषेकै-
र्नित्यं समाधिकुसुमैरपुनर्भवाय ॥९॥

अयमेकोऽवशिष्टोऽस्मीत्येवमावाहयेच्छिवम् ।
आसनं कल्पयेत्पश्चात्स्वप्रतिष्ठात्मचिन्तनम् ॥१०॥

पुण्यपापरजःसङ्गो मम नास्तीति वेदनम् ।
पाद्यं समर्पयेद्विद्वान्सर्वकल्मषनाशनम् ॥११॥

अनादिकल्पविधृतमूलाज्ञानजलाञ्जलिम् ।
विसृजेदात्मलिङ्गस्य तदेवार्घ्यसमर्पणम् ॥१२॥

ब्रह्मानन्दाब्धिकल्लोलकणकोट्यंशलेशकम् ।
पिबन्तीन्द्रादय इति ध्यानमाचमनं मतम् ॥१३॥

ब्रह्मानन्दजलेनैव लोकाः सर्वे परिप्लुताः ।
अक्लेद्योऽयमिति ध्यानमभिषेचनमात्मनः ॥१४॥

निरावरणचैतन्यं प्रकाशोऽस्मीति चिन्तनम् ।
आत्मलिङ्गस्य सद्वस्त्रमित्येवं चिन्तयेन्मुनिः ॥१५॥

त्रिगुणात्माशेषलोकमालिकासूत्रमस्म्यहम् ॥
इति निश्चय एवात्र ह्युपवीतं परं मतम् ॥१६॥

अनेकवासनामिश्रप्रपञ्चोऽयं धृतो मया ।
नान्येनेत्यनुसंधानमात्मनश्चन्दनं भवेत् ॥१७॥

रजःसत्त्वतमोवृत्तित्यागरूपैस्तिलाक्षतैः ।
आत्मलिङ्गं यजेन्नित्यं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ॥१८॥

ईश्वरो गुरुरात्मेति भेदत्रयविवर्जितैः ।
विल्वपत्रैरद्वितीयैरात्मलिङ्गं यजेच्छिवम् ॥१९॥

समस्तवासनात्यागं धूपं तस्य विचिन्तयेत् ।
ज्योतिर्मयात्मविज्ञानं दीपं संदर्शयेद्बुधः ॥२०॥

नैवेद्यमात्मलिङ्गस्य ब्रह्माण्डाख्यं महोदनम् ।
पिबानन्दरसं स्वादु मृत्युरस्योपसेचनम् ॥२१॥

अज्ञानोच्छिष्टकरस्य क्षालनं ज्ञानवारिणा ।
विशुद्धस्यात्मलिङ्गस्य हस्तप्रक्षालनं स्मरेत् ॥२२॥

रागादिगुणशून्यस्य शिवस्य परमात्मनः ।
सरागविषयाभ्यासत्यागस्ताम्बूलचर्वणम् ॥२३॥

अज्ञानध्वान्तविध्वंसप्रचण्डमतिभास्करम् ।
आत्मनो ब्रह्मताज्ञानं नीराजनमिहात्मनः ॥२४॥

विविधब्रह्मसंदृष्टिमालिकाभिरलंकृतम् ।
पूर्णानन्दात्मतादृष्टिं पुष्पाञ्जलिमनुस्मरेत् ॥२५॥

परिभ्रमन्ति ब्रह्माण्डसहस्राणि मयीश्वरे ।
कूटस्थाचलरूपोऽहमिति ध्यानं प्रदक्षिणम् ॥२६॥

विश्ववन्द्योऽहमेवास्मि नास्ति वन्द्यो मदन्यकः ।
इत्यालोचनमेवात्र स्वात्मलिङ्गस्य वन्दनम् ॥२७॥

आत्मनः सत्क्रिया प्रोक्ता कर्तव्याभावभावना ।
नामरूपव्यतीतात्मचिन्तनं नामकीर्तनम् ॥२८॥

श्रवणं तस्य देवस्य श्रोतव्याभावचिन्तनम् ।
मननं त्वात्मलिङ्गस्य मन्तव्याभावचिन्तनम् ॥२९॥

ध्यातव्याभावविज्ञानं निदिध्यासनमात्मनः ।
समस्तभ्रान्तिविक्षेपराहित्येनात्मनिष्ठता ॥३०॥

समाधिरात्मनो नाम नान्यच्चित्तस्य विभ्रमः ।
तत्रैवं ब्रह्मणि सदा चित्तविश्रान्तिरिष्यते ॥३१॥

एवं वेदान्तकल्पोक्तस्वात्मलिङ्गप्रपूजनम् ।
कुर्वन्नामरणं वाऽपि क्षणं वा सुसमाहितः ॥३२॥

सर्वदुर्वासनाजालं पदपांसुमिव त्यजेत् ।
विधूयाज्ञानदुःखौघं मोक्षानन्दं समश्नुते ॥३३॥

॥ इति निर्गुणमानसपूजा ॥

अद्वैतपञ्चरत्नम्

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गो
नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः
साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥१॥

रज्ज्वज्ञानाद्भाति रज्जौ यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः।
आप्तोक्त्याऽहिभ्रान्तिनाशे स रज्जु-
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम् ॥२॥

आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं
सत्यज्ञानानन्दरूपे विमोहात्।
निद्रामोहात्स्वप्नवत्तन्न सत्यं
शुद्धः पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहं ॥३॥

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो
देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहं-
कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम् ॥४॥

मत्तो नान्यत्किंचिदत्रास्ति विश्वं
सत्यं बाह्यं वस्तु मायोपक्लृप्तम्।
आदर्शान्तर्भासमानस्य तुल्यं
मय्यद्वैते भाति तस्माच्छिवोऽहम् ॥५॥

॥ इति अद्वैतपञ्चरत्नम् ॥

धन्याष्टकम्

तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां
तज्ज्ञेयं यदुपनिषत्सु निश्चितार्थम् ।
ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः
शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्तः ॥१॥

आदौ विजित्य विषयान्मदमोहराग-
द्वेषादिशत्रुगणमाहृतयोगराज्याः ।
ज्ञात्वा मतं समनुभूय परात्मविद्या-
कान्तासुखं वनगृहे विचरन्ति धन्याः ॥२॥

त्यक्त्वा गृहे रतिमधोगतिहेतुभूता-
मात्मेच्छयोपनिषदर्थरसं पिबन्तः ।
वीतस्पृहा विषयभोगपदे विरक्ता
धन्याश्चरन्ति विजनेषु विमुक्तसङ्गाः ॥३॥

त्यक्त्वा ममाहमिति बन्धकरे पदे द्वे
मानावमानसदृशाः समदर्शिनश्च ।
कर्तारमन्यमवगम्य तदर्पितानि
कुर्वन्ति कर्मपरिपाकफलानि धन्याः ॥४॥

त्यक्त्वैषणात्रयमवेक्षितमोक्षमार्गा
भैक्षामृतेन परिकल्पितदेहयात्राः ।
ज्योतिः परात्परतरं परमात्मसंज्ञं
धन्या द्विजा रहसि हृद्यवलोयन्ति ॥५॥

नासन्न सन्त सदसन्न महन्न चाणु
न स्त्री पुमान्न च नपुंसकमेकवीजम् ।
यैर्ब्रह्म तत्सममुपासितमेकचित्तै-
र्धन्या विरेजुरितरे भवपाशवद्धाः ॥६॥

अज्ञानपङ्कपरिमग्नमपेतसारं
दुःखालयं मरणजन्मजरावसक्तम् ।
संसारवन्धनमनित्यमवेक्ष्य धन्या
ज्ञानासिना तदवशीर्य विनिश्चयन्ति ॥७॥

शान्तैरनन्यमतिभिर्मधुरस्वभावै-
रेकत्वनिश्चितमनोभिरपेतमोहैः ।
साकं वनेषु विदितात्मपदस्वरूपै-
स्तद्वस्तु सम्यगनिशं विमृशन्ति धन्याः ॥८॥

॥ इति धन्याष्टकम् ॥

निर्वाणमञ्जरी

अहं नामरो नैव मर्त्यो न दैत्यो न गन्धर्वयक्षः पिशाचप्रभेदः।
पुमान्नैव न स्त्री तथा नैव षण्डः प्रकृष्टप्रकाशस्वरूपः शिवोऽहम् ॥१॥

अहं नैव बालो युवा नैव वृद्धो न वर्णी न च ब्रह्मचारी गृहस्थः।
वनस्थोऽपि नाहं न संन्यस्तधर्मा जगज्जन्मनाशैकहेतुः शिवोऽहम् ॥२॥

अहं नैव मेयस्तिरोभूतमायस्तथैवेक्षितुं मां पृथङ्नास्त्युपायः।
समाश्लिष्टकायत्रयोऽप्यद्वितीयः सदाऽतीन्द्रियः सर्वरूपः शिवोऽहम् ॥३॥

अहं नैव मन्ता न गन्ता न वक्ता
न कर्ता न भोक्ता न मुक्ताश्रमस्थः।
यथाऽहं मनोवृत्तिभेदस्वरूप-
स्तथा सर्ववृत्तिप्रदीपः शिवोऽहम् ॥४॥

न मे लोकयात्राप्रवाहे प्रवृत्ति-
र्न मे बन्धबुद्धया दुरीहानिवृत्तिः।
प्रवृत्तिर्निवृत्त्याऽस्य चित्तस्य वृत्ति-
र्यतस्त्वन्वहं तत्स्वरूपः शिवोऽहम् ॥५॥

निदानं यदज्ञानकार्यस्य कार्यं
विना यस्य सत्त्वं स्वतो नैव भाति।
यदाद्यन्तमध्यान्तरालान्तराल-
प्रकाशात्मकं स्यात्तदेवाहमस्मि ॥६॥

यतोऽहं न बुद्धिर्न मे कार्यसिद्धि-
र्यतो नाहमङ्गं न मे लिङ्गभङ्गः।

हृदाकाशवर्ती गताङ्गत्रयार्तिः
सदा सच्चिदानन्दमूर्तिः शिवोऽहम् ॥७॥

यदासीद्विलासाद्विकारो जगद्य-
द्विकाराश्रयो नाद्वितीयत्वतः स्यात् ।
मनोबुद्धिचित्ताहमाकारवृत्ति-
प्रवृत्तिर्यतः स्यात्तदेवाहमस्मि ॥८॥

यदन्तर्वहिर्व्यापकं नित्यशुद्धं
यदेकं सदा सच्चिदानन्दकन्दम् ।
यतः स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य भानं
यतस्तत्प्रसूतिस्तदेवाहमस्मि ॥९॥

यदर्केन्दुविद्युत्प्रभाजालमाला-
विलासास्पदं यत्स्वभेदादिशून्यम् ।
समस्तं जगद्यस्य पादात्मकं स्या-
द्यतः शक्तिभानं तदेवाहमस्मि ॥१०॥

यतः कालमृत्युर्बिभेति प्रकामं
यतश्चित्तबुद्धीन्द्रियाणां विलासः ।
हरिब्रह्मरुद्रेन्द्रचन्द्रादिनाम-
प्रकाशो यतः स्यात्तदेवाहमस्मि ॥११॥

यदाकाशवत्सर्वगं शान्तरूपं परं ज्योतिराकारशून्यं वरेण्यम् ।
यदाद्यन्तशून्यं परं शंकराख्यं यदन्तर्विभाव्यं तदेवाहमस्मि ॥१२॥

॥ इति निर्वाणमञ्जरी ॥

निर्वाणषट्कम्

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न कर्णं न जिह्वा न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥१॥

न च प्राणसंज्ञो न वै पञ्चवायुर्न
वा सप्तधातुर्न वा पञ्चकोशः।
न वाक् पाणिपादौ न चोपस्थपायू
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥२॥

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ
मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्ष-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥३॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥४॥

न मृत्युर्न शङ्का न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता च जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥५॥

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो
विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्।
न चासंगतं नैव मुक्तिर्न बन्ध-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥६॥

॥ इति निर्वाणषट्कम् ॥

प्रौढानुभूतिः

प्रौढप्रौढनिजानुभूतिगलितद्वैतेन्द्रजालो गुरु-
गूँढं गूढमघौघदुष्टकुधियां स्पष्टं सुधीशालिनाम्।
स्वान्ते सम्यगिहानुभूतमपि सच्छिष्यावबोधाय त-
स्सत्यं संस्मृतवान्समस्तजगतां नैजं निजालोकनात् ॥१॥

द्वैतं मय्यखिलं समुत्थितमिदं मिथ्या मनःकल्पितं
तोयं तोयविवर्जिते मरुतले भ्रान्त्यैव सिद्धं न हि।
यद्येवं खलु दृश्यमेतदखिलं नाहं न वा तन्मम
प्रौढानन्दचिदेकसन्मयवपुः शुद्धोऽस्म्यखण्डोऽस्म्यहम् ॥२॥

देहो नाहमचेतनोऽयमनिशं कुड्यादिवन्निश्चितो
नाहं प्राणमयोऽपि वा दृतिधृतो वायुर्यथा निश्चितः।
सोऽहं नापि मनोमयः कपिचलः कार्पण्यदुष्टो न वा
बुद्धिर्बुद्धकुवृत्तिकेव कुहना नाज्ञानमन्धंतमः ॥३॥

नाहं खादिरपि स्फुटं मरुतलभ्राजत्पयः साम्यत-
स्तेभ्यो नित्यविलक्षणोऽखिलदृशिः सौरप्रकाशो यथा।
दृश्यैः सङ्गविवर्जितो गगनवत्सम्पूर्णरूपोऽस्म्यहं
वस्तुस्थित्यनुरोधतस्त्वहमिदं वीच्यादि सिन्धुर्यथा ॥४॥

निर्द्वैतोऽस्म्यहमस्मि निर्मलचिदाकाशोऽस्मि पूर्णोऽस्म्यहं
निर्देहोऽस्मि निरिन्द्रियोऽस्मि नितरां निष्प्राणवर्गोऽस्म्यहम्।
निर्मुक्ताशुभमानसोऽस्मि विगलद्विज्ञानकोशोऽस्म्यहं
निर्मायोऽस्मि निरन्तरोऽस्मि विपुलप्रौढप्रकाशोऽस्म्यहम् ॥५॥

मत्तोऽन्यन्न हि किंचिदस्ति यदि चिद्भास्यं ततस्तन्मृषा
गुञ्जावह्निवदेव सर्वकलनाधिष्ठानभूतोऽस्म्यहम् ।
सर्वस्यापि दृगस्म्यहं समरसः शान्तोऽस्म्यपापोऽस्म्यहं
पूर्णोऽस्मि द्वयवर्जितोऽस्मि विपुलाकाशोऽस्मि नित्योऽस्म्यहम् ॥६॥

मय्यस्मिन्परमार्थके श्रुतिशिरोवेद्ये स्वतो भासने
का वा विप्रतिपत्तिरेतदखिलं भात्येव यत्संनिधेः ।
सौरालोकवशात्प्रतीतमखिलं पश्यन्न तस्मिञ्जनः
संदिग्धोऽस्त्यत एव केवलशिवः कोऽपि प्रकाशोऽस्म्यहम् ॥७॥

नित्यस्फूर्तिमयोऽस्मि निर्मलसदाकाशोऽस्मि शान्तोऽस्म्यहं
नित्यानन्दमयोऽस्मि निर्गतमहामोहान्धकारोऽस्म्यहम् ।
विज्ञातं परमार्थतत्त्वमखिलं नैजं निरस्ताशुभं
मुक्तप्राप्यमपास्तभेदकलनाकैवल्यसंज्ञोऽस्म्यहम् ॥८॥

स्वाप्नद्वैतवदेन जाग्रतमपि द्वैतं मनोमात्रकं
मिथ्येत्येव विहाय सच्चिदमलस्वात्मैकरूपोऽस्म्यहम् ।
यद्वा वेद्यमशेषमेतदनिशं मद्रूपमेवेत्यपि
ज्ञात्वा त्यक्तमरुन्महोदधिरिव प्रौढो गभीरोऽस्म्यहम् ॥९॥

गन्तव्यं किमिहास्ति सर्वपरिपूर्णस्याप्यखण्डाकृतेः
कर्तव्यं किमिहास्ति निष्क्रियतनोर्मोक्षैकरूपस्य मे ।
निर्द्वैतस्य न हेयमन्यदपि वा नो वाप्युपेयान्तरं
शान्तोऽद्यास्मि विमुक्ततोयविमलो मेघो यथा निर्मलः ॥१०॥

किं नः प्राप्तमितः पुरा किमधुना लब्धं विचारादिना
यस्मात्तत्सुखरूपमेव सततं जाज्वल्यमानोऽस्म्यहम् ।
किं वाऽपेक्ष्यमिहापि मय्यतितरां मिथ्याविचारादिकं
द्वैताद्वैतविवर्जिते समरसे मौनं परं संमतम् ॥११॥

श्रोतव्यं च किमस्ति पूर्णसुदृशो नित्यापरोक्षस्य मे
मन्तव्यं च न मेऽस्ति किंचिदपि वा निःसंशयज्योतिषः।
ध्यातृध्येयविभेदहानिवपुषो न ध्येयमस्त्येव मे
सर्वात्मैकमहारसस्य सततं नो वा समाधिर्मम ॥१२॥
आत्मानात्मविवेचनाऽपि मम नो विद्वत्कृता रोचते-
ऽनात्मा नास्ति यदस्ति गोचरवपुः को वा विवेक्तुं क्षमी।
मिथ्यावादविचारचिन्तनमहो कुर्वन्त्यदृष्टात्मका
भ्रान्ता एव न पारगा दृढधियस्तूष्णीं शिलावत्स्थिताः ॥१३॥
वस्तुस्थित्यनुरोधतस्त्वहमहो कश्चित्पदार्थो न चा-
प्येवं कोऽपि विभामि संततदृशिर्वाङ्मानसागोचरः।
निष्पापोऽस्म्यभयोऽस्म्यहं विगतदुःशङ्काकलङ्कोऽस्म्यहं
संशान्तानुपमानशीतलमहं प्रौढप्रकाशोऽस्म्यहम् ॥१४॥
योऽहं पूर्वमितः प्रशान्तकलनः शुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्म्यहं
यस्मान्मत्त इदं समुत्थितमभूदेतन्मया धार्यते।
मय्येव प्रलयं प्रयाति निरधिष्ठानाय तस्मै सदा
सत्यानन्दचिदात्मकाय विपुलप्रज्ञाय मह्यं नमः ॥१५॥
सत्ताचित्सुखरूपमस्ति सततं नाहं च न त्वं मृषा
नेदं वापि जगत्प्रदृष्टमखिलं नास्तीति जानीहि भोः।
यत्प्रोक्तं करुणावशात्त्वयि मया तत्सत्यमेतत्स्फुटं
श्रद्धत्स्वानघ शुद्धबुद्धिरसि चेन्माऽत्रास्तु ते संशयः ॥१६॥
स्वारस्यैकसुबोधचारुमनसे प्रौढानुभूतिस्त्वियं
दातव्या न तु माहृदग्धकुधिये दुष्टान्तरङ्गाय च।
येयं रम्यविदर्पितोत्तमशिरः प्राप्ता चकास्ति स्वयं
सा चेन्मर्कटहस्तदेशपतिता किं राजते केतकी ॥१७॥

॥ इति प्रौढानुभूतिः ॥

ब्रह्मज्ञानावलीमाला

सकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मज्ञानं यतो भवेत् ।
ब्रह्मज्ञानावलीमाला सर्वेषां मोक्षसिद्धये ॥१॥

असङ्गोऽहमसङ्गोऽहमसङ्गोऽहं पुनः पुनः ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥२॥

नित्यशुद्धविमुक्तोऽहं निराकारोऽहमव्ययः ।
भूमानन्दस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥३॥

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निराकारोऽहमच्युतः ।
परमानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥४॥

शुद्धचैतन्यरूपोऽहमात्मारामोऽहमेव च ।
अखण्डानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥५॥

प्रत्यक्चैतन्यरूपोऽहं शान्तोऽहं प्रकृतेः परः ।
शाश्वतानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥६॥

तत्वातीतः परात्माऽहं मध्यातीतः परः शिवः ।
मायातीतः परंज्योतिरहमेवाहमव्ययः ॥७॥

नानारूपव्यतीतोऽहं चिदाकारोऽहमच्युतः ।
सुखरूपस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥८॥

मायातत्कार्यदेहादि मम नास्त्येव सर्वदा ।
स्वप्रकाशैकरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥९॥

गुणत्रयव्यतीतोऽहं ब्रह्मादीनां च साक्ष्यहम् ।
अनन्तानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१०॥

अन्तर्यामिस्वरूपोऽहं कूटस्थः सर्वगोऽस्म्यहम् ।
परमात्मस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥११॥

निष्कलोऽहं निष्क्रियोऽहं सर्वात्माऽऽद्यः सनातनः ।
अपरोक्षस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१२॥

द्वन्द्वादिसाक्षिरूपोऽहमचलोऽहं सनातनः ।
सर्वसाक्षिस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१३॥

प्रज्ञानघन एवाहं विज्ञानघन एव च ।
अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१४॥

निराधारस्वरूपोऽहं सर्वाधारोऽहमेव च ।
आप्तकामस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१५॥

तापत्रयविनिर्मुक्तो देहत्रयविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्ष्यस्मि चाहमेवाहमव्ययः ॥१६॥

दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्परविलक्षणौ ।
दृग्ब्रह्म दृश्यं मायेति सर्ववेदान्तडिण्डिमः ॥१७॥

अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैवं पुनः पुनः ।
स एव मुक्तः सन् विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१८॥

घटकुड्यादिकं सर्वं मृत्तिकामात्रमेव च ।
तद्वद्ब्रह्म जगत्सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१९॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥२०॥

अन्तर्ज्योतिर्बहिर्ज्योतिः प्रत्यग्ज्योतिः परात्परः ।
ज्योतिर्ज्योतिः स्वयंज्योतिरात्मज्योतिः शिवोऽस्म्यहम् ॥२१॥

॥ इति ब्रह्मज्ञानावलीमाला ॥

ब्रह्मानुचिन्तनम्

अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।
इति स्यान्निश्चितो मुक्तो बद्ध एवान्यथा भवेत् ॥१॥

अहमेव परं ब्रह्म निश्चितं चित्त चिन्त्यताम् ।
चिद्रूपत्वादसङ्गत्वादबाध्यत्वात्प्रयत्नतः ॥२॥

अहमेव परं ब्रह्म न चाहं ब्रह्मणः पृथक् ।
इत्येवं समुपासीत ब्राह्मणो ब्रह्मणि स्थितः ॥३॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं चैतन्यं च निरन्तरम् ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कथं वर्णाश्रमी भवेत् ॥४॥

अहं ब्रह्मास्मि यो वेद स सर्वं भवति त्विदम् ।
नाभूत्या ईशते देवास्तेषामात्मा भवेद्धि सः ॥५॥

अन्योऽसावहमन्योऽस्मीत्युपास्ते योऽन्यदेवताम् ।
न स वेद नरो ब्रह्म स देवानां यथा पशुः ॥६॥

अहमात्मा न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥७॥

आत्मानं सततं ब्रह्म संभाव्य विहरन्ति ये ।
न तेषां दुष्कृतं किंचिद्दुष्कृतोत्था न चापदः ॥८॥

आत्मानं सततं ब्रह्म संभाव्य विहरेत्सुखम् ।
क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्मचिन्तनम् ॥९॥

तन्महापातकं हन्ति तमः सूर्योदयो यथा ।
अज्ञानाद् ब्रह्मणोजातमाकाशं बुद्बुदोपमम् ।।१०।।

आकाशाद्वायुरुत्पन्नो वायोस्तेजस्ततः पयः ।
अद्भ्यश्च पृथिवी जाता ततो व्रीहियवादिकम् ।।११।।

पृथिव्यप्सु पयो वह्नौ वह्निर्वायौ नभस्यसौ ।
नभोऽप्यव्याकृते तच्च शुद्धे शुद्धोऽस्म्यहं हरिः ।।१२।।

अहं विष्णुरहं विष्णुरहं विष्णुरहं हरिः ।
कर्तृमोक्त्रादिकं सर्वं तदविद्योत्थमेव च ।।१३।।

अच्युतोऽहमनन्तोऽहं गोविन्दोऽहमहं हरिः ।
आनन्दोऽहमशेषोऽहमजोऽहममृतोऽस्म्यहम् ।।१४।।

नित्योऽहं निर्विकल्पोऽहं निराकारोऽहमव्ययः ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं पञ्चकोशातिगोऽस्म्यहम् ।।१५।।

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमसङ्गः परमेश्वरः ।
सदा मत्सन्निधानेन चेष्टते सर्वमिन्द्रियम् ।।१६।।

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन ।
स्वभावनिर्मलः शुद्धः स एवाहं न संशयः ।।१७।।

ब्रह्मैवाहं न संसारी मुक्तोऽहमिति भावयेत् ।
अशक्नुवन्भावयितुं वाक्यमेतत्सदाऽभ्यसेत् ।।१८।।

यदभ्यासेन तद्भावो भवेद्भ्रमरकीटवत् ।
अत्रापहाय सन्देहमभ्यसेत्कृतनिश्चयः ।।१९।।

ध्यानयोगेन मासैकाद्ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।
संवत्सरं सदाऽभ्यासात्सिद्धयष्टकमवाप्नुयात् ।।२०।।

यावज्जीवं सदाऽभ्यासाज्जीवन्मुक्तो भवेद्यतिः ।
नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि तथैव च ॥२१॥

न मनोऽहं न बुद्धिश्च नैव चित्तमहंकृतिः ।
नाहं पृथ्वी न सलिलं न च वह्निस्तथाऽनिलः ॥२२॥

न चाकाशो न शब्दश्च न च स्पर्शस्तथा रसः ।
नाहं गन्धो न रूपं च न मायाऽहं न संसृतिः ॥२३॥

सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ।
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२४॥

मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्मास्म्यहमद्वयम् ।
सर्वज्ञोऽहमनन्तोऽहं सर्वेशः सर्वशक्तिमान् ॥२५॥

आनन्दः सर्वबोधोऽहमिति ब्रह्मानुचिन्तनम् ।
अयं प्रपञ्चो मिथ्यैव सत्यं ब्रह्माहमव्ययम् ॥२६॥

अत्र प्रमाणं वेदान्ता गुरवोऽनुभवस्तथा ।
ब्रह्मैवाहं न संसारी न चाहं ब्रह्मणः पृथक् ॥२७॥

नाहं देहो न मे देहः केवलोऽहं सनातनः ।
एवमेवाद्वितीयं वै ब्रह्मणो नेह किंचन ॥२८॥

हृदयकमलमध्ये दीपवद्वेदसारं
प्रणवमयमतर्क्यं योगिभिर्ध्यानगम्यम् ।
हरिगुरुशिवयोगं सर्वभूतस्थमेकं
सकृदपि मनसा वै चिन्तयेद्यः स मुक्तः ॥२९॥

॥ इति ब्रह्मानुचिन्तनम् ॥

सदाचारानुसंधानम्

सच्चिदानन्दकन्दाय जगदङ्कुरहेतवे ।
सदोदिताय पूर्णाय नमोऽनन्ताय विष्णवे ॥१॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तैर्ग्रथितं निर्मलं शिवम् ।
सदाचारं प्रवक्ष्यामि योगिनां ज्ञानसिद्धये ॥२॥

प्रातः स्मरामि देवस्य सवितुर्भर्गं आत्मनः ।
वरेण्यं तद्धियो यो नश्चिदानन्दे प्रचोदयात् ॥३॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
यदेकं केवलं ज्ञानं तदेवास्मि परं बृहत् ॥४॥

ज्ञानाज्ञानविलासोऽयं ज्ञानाज्ज्ञाने च शाम्यति ।
ज्ञानाज्ञाने परित्यज्य ज्ञानमेवावशिष्यते ॥५॥

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
असङ्गोऽहमिति ज्ञात्वा शौचमेतत्प्रचक्षते ॥६॥

मन्मनो मीनवन्नित्यं क्रीडत्यानन्दवारिधौ ।
सुस्नातस्तेन पूतात्मा सम्यग्विज्ञानवारिणा ॥७॥

अथाघमर्षणं कुर्यात्प्राणापाननिरोधतः ।
मनः पूर्णं समाधाय मग्नकुम्भो यथाऽर्णवे ॥८॥

लयविक्षेपयो सन्धौ मनस्तत्र निरामिषम् ।
स सन्धिः साधितो येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥९॥

सर्वत्र प्राणिनां देहे जपो भवति सर्वदा।
हंसः सोऽहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैर्विमुच्यते ॥१०॥

तर्पणं स्वसुखेनैव स्वेन्द्रियाणां प्रतर्पणम्।
मनसा मन आलोक्य स्वयमात्मा प्रकाशते।।११॥

आत्मनि स्वप्रकाशाग्नौ चित्तमेकाहुतिं क्षिपेत्।
अग्निहोत्री स विज्ञेयश्चेतरे नामधारकाः ॥१२॥

देहो देवालयः प्रोक्तो देही देवो निरञ्जनः।
अर्चितः सर्वभावेन स्वानुभूत्या विराजते ॥१३॥

मौनं स्वाध्ययनं ध्यानं ध्येयब्रह्मानुचिन्तनम्।
ज्ञानेनेति तयोः सम्यङ्निषेधात्तत्त्वदर्शनम् ॥१४॥

अतीतानागतं किञ्चिन्न स्मरामि न चिन्तये।
रागद्वेषौ विना प्राप्तं भुञ्जाम्यत्र शुभाशुभम् ॥१५॥

देहाभ्यासो हि संन्यासो नैव काषायवाससा।
नाहं देहोऽहमात्मेति निश्चयो न्यासलक्षणम् ॥१६॥

अभयं सर्वभूतानां दानमाहुर्मनीषिणः।
निजानन्दे स्पृहा नान्ये वैराग्यस्यावधिर्मता।।१७॥

वेदान्तश्रवणं कुर्यान्मननं चोपपत्तिभिः।
योगेनाभ्यसनं नित्यं ततो दर्शनमात्मनः ॥१८॥

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ।
प्रसुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुद्धयते ॥१९॥

आत्मानात्मविवेकेन ज्ञानं भवति निश्चलम्।
गुरुणा बोधितः शिष्यः शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥२०॥

न त्वं देहो नेन्द्रियाणि न प्राणो न मनो न धीः ।
विकारित्वाद्विनाशित्वाद् दृश्यत्वाच्च घटो यथा ॥२१॥

विशुद्धं केवलं ज्ञानं निर्विशेषं निरञ्जनम् ।
यदेकं परमानन्दं तत्त्वमस्यद्वयं परम् ॥२२॥

शब्दस्याद्यन्तयो सिद्धं मनसोऽपि तथैव च ।
मध्ये साक्षितया नित्यं तदेव त्वं भ्रमं जहि ॥२३॥

स्थूलवैराजयोरैक्यं सूक्ष्महैरण्यगर्भयोः ।
अज्ञानमाययोरैक्यं प्रत्यग्विज्ञानपूर्णयोः ॥२४॥

चिन्मात्रैकरसे विष्णौ ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपके ।
भ्रमेणैव जगज्जातं रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥२५॥

तार्किकाणां तु जीवेशौ वाच्यावेतौ विदुर्बुधाः ।
लक्ष्यौ च सांख्ययोगाभ्यां वेदान्तैरैकता तयोः ॥२६॥

कार्यकारणवाच्यांशौ जीवेशौ यौ जहच्च तौ ।
अजहच्च तयोर्लक्ष्यौ चिदंशावेकरूपिणौ ॥२७॥

कर्मशास्त्रे कुतो ज्ञानं तर्के नैवास्ति निश्चयः ।
सांख्ययोगौ भिदापन्नौ शाब्दिकाः शब्दतत्पराः ॥२८॥

अन्ये पाषण्डिनः सर्वे ज्ञानवार्तासुदुर्लभाः ।
एकं वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते ॥२९॥

अहं ममेत्ययं बन्धो ममाहं नेति मुक्तता ।
बन्धमोक्षौ गुणैर्भाति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ॥३०॥

ज्ञानमेकं सदा भाति सर्वावस्थासु निर्मलम् ।
मन्दभाग्या न जानन्ति स्वरूपं केवलं बृहत् ॥३१॥

संकल्पसाक्षि यज्ज्ञानं सर्वलोकैकजीवनम् ।
तदेवास्मीति यो वेद स मुक्तो नात्र संशयः ॥३२॥

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा ।
यस्य भासाऽवभासन्ते मानं भासाय तस्य किम् ॥३३॥

अर्थाकारा भवेद्वृत्तिः फलेनार्थः प्रकाशते ।
अर्थज्ञानं विजानाति स एवार्थः प्रकाशते ॥३४॥

वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्तु फलव्याप्तिः कथं भवेत् ।
स्वप्रकाशस्वरूपत्वात्सिद्धत्वाच्च चिदात्मनः ॥३५॥

चित्तं चैतन्यमात्रेण संयोगाच्चेतना भवेत् ।
अर्थादर्थान्तरे वृत्तिर्गन्तुं चलति चान्तरे ॥३६॥

निराधारा निर्विकारा या दशा सोन्मनी स्मृता ।
चित्तं चिदिति जानीयात्तकाररहितं यदा ॥३७॥

तकारो विषयाध्यासो जपारागो यथा मणौ ।
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाज्ज्ञानं तिष्ठति केवलम् ॥३८॥

त्रिपुटी क्षीणतामेति ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।
मनोमात्रमिदं सर्वं तन्मनो ज्ञानमात्रकम् ॥३९॥

अज्ञानं भ्रम इत्याहुर्विज्ञानं परमं पदम् ।
अज्ञानं चान्यथाज्ञानं मायामेतां वदन्ति ते ॥४०॥

ईश्वरं मायिनं विद्यान्मायातीतं निरञ्जनम् ।
सदानन्दे चिदाकाशे माया मेघस्तडिन्मतः ॥४१॥

अहंता गर्जनं तत्र धारासारा हि वृत्तयः ।
महामोहान्धकारेऽस्मिन्देवो वर्षति लीलया ॥४२॥

तस्या वृष्टेर्विरामाय प्रबोधैकसमीरणः ।
ज्ञानं दृग्दृश्ययोर्भानं विज्ञानं दृश्यशून्यता ॥४३॥

एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं तज्ज्ञानं ज्ञानमुच्यते ॥४४॥
विज्ञानं चोभयोरैक्यं क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः।
परोक्षं शास्त्रजं ज्ञानं विज्ञानं चात्मदर्शनम् ॥४५॥
आत्मनो ब्रह्मणः सम्यगुपाधिद्वयवर्जितम्।
त्वमर्थविषयं ज्ञानं विज्ञानं तत्पदाश्रयम् ॥४६॥
पादयोरैक्यबोधस्तु ज्ञानविज्ञानसंज्ञितम्।
आत्मानात्मविवेकं च ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥४७॥
अज्ञानं चान्यथा लोके विज्ञानं तन्मयं जगत्।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वत्रैकं प्रपश्यति ॥४८॥
यत्तत्तु वृत्तिजं ज्ञानं विज्ञानं ज्ञानमात्रकम्।
अज्ञानध्वंसकं ज्ञानं विज्ञानं चोभयात्मकम् ॥४९॥
ज्ञानविज्ञाननिष्ठोऽयं तत्सद्ब्रह्मणि चार्पणम्।
भोक्ता सत्त्वगुणः शुद्धो भोगानां साधनं रजः ॥५०॥
भोग्यं तमोगुणः प्राहुरात्मा चैषां प्रकाशकः।
ब्रह्माध्ययनसंयुक्तो ब्रह्मचर्यारतः सदा ॥५१॥
सर्वं ब्रह्मेति यो वेद ब्रह्मचारी च उच्यते।
गृहस्थो गुणमध्यस्थः शरीरं गृहमुच्यते ॥५२॥
गुणाः कुर्वन्ति कर्माणि नाहंकर्तेति बुद्धिमान्।
किमुग्रैश्च तपोभिः स्यात् यस्य ज्ञानमयं तपः ॥५३॥
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो वानप्रस्थः स उच्यते।
स गृही यो गृहातीतः शरीरं गृहमुच्यते ॥५४॥
सदाचारमिमं नित्यं योऽनुसंदधते बुधः।
संसारसागराच्छीघ्रं स मुक्तो नात्र संशयः ॥५५॥

॥ इति सदाचारानुसन्धानम् ॥

श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रम् (२)

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥१॥

बीजस्यान्तरिवांकुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् ।
मायावीव विजृंभयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥२॥

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते
साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान् ।
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवांभोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥३॥

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते ।
जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जग-
त्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥४॥

देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः
स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्ता भृशं वादिनः ।
मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥५॥

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत्सुषुप्तः पुमान् ।
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥६॥

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा ।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो भद्रया मुद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥७॥

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः ।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामित-
स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥८॥

भूरंभांस्यनलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमा-
नित्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम् ।
नान्यत् किंचन विद्यते विमृशतां यस्मात्परस्माद्विभो-
स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥९॥

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिन् स्तवे
तेनास्य श्रवणात्तथार्थमननाद्ध्यानाच्च संकीर्तनात् ।
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः
सिद्ध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम् ॥१०॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतं श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रम् ॥

कौपीनपञ्चकम्

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः ।
विशोकवन्तः करुणैकवन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥१॥

मूलं तरोः केवलमाश्रयन्तः पाणिद्वयं भोक्तुममंत्रयन्तः ।
कन्थामिव श्रीमपि कुत्सयन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥२॥

देहादिभावं परिमार्जयन्त आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तः ।
नान्तं न मध्यं न बहिः स्मरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥३॥

स्वानन्दभावे परितुष्टिमन्तः संशान्तसर्वेन्द्रियदृष्टिमन्तः ।
अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥४॥

पञ्चाक्षरं पावनमुच्चरन्तः पतिं पशूनां हृदि भावयन्तः ।
भिक्षाशना दिक्षु परिभ्रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥५॥

॥ इति कौपीनपञ्चकम् ॥

मायापञ्चकम्

निरुपमनित्यनिरंशकेऽप्यखण्डे मयि चिति सर्वविकल्पनादिशून्ये ।
घटयति जगदीशजीवभेदं त्वघटितघटनापटीयसी माया ॥१॥

श्रुतिशतनिगमान्तशोधकानप्यहह धनादिनिदर्शनेन सद्यः ।
कलुषयति चतुष्पदाद्यभिन्नानघटितघटनापटीयसी माया ॥२॥

सुखचिदखण्डविबोधमद्वितीयं वियदनलादिविनिर्मिते नियोज्य ।
भ्रमयति भवसागरे नितान्तं त्वघटितघटनापटीयसी माया ॥३॥

अपगतगुणवर्णजातिभेदे सुखचिति विप्रविडाद्यहंकृतिं च ।
स्फुटयति सुतदारगेहमोहं त्वघटितघटनापटीयसी माया ॥४॥

विधिहरिहरभेदमप्यखण्डे बत विरचय्य बुधानपि प्रकामम् ।
भ्रमयति हरिहरविभेदभावानघटितघटनापटीयसी माया ॥५॥

॥ इति मायापञ्चकम् ॥

वैराग्यपञ्चकम्

शिलं किमनलं भवेदनलमौदरं बाधितुं
पयः प्रसृतिपूरकं किमु न धारकं सारसम् ।
अयत्नमलमल्पकं पथि पटच्चरं कच्चरं
भजन्ति विबुधा मुधा ह्यहह कुक्षितः कुक्षितः ॥१॥

दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिकादुरासिकायै रचितोऽयमञ्जलिः ।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति नो धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम् ॥२॥

काचाय नीचं कमनीयवाचा मोचाफलस्वादमुचा न याचे ।
दयाकुचेले धनदत्कुचेले स्थितेऽकुचेले श्रितमाकुचेले ॥३॥

क्षोणीकोणशतांशपालनखलद्दुर्वारगर्वानल-
क्षुभ्यत्क्षुद्रनरेन्द्रचाटुरचनां धन्यां न मन्यामहे ।
देवं सेवितुमेव निश्चिनुमहे योऽसौ दयालुः पुरा
धानामुष्टिमुचे कुचेलमुनये धत्ते स्म वित्तेशताम् ॥४॥

शरीरपतनावधिप्रभुनिषेवणापादना-
दविन्धनधनञ्जयप्रशमदं धनं दन्धनम् ।
धनञ्जयविवर्धनं धनमुदूढगोवर्धनं
सुसाधनमबाधनं सुमनसां समाराधनम् ॥५॥

॥ इति वैराग्यपञ्चकम् ॥

द्वादशपञ्जरिकास्तोत्रम्

मूढ जहीहि धनागमतृष्णां कुरु सद्बुद्धिं मनसि वितृष्णाम् ।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ॥१॥

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः ॥२॥

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्य त्वं कः कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय यदिदं भ्रातः ॥३॥

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं हरति निमेषात्कालः सर्वम् ।
मायामयमिदमखिलं हित्वा ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा ॥४॥

कामं क्रोधं लोभं मोहं त्यक्त्वात्मानं भावय कोऽहम् ।
आत्मज्ञानविहीना मूढास्ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः ॥५॥

सुरमन्दिरतरुमूलनिवासः शय्या भूतलमजिनं वासः ।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः ॥६॥

शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ मा कुरु यत्नं विग्रहसन्धौ ।
भव समचित्तः सर्वत्र त्वं वाञ्छस्यचिराद्यदि विष्णुत्वम् ॥७॥

त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः ।
सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं सर्वत्रोत्सृज भेदज्ञानम् ॥८॥

प्राणायामं प्रत्याहारं नित्यानित्यविवेकविचारम् ।
जाप्यसमेतसमाधिविधानं कुर्ववधानं महदवधानम् ॥९॥

नलिनीदलगतसलिलं तरलं तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ।
विद्धि व्याध्यभिमानग्रस्तं लोकं शोकहतं च समस्तम् ॥१०॥

का तेऽष्टादशदेशे चिन्ता वातुल तव किं नास्ति नियन्ता ।
यस्त्वां हस्ते सुदृढनिबद्धं बोधयति प्रभवादिविरुद्धम् ॥११॥

गुरुचरणाम्बुजनिर्भरभक्तः संसारादचिराद्भव मुक्तः ।
सेन्द्रियमानसनियमादेवं द्रक्ष्यसि निजहृदयस्थं देवम् ॥१२॥

द्वादशपञ्जरिकामय एषः शिष्याणां कथितो ह्युपदेशः ।
येषां चित्ते नैव विवेकस्ते पच्यन्ते नरकमनेकम् ॥१३॥

सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वं निःसङ्गत्वे निर्मोहत्वम् ।
निर्मोहत्वे निश्चलितत्वं निश्चलितत्वे जीवन्मुक्तिः ॥१४॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतम् द्वादशपञ्जरिकास्तोत्रम् ॥

एकश्लोकी

किं ज्योतिस्तव भानुमानहनि मे रात्रौ प्रदीपादिकं
स्यादेवं रविदीपदर्शनविधौ किं ज्योतिराख्याहि मे।
चक्षुस्तस्य निमीलनादिसमये किं धीर्धियो दर्शने
किं तत्राहमतो भवान्परमकं ज्योतिस्तदस्मि प्रभो॥

॥ इति एकश्लोकी ॥

चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते
प्राप्ते संनिहिते मरणे न हि न हि रक्षति 'डुकृञ् करणे' ।।

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥१॥

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चुबुकसमर्पितजानुः ।
करतलभिक्षा तरुतलवासः तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥२॥

यावद्वित्तोपार्जनसक्तः तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाद्धावति जर्जरदेहे वार्तां पृच्छति कोऽपि न गेहे ॥३॥

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः काषायाम्बरबहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ॥४॥

भगवद्गीता किंचिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता ।
सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥५॥

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥६॥

बालस्तावत्क्रीडासक्तः तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥७॥

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।
इह संसारे बहुदुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे ॥८॥

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः ।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम् ॥९॥

वयसि गते कः कामविकारः शुष्के नीरे कः कासारः।
नष्टे द्रव्ये कः परिवारो ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥१०॥

नारीस्तनभरनाभिनिवेशं मिथ्यामायामोहावेशम् ।
एतन्मांसवसादिविकारं मनसि विचिन्तय वारं वारम् ॥११॥

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥१२॥

गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥१३॥

यावज्जीवो निवसति देहे कुशलं तावत्पृच्छति गेहे।
गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन्काये ॥१४॥

सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः।
यद्यपि लोके मरणं शरणं तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥१५॥

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः।
नाहं न त्वं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥१६॥

कुरुते गङ्गासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीनः सर्वमनेन मुक्तिर्भवति न जन्मशतेन ॥१७॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतं चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम् ॥

स्वरूपानुसन्धानाष्टकम्

तपोयज्ञदानादिभिः शुद्धबुद्धिर्विरक्तो नृपादेः पदे तुच्छबुद्ध्या।
परित्यज्य सर्वं यदाप्नोति तत्त्वं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥१॥

दयालुं गुरुं ब्रह्मनिष्ठं प्रशान्तं समाराध्य भक्त्या विचार्य स्वरूपम्।
यदाप्नोति तत्त्वं निदिध्यास्य विद्वान् परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥२॥

यदानन्दरूपं प्रकाशस्वरूपं निरस्तप्रपञ्चं परिच्छेदहीनम्।
अहं ब्रह्मवृत्त्येकगम्यं तुरीयं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥३॥

यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे।
मनोवागतीतं विशुद्धं विमुक्तं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥४॥

निषेधे कृते नेति नेतीति वाक्यैः समाधिस्थितानां यदाभाति पूर्णम्।
अवस्थात्रयातीतमद्वैतमेकं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥५॥

यदानन्दलेशैः समानन्दि विश्वं यदाभाति सत्त्वे तदाभाति सर्वम्।
यदालोचिते हेयमन्यत्समस्तं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥६॥

अनन्तं विभुं सर्वयोनिं निरीहं शिवं सङ्गहीनं यदोङ्कारगम्यम्।
निराकारमत्युज्ज्वलं मृत्युहीनं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥७॥

यदानन्दसिन्धौ निमग्नः पुमान्स्यादविद्याविलासः समस्तप्रपञ्चः।
तदा न स्फुरत्यद्भुतं यन्निमित्तं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥८॥

स्वरूपानुसन्धानरूपां स्तुतिं यः पठेदादराद्भक्तिभावो मनुष्यः।
शृणोतीह वा नित्यमुद्युक्तचित्तो भवेद्विष्णुरत्रैव वेदप्रमाणात् ॥९॥

॥ इति स्वरूपानुसन्धानाष्टकम् ॥

शिवपञ्चाक्षरीनक्षत्रमालिकास्तोत्र

श्रीमदात्मनेगुणैकसिन्धवे नमश्शिवाय धामलेशधूतलोकबन्धवे नमश्शिवाय। वामशोपितानमद्भवान्धवे नमश्शिवाय पामरेतरप्रधान-बन्धवे नमश्शिवाय ॥१॥ कालभीतविप्रबालपाल ते नमश्शिवाय शूलभिन्नदुष्टरक्षफाल ते नमश्शिवाय। मूलकारणीयकालकाल ते नमःशिवाय पालयाधुना दयालवाल ते नमश्शिवाय ॥२॥ इष्टवस्तु मुख्यदानहेतवे नमश्शिवाय दुष्टदैत्यवंशधूमकेतवे नमश्शिवाय। सृष्टि रक्षणायधर्मसेतवे नमश्शिवाय अष्टमूर्तये वृषेन्द्रकेतवे नमश्शिवाय ॥३॥ आपदद्रिभेदटङ्कहस्त ते नमश्शिवाय पापहारिदिव्यसिन्धु-मस्त ते नमश्शिवाय। पापदारिणेलसन्नमस्त ते नमश्शिवाय शापदोष-खण्डनप्रसक्त ते नमश्शिवाय ॥४॥ व्योमकेशदिव्यभव्यरूप ते नम-श्शिवाय हेममेदिनीधरेन्द्रचाप ते नमश्शिवाय। नाममात्रदग्धसर्वपाप ते नमश्शिवाय कामितैकतानहृद्दुराप ते नमश्शिवाय ॥५॥ ब्रह्ममस्त-कावलीविबद्ध ते नमश्शिवाय जिह्मगेन्द्रकुण्डलप्रसिद्ध ते नमश्शिवाय ब्रह्मणे प्रणीतवेदपद्धते नमश्शिवाय जिह्मकालदेहदत्तपद्धते नमश्शिवाय ॥६॥ कामनाशनायशुद्धकर्मणे नमश्शिवाय सामगानजायमान-शर्मणे नमश्शिवाय। हेमकान्तिचाकचक्यवर्मणे नमश्शिवाय साम-जासुराङ्गलब्धचर्मणे नमश्शिवाय ॥७॥ जन्ममृत्युघोरदुःखहारिणे नमश्शिवाय चिन्मयैकरूपदेहधारिणे नमश्शिवाय। मन्मनोरथावपूर्ति-कारिणे नमश्शिवाय मन्मनोगतायकामवैरिणे नमश्शिवाय ॥८॥ यक्षराजबन्धवे दयालवे नमश्शिवाय रक्षपाणिशोभिकाञ्चनालवे नमश्शिवाय। पक्षिराजवाहहृच्छयालवे नमश्शिवाय अक्षिबालवेद-पूततालवे नमश्शिवाय ॥९॥ दक्षहस्तनिष्ठजातवेदसे नमश्शिवाय अक्षरात्मने नमद्बिडौजसे नमश्शिवाय। दीक्षितप्रकाशितात्मतेजसे

नमश्शिवाय उक्षराजवाह ते सतांगते नमश्शिवाय ॥१०॥ राजता-चलेन्द्रसानुवासिने नमश्शिवाय राजमाननित्यमन्दहासिने नम-श्शिवाय । राजराजसख्यकृद्विलासिने नमश्शिवाय राजमानकोरका-वतंसिने नमश्शिवाय ॥११॥ दीनमानवालिकामधेनवे नमश्शिवाय सूनबाणदाहकृत्कृशानवे नमश्शिवाय । स्वानुरागभक्तरत्नसानवे नम-श्शिवाय दानवान्धकारचण्डभानवे नमश्शिवाय ॥१२॥ सर्वमङ्गला-कुचाग्रशायिने नमश्शिवाय सर्वदेवतागणातिशायिने नमश्शिवाय । पूर्वदेवनाशसंविधायिने नमश्शिवाय सर्वसन्मदोघभङ्गदायिने नम-श्शिवाय ॥१३॥ स्तोत्रभक्तितोऽपि भक्तपोषिणे नमश्शिवाय माक-रन्दसारवर्षिभाषिणे नमश्शिवाय । एकबिल्वदानतोऽपितोषिणे नम-श्शिवाय नैकजन्मपापजालशोषिणे नमश्शिवाय ॥१४॥ सर्वजीव-रक्षणैकशीलिने नमश्शिवाय पार्वतीप्रियाय भक्तपालिने नमश्शिवाय । दुर्विदग्धदैत्यसैन्यदारिणे नमश्शिवाय शर्वरीशधारिणे कपालिने नमश्शिवाय ॥१५॥ पाहिमामुमामनोज्ञदेह ते नमश्शिवाय देहि मे वरं सिताद्रिगेह ते नमश्शिवाय । मोहितर्षिकामिनीसमूह ते नमश्शिवाय स्वेहितप्रसन्नकामदोह ते नमश्शिवाय ॥१६॥ मङ्गलप्रदायगोतुरङ्ग ते नमश्शिवाय गङ्गयातरङ्गितोत्तमाङ्ग ते नमश्शिवाय । सङ्गरप्रवृत्तवैरि-भङ्ग ते नमश्शिवाय अङ्गजारयेकरेकुरङ्ग ते नमश्शिवाय ॥१७॥ ईहि-तक्षणप्रदानहेतवे नमश्शिवाय गूहिताग्निपाल उक्षकेतवे नमश्शिवाय । देहकान्तिधूतरौप्यधातवे नमश्शिवाय गेहदुःखपुञ्जधूमकेतवे नम-श्शिवाय ॥१८॥ त्र्यक्षदीनसत्कृपाकटाक्ष ते नमश्शिवाय दक्षसप्त-तन्तुनाशदक्ष ते नमश्शिवाय । ऋक्षराजभानुपावकाक्ष ते नमश्शिवाय रक्ष मां प्रसन्नमात्ररक्ष ते नमश्शिवाय ॥१९॥ न्यंकुपाणये शिवङ्क-राय ते नमश्शिवाय सङ्कटाब्धितीर्णकिङ्कराय ते नमश्शिवाय । पङ्क-भीषिताभयङ्कराय ते नमश्शिवाय पङ्कजाननाय शङ्कराय ते नमश्शि-वाय ॥२०॥ कर्मपाशनाशनीलकण्ठ ते नमश्शिवाय शर्मदायवर्य भस्म-कण्ठ ते नमश्शिवाय । निर्ममर्षिसेवितोपकण्ठ ते नमश्शिवाय कुर्महे-

नतोनंमद्विकुण्ठ ते नमश्शिवाय ॥२१॥ विष्टपाधिनायनप्रविष्णवे नमश्शिवाय शिष्टविप्रहृद्‌गुहाचरिष्णवे नमश्शिवाय । इष्टवस्तुदाननित्य तुष्ट्ये नमश्शिवाय कष्टनाशनाय लोकजिष्णवे नमश्शिवाय ॥२२॥ अप्रमेयदिव्यसुप्रभाव ते नमश्शिवाय सत्प्रपन्नरक्षणस्वभाव ते नमश्शिवाय । स्वप्रकाशनिस्तुलानुभाव ते नमश्शिवाय विप्रडिम्भदर्शितार्द्रभावते नमश्शिवाय ॥२३॥ सेवतायमेमृडप्रसाद ते नमश्शिवाय भावलभ्यतावकप्रसीद ते नमश्शिवाय । पावकाक्षदेवपूज्यपाद ते नमश्शिवाय तावकाङ्घ्रिभक्तदत्तमोद ते नमश्शिवाय ॥२४॥ भुक्तिमुक्तिदिव्यदायभागिने नमश्शिवाय शक्तिकल्पितप्रपञ्चभागिने नमश्शिवाय । भक्तसङ्कटापहारयोगिने नमश्शिवाय युक्तसन्मनस्सरोजयोगिने नमश्शिवाय ॥२५॥ अन्तकान्तकायपापहारिणे नमश्शिवाय शान्तमायदन्तिचर्मधारिणे नमश्शिवाय । सन्तताश्रितव्यथाविदारिणे नमश्शिवाय जन्तुजातनित्यसौख्यकारिणे नमश्शिवाय ॥२६॥ शूलिने नमो नमः कपालिने नमश्शिवाय पालिने विरञ्चितुण्डमालिने नमश्शिवाय । कीलिने विशेषरुण्डमालिने नमश्शिवाय शीलिने नमःप्रपुण्यशालिने नमश्शिवाय ॥२७॥ शिवं पञ्चाक्षरं मुद्रां पदचतुष्टयोल्लासपद्यमणिघटिताम् । नक्षत्रमालिकामहृदधदुपकण्ठं नरो भवेत्सोमः ॥

॥ इति शिवापञ्चाक्षरीनक्षत्रमालिका समाप्ता ॥

शिवषडक्षरस्तोत्रम्

ॐकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नयः ॥१॥

नमन्ति ऋषयो देवा नमन्त्यप्सरसां गणाः ।
नरा नमन्ति देवेशं नकाराय नमो नमः ॥२॥

महादेवं महात्मानं महाध्यानपरायणम् ।
महापापहरं देवं मकाराय नमो नमः ॥३॥

शिवं शान्तं जगन्नाथं लोकानुग्रहकारकम् ।
शिवमेकपदं नित्यं शिकाराय नमो नमः ॥४॥

वाहनं वृषभो यस्य वासुकिः कंठभूषणम् ।
वामे शक्तिधरं देवं वकाराय नमो नमः ॥५॥

यत्र यत्र स्थितो देवः सर्वव्यापी महेश्वरः ।
यो गुरुः सर्वदेवानां यकाराय नमो नमः ॥६॥

षडक्षरमिदं स्तोत्रं यः पठेच्छिवसंनिधौ ।
शिवलोकमवाप्नोति शिवेन सह मोदते ॥७॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उमामहेश्वरसंवादे
शिवषडक्षरस्तोत्रं संपूर्णम् ॥

लघुवासुदेवमननम्

प्रथमवर्णकम्

सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय सदात्माद्वैतवेदिने ।
श्रीमते शंकरार्याय वेदान्तगुरवे नमः ॥१॥

योऽवतीर्णं इहाचार्यरूपेण यतीनां मुदे ।
श्रीमन्नारायणं वन्दे तं हरिं करुणानिधिम् ॥२॥

मननाख्यं प्रकरणं वासुदेवयतीश्वरैः ।
रचितं विस्तरेणाद्य संग्रहेण प्रकाश्यते ॥३॥

बालानामुपकाराय मम विज्ञानसिद्धये ।
तत्र श्रीबालगोपालकृष्णः सन्निहितो भवेत् ॥४॥

इह खलु धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां पुरुषार्थानां मध्ये मोक्ष एव परमपुरुषार्थः, नित्यत्वात्, 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' (छा० ८. १५. १.) इति श्रुतेः। इतरेषां त्रयाणां न तथात्वम्, अनित्यत्वात् 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८. १. ६.) इति श्रुतेः। स च मोक्षो ब्रह्मज्ञानादेव सिध्यति, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६. ५.), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २. १.) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

तच्च ब्रह्म अध्यारोपापवादाभ्यां ज्ञातव्यम्, आरोपितनिवृत्त्यैवाधिष्ठानज्ञानोदयात्, 'अध्यारोपापवादाभ्यां ज्ञातव्यस्तत्त्वनिर्णयः', 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (कैवल्य० ३) इति वचनात्, तस्मान्मुमुक्षुणा अध्यारोपापवादाववश्यं ज्ञातव्यौ ।

तत्राध्यारोपो नाम शुक्तिकायां रजतवत्, रज्जौ सर्पवत्, स्थाणौ पुरुषवच्च निष्प्रपञ्चात्मवस्तुनि प्रपञ्चारोपः। अयमध्यारोपोवस्त्वज्ञानादागतः। तदज्ञानमेवाविद्या तमो मोहो मूलप्रकृतिप्रधानं गुणसाम्यमव्यक्तं मायेति चोच्यते। मूलप्रकृतिर्नाम शुक्लरक्तकृष्णतन्तुसमुदायरूपरज्जुवत् सत्त्वरजस्तमोगुणसमुदायरूपा। अस्याः प्रलयो महासुपुप्तिश्च नाम। अस्यां मूलप्रकृतावनन्तकोटिजीवाः स्वस्वकर्मवासनाभिः सह जतुपिण्डे सुवर्णरेणव इव सृष्टेः पूर्वं लीना वर्तन्ते। अयमनुभवः सकलजनानां सुषुप्त्यवस्थायामस्ति। सा मूलप्रकृतिः सृष्टिकाले परिपक्वजीवकर्मवशान्मायाऽविद्या तामसीति त्रिविधा जाता। तत्र माया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। तत्र प्रतिबिम्बितं सत्सृष्टेः पूर्वं विद्यमानं ब्रह्म चैतन्यमीश्वर इत्युच्यते। तस्याव्याकृतोऽन्तर्यामीति च नाम। स एव जगत्स्रष्टा। स एव परिपूर्णं ब्रह्मचैतन्यम्। तदेव तामस्यवच्छिन्नं सज्जगदुपादानमपि भवति। तन्तोरूर्णनाभवत्स्वोपाधिप्राधान्येनोपादानकारणं स्वप्राधान्येन निमित्तकारणम्।

अयमीश्वरः केन प्रकारेण जगत्सृष्टवानिति चेत्, उच्यते—पूर्वोक्ताऽविद्या रजःप्रधाना बहुप्रकाराऽनन्ता। तदविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपा जीवा अप्यनन्ताः। अनयोर्जीवेश्वरयोर्व्यष्टिरूपाऽविद्या समष्टिरूपा मूलप्रकृतिश्च क्रमेण कारणशरीरे। तयोः कारणशरीरयोर्जीवस्येश्वरस्य चावस्थानं सुषुप्त्यवस्था। तयोः स्वस्वकारणशरीरमेवानन्दमयकोशः। एवं कारणप्रपञ्चसृष्टिः॥

अथ सूक्ष्मप्रपञ्चसृष्टिरुच्यते—ईश्वरस्येक्षणवशात्तमोगुणरूपा प्रकृतिरावरणशक्तिर्विक्षेपशक्तिरिति द्विविधा जाता। तत्र विक्षेपशक्तिरेव सूक्ष्म आकाशोऽभवत्। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां सूक्ष्मभूतान्यपञ्चीकृतानि तन्मात्राणि चेति नाम। एतेषामपि सत्त्वरजस्तमोगुणाः

कारणादज्ञानादागताः सन्ति। एतेषामाकाशादीनां पृथक्पृथक्सत्त्वगुणांशाच्छ्रोत्रं त्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि क्रमेण जातानि। आकाशादिसत्त्वसमष्ट्याऽन्तःकरणं जातम्। तच्च मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तभेदेन चतुर्विधम्। तत्र बुद्धावहङ्कारस्य, मनसि चित्तस्य चान्तर्भावः। एवमाकाशादिरजोगुणाद्वाक्पाणिपादोपस्थपायव इति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि जातानि। आकाशादिरजोगुणसमष्ट्या प्राणो जातः। स च प्राणापानव्यानोदानसमानभेदेन पञ्चविधः। एतज्ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणपञ्चकं मनो बुद्धिश्चैकीभूय सप्तदशात्मकं सूक्ष्मशरीरं लिङ्गाख्यमुच्यते। इदमेव भोगसाधनम्। अस्मिन्सूक्ष्मशरीरे जीवेश्वरयोरवस्थितिः स्वप्नावस्था। अस्मिन्विज्ञानमयकोशो मनोमयकोशः प्राणमयकोशश्च सन्ति। एवं सूक्ष्मसृष्टिप्रकारः॥

अथ स्थूलसृष्टिप्रकार उच्यते—अथ तमोगुणप्रधानान्यपञ्चीकृतान्याकाशादीनि पञ्चापि भूतानि प्रत्येकं द्वेधा विभज्य तत्रैकैकमर्धं चतुर्धा विभज्य स्वार्धभागं विहायेतरभूतार्धभागेषु संयोजनं पञ्चीकरणम्। एवं कृते पञ्चपि पञ्चीकृतानि भवन्ति। एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो ब्रह्माण्डं तदन्तश्चतुर्दश भुवनानि तेषु चाण्डजजरायुजस्वेदजोद्भिज्जरूपचतुर्विधस्थूलशरीराण्यन्नादिभोग्यवस्तूनि च जातानि। अस्मिन्स्थूलशरीरे जीवेश्वरयोरवस्थानं जाग्रदवस्था। इदं स्थूलमेवान्नमयकोशः। एवं स्थूलसृष्टिप्रकारः।

इदं कारणशरीरं सूक्ष्मशरीरं स्थूलशरीरं च प्रत्येकं व्यष्टिसमष्टिभेदेन द्विविधम्। 'वनम्' 'ग्रामः' इत्यादि समष्टिः, 'वृक्षः' 'गृहम्' इत्यादि व्यष्टिः, एवं सर्वशरीरं समष्टिः, एकशरीरं व्यष्टिः तत्र समष्ट्युपाधिक ईश्वरः, व्यष्ट्युपाधिको जीवः। तत्रापि कारणसमष्ट्येश्वरः, कारणव्यष्ट्या प्राज्ञः। सूक्ष्मसमष्ट्या हिरण्य-

गर्भः, सूक्ष्मव्यष्टया तैजसः। स्थूलसमष्टया वैश्वानरः, स्थूलव्यष्टया विश्वः। इति जीवेश्वरयोरवान्तरभेदः॥

अयमेवेश्वरः सत्त्वरजस्तमोगुणैरुपाधिभिर्ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपेण सृष्टिस्थितिसंहारान्करोति। ब्रह्मणो विराट्पुरुषेऽन्तर्भावः। विष्णोर्हिरण्यगर्भेऽन्तर्भावः। रुद्रस्य चेश्वरेऽन्तर्भावः। एवं प्रपञ्चोत्पत्तिः। अयमेवाध्यारोपः। इदं विक्षेपशक्तिकार्यम्॥

अथावरणशक्तिकार्यमुच्यते—ईश्वरमात्मज्ञानिनं च विहायान्येषां सर्वेषां जीवानां पञ्चकोशानामात्मनश्च भेदमावरणशक्तिरन्धकार इवावृणोति। आवरणं च द्विविधमसत्त्वावरणभानावरणं चेति। 'वस्तु नास्ति' इति व्यवहारकारणमसत्त्वावरणम्। 'वस्तु न भाति' इति व्यवहारकारणमभानावरणम्। आवरणशक्तिकार्यमेव संसारवृक्षस्य मूलम्, न विक्षेपशक्तिकार्यम्। एतन्मोक्षसिद्धेरपि हेतुः। द्विविधमप्यावरणं तत्त्वज्ञानेन विनाश्यम्। तत्त्वज्ञानं च परोक्षज्ञानमपरोक्षज्ञानं चेति द्विविधम्। तत्र गुरुमुखाद्वेदान्तजन्यं ज्ञानं परोक्षज्ञानम्। इदमेव श्रवणम्। अनेन 'वस्तु नास्ति' इत्येवंरूपमसत्त्वावरणं नश्यति। तदा 'वस्त्वस्ति' इति व्यवह्रियते। श्रवणेन संशयं, मननेनासम्भावनां, निदिध्यासनेन विपरीतभावनां च निवर्त्य देहात्मज्ञानवद्ब्रह्मात्मज्ञानं जायमानमपरोक्षज्ञानम्। अनेन 'वस्तु न भाति' इति व्यवहारहेतुरभानावरणं नश्यति। एवं परोक्षज्ञानेन च 'ब्रह्म नास्ति न भाति' इति व्यवहारहेतुरावरणद्वयमपि नश्यति। तदाऽनर्थनिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च भवतः। इति सप्तावस्थाः सिध्यन्ति। सप्तावस्था नाम—'अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः। अपरोक्षमतिः शोकहतिस्तृप्तिर्निरङ्कुशा॥' (पं० द० ७।३३) इति। एवमाकाशवन्निर्मले चैतन्यवस्तुनि मिथ्याभूतप्रपञ्चकल्पनमध्यारोपः॥

अथापवाद उच्यते—'कारणव्यतिरेकेण कार्यं नास्ति' इति बोधेन शुक्तिकायां रजतवद्रज्जौ सर्पवच्च 'ब्रह्मणि प्रपञ्चो नास्ति' इति निषेधोऽपवादः। 'या मा सा माया' 'या न विद्यते साऽविद्या' इति व्युत्पत्त्या मायायाः कल्पितत्वं सिद्धम्। एवं यः 'ब्रह्मव्यतिरेकेण किमपि नास्ति तद्ब्रह्माहमेव' इति विचार्य जानाति स एव जीवन्मुक्त इति वेदान्तसिद्धान्तः॥

॥ इति प्रथमवर्णकम् ॥

द्वितीयवर्णकम्

अथ द्वितीयवर्णकेऽनुबन्धचतुष्टयमुच्यते। विषयः प्रयोजनं संबन्धोऽधिकारी चेत्यनुबन्धचतुष्टयम्। अस्य वेदान्तशास्त्रस्य ब्रह्मैव विषयः। मोक्ष एव प्रयोजनम्। प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो बोध्यबोधकभावो वा संबन्धः। साधनचतुष्टयसंपन्नोऽधिकारी। यथा बृहस्पतिसवने ब्राह्मण एव, राजसूये क्षत्रिय एव, तथा वेदान्तशास्त्रे साधनचतुष्टयसंपन्न एवाधिकारी। नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमादिषट्कं मुमुक्षुत्वं चेति साधनचतुष्टयम्। 'ब्रह्मैव नित्यम्, जगदनित्यम्' इति श्रुतिस्मृतिपुराणादिना स्वयमेव जायमानं ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकः। 'इह स्रक्चन्दनादिविषयभोगोऽमुत्राप्सरःस्त्रीविषयादिभोगश्चेत्युभयमप्यनित्यम्' इति श्ववान्ताशनमूत्रपुरीषादिवत्तत्र वैरस्यमिहामुत्रार्थफलभोगविरागः। शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धा इति शमादिषट्कम्। शमो नाम श्रवणादिव्यतिरिक्तेभ्यो निवर्त्यात्मन्येव श्रवणादिविषये मनसः स्थापनम्। दमो नाम ज्ञानकर्मेन्द्रियनिग्रहः। उपरतिर्नाम संन्यासो निष्कामकर्मानुष्ठानं व्यवहारपोलो वा। तितिक्षा नाम प्रारब्धा-

गतशीतोष्णादिसहनम्। समाधानं नाम श्रवणाद्यनुकूलविषये मनसः समाधिः। श्रद्धा नाम गुरुवेदान्तवाक्यविश्वासः। इति शमादिषट्कम्। गृहे दह्यमाने तत्रस्थो दह्यमानः पुरुषो यथा कलत्रपुत्रादिकं परित्यज्य स्वतामोपशमनार्थमेव वहिर्निर्गत्य तापोपशमनं कर्तुमिच्छति, एव सांसारिकतामोपशमनं संपादयितुं त्यक्तसर्वैषणस्य ब्रह्मतादात्म्यभावे मोक्षे तीव्रेच्छा मुमुक्षा। लोके केषाञ्चिन्नित्यानित्यवस्तुविवेके सत्यपि वैराग्यस्यादर्शनादिहामुत्रार्थफलभोगविरागेणापि भवितव्यमित्युक्तम्। तदुभयसत्त्वेऽपि केषाञ्चिदृषीश्वराणां कोपतापादिदर्शनाच्छमादिनापि भवितव्यमित्युक्तम्। एतत्त्रितये सत्यपि केषाञ्चिद्भक्त्येश्वरोपासकानां ज्ञानाधिकारादर्शनान्मुमुक्षयापि भवितव्यम्।

एवं रूपोऽधिकार्युपहारसमित्पाणिः सन्सद्गुरुमुपगम्य नमस्कृत्य विश्वासविनयाभ्यां सह 'हे स्वामिन्, हे भगवन्, गुरो' इति संबोध्य 'जीवः कः? ईश्वरः कः? जगत्कीदृशम्? एतत्त्रितयं कस्मादागतम्? कस्माद्गमिष्यति?' इति प्रश्नं कुर्यात्। 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥' (मु० १.२.१२) इत्यादिश्रुतेः। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥' (गी० ४.३४) इति गीतावचनाच्च॥

एवं शिष्येण प्रार्थितः सद्गुरुर्दयया सत्त्वरजस्तमोगुणैर्जीवेश्वरजगतामागमनप्रकारं बोधयित्वा आत्मस्वरूपमपि करतलामलकवद्बोधयति। अस्याधिकारिणः साधनचतुष्टयं च बहुजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाकवशादीश्वरानुग्रहेण लब्धमिति वेदितव्यम्। एतत्तत्त्वज्ञानप्रदायकं गुरुमीश्वरमेव विद्यात्। एवं यो गुरुमुखाज्जी-

वात्मपरमात्मनोरभेदं विचार्य जानाति स एव मुक्तिं गमिष्यतीति सिद्धम् ॥

॥ इति द्वितीयवर्णकम् ॥

तृतीयवर्णकम्

अयं प्रपञ्चः कतिविध इति चेदात्माऽनात्मा चेति द्विप्रकारः। प्रपञ्चातीतस्यात्मनः कथं प्रपञ्चान्तर्भूतत्वमिति न शङ्कितव्यम्। कथमिति चेत्, अस्य प्रपञ्चस्य चेतनाचेतनात्मकत्वादात्मनश्चेतनरूपत्वादात्मानं विना प्रपञ्चस्याभावादात्मनः प्रपञ्चान्तर्भावो वक्तव्य एव। तर्हि चेतनं किमचेतनं किमिति चेत्, जङ्गमं सर्वं चेतनं, स्थावरं सर्वमचेतनम्। तर्हि चेतनानामचेतनानां च प्रत्येकं बहुप्रकारत्वात्कथं द्विप्रकार एव प्रपञ्च इति चेच्छृणु। अनात्मैक एव। स कार्यरूपेणानेकरूपोऽभूत्। आत्मा चैकरूप एव। सोऽप्यनात्मकार्योपाधिभिरनेकजीवा इत्यनेकेश्वरा इति च भाति। एकस्येश्वरस्य जीववत्कथमनेकत्वमिति चेत्, पुण्यक्षेत्रेषु ग्रामेषु गृहेषु च शिवविष्ण्वादिमूर्तिभेदेन स्थितत्वादिति ब्रूमः। मृच्छिलादिरूपाणां तासां मूर्तीनां कथमीश्वरत्वमिति चेत् ईश्वरत्वमस्ति, सर्वैरपि तासु मूर्तिषु बहुद्रव्यव्ययं कृत्वा अभिषेकनैवेद्यादेः क्रियमाणत्वात्। येषां शास्त्रे विश्वासो नास्ति ते म्लेच्छादयो मूर्तीनां पूजने नोदाहरणीयाः, सर्वतःश्रद्धावतामेवोदाहरणीयत्वात्। किं च हेये मलमूत्राद्यात्मकेऽस्मिञ्छरीर आत्मबुद्धिं कुर्वतां जीवानामत्यन्तशुद्धासु मूर्तिष्वीश्वरबुद्धिकरणे को वा दोषः?

एवमेकस्यानात्मनः कार्यरूपेणानेकत्व एकस्यात्मनोऽनात्मकार्योपाधिभिरनेकत्वे च दृष्टान्तः क इति चेत् शृणु। यथैकैव

पृथिवी कार्यरूपेण परिणता सती पर्वतो वृक्षो गोपुरं कुड्यं कुसूलं गृहं मठो घटः शराव इत्यादिभेदं गच्छति, तथा मूलप्रकृतिरनात्मैक एव कार्यशरीररूपेणानेको जातः; यथा आकाश एक एव पृथिवीकार्योपाधिषु प्रविष्ट इव प्रतीयमानः 'अयं घटाकाशः' 'अयं मठाकाश.' इत्यादिरूपेणानेकधा भाति, तथा आत्मा स्वयमेकोऽपि तत्तच्छरीरोपाधिभिस्तत्र प्रविष्ट इव सन् देवो मनुष्यो रामः कृष्णो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः पशुः पक्षी कृमिः कीट इति बहुधा भाति। अयमवच्छिन्नपक्षे दृष्टान्तः प्रतिबिम्बपक्षे तु, समुद्रो नदी तटाकः कूपो घटजलमित्येकमेव जलं यथा बहुधा जातम्, तथाऽनात्मापि बहुधा जातः तेषु समुद्रादिष्वादित्य एक एव प्रतिबिम्बितः सन्यथा बहुधा जातः, तथैक एवात्माऽन्तःकरणसहितेषु सर्वेष्वपि शरीरेषु प्रतिबिम्बितः सन्ननेको जातः, इत्युभयत्रापि दृष्टान्तो ज्ञातव्यः। यथा जलधर्माः शीतचलनादयस्तज्जलनिष्ठप्रतिबिम्ब एव भान्ति बिम्बभूतमादित्यं न स्पृशन्ति, तथाऽन्तःकरणधर्मा कर्तृत्वभोक्तृत्वविकारा अपि तदन्तःकरणनिष्ठचिदाभास एव भान्ति बिम्बभूतमात्मानं न स्पृशन्ति। तस्माज्जीवात्मैव परमात्मा परमात्मैव जीवात्मा। कथमिति चेत्, यथा घटाकाश एव महाकाशो महाकाश एव घटाकाश एवमिति जानीहि॥

ननु जीवात्मनः कल्पितत्वात्कल्पितस्य चासत्यत्वात्कथं तस्य सत्यपरमात्माभेद इति चेत्, पारमार्थिको व्यावहारिकः प्रातिभासिक इति जीवस्त्रिविधः। एते जीवाः क्रमेण सुषुप्तिजाग्रत्स्वप्नाभिमानिनः। यथा जले तरङ्गः कल्पितस्तरङ्गे च फेनः कल्पितः, तथा पारमार्थिके व्यावहारिकः कल्पितो व्यावहारिके च प्रातिभासिकः कल्पितः। यथा माधुर्यद्रवत्वशैत्यादीनि पारमार्थिकजलनिष्ठान्येव सन्ति तरङ्गे भान्ति तद्द्वारा फेनेऽपि भान्ति, तद्वत्सच्चिदानन्दाः पारमार्थिककूटस्थनिष्ठा एव सन्तो व्यावहारिके

भान्ति तद्द्वारा प्रातिभासिकेऽपि भान्ति। यथा फेनस्तरङ्गं विना नास्ति तरङ्गोऽपि जलं विना नास्ति जलं तु परमार्थभूतम्, एवं प्रातिभासिकोऽपि व्यावहारिकं विना नास्ति व्यावहारिकोऽपि पारमार्थिकं विना नास्ति। तस्माद्यथा परमार्थत्वेन घटाकाशो महाकाश एव, एवं पारमार्थिकः कूटस्थः परमात्मैवेति सिद्धान्तः। एवम् 'नेति नेति' (बृ. २. ३. ६.) इति वाक्येन देहादिपञ्चकोशेभ्यः पारमार्थिकं कूटस्थं पृथक्कृत्य तं पारमार्थिकं कूटस्थम् 'अहम्' इति जानन्सन् तत् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति श्रुतिविचारेण युक्तिभिर्दृढनिश्चयेन साक्षात्कृत्य तिष्ठति। स एव परिपूर्णब्रह्मस्वरूपः, तमेव पुण्यपापकर्माणि न स्पृशन्तीति सर्वा अप्युपनिषद एकतात्पर्येण घुष्यन्ति॥

॥ इति तृतीयवर्णकम्॥

चतुर्थवर्णकम्

इदानीमस्य जीवस्य दुःखं च जन्म च कर्म च रागद्वेषादि चाभिमानश्चाविवेकश्चाज्ञानं चेत्येतेषु पूर्वंपूर्वं प्रत्युत्तरोत्तरं हेतुः। तत्र दुःखादिचतुष्टयं चतुर्थपञ्चमवर्णकयोर्विचार्यते॥

जीवात्मनो दुःखं स्वाभाविकं वा आगन्तुकं वेति चेत्, आगन्तुकमिति ज्ञेयम्। स्वाभाविकमिति चेदनेकदोषाः सन्ति। तत्कथमिति चेत्, अस्य जीवात्मनो दुःखं स्वाभाविकं चेद्दुःखनिवृत्तिः कदाचिदपि न स्यात्; सुखमपि कस्यापि न स्यात्; दुःखनिवृत्त्यै सुखप्राप्त्यै च कस्यापि कर्म न स्यात्; सत्कर्मयोगाध्यानोपासनेषु कस्यापि प्रयत्नो न स्यात्; वेदशास्त्रपुराणानि च व्यर्थानि स्युरिति

जानीहि। ननु दुःखं स्वाभाविकमस्तु तन्निवृत्त्यै च प्रयत्नं करोत्विति चेत्; कदाचिदप्येतन्न संभवति, स्वाभाविकस्य स्वस्वरूपत्वात्। स्वस्वरूपनाशार्थं को वा प्रयत्नं कुर्यात्? स्वस्वरूपनाशे सति पुरुषार्थभावकः स्यात्? स्वाभाविकमेव स्वस्वरूपं कथमिति चेत्, गुडस्य मधुरगुणः स्वभावः। तस्य मधुरगुणस्य नाशे भवितव्ये गुडस्यैव नाशो भवेत्। तथा जीवात्मनो दुःखं स्वाभाविकं चेद् दुःखनाशे भवितव्य आत्मस्वरूपनाश एव स्यात्। आत्मनो नाशो नास्ति। अविनाशी नित्य इति च 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा', (बृ. ४. ५. १४.) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥' (कठ० २. १८.) इत्यादिश्रुतयो वदन्ति। तस्मादात्मनो दुःखं स्वाभाविकं न भवति, किं त्वागन्तुकमेवेति जानीहि। ननु स्वाभाविकं नश्यतु स्वरूपं तिष्ठत्विति चेत्, तन्न सम्भवति। नन्वग्नेः स्वाभाविकमुष्णत्वं मणिमन्त्रादिभिर्गच्छति; स्वरूपनाशोऽपि नास्ति, अन्यच्छैत्यमप्यागच्छति; तथाऽऽत्मनोऽपि दुःखं स्वाभाविकं भवतु, तदुत्कृष्टकर्मोपासनयोगबलेन गच्छतु, सुखं चागच्छत्विति वदसि चेत्, सा निवृत्तिस्तात्कालिक्येव नात्यन्तिकी। कथमिति चेत्, कर्मजन्यं सकलमपि कर्मनाशे नश्यति। त्वदुक्तदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरग्न्यात्मनोरुष्णत्वं दुःखित्वं च मणिमन्त्रादिभिरुत्कृष्टकर्मोपासनयोगैश्च गतमपि मण्याद्यपनये कर्मादिक्षये च शैत्यं च सुखं च गच्छेत्, पुनः स्वाभाविकमुष्णत्वं दुःखित्वं चागच्छेत्। एवं च सति सर्वजीवानां तात्कालिकमुक्तिं विना पुनर्जन्मरहिता मुक्तिर्न स्यात्। किं च मोक्षस्य जन्यत्वे अनित्यत्वमपि स्यात्। 'न च पुनरावर्तते' इति मुक्तेर्नित्यत्वप्रतिपादकश्रुतेः 'अखण्डमानन्दमरूपमद्भुतम्' इति श्रुतेश्च विरोधः स्यात्। आत्मनो दुःखस्वभावत्वे सुषुप्त्यवस्थायां तूष्णींभावे योगिनां समाधौ च

दुःखमेव प्रतीयेत। तथा न दृश्यते। किं तु त्रयाणामपि व्युत्थानानन्तरम् 'एतावत्पर्यन्तं सुखमेवाहमासम्' इति सुखमेव स्मर्यते। तस्मादात्मनः सुखमेव स्वाभाविकं दुःखमागन्तुकमिति जानीहि॥

सुखस्वरूपस्याप्यात्मनो दुःखं शरीरपरिग्रहेणागतम्, 'यत्र यत्र शरीर-परिग्रहस्तत्र तत्र दुःखम्' इति व्याप्तेः। ननु लोके राजादीनामपि शरीरपरिग्रहेण दुःखमस्ति वेति चेत्; अस्त्येव, तेषामपि शत्रुपीडया राज्यभारेण धनधान्यक्षयेण स्त्रीपुत्रादिमरणेन जरादिना स्वमरणेन च दुःखदर्शनात्। लोके 'केचित्सुखेन वर्तन्ते' इति व्यवहारो वृथा मोह एव। मोहेनापि दुःखस्य सुखत्वव्यवहारः कथमिति चेत्। भारवाहको बहुयोजनदूरं कार्यार्थं त्वरया धावन्, तथा सन्ततमपि कृष्यादिकर्मकरणशीलश्चेत्येवमादयः सर्वेऽपि स्वस्वकर्मणो दुःखरूपत्वेऽपि मोहेन तत्तत्कर्म सुखं मत्वा सन्तुष्टा गानं कुर्वन्त उत्साहवन्तश्च वर्तन्ते। तस्मान्मोहेन दुःखमेव सुखमिव भातीति ज्ञातव्यम्॥

तर्हि विवेकिनामपि शरीरपरिग्रहाद्दुःखमस्ति वेति चेत्, तेषामपि क्षुत्पिपासादिना शीतोष्णादिना व्याधिना सर्पवृश्चिकव्याघ्रादिना च दुःखमस्त्येव। तर्हि विवेक्यविवेकिनोः को विशेष इति चेत्, तयोर्बाह्यव्यापारेण विशेषाभावेऽप्यान्तरव्यापारेण विशेषोऽस्ति। यो विवेकी स महात्मा 'सकलमपि दुःखमन्तःकरणस्यैव नात्मनः, सच्चिदानन्दस्वरूपस्यात्मनोऽनृतजडदुःखस्वरूपान्तःकरणधर्मैरणुमात्रमपि सम्बन्धो नास्ति, इति श्रुतियुक्त्यनुभवैर्विचार्य ज्ञात्वा तिष्ठति। तथा हि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ. ४. ३. १५.) इति श्रुतिः, निरवयवत्वात्सत्यत्वादित्यादिका युक्तयः, सुषुप्तितूष्णींभावसमाधिष्वनुभवश्च वेदितव्याः। योऽविवेकी स दुरात्मा स्वात्मस्वरूपमविचार्य देहादिकमेवात्मानं मत्वाऽनात्मधर्मानात्मन्या-

रोप्याऽऽत्मधर्मादिच सच्चिदानन्दाननात्मन्यारोप्यैवमन्योन्याध्यासं कुर्वन् 'अहं देवः' 'अहं मनुष्यः' 'अहमान्ध्रः' 'अहं द्राविडः', 'अहं ब्राह्मणः' 'अहं क्षत्रियः' 'अहं वैश्यः' 'अहं शुद्रः', 'अहं ब्रह्मचारी' 'अहं गृहस्थः' 'अहं वानप्रस्थः' 'अहं संन्यासी' इत्यादिप्रकारेण जातिवर्णाश्रमाभिमानी तिष्ठति। एवं विवेक्यविवेकिनोर्बहुभेदोऽस्ति। विचार्यमाणे तयोर्बाह्यव्यापारेणापि न साम्यम्। कथमिति चेत्, विवेकी प्रपञ्चं सर्वमपि मिथ्येति निश्चित्य प्रारब्धभोगमपि स्वप्नभागतुल्यमेव पश्यति। अविवेकी तु प्रपञ्चः सत्यः, आत्मनः सुखदुःखानुभवोऽपि सत्य एवेति पश्यति। एवं विवेकिनामपि शरीरपरिग्रहवशाद्दुःखमस्त्येव।

देवानामपि 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादिवेदवचनेषु शरीरपरिग्रहदर्शनाद्दुःखमस्त्येव। कथमिति चेत्, अन्योन्यं युद्धतः कोपशापाभ्यामसुरराक्षसोपद्रवात्पुण्यकर्मफलनाशे सति भाव्यधःपातभयादपि दुःखमस्त्येव। कथं दुःखिनामपि तेषामितरैरुपास्यत्वं कथं वा सुखदातृत्वमिति चेत् अस्मिल्लोके राजप्रभृतीनां दुःखिनामपि स्वाश्रितपरिपालनादिकं यथा तथेति ज्ञेयम्। 'देवलोके देवा आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति' इति श्रुतेर्देवा दुःखं सर्वमप्यन्तःकरणधर्मं मत्वाऽऽत्मानन्दस्वरूपं सदाऽनुभवन्त एव तिष्ठन्तीति तात्पर्यम्। तेषामपि दुःखमस्तीति वदन्त्याः, 'ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्' (ऐ० २. १.) इति श्रुतेर्देवानामपि शरीरपरिग्रहाद्दुःखमस्त्येवेति तात्पर्यम्। तस्माद्विदेहमुक्त्यर्थमेव प्रयत्नः कर्तव्यः॥

नन्वशरीरमुक्तेरेव मुक्तित्वं चेत्सशरीरा आकाशे नक्षत्ररूपेण परिदृश्यमानाः केचन देवा मुक्ता इति मनुष्यैः कथं कथ्यन्त इति चेत्, शृणु। सालोक्यं सामीप्यं सारूप्यं सायुज्यमिति चतुर्विधा

मुक्तिः। चर्या क्रियायोगो ज्ञानमिति चतुर्णां क्रमेण साधनानि। भगवत्कैङ्कर्यरूपदासभावश्चर्या। शिवविष्ण्वादिपूजाविधिः क्रिया। यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगो योगः। जीवपरमेश्वरयोरैक्यसाक्षात्कारो ज्ञानम्। तत्राद्यास्तिस्रो मुक्तयो मुख्या न भवन्ति, पुनरावृत्तिसंभवात्। सायुज्यमेव मुख्या मुक्तिः, पुनरावृत्तिवर्जनात्। 'योगेन सायुज्यम्' इति शास्त्रं निर्गुणब्रह्मयोगविषयम्। सशरीरमुक्तानामिवाशरीरमुक्तानां कदाचिदपि कुत्रचिदपि केनापि कथंचिदपि दर्शनाभावाच्छून्यमेवाशरीरमुक्तिरिति न मन्तव्यम्। अशरीरमुक्तानां शरीरस्यैव शून्यत्वं न स्वरूपसुखस्य। स्वरूपसुखं तु सुषुप्तिसुखवदशरीरत्वात्स्वसंवेद्यमेव नान्यसंवेद्यम्। सुषुप्तिर्मुक्तिसमाना चेत्सापि मुक्तिः स्यादिति न वाच्यम्। सुखानुभवमात्रेण साम्येऽपि सुषुप्तावज्ञानं पुनरुत्थानं चास्ति मुक्तौ तदुभयमपि नास्ति। अतः सुषुप्तेर्मुक्तित्वं न संभवति। अत एव प्रलयस्यापि न मुक्तित्वम्। एवं सुषुप्तिसुखवन्मुक्तिसुखस्य स्वानुभवगम्यत्वात्प्रत्यक्षत्वमेव; न शून्यत्वम्। तर्हि सशरीरमुक्तीनामिवाशरीरमुक्तेरपि प्रत्यक्षत्वे तत्र को भेद इति चेत्, अज्ञाननिवृत्तिः पुनरुत्थानाभावश्च भेद इत्युक्तम्। एवं श्रुतियुक्तिभ्यामशरीरमुक्ते. परमसुखत्वं शरीरपरिग्रहेण दुःखं चोक्तम्। इदानीमनुभवेनापि तदुभयं वदामः। नित्यं सुषुप्तौ शरीरपरिग्रहाभावाद्दुःखाभावश्च जाग्रत्स्वप्नयोः शरीरपरिग्रहेण दुःखं च सर्वैरनुभूयते। तस्मात् 'यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र दुःखम्' इति व्याप्तेरानन्दस्वरूपस्याप्यात्मनः शरीरपरिग्रहादेव दुःखमागच्छति न तु स्वतः। तस्य शरीरस्य को वा हेतुरिति चेत्पूर्वकर्मसहितपञ्चीकृतभूतान्येव; न केवलभूतानि, तेषां सर्वत्र वर्तमानत्वात्तेभ्यः शरीरं स्यादिति न वक्तव्यम्॥

ननु शुक्रशोणितरूपेण परिणतानामेव भूतानां शरीरकारणत्वेन विवक्षितत्वात्तादृशान्येव शरीरस्य कारणमिति न वक्तव्यम्,

व्यर्थंशुक्रशोणितेषु शरीरोत्पत्त्यदर्शनात्। तस्मात्कर्मसहितान्येव शरीरस्य कारणानि। पञ्चभूतानां देशकालादीनां च सर्वसाधारणत्वात्तत्तत्कर्मवैचित्र्यमेव शरीरवैचित्र्यहेतुः यथा मृदादीनां साधारणत्वेऽपि कुलालव्यापारवैचित्र्यमेव घटादिकार्यवैचित्र्यहेतुः, यथा दृष्टान्ते घटादेर्मृदुपादानकारणं कुलालव्यापारो निमित्तकारणम्, एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि शरीरस्य पञ्चीकृतभूतान्युपादानकारणं तत्तत्कर्म निमित्तकारणम्। तस्माद्भोगप्रदकर्मणि सति शरीरपरिग्रहः यथा जाग्रत्स्वप्नयोः कर्मणो विद्यमानत्वाच्छरीरप्राप्तिः। कर्माभावे शरीराभावः; यथा सुषुप्तौ कर्माभावाच्छरीराभावः। किं च यथा मृदि सत्यामपि कुलालव्यापाराभावे घटोत्पत्त्यभावः, तथेश्वरसृष्टेषु पञ्चभूतेषु सत्स्वप्यात्मज्ञानेन कर्मसु नष्टेषु तस्य ज्ञानिनः शरीरं नोत्पद्यते ॥

ननु कर्मशास्त्रे 'अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।' इति, ज्ञानशास्त्रे 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गी० ४. ३७) इति च वचनयोः परस्परं विरोधे कथं निर्णयः कर्तव्य इति चेत्; शृणु। शास्त्रे प्रबलवचनं दुर्बलवचनं चास्ति। प्रबलं सिद्धान्तवचनम्। दुर्बलं पूर्वपक्षवचनम्। प्रबलं दुर्बलं निरस्यति। तद्यथा 'अहिंसा परमो धर्मः' इति वचनं प्रबलमपि सत् 'यागे पशुवधः कर्तव्यः' इत्यतिप्रबलवचनेन निरस्यते, एवम् 'अवश्यमनुभोक्तव्यम्—' इति वचनम् 'तपसा किल्बिषं हन्ति' (मनु. १२. १०४.) इति प्रबलवचनेन दुर्बलं सन्निरस्यते। तस्मात्सञ्चितेषु कर्मसु बहुषु सत्स्वप्यात्मज्ञानेन तानि नश्यन्त्येव। कर्माभावे जन्माभावः, जन्माभावे दुःखाभावः, दुःखाभावे आनन्दाविर्भाव इत्ययमेव सिद्धान्तः ॥

॥ इति चतुर्थवर्णकम् ॥

मुक्तिः। चर्या क्रियायोगो ज्ञानमिति चतुर्णां क्रमेण साधनानि। भगवत्कैङ्कर्यरूपदासभावश्चर्या। शिवविष्ण्वादिपूजाविधिः क्रिया। यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगो योगः। जीवपरमेश्वरयोरैक्यसाक्षात्कारो ज्ञानम्। तत्राद्यास्तिस्रो मुक्तयो मुख्या न भवन्ति, पुनरावृत्तिसंभवात्। सायुज्यमेव मुख्या मुक्तिः, पुनरावृत्तिवर्जनात्। 'योगेन सायुज्यम्' इति शास्त्रं निर्गुणब्रह्मयोगविषयम्। सशरीरमुक्तानामिवाशरीरमुक्तानां कदाचिदपि कुत्रचिदपि केनापि कथंचिदपि दर्शनाभावाच्छून्यमेवाशरीरमुक्तिरिति न मन्तव्यम्। अशरीरमुक्तानां शरीरस्यैव शून्यत्वं न स्वरूपसुखस्य। स्वरूपसुखं तु सुषुप्तिसुखवदशरीरत्वात्स्वसंवेद्यमेव नान्यसंवेद्यम्। सुषुप्तिर्मुक्तिसमाना चेत्सापि मुक्तिः स्यादिति न वाच्यम्। सुखानुभवमात्रेण साम्येऽपि सुषुप्तावज्ञानं पुनरुत्थानं चास्ति मुक्तौ तदुभयमपि नास्ति। अतः सुषुप्तेर्मुक्तित्वं न संभवति। अत एव प्रलयस्यापि न मुक्तित्वम्। एवं सुषुप्तिसुखवन्मुक्तिसुखस्य स्वानुभवगम्यत्वात्प्रत्यक्षत्वमेव; न शून्यत्वम्। तर्हि सशरीरमुक्तीनामिवाशरीरमुक्तेरपि प्रत्यक्षत्वे तत्र को भेद इति चेत्, अज्ञाननिवृत्तिः पुनरुत्थानाभावश्च भेद इत्युक्तम्। एवं श्रुतियुक्तिभ्यामशरीरमुक्तेः परमसुखत्वं शरीरपरिग्रहेण दुःखं चोक्तम्। इदानीमनुभवेनापि तदुभयं वदामः। नित्यं सुषुप्तौ शरीरपरिग्रहाभावाद्दुःखाभावश्च जाग्रत्स्वप्नयोः शरीरपरिग्रहेण दुःखं च सर्वैरनुभूयते। तस्मात् 'यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र दुःखम्' इति व्याप्तेरानन्दस्वरूपस्याप्यात्मनः शरीरपरिग्रहादेव दुःखमागच्छति न तु स्वतः। तस्य शरीरस्य को वा हेतुरिति चेत्पूर्वकर्मसहितपञ्चीकृतभूतान्येव; न केवलभूतानि, तेषां सर्वत्र वर्तमानत्वात्तेभ्यः शरीरं स्यादिति न वक्तव्यम्॥

ननु शुक्रशोणितरूपेण परिणतानामेव भूतानां शरीरकारणत्वेन विवक्षितत्वात्तादृशान्येव शरीरस्य कारणमिति न वक्तव्यम्,

व्यर्थशुक्रशोणितेषु शरीरोत्पत्त्यदर्शनात्। तस्मात्कर्मसहितान्येव शरीरस्य कारणानि। पञ्चभूतानां देशकालादीनां च सर्वसाधारणत्वात्तत्तत्कर्मवैचित्र्यमेव शरीरवैचित्र्यहेतुः यथा मृदादीनां साधारणत्वेऽपि कुलालव्यापारवैचित्र्यमेव घटादिकार्यवैचित्र्यहेतुः, यथा दृष्टान्ते घटादेर्मृदुपादानकारणं कुलालव्यापारो निमित्तकारणम्, एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि शरीरस्य पञ्चीकृतभूतान्युपादानकारणं तत्तत्कर्म निमित्तकारणम्। तस्माद्भोगप्रदकर्मणि सति शरीरपरिग्रहः यथा जाग्रत्स्वप्नयोः कर्मणो विद्यमानत्वाच्छरीरप्राप्तिः। कर्माभावे शरीराभावः; यथा सुषुप्तौ कर्माभावाच्छरीराभावः। किं च यथा मृदि सत्यामपि कुलालव्यापाराभावे घटोत्पत्त्यभावः, तथेश्वरसृष्टेषु पञ्चभूतेषु सत्स्वप्यात्मज्ञानेन कर्मसु नष्टेषु तस्य ज्ञानिनः शरीरं नोत्पद्यते॥

ननु कर्मशास्त्रे 'अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।' इति, ज्ञानशास्त्रे 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गी० ४. ३७) इति च वचनयोः परस्परं विरोधे कथं निर्णयः कर्तव्य इति चेत्; शृणु। शास्त्रे प्रबलवचनं दुर्बलवचनं चास्ति। प्रबलं सिद्धान्तवचनम्। दुर्बलं पूर्वपक्षवचनम्। प्रबलं दुर्बलं निरस्यति। तद्यथा 'अहिंसा परमो धर्मः' इति वचनं प्रबलमपि सत् 'यागे पशुवधः कर्तव्यः' इत्यतिप्रबलवचनेन निरस्यते, एवम् 'अवश्यमनुभोक्तव्यम्—' इति वचनम् 'तपसा किल्बिषं हन्ति' (मनु. १२. १०४.) इति प्रबलवचनेन दुर्बलं सन्निरस्यते। तस्मात्सञ्चितेषु कर्मसु बहुषु सत्स्वप्यात्मज्ञानेन तानि नश्यन्त्येव। कर्माभावे जन्माभावः, जन्माभावे दुःखाभावः, दुःखाभावे आनन्दाविर्भाव इत्ययमेव सिद्धान्तः॥

॥ इति चतुर्थवर्णकम् ॥

पञ्चमवर्णकम्

अस्यात्मनो दुःखं शरीरपरिग्रहाच्छरीरं च कर्मणेत्युक्तम्। तत्कर्म कतिविधमिति चेत्, शृणु। कर्म त्रिविधं पुण्यं पापं मिश्रं चेति। देवादिशरीरं पुण्यकर्मफलम्। तिर्यगादिशरीरं सर्वं पापकर्मफलम्। मनुष्यादिशरीरं मिश्रकर्मफलम्। एवमुक्तं त्रिविधमपि कर्मोत्कृष्टं मध्यमं सामान्यमिति प्रत्येकं त्रिविधम्। एवमुक्तकर्मभेदेन जन्मभेदश्च नानाप्रकारः। तथा हि हिरण्यगर्भादिशरीरं पुण्यकर्मोत्कृष्टम्। इन्द्रादिशरीरं पुण्यकर्ममध्यमम्। यक्षराक्षसपिशाचादिशरीरं पुण्यकर्मसामान्यम्। परतापकरं कण्टकवृक्षविषवृक्षव्याघ्रसर्पवृश्चिकोलूकमशकजलूकादिशरीरं सर्वं पापकर्मोत्कृष्टम्। पनसाम्रकदलीनारिकेलादिफलपत्रपुष्पविनियोगवद्वृक्षलतादिकं ग्रामसूकरमहिषगर्दभोष्ट्रादिकं च सर्वं शरीरं पापकर्ममध्यमम्। अश्वत्थतुलसीबिल्वगवाश्वादिशरीरं पापकर्मसामान्यम्। इह मनुष्यलोके तु निष्कामकर्मानुष्ठानसाधनचतुष्टयसद्गुरुलाभश्रवणमननात्मज्ञानक्रमेण जीवन्मुक्तेर्विदेहमुक्तेश्च योग्यं मनुष्यशरीरं मिश्रकर्मोत्कृष्टम्। स्वाश्रमोचितकर्मणां काम्यकर्मणां चानुष्ठानयोग्यं शरीरं मिश्रकर्ममध्यमम्। चण्डालपुल्कसकिरातयवनादिशरीरं मिश्रकर्मसामान्यम्। तस्माद्विवेकिना पुरुषेण तत्कर्मफलतारतम्यं विचार्य भूमौ मनुष्यजन्मनि मिश्रकर्मोत्कृष्टं जन्म यथा सिध्येत्तथा स्ववर्णाश्रमकर्माणि कृत्वा फलेच्छां विहायेश्वरार्पणं कृत्वा आत्मविचारद्वारा मोक्षप्राप्तावेव प्रयत्नः कर्तव्य इति सिद्धान्तः॥

एतत्त्रिविधमपि कर्म केन क्रियत इति चेत्, त्रिविधकरणैरेव क्रियत इति जानीहि। नन्वस्मिल्लोके 'अहं करोमि' 'अहं करोमि' इति वदतां सर्वेषामनुभवेनास्मिन्देहे देहाभिमानी सन्नहंशब्दार्थतया य आत्मा वर्तते तस्यात्मनः कर्तृत्वे वक्तव्ये तं विहाय त्रिविधकर-

णानां भवद्भिः कर्तृत्वं कथमुच्यत इति चेत्, शृणु । आत्मा अविकारी निष्क्रियः स्वगतभेदशून्यः । तस्मादात्मनः कर्तृत्वं वक्तुं न शक्यते । ननु कर्तृत्वं स्वात्मनिष्ठतया भाति; कर्ता चान्यो न दृश्यते; एतत्कथमिति चेत्; आत्मनि प्रतीयमानं कर्तृत्वमध्यासात्, न तु स्वभावत इति विजानीहि । स्वाभाविकमिति चेत्, न केनापि 'वेदान्तविचारं कृत्वा ममेदं कर्तृत्वं परिहरणीयम्, अस्यानपाये संसारबन्धो नापयास्यति' इति व्यर्थः प्रयत्नः करणीयः । आत्मनः कर्तृत्वं स्वाभाविकं भवतु प्रयत्नविशेषेण च नश्यत्विति चेत्, स्वभावस्य स्वरूपत्वात्स्वरूपनाशार्थं को वा प्रयत्नं कुर्यात् ? स्वरूपनाशे सति को पुरुषार्थमनुभवेत् ? किं च, अकर्ता जीवन्मुक्तो न चेत्तदा वेदान्तसंप्रदायो गुरुशिष्यौ च न स्युः । किं च, आत्माऽकर्ता साक्षी निष्क्रिय इति प्रतिपादकस्य 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६. १९.) 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६. ११.) इत्यादि श्रुतिवाक्यस्यापि हानिः स्यात् । सुषुप्तावात्मनि विद्यमानेऽपि कर्तृत्वं न दृश्यते । यदि कर्तृत्वं तस्य स्वाभाविकमग्नेरुष्णत्वमिवोपलभ्येत, तथा नोपलभ्यते । तस्मादात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम् । ननु सुषुप्तौ कर्तृत्वानुपलम्भः करणवियोगात्, यथा तक्षादेः कर्तृत्वे विद्यमानेऽपि स्नानभोजनादिसमये तदनुपलम्भः, तद्वद्भवत्विति चेत्, न । तूष्णींभावावस्थायामन्तःकरणसंयोगे विद्यमानेऽपि कर्तृत्वानुपलम्भादात्मनः कर्तृत्व न स्वाभाविकम्, किं त्वाध्यासिकमेव ॥

अध्यासो नामान्यनिष्ठधर्माणामन्यत्रावभासः । यथा नौनिष्ठगमनस्य तीरस्थवृक्षे तीरस्थवृक्षनिष्ठाचलत्वस्य नावि चाध्यासवशाद्भानम्, एवं विविधकरणनिष्ठकर्तृत्वस्यात्मन्यात्मनिष्ठाकर्तृत्वस्य विविधकरणे च भानमज्ञानवशादेव । तस्मादात्मनः कर्तृत्वमारोपादिति जानीहि । ननु जडस्य त्रिविधकरणस्याचेतनत्वाद-

चेतनस्य कथं कर्तृत्वम्; करणत्रयस्यैव कर्तृत्वे तस्य करणान्तरेणापि भवितव्यमिति चेत्, शृणु। यथा लोकेऽचेतनस्य वायोर्वृक्षानामुन्मूलने तेषां दूरनिरसने च करणं विना कर्तृत्वम्, यथा च जलप्रवाहस्याप्यचेतनस्य वृक्षादीनामुन्मूलने तेषां दूरनिरसने च करणं विना कर्तृत्वं दृश्यते, तथा त्रिविधकरणस्यापि करणान्तरं विना कर्तृत्वमुपपद्यते॥

एतत्त्रिविधकरणकृतानि कर्माणि कानीति चेत्, उच्यते। सविशेषचिन्ता निर्विशेषचिन्ता परलोकचिन्ता भक्तिज्ञानवैराग्यचिन्तेत्यादिबुद्धिविकाराः सर्वेऽपि मनसा क्रियमाणानि कर्माणि मानसपुण्यकर्माणि। विषयचिन्ता परेषामपकारचिन्ता वेदशास्त्रयोरप्रामाण्यचिन्ता धर्माधर्माद्यभावचिन्तेत्यादिबुद्धिविकाराः सर्वेऽपि मानसपापकर्माणि। सविशेषचिन्ताया निर्विशेषचिन्तायाः पुण्यचिन्ताया अपि विषयचिन्तादिपापचिन्तया मिश्रीकृत्यानुष्ठानं मानसं मिश्रकर्म। वेदाध्ययनं शास्त्रपठनं गीतापठनं सहस्रनामपठनं पञ्चाक्षरादिमन्त्रजपो भगवन्नामकीर्तनं परोपकारवार्ता सत्यवाक्यं मृदुभाषणं पूर्वभाषणं च वाचा क्रियमाणं पुण्यकर्म। वेदशास्त्रदूषणं देवतादूषणमसत्यपिशुनपारुष्यवार्ता अपहासवार्ता चेत्यादि वचनं सर्वं वाचिकं पापकर्म। वेदाध्ययने पूजाकाल एवमादिपुण्यवार्तासु परनिन्दाया असत्यस्य परिहासस्य लौकिकवार्ताया एवमादिपापानां मिश्रीकृत्यानुष्ठानं वाचिकं मिश्रकर्म। पुण्यतीर्थस्नानं गुरुदैवतानमस्कारो देवपूजाप्रदक्षिणं सज्जनदर्शनं त्यागो लोकानुग्रहसंचार एवमादिकर्माणि कायेन क्रियमाणानि कायिकं पुण्यकर्म। परहिंसा परस्त्रीसङ्गश्चौर्यं दुष्टसङ्ग इत्यादिकर्माणि कायेन क्रियमाणानि कायिकं पापकर्म। ब्राह्मणभोजनार्थं परोपद्रवो देवालयनिर्माणार्थं परद्रव्यापहारः प्रपां स्थापयित्वा भृतकस्याप्रदान-

मेवमादिकर्माणि पुण्यानि च पापानि मिश्रीकृत्य कायेनानुष्ठीयमानानि कायिकं मिश्रकर्म ॥

एतानि त्रिविधान्यपि कर्माणि सम्यग्विचारणीयानि । विचारस्य फलं किमिति चेत्, मुख्यफलमवान्तरफलमिति फलद्वयमस्ति । कथमिति चेत् । इमानि त्रिविधकर्माणि त्रिविधैरेव करणैः क्रियन्ते । आत्मा स्वयमाकाशवदसङ्गो निरंशः परिपूर्णश्चैतन्यस्वरूपः अतो न कस्यापि कर्मणः कर्ता । अत एव 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य संततो भावस्तेन चात्मेति गीयते ॥' इत्युक्त आत्मशब्दस्यार्थः । तस्मात् 'नैकमपि कर्म चिदाकाशस्वरूपं स्पृशति' इति ज्ञात्वा संशयं विहाय दृढानुभवेनावस्थानं मुख्यफलम् । 'ब्रह्मज्ञाने सत्यपि त्रिविधकरणमपि पुण्यकर्मण्येव स्थापयितव्यम्, तदसंभवे मिश्रकर्मणि वा स्थापयितव्यम्, न कदाचिदपि पापकर्मणि' इति ज्ञात्वा तथैवावस्थानमवान्तरफलम् । यथा कदलीपोषकस्य कदलीफलं मुख्यफलं तत्पत्रपुष्पादिकमवान्तरफलम्, तथैव त्रिविधकरणकृतकर्मज्ञानस्यापि पूर्वोक्तफलद्वयमिति ज्ञेयम् ॥

नन्वम्भसा पद्मपत्रमिव कर्मणा ज्ञानी न लिप्यते; तस्य न कोऽपि विधिर्निषेधो वा, स स्वकर्ता कर्मसाक्षी कृतकृत्य इति सिद्धान्तितत्वात्; तस्य ज्ञानिनोऽज्ञानिन इव पुण्यकर्मैवानुष्ठेयमिति नियमः कथमिति चेत्, सत्यं स ज्ञानी कृतकृत्य एव, कर्तापि न भवति । न तत्र सन्देहः । तथापि ब्रह्मविद्ब्रह्मविद्वरो ब्रह्मविद्वरीयान्ब्रह्मविद्वरिष्ठ इति तेषां मध्ये ब्रह्मविद्वरिष्ठ एव विदेहमुक्तः । असौ वरिष्ठ एव वृत्तिशून्यः । तस्यैव न विधिनिषेधश्च । अन्येषामपि त्रयाणां ज्ञानमहिम्ना विधिनिषेधाभावेऽपि वृत्तिशून्यत्वाभावाद्व्यवहारवत्त्वाच्च लोकानुग्रहार्थं सदाचार एव स्थातव्यमित्युच्यते, न तु नियम्यते । तस्मात्तत्त्वज्ञानिना कर्मिणां मध्ये कर्मव-

त्कर्मानुष्ठेयम् । जिज्ञासूनां मध्ये तु कर्म त्यक्त्वा 'ब्रह्मैव सत्यम्, अन्यत्सर्वमसत्यम्' इति ज्ञानमेवोपदेष्टव्यम् । अत्र प्रकृतं किमिति चेत्, त्रिविधकरणस्यैव कर्तृत्वं नात्मन इति निश्चितम् ॥

अथ त्रिविधमपि करणं स्वयमेव कर्तृ, अन्येन प्रेरितं वेति विचार्यमाणे रागद्वेषादिना प्रेरितमेव कर्तृ न स्वयम् रागद्वेषादौ सति करणत्रयं प्रवर्तते असति न प्रवर्तत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां रागद्वेषादेः करणप्रवर्तकत्वस्यानुभवसिद्धत्वात् ॥

ननु 'अहं देवालयं कारयामि' 'अहं तटाकं कारयामि' इत्यादि-व्यवहारादात्मा कारयिता भवत्विति चेत्, न आत्मनो निर्विकार-त्वान्न तत्रापि कारयितृत्वमुपपद्यते । आत्मनि कारयितृत्वं भातीति चेत्, जपाकुसुमनिष्ठं लौहित्यं स्फटिक इव रागद्वेषादिनिष्ठं कार-यितृत्वमात्मनि भ्रान्त्याऽऽरोप्यत इति ज्ञेयम् । स्वभाविकं चेत्तन्ना-शार्थं न कोऽपि प्रयत्नं कुर्यात्, स्वभावस्य स्वरूपत्वात् कथंचित्तस्य नाशे स्वरूपनाश एव स्यात् । आत्मनोऽपि कारयितृत्वं यदि स्यात्, तर्ह्यात्माऽसङ्गो निष्क्रियोऽकारयितेति प्रतिपादिका 'अदृष्टमव्यव-हार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोप-शमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' (माण्डू० ७.) इति श्रुतिर्भज्येत अकारयितृत्वस्य जन्यत्वे तज्जन्यमुक्तेरपि जन्यत्वं स्यात्, सुषुप्तावपि कारयितृत्वं दृश्येत । तन्न दृश्यते । तस्मादात्मनः कारयितृत्वं न स्वाभाविकम्, किं त्वागन्तुकमेव ॥

ननु सुषुप्तौ कारयितृत्वादर्शनमात्रेणात्मनः कारयितृत्वं नास्तीति वक्तुं न शक्यते; यथोपाध्यायस्याध्यापकत्वं विद्यमानमपि शिष्यवर्गासन्निधाने दृश्यते; तद्वत्सुषुप्तौ करणसंयोगाभावाद्विद्य-मानमपि कारयितृत्वं न दृश्यते; जाग्रतस्वप्नयोः करणसंयोगस्य सत्त्वाद्दृश्यत इति वक्तुं शक्यत्वादिति चेत्, तर्हि जाग्रत्युदासीन-

तूष्णींभावावस्थायां करणसंयोगस्य विद्यमानत्वात्कारयितृत्वं दृश्येत, तन्न दृश्यते। तस्मादागन्तुकमेवेति वक्तव्यम्। यथा अन्योन्याध्यासादयोर्निष्ठदीर्घत्वह्रस्वत्वादयोऽग्नावग्निनिष्ठोष्णत्वप्रकाशादयोऽयसि च भान्ति, तद्वदज्ञानादेव रागद्वेषादिनिष्ठकारयितृत्वमात्मन्यात्मनिष्ठाकारयितृत्वं रागद्वेषादौ च भाति॥

नन्वचेतनस्य रागद्वेषादेः कथं कारयितृत्वम्, न हि घटो घटान्तरं प्रेरयतीति चेत्, सत्यम्। तथापि कुत्रचिद्योग्यतावशाज्जडः प्रेरयति योग्यताऽभावात्कुत्रचिन्न प्रेरयति। यथा जडोऽप्यजडः प्रेरयति योग्यताऽभावात्कुत्रचिन्न प्रेरयति। यथा जडोऽप्यग्निर्गन्धकादिसंयुक्तेङ्गालचूर्णविशेषैः सहितः सञ्जडमेव बृहन्नलिकान्तःस्थितं स्थूलपाषाणं प्रेरयंस्तेन चतुरङ्गसेनां हन्ति; किं च प्रेतशरीरं जडमपि स्वज्ञानिक्रियमाणामपरक्रियां प्रति स्वयं कारयितृ भवति; एवमेवाचेतनमपि रागद्वेषादि कारयितृ भवति। तर्हि 'आत्मा हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी' इति वदन्त्याः श्रुतेः किं तात्पर्यमिति चेत्, आदित्यवत्संनिधानमात्रेण सर्वकार्यानुकूलो भवतीति तात्पर्यम्। नन्वात्मा संनिधानमात्रेण सर्वप्राणिकर्महेतुर्हि, अत आत्मनोऽपि तत्पुण्यपापतत्फलसंबन्धोऽपि स्यादिति चेत्, न। यथा आदित्यस्य संनिधानमात्रेण सकलजनपुण्यपापानुकूलस्यापि तत्पुण्यं च तत्पापं च तत्फलं च यथा न स्यात्तथा आत्मनोऽपि मन्तव्यम्। अयश्चेष्टापि संनिधानमात्रेण स्वानुकूलां कान्तशिलां यथा न स्पृशति तथा प्राणिकर्माण्यात्मानमिति च ज्ञेयम्। तस्मान्नात्मनो निरञ्जनत्वनिर्विकारत्वभङ्गः॥

एवमात्मस्वरूपे प्रसिद्धे गुरुणोपदिश्यमानेऽपि प्रतिबन्धकत्रयेण न निश्चयो भवति। प्रतिबन्धकत्रयं च संशयभावनाऽसंभावना विपरीतभावना चेति ऋगादिशाखासूपदिश्यमानमुपनयनादिकर्म यथाऽनेकविधं तथर्गादिशाखासूपदिश्यमानमात्मतत्त्व-

मप्यनेकप्रकारं वा न वेति संशयः संशयभावना। सा सकलवेदान्ततात्पर्यविधारणरूपश्रवणेन नश्यति। एवं सर्वेषां वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मण्येव तात्पर्यमिति श्रवणेन प्रमाणविषये संशये नष्टेऽपि, इदम्द्वैतं कथं संभाव्यते सत्यत्वेन प्रतीयमानेषु जीवेश्वरजगत्सु परस्परभिन्नेषु सत्स्विति बुद्धिरसम्भावना। इयं स्वप्नदृष्टान्तादिरूपयुक्त्यात्मकमननेन नश्यति। एवं श्रवणे मनने च कृतेऽपि, अनाद्यविद्यावासनया सर्वस्यापि जगतो यथापूर्वं सत्यत्वप्रतीतिर्विपरीतभावना। सा ब्रह्मैकाकारप्रत्ययप्रवाहरूपनिदिध्यासनेन नश्यति। एवं प्रतिबन्धकत्रयस्य नाशाकरणे यथा सर्वस्य दाहकोऽप्यग्निर्मणिमन्त्रादिप्रतिबन्धकैः प्रतिबद्धः सन्नेकं तृणमपि दग्धुं न शक्नोति, एवं ज्ञानाग्निरपि प्रतिबन्धकैः प्रतिबद्धः सन्नज्ञानतत्कार्येषु किंचिदपि दग्धुं न शक्नोति। पूर्वोक्तप्रकारेणास्मिन्प्रतिबन्धकत्रयेऽप्यपनीते सति सद्य एवाग्निस्तृणमिवायमप्यविद्यां तत्कार्यं सर्वमपि दग्धुं शक्नोति॥

किं च, 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥' इति वचनेन षड्विधलिङ्गैस्तात्पर्यनिर्णयः कर्तव्यः। अत्र छान्दोग्यषष्ठाध्याये 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६. २. १.) इत्युपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' (छा० ६. ८. ७.) इत्यखण्डैकरस एवोपसंहृत इत्युपक्रमोपसंहारैकरूप्यमेकं लिङ्गम्। 'तत्त्वमसि' (छा० ६. ८. ७.) इति नवकृत्वस्तस्यैवाभ्यासो द्वितीयम्। अखण्डैकरसस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तराविषयत्वमपूर्वता तृतीयम्। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६. १४. २.) इत्यखण्डैकरसज्ञानस्य प्रारब्धभोगानन्तरं विदेहकैवल्यरूपफलवचनं चतुर्थम्। अर्थवादस्तु पञ्चमम्। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं

विज्ञात स्यात्–' (छां० ६. १. ४.) इत्यादिदृष्टान्तवचनमुपपत्त्याख्यं षष्ठम् । सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशसंयमनतत्त्वंपदार्थपरिशोधनफलप्रतिपादका इति सप्तार्थवादाः । तत्र "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २. १.) इत्याद्याः सृष्ट्याद्यर्थवादरूपाः श्रुतय आकाशादेः सर्वस्य ब्रह्मण एवोत्पत्तेस्तस्मिन्नेवावस्थानात्पुनस्तत्रैव लयान्मृदुत्पत्तिस्थितिलयात्मकस्य घटादेर्मृदभेदवत्कारणब्रह्ममात्रतामवगमयन्त्यो महावाक्योक्तं ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं संभावयामासुः । तथा 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० १. ३. १२) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २. ६) 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६. ३. २.) इत्याद्याः श्रुतयो ब्रह्मण एव जीवरूपेण प्रवेशं ब्रुवन्त्यो बहिः स्थितस्याऽन्तर्गृहे प्रविष्टदेवदत्तवज्जीवब्रह्मणोरभेदं महावाक्यार्थं संभावयामासुः । तथा 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३. ७. ३.) इत्यादिनियमनश्रुतिश्चात्यन्तभेदे नियम्यनियामकभावानुपपत्तेस्तयोरभेदमेव संभावति । तथा 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै० २. १.) 'यदग्ने रोहितं रूपम्—' (छा० ६. ४. १.) इत्याद्यास्तत्त्वंपरिशोधनरूपाः श्रुतयो जीवेश्वरोभयगतविरुद्धधर्मनिरसनद्वारा तयोरैक्यमेव संभावयन्ति । तथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २. १.) 'अमृतः समभवत्' (ऐ० ३. ४.) इत्याद्याश्चाभेदज्ञानस्य निरतिशयफलप्रदर्शनेनाभेदस्य विवक्षितत्वं ज्ञापयन्त्यस्तमेव संभावयन्ति । इत्थं सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशसंयमनतत्त्वंपदार्थपरिशोधनफलप्रतिपादकैः सप्तविधार्थवादैरनुगृहीतं सज्जीवब्रह्मैक्यरूपमखण्डैकरसमेवावान्तरवाक्यैः सहितं यत्प्रतिपादयत्यतोऽखण्डैकरसत्वेनैव महावाक्यस्यार्थो वक्तव्य इति षड्विधलिङ्गैः श्रुतितात्पर्यावधारणं श्रवणमित्युक्तम् ॥

इदानीं किं प्रकृतमिति चेत्। मयोक्तप्रकारेण विचार्यं 'राग-द्वेषादिना प्रेरित सन्निविधकरणं त्रिविधकर्म करोति, प्रधानप्रेरित-सेनया सम्पादितं जयं राजा अहं जितवानित्यात्मन्यारोपयति, एवमात्मा च रागद्वेषादिनिष्ठं प्रेरकत्वमज्ञानादात्मन्यभिमन्यते, एवमात्मनः कर्तृत्वं कारयितृत्वं च नास्ति।' इति यो दृढं निश्चिनोति स एव जीवन्मुक्तः ॥

॥ इति पञ्चमवर्णकम् ॥

षष्ठवर्णकम्

पूर्वप्रतिज्ञातदुःखादिसप्तके दुःखं शरीरं कर्म रागद्वेषादिश्चोत्तरोत्तरहेतुत्वेनोक्तानि। इदानीं षष्ठवर्णके रागद्वेषादिवृत्तिभेदा अभिमानोऽविवेकोऽज्ञानं च कथ्यन्ते। रागो द्वेषः कामः क्रोधो लोभो मोहो मदो मात्सर्यमीर्ष्याऽसूया दम्भो दर्पोऽहंकार इच्छा भक्तिः श्रद्धेति रागद्वेषादिवृत्तयः षोडश। स्त्रीविषयकचित्तवृत्तो रागः। अपकारकर्तुः प्रत्यपकारेच्छा द्वेषः। गृहक्षेत्रादिसंपादनेच्छा कामः। तत्र विघ्नकर्तरि वैरं क्रोधः। स्वसंपादितेषु किंचिदपि सत्पात्रे न देयमिति बुद्धिर्लोभः। ऐश्वर्यमदेन कृत्याकृत्यमविचार्य तूष्णीमवस्थानं मोहः। स्वस्य संपदस्ति, किं वा कर्तुमशक्यमिति बुद्धिर्मदः। स्वसमानसंपन्नजनदर्शनासहनं मात्सर्यम्। इदं दुःखं तं विहाय मम किमित्यागतमिति चित्तवृत्तिरीर्ष्या। इदं सुखं ममैव, तस्यापि किमित्यागतमिति बुद्धिरसूया। अनेन धर्मेण मम प्रसिद्धिर्भूयादिति चित्तवृतिर्दम्भः। मम न कोऽपि समान इति बुद्धिदर्पः। सर्वत्राग्रहोऽहंकारः। अवर्जनीयप्राशनविमोचनादिकर्मचिकार्षा इच्छा। गुरौ सज्जनेषु देवतासु चातिप्रीतिर्भक्तिः।

यागादिकर्मसु वेदान्तवाक्येषु गुरूपदेशे च विश्वासः श्रद्धा। इति षोडशविधो रागद्वेषादिः॥

आत्मविचारप्रकरणे चित्तवृत्तिविचारस्य किं प्रयोजनमिति चेत्, शृणु। सकलजीवानां बन्धमोक्षौ मनसैव नान्येन। कथमिति चेत्—स्वभावनिर्मलस्य मनसोऽशुद्धेन योगो बन्धः। शुद्धरूपेणावस्थानं मोक्षः। रागादिचतुर्दशवृत्तयोऽप्यशुद्धाः। भक्तिश्रद्धे द्वे अपि शुद्धे। रागादित्रयोदशवृत्तयः सर्वेषां प्रयत्नं विनैव पुनः पुनरागच्छन्ति पापेष्वेव मनुष्यान्प्रवर्तयन्ति च। तद्वृत्तिशीलानामधोगतिरेव नोर्ध्वगतिः। रागादिवृत्तीर्निरुध्य भक्तिश्रद्धाभ्यामेव कर्म कुर्वतः क्रमेण संसारनिवृत्तिर्भविष्यति। तस्मात्पुरुषः स्वचित्तं सम्यक्शोधयित्वा अशुद्धिहेतुरागादिवृत्तीर्वर्जयित्वा शुद्धिहेतुभक्तिश्रद्धयोरेव चित्तं स्थापयेत्। इच्छया क्रियमाणं क्षुत्पिपासानिवृत्तिमूत्रपुरीषविसर्जनादि कर्म च त्यक्तुमशक्यम्। तत्त्यागे सत्यपि दुःखमागच्छति। तेन कर्मणा स्वर्गोऽपि नास्ति नरकोऽपि नास्ति। तस्मादैच्छिकं प्राशनमोचनादिकं कर्म कर्तव्यमेव॥

एवं जाग्रत्स्वप्नयो रागादौ सति कर्मास्ति, सुषुप्तिमूर्छासमाधितूष्णींभावावस्थासु रागादि नास्ति कर्मापि नास्ति, इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां रागादेः कर्महेतुत्वं सिद्धम्। इतः परं स रागादिः केनागच्छतीति चेत्, अभिमानेनागच्छति। एवं व्याप्तिरस्ति वेति चेत्, अस्ति। स्त्रीजनस्य 'अहं स्त्रीजनः' इति यावानभिमानोऽस्ति तावती रागादिपूर्वकं भर्तृशुश्रूषागृहरक्षापाकक्रियादिकर्मसु प्रवृत्तिरागच्छति। पुरुषजनस्यापि 'अहं पुरुषः' इति यावानभिमान आगच्छति तावती रागादिपूर्वकं दारादिपरिग्रहे कृषिवाणिज्यादिकर्मसु च प्रवृत्तिरागच्छति। एवं एवेषां जीवानामपि वर्णाश्रमाद्यभिमानेन रागादिपूर्वकं स्वस्वव्यापारे प्रवृत्तिरागच्छति। तस्माद्रागादेरभिमान एव कारणम्॥

अस्य विचारस्य किं फलमिति चेत्, मुमुक्षुः पुरुषो जातिवर्णाश्रमवयोवस्थाद्यभिमानं त्यजेत्, तस्मिंस्त्यक्ते बन्धस्त्यक्तो भवेदिति जानीहि। अभिमाने सति रागादिः, अभिमानाभावे रागाद्यभाव इत्यन्वयव्यतिरेकयुक्त्या च जानीहि। तत्कथमिति चेज्जाग्रदाद्यवस्थासु वर्णाश्रमाद्यभिमानस्य विद्यमानत्वाद्रागद्वेषादिनिमित्ता प्रवृत्तिरागच्छति, सुषुप्तावुदासीनावस्थायां च वर्णाश्रमाद्यभिमानाभावाद्रागद्वेषादिनिमित्ता प्रवृत्तिर्नास्तीत्येतज्जानीहि ॥

तर्ह्ययमभिमानः केनागच्छतीति चेत्, अविवेकेनागच्छति। तत्कथमिति चेत्—सर्वेषां जीवानां देहव्यतिरिक्तत्वे सत्यपि विवेकाभावादेव 'अहं ब्राह्मणः' 'अहं क्षत्रियः' 'अहं वैश्यः' 'अहं शूद्रः' 'अहं ब्रह्मचारी' 'अहं गृहस्थः' अहं वानप्रस्थः' 'अहं संन्यासी' 'अहं पुरुषः' 'अहं स्त्री' इत्याद्यभिमानो जायते। तं विना नान्यो हेतुः। अस्याभिमानस्याविवेकं विना अन्यच्छरीरमवलम्बनमस्ति चेत्, क्षत्रियस्य 'अहं ब्राह्मणः' इति, स्त्रियाः 'अहं पुरुषः' इति, ब्रह्मचारिणः 'अहं गृहस्थः' इत्यभिमानोऽस्तु। स न दृश्यते। तस्माच्छरीरमवलम्ब्याभिमानो नागच्छति। शिखायज्ञोपवीतादिकमवलम्ब्य 'अहं ब्राह्मणः' इति, काषायकमण्डल्वादिकमवलम्ब्य 'अहं संन्यासी' इति चाभिमान आगच्छत्विति चेत्। शिखायज्ञोपवीतादि वैश्यकुलालयोरप्यस्ति। काषायकमण्डल्वादि केषांचिच्छूद्राणां तपस्विनामप्यस्ति। तेषामेतेषां च 'अहं ब्राह्मणः' अहं संन्यासी' इत्यभिमानः स्यात्। तथा न दृश्यते। स्त्रीपुरुषाभिमानवदवयवविशेषमवलम्ब्य 'अहं ब्राह्मणः' इत्याद्यभिमान इति चेत्, सर्वेषामप्यवयवविशेषाभावादेकरूपत्वादवयवविशेषोऽप्यवलम्बनं न भवति। तर्हि विशिष्टमातृपितृजन्यावयवविशेषमवलम्ब्याभिमानविशेष इति चेत्, तज्जन्यरोमनखदन्तमूत्रपुरीषाद्यवयवानामपि ब्राह्मणत्वादिव्यवहारः स्यात्। स न दृश्यते। तस्मादविवेकं विना

अन्यत्किमप्यवलम्ब्याभिमान आगच्छतीति ब्रह्मणापि वक्तुं न शक्यते ॥

तर्हि ब्राह्मणत्वाद्यभिमानः केनागच्छतीति सम्यग्विचार्यमाणे "लोके 'उत्सवः' इति 'कल्याणम्' इति 'सभा' इति 'सेना' इत्यनेकवस्तुसमूहस्य तत्तन्नाम्ना व्यवहारः प्रवर्तते। तथा मायामयस्यानिर्वचनीयस्य देहेन्द्रियादिसंघातस्यैव लोकव्यवहारेण केवलम् 'ब्राह्मणः' 'क्षत्रियः' 'वैश्यः' 'शूद्रः' 'स्त्री' 'पुरुषः' 'नपुंसकः' 'गुर्जरः' 'महाराष्ट्रकः' 'आन्ध्रः' 'कर्णाटकः' 'द्राविडः' 'शास्त्रीः' 'दीक्षितः' 'पौराणिकः' 'अवधानी' 'गङ्गास्नायी' 'शैवः' 'भागवतः' 'सेवकः' 'प्राधानिकः' 'राजा' 'मन्त्री' 'गुरुः' 'शिष्यः' इत्यादिसकलनामव्यवहारः। कालत्रयेऽप्यात्मनो नामरूपव्यवहारो नास्ति।" इत्येकरूपविचाराकरणमेवाविवेकः। अनेनैवाविवेकेन सर्वेषामात्मनि वर्णाश्रमाद्यभिमान आगच्छति ॥

अयमविवेकः केनागच्छतीति चेत्, स्वस्य निजस्य चिदात्मरूपस्यानादिकालमारभ्य आवारकमात्मज्ञानैकापनोद्यं यदनाद्यज्ञानं तदेव कारणम्। इदमेवाज्ञानम् 'मामहं न जानामि' इति व्यवह्रियते। ननु लोके भ्रान्तमेकं विना को वा आत्मानं न जानातीति चेत्, सर्वे भ्रान्ता एव। तत्कथमिति चेत् 'अहं ब्राह्मणः' अहं क्षत्रियः' 'अहं वैश्यः' 'अहं शूद्रः' 'अहं ब्रह्मचारी' 'अहं गृहस्थः' इत्यादिरूपेण मिथ्याभूतमिमं देहमेव सर्वे जानन्ति। शरीरव्यतिरिक्तमात्मानं कोऽपि न जानाति। अतः सर्वे भ्रान्ता एव ॥

ननु लोके केचिच्छास्त्रज्ञाः पौराणिकाश्च देहमनात्मत्वेन मन्यमाना घटकुड्यसंनिभं देहं विहायान्यमेवात्मानं जानन्ति; हे स्वामिन्, भवद्भिः 'आत्मानं न कोऽपि जानन्ति' इति कथमुच्यत इति चेत्। हे पुत्र तेऽपि पारमार्थिकमात्मानं न जानन्ति। किं तु

कर्तारं भोक्तारं परिच्छिन्नं लोकान्तरगामिनं चिदाभासरूपं व्यावहारिकं जीवात्मानमेवात्मत्वेन जानन्ति। तं विना अकर्तारमपरिच्छिन्नमचलं चिद्रूपं पारमार्थिकमात्मानं न जानन्ति ॥

इदमज्ञानं केनागतमिति चेत्, अस्यानादित्वेन वेदेषु शास्त्रेषु च प्रसिद्धत्वात्कारणं वक्तुं न शक्यते। तर्हि तस्याज्ञानस्यादिर्नास्ति चेदन्तोऽपि नास्तीति निश्चयः; तथा चेज्जीवस्य मुक्तिरपि न स्यादिति चेत्, शृणु। अज्ञानस्य आदेरभावेऽप्यन्तोऽस्त्येव। लोके केषांचित्पदार्थानामादेरभावेऽप्यन्तोऽस्ति। केषांचिदन्ताभावेऽप्यादिरस्ति। तत्कथमिति चेत्। प्रागभावस्यादिर्नास्ति, अन्तोऽस्ति। प्रध्वंसाभावस्यान्तो नास्ति, आदिरस्ति। किं च वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधेर्मूलाज्ञानेऽपि वैद्यकशास्त्रोक्तौषधैर्यथा निवृत्तिर्दृश्यते, तथाऽज्ञानस्य मूलाज्ञानेऽपि वेदान्तशास्त्रोक्तवाक्यजन्यज्ञानेन नाशो भवतीति सिद्धान्तः। अस्याज्ञानस्य स्वरूपलक्षणं किमिति चेत्, तद्दुर्वचम्। तथा हि—तदज्ञानं न सत्, नासत्, नापि सदसत्; न सावयवम्, न निरवयवम्, नोभयात्मकम्; न भिन्नम्, नाभिन्नम्, न भिन्नाभिन्नम्; किं त्वनिर्वचनीयम्। तत्कथमिति चेत्। तत्त्वज्ञानेन बाधितत्वान्न सत्। शशविषाणनरविषाणगगनारविन्दादिवन्नाप्यसत्, 'अहमज्ञः' इति सर्वैरनुभूयमानत्वात्। नापि सदसत्, परस्परविरोधात्। स्थूलाकाशः सूक्ष्मः; तस्मादपि सूक्ष्मोऽपञ्चीकृत आकाशः; तस्मादपि सूक्ष्मा गुणाः; तेभ्योऽपि सूक्ष्ममज्ञानम्; तस्मात्सूक्ष्मस्यापि मूलकारणत्वादज्ञानं न सावयवम्। स्थूलपदार्थजगदाकारेण परिणामान्न निरवयवम्। अन्योन्यविरोधान्नोभयात्मकम्। आत्मनो भिन्नमिति चेदद्वैतश्रुतिविरोधादात्मसत्ताव्यतिरिक्तसत्ताऽभावाच्च न भिन्नम्। अभिन्नमिति चेदात्मशक्तित्वाभावप्रसङ्गात् 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इति श्रुतिविरोधाच्च तदपि न सम्भवति; किं च आत्मनो जडत्वं मायाया वा चेतनत्वं स्यात्,

आत्मनोऽविद्यादिनाम्ना च भवितव्यम्, आत्मनः सच्चिदानन्द-स्वरूपस्यानृतजडदुःखत्वमपि स्यात्; तस्मान्नाभिन्नम्। भिन्नाभिन्नयोर्विरोधान्नोभयात्मकम्। तस्मादज्ञानमनिर्वचनीयमेव॥

एवंभूतादनादेरज्ञानादविवेकः, तस्मादभिमानः, तस्माद्रागद्वेषादिः, तेन कर्म, कर्मणा शरीरम्, तस्माद्दुःखं सांसारिकमात्मनोऽज्ञानात्परम्परया भवतीति ज्ञातव्यम्। तर्ह्येतद्दुःखं कदा गमिष्यतीति चेत्, शरीरे गते सति दुःखं गमिष्यति। शरीरं च कर्मणि नष्टे सति नश्यति। कर्म च रागद्वेषादौ नष्टे सति नश्यति। रागद्वेषादिश्चाभिमाने नष्टे सति नश्यति। अभिमानश्चाविवेके नश्यति सति नश्यति। अविवेकश्चाज्ञाने नश्यति सति नश्यति। अज्ञानं चाद्वैतब्रह्मस्वरूपस्यात्मनः स्वस्य दृढनिश्चयरूपेण 'ब्रह्मैवाहम्', 'अहं ब्रह्मैवास्मि' इति महावाक्यजन्यज्ञानेन विनश्यति नान्येनेति ज्ञातव्यम्॥

ननु ब्रह्महत्यादिमहापातकान्यपि प्रायश्चित्तरूपसत्कर्मभिर्निःशेषं नश्यन्ति; तादृशकर्मशक्त्याऽल्पं मिथ्याभूतमिदमज्ञानं किमिति न गच्छेदिति चेत्। कर्मणोऽज्ञानस्य च विरोधो नास्ति। कर्म अज्ञानं वर्धयति। यथा अमावास्यान्धकारं मेघावरणं वर्धयति, तथा कर्म अज्ञानं वर्धयति, न निवर्तयति। तमन्धकारं यथा सूर्यो निवर्तयति तथा अज्ञानं ज्ञानमेव निवर्तयेत्, न कर्म॥

ननु त्रिविधकरणजन्यं कर्म हि; ज्ञानस्याप्यन्तःकरणजन्यवृत्तित्वेन कर्मत्वात्तत्कथमज्ञानं नाशयेदिति चेत्, शृणु। सत्यं वृत्तिर्मानसं कर्मैव। सा वृत्तिर्ज्ञानस्याज्ञाननिवर्तनेन रूपग्रहणे नेत्रवदुपाधिभूतैव न स्वयं निवर्तिका। ज्ञानं तु निवर्तकं नित्यम्। तज्ज्ञानं स्वरूपज्ञानं वृत्तिज्ञानमिति द्विविधम्। तत्र सुषुप्तावज्ञानप्रकाशकं ज्ञानं स्वरूपज्ञानम्। जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयप्रकाशकं वृत्ति-

ज्ञानम् यथा आदित्येन प्रकाश्यमाने कुड्येऽनेकदर्पणादित्यदीप्तयश्च तासां मध्ये मध्ये खादित्यदीप्तिश्च, तथा जाग्रत्स्वप्नयोर्वृत्तिज्ञान-प्रकाशाः सुषुप्तौ स्वरूपज्ञानप्रकाशश्चेति ज्ञेयम् ॥

तर्हि जाग्रत्स्वप्नयोः स्वरूपज्ञानं नास्ति किमिति चेत्। स्वरूप-ज्ञानं सर्वदा सर्वास्ववस्थास्वप्यस्ति। वृत्तयः सुषुप्तौ न सन्ति। वृत्तयः सर्वा अप्यन्तःकरणधर्माः। ज्ञानमात्मस्वरूपम्। तत्स्वरूपभूतं ज्ञानं वृत्तिषु प्रविश्याज्ञानं नाशयति। केवला बुद्धिवृत्तिरज्ञानं नाशयितुं नेष्टे। तस्मादात्मनोऽज्ञानमप्यात्माकारवृत्तिप्रविष्टेन स्व-रूपज्ञानेनैव विनाश्यं न बुद्धिवृत्त्या। न कर्मकोटिसहस्रेणापि विनाश्यम्। यथा सत्कर्मैव पापकर्म नाशयति, एवं वृत्तिज्ञान-मेवाज्ञानं नाशयति। यथा माणिक्यं शिलारूपमपि प्रकाशयुक्तत्वेन रत्नदीपमिति व्यवह्रियते, एवं वृत्तिज्ञानस्यापि मनोवृत्तिरूपत्वेऽपि स्वप्रविष्टस्वरूपज्ञानयुक्तत्वाज्ज्ञानमिति व्यवहारो गौणः, न कर्मेति व्यवहारः ॥

ननु सुषुप्तौ स्वरूपज्ञानस्याज्ञानप्रकाशकत्वेन विरोधाभावा-त्कथं ज्ञानमज्ञानं नाशयेदिति चेत्, स्वरूपज्ञानस्याज्ञानेन विरोधा-भावेऽपि वृत्तिज्ञानस्याज्ञानेन विरोधोऽस्ति। वृत्तौ प्रविष्टस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपज्ञानत्वात्कथमज्ञानेन विरोध इति चेत्, लोके तृणादेः प्रकाशकत्वेनादित्यकिरणस्य तेन विरोधाभावेऽपि सूर्य-कान्तप्रविष्टस्य तस्यैव यथा तृणादिदाहकत्वेन तेन विरोधः, तथा स्वरूपज्ञानस्य केवलास्याज्ञानेन विरोधाभावेऽपि वृत्तिप्रविष्टस्य तस्याज्ञानेन विरोधोऽस्ति ॥

ननु वृत्तिज्ञानेनाज्ञानतत्कार्यनाशेऽपि वृत्तेस्तत्प्रविष्टज्ञान-स्यापि विद्यमानत्वात्कथमद्वैतं सिध्येदिति चेत्, कतकरजोन्यायेन वृत्तिज्ञानमप्यज्ञानं तत्कार्यं च निवर्त्य स्वमपि स्वयमेव निवर्तयेत्।

वृत्तिनाशे सति वृत्तौ प्रतिविम्बितं ज्ञानमपि बिम्बभूतं स्वरूपज्ञानमेवाधिगच्छति। ततोऽद्वैतमात्मस्वरूपमेवावशिष्यते। एवं ज्ञानेनैवाज्ञानस्य विनाशः॥

एवंभूतं ज्ञानमात्मविचारेणैवागच्छति न तु कर्मभिर्न योगेन नोपासनया वा। ज्ञानं वस्तुतन्त्रम्, अत एव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमशक्यम्। उपासना योगश्च पुरुषतन्त्रत्वात्कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्यौ। ताभ्यां चित्तैकाग्र्यमणिमाद्यष्टैश्वर्यं च साध्यते, न तु ज्ञानम्। उपासनायोगौ मनोव्यापाररूपत्वात्क्रियात्मकौ न वस्तुतन्त्रौ। तस्माद्वस्तुतन्त्रं ज्ञानं कर्मणा नायाति; किं तु विचारेणैव साध्यम्। सालिग्रामो रत्नं सुवर्णमित्यादिवस्तुनिर्णयो लक्षणपरीक्षाभ्यां निघर्षणेन च कर्तव्यः, न तु स्नानसंध्यावन्दनप्राणायामादिना कस्यापि साध्य इति निर्णयः। एवमात्मज्ञानमप्यात्मानात्मविचारं विनोपासनादिभिः साधयितुं न शक्यते। तस्मान्मुमुक्षुरितरव्यापारं विहाय श्रवणमननाभ्यां सदा आत्मानात्मविचारमेव कुर्यात्। य एवं तदेकपरः सोऽस्मिन्नेव जन्मनि संसारबन्धाद्विमुक्तः सन् जीवन्मुक्तिं विदेहमुक्तिं च प्राप्नोतीति सकलवेदान्ता घोषयन्ति। एवं मयोक्तं हे पुत्र, त्वं विश्वासेन गृहीत्वा चिन्मात्रेण तिष्ठ, न तु कदाचिदपि कर्तृत्वादिरूपेण तिष्ठ॥

॥ इति षष्ठवर्णकम् ॥

॥ सप्तमवर्णकम् ॥

इतः परं सप्तमवर्णके आत्मानात्मविवेकस्तत्साध्यमात्मज्ञानं तत्साध्यं ब्रह्मकैवल्यं च कथ्यते। आत्मानात्मविवेकेनात्मज्ञानं जायत इति खलूक्तम्। स आत्मा क इति चेत्, शृणु। आत्मा

शरीरत्रयविलक्षणोऽवस्थात्रयसाक्षी पञ्चकोशव्यतिरिक्तः सच्चिदानन्दलक्षणः। अनात्मा तु शरीरत्रयम्। तस्य किं लक्षणमित्युक्तेऽनृतजडदुःखरूपत्वम्। तच्च शरीरत्रयं व्यष्टिसमष्ट्यात्मकम्। व्यष्टिसमष्टिलक्षणं प्रथमवर्णके उक्तम्। अत्राप्युच्यते। वनमिव समष्टिः। वृक्ष इव व्यष्टिः। समस्तं समष्टिः। व्यस्तं व्यष्टिः। एवं शरीरत्रयमपि व्यष्टिसमष्ट्यात्मकम्। तत्कथमिति चेत्। समष्टिस्थूलशरीरं समष्टिसूक्ष्मशरीरं समष्टिकारणशरीरमिति च व्यष्टिस्थूलशरीरं व्यष्टिसूक्ष्मशरीरं व्यष्टिकारणशरीरमिति च शरीरत्रयमपि समष्टिव्यष्टिरूपेण षट्प्रकारम्। आत्मनः समष्ट्युपाधिनेश्वरत्वं व्यष्ट्युपाधिना जीवत्वम्। न तु वास्तवम्, आत्मन एकत्वात्। आत्मनो मायोपाधिनेश्वरत्वमविद्योपाधिना जीवत्वम्, न तु वास्तवम्। वास्तवमिति यावज्जानाति तावद्बन्धनिवृत्तिश्च नायाति। 'जीवेशावाभासेन करोति, माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' इति सकलजीवमाया श्रुतिश्चैवमेवोपदिशति ॥

ईश्वरस्य समष्टिकारणशरीरेऽभिमानो नास्ति। कुत इति चेत्, तदा महासुषुप्तावहंकारस्य लीनत्वेनाभिमानकारणाभावात्। अयं समष्टिकारणोपाधिक ईश्वरोऽव्याकृतोऽन्तर्यामीति चोच्यते। अयमुत्तमभक्तैर्जीवैरुपास्यते। अस्योपासनायामशक्तानां श्रुतिः समष्टिसूक्ष्मशरीरोपाधिकमीश्वरमुपास्यत्वेनोपदिशति। तस्य हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा महाप्राण इति नामानि सन्ति। अस्यापि हिरण्यगर्भस्य सूक्ष्मशरीरेऽभिमानोऽस्ति वा न वेति चेत्, तदा अभिमानकर्तर्यहंकारे विद्यमानेऽपि स्वप्नावस्थानादभिमानाश्रयस्थूलशरीरप्रवेशाभावात्सूक्ष्मशरीरेऽप्यभिमान ईश्वरस्य नास्ति ॥

अस्य सूक्ष्मोपाधेरीश्वरस्योपासनायामशक्ताञ्जीवान्प्रति समष्टिस्थूलोपाधिकस्येश्वरस्योपासनां श्रुतिर्विधत्ते। तस्येश्वरस्य विराड्-

वैराजो वैश्वानर इति नामानि सन्ति। अस्याप्यस्मिन्स्थूलसमष्टि-शरीरेऽभिमानोऽस्ति वा न वेति विचार्यमाणे, नास्ति। कथमिति चेत्, सकलजीवशरीराणामप्येकीभूयास्य शरीरत्वेनावस्थानात्, 'अहम्' इति व्यावर्तनीयप्रतियोग्यभावात् ॥*

एतत्समष्टिशरीरत्रयोपहितमीश्वरमुपासितुमशक्ताञ्जीवान्प्रति श्रुती राजससात्त्विकतामसमूर्तिसहितस्य सृष्टिस्थितिसंहारकर्तुर्ब्रह्म-विष्णुरुद्रनामधेयस्य दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनकृते मत्स्यकूर्माद्यवतार-कर्तुरीश्वरस्योपासनां विधत्ते ॥

एवं ब्रह्मादिमूर्तिधरस्येश्वरस्य तत्तन्मूर्तावभिमानास्ति वा न वेति चेत्, अभिमानोऽस्ति। अभिमानाभावे तत्तन्मूर्त्या सृष्ट्या-दिकार्यं कर्तुं न शक्यते। अतोऽभिमानोऽस्ति। एवमीश्वरस्यापि जीववदभिमाने सति जीवादीश्वरस्य को विशेष इति चेत्, विशे-षोऽस्ति। कथमिति चेत्, जीवानां स्वस्वदेहेष्वहंता च ममता च सततमस्ति। ईश्वरस्य तु स्वमूर्त्यभिमानः कृपया लोकरक्षणार्थं तत्तत्कार्यसमय एवेश्वरेण केवलं कल्प्यते नटेन स्वभूमिकायामिवेत्ति जीवाभिमानस्येश्वराभिमानस्य चास्ति महान्भेदः ॥

मूर्तिस्वरूपमीश्वरमप्युपासितुमशक्तानां शास्त्रं मूर्तिरूपेण कल्पि-तताम्रादिप्रतिमोपासनं विधत्ते। अत एव प्रतिमां केचिदी-श्वरबुद्ध्योपासते। सर्वत्र ब्रह्मादिमूर्तिष्वपि तत्तत्प्रतिमास्वपि चान्तर्यामी परमेश्वर एक एव स्थित्वा तेषां तेषामुपासकानां फलं ददाति। मूढो ईश्वरस्य सर्वात्मकत्वमविचार्य तत्र तत्रेश्वरा बहवो भिन्नभिन्नतया वर्तन्त इति मत्वा अन्योन्यं कलहायन्ते। तस्मादन्तर्यामीश्वर एक एवेति जानीहि। तर्हि सर्वत्रेश्वरस्यैकत्वे शास्त्रमपि तत्तन्मूर्तिभेदमङ्गीकृत्य तत्तदुपासनाभेदं कथं विधत्त

* [परिच्छेदद्वयोर्वर्णितं अभिमानराहित्यं वेदान्तसम्प्रदायविरुद्धं, अतोऽयं अपसिद्धान्तः—सं०]

इति चेत्, बहिर्मुखानपि शनैः शनैरन्तर्मुखान्कृत्वा 'परमात्मैव जीवात्मा, नान्यः' इति बोधयित्वा तेषां मुक्ति दातुमेवानादिकालमारभ्य प्रवृत्तं भेदमङ्गीकृत्य तेषां बुद्धिमनुसृत्य भेदेन शास्त्रमुपासनां विधत्ते न तु तात्पर्येण एवमीश्वरस्य परमात्मनः समष्टिशरीरत्रयोपाधिनेश्वरत्वसिद्धिप्रकार उक्तः ॥

अथेदानीमेकस्यैव परमात्मनो व्यष्टिशरीरत्रयोपाधिना जीवत्वसिद्धिप्रकार उच्यते। व्यष्टिकारणशरीरोपहितस्य परमात्मन एव 'प्राज्ञः' 'पारमार्थिकः' 'अविद्यावच्छिन्नः' इति नामानि सन्ति; व्यष्टिसूक्ष्मशरीरोपहितस्य परमात्मनः 'तैजसः' 'स्वप्नकल्पितः' 'प्रातिभासिकः' इति नामानि सन्ति; व्यष्टिस्थूलशरीरोपहितस्य परमात्मनः 'विश्वः' 'व्यावहारिकः' 'चिदाभासः' इति नामानि सन्तीति जानीहि ॥

अस्य जीवस्य शरीरत्रयमपि किमर्थमिति चेत्, प्रयोजनमस्ति। अन्तःकरणप्रतिबिम्बो हि जीवः। अतो जीवस्य सूक्ष्मशरीरं प्रथममावश्यकम्। पश्चात्स्थूलशरीरं विना कर्मकर्तृत्वाभावात्स्थूलशरीरमप्यावश्यकम्। इदं कार्यशरीरद्वयमपि कारणशरीरं विना अवस्थातुमशक्यम्। अतः कारणशरीरमप्यावश्यकम्। एवं जीवस्य व्यष्टिशरीरत्रयमप्यावश्यकम् ॥

अस्य जीवस्यास्मिन्व्यष्टिशरीरत्रयेऽभिमानोऽस्ति वा न वेति विचार्यमाणे, अभिमानोऽस्ति। कथमिति चेत्, जीवस्य कर्मकर्तृत्वेन। शरीराभिमानाभावे जीवस्य तत्कर्मकर्तृत्वं नोपपद्यते। तदभावे शरीरमपि नोपपद्यते। शरीराभावे जीवत्वमेव न संभवति। तस्माज्जीवस्याभिमानोऽस्ति। एवं परमात्मैक एव व्यष्टिसमष्ट्युपाधिभ्यां जीवेश्वरभावं गतः। अस्य दृष्टान्तोऽस्ति वेत चेत्, अस्ति। यथैकस्यैव देवदत्तस्य पुत्रपौत्रोपाधिभ्यां पितेति पितामह

इति च नामद्वयमस्ति, तथा अविद्यामायोपाधिभ्यामात्मन एकस्यैव जीवत्वमीश्वरत्वं चागतम् ॥

ननु पूर्वोक्तो दृष्टान्तो जीवेश्वरनामद्वये युज्यते, किञ्चिज्ज्ञत्व-सर्वज्ञत्वादिविशिष्टभेदस्य को वा दृष्टान्त इति चेत्, दृष्टान्तोऽस्ति। एकमेव जलं बृहत्तटाकस्थं सदेकग्रामसंरक्षकं महाशक्तिमत् घटस्थं सदेकगृहसंरक्षकमल्पशक्तिमद्यथा जातम्, अग्निरेक एव स्थूल-महावर्तिस्थः सन्बहुदूरप्रकाशको महाशक्तिमान् अल्पवर्तिस्थः सन्गृहमात्रप्रकाशकोऽल्पशक्तिमान्यथा च जातः, तथा आत्मनोऽपि बृहता कारणभूतमायोपाधिना सर्वज्ञत्वम् अल्पेन कार्यभूताविद्यो-पाधिना किञ्चिज्ज्ञत्वं चागतम्। न तु सर्वज्ञः किञ्चिज्ज्ञ इत्यात्म-द्वयमस्ति। अत एव वेदान्तशास्त्रं च तत्पदस्य त्वंपदस्य च सम्बन्धत्रयेणाखण्डं बोधयति ॥

संबन्धत्रयं किमिति चेत्—पदयोः सामानाधिकरण्यसंबन्धः, पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावसंबन्धः, पदाभ्यां सह वा पदार्थाभ्यां सह वा प्रत्यगात्मनो लक्ष्यलक्षणभावसंबन्धः। एवं संबन्धत्रयम्। तस्य दृष्टान्तः—'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रेदं संबन्धत्रयमस्ति। सशब्दस्यायं-शब्दस्य चैको देवदत्तपिण्ड एव समानमधिकरणमिति तयोः शब्दयोः सामानाधिकरण्यसंबन्धोऽस्ति। तथा तत् पदस्य त्वंपदस्य चैकमेव चैतन्यं समानमधिकरणम्। तस्मात्पदद्वयस्यापि सामाना-धिकरण्यसंबन्धोऽस्ति। तत्कालतद्देशविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दार्थ-स्यैतत्कालैतद्देशविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दार्थस्य चान्योन्यभेद-व्यावर्तकत्वेनान्योन्यं विशेषणविशेष्यभावसंबन्धोऽस्ति। तथा सर्व-ज्ञत्वपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदार्थस्य किञ्चिज्ज्ञत्वादि-विशिष्टचैतन्यवाचकत्वंपदार्थस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकत्वेनान्योन्यं विशेषणविशेष्यभावसंबन्धोऽस्ति। सोऽयंपदयोस्तत्पदार्थयोर्वा अख-

च्यार्थदेवदत्तपिण्डमात्रग्रहणे विरुद्धांशं विहायाविरुद्धांशभूतदेवदत्तमात्रलक्षकत्वेन लक्ष्यलक्षणभावसंबन्धोऽस्ति। तथा तत्त्वंपदयोस्तत्पदार्थयोर्वा अखण्डसच्चिदानन्दमात्रग्रहणे विरुद्धांशं विहायाविरुद्धांशभूतचैतन्यमात्रलक्षकत्वेन लक्ष्यलक्षणभावसंबन्धोऽस्ति॥

इममेव लक्ष्यलक्षणभावसंबन्धं भागत्यागलक्षणेति जहदजहल्लक्षणेति च जानीति। तत्कथमिति चेत्। शास्त्रेषु वाक्यार्थग्रहणे मुख्यवृत्तिर्गुणवृत्तिर्लक्षणावृत्तिश्चेति वृत्तित्रयमस्ति। 'राजा गच्छति' इति वाक्यार्थे मुख्यवृत्तिः। 'नीलमुत्पलम्' इति वाक्यार्थे 'अग्निर्माणवकः' इत्यादौ च गुणवृत्तिः। लक्षणावृत्तिश्च त्रिविधा जहल्लक्षणा-अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' 'शोणो धावति' 'सोऽयं देवदत्तः' इति च क्रमेण लक्षणावृत्तित्रयस्योदाहरणवाक्यानि। एतेषु मुख्यार्थग्रहणे विरोधाल्लक्षणावृत्तिरङ्गीकृतेति ज्ञेयम्।

तत्त्वंपदयोर्वाच्यार्थः को लक्ष्यार्थश्च क इति चेत्, उच्यते। माया मायाप्रतिबिम्बो मायाधिष्ठानं ब्रह्म चैतत्त्रयमप्येकीभूय तत्पदवाच्यार्थः। ब्रह्ममात्रं तत्पदलक्ष्यार्थः। अविद्याऽविद्याप्रतिबिम्बोऽविद्याधिष्ठानं साक्षिचैतन्यं चैतत्त्रयमप्येकीभूय त्वंपदवाच्यार्थः। साक्षिकूटस्थचैतन्यमात्रं त्वंपदलक्ष्यार्थः। तस्मात्तत्त्वंपदवाक्यार्थग्रहणे वाच्यार्थजीवेश्वरयोर्विरोधात्तयोर्विरुद्धांशं विहायाविरुद्धांशस्य ब्रह्मचैतन्यस्य कूटस्थचैतन्यस्य चैकत्वाद्ब्रह्मकूटस्थौ लक्षयित्वाऽखण्डार्थस्तयोरैक्यमेव महावाक्येन बोध्यते। यथा पुत्रपौत्रोपाधिद्वयपरित्यागे पितृपितामहत्वाभावेनैको देवदत्त एवावशिष्यते, महातटाकघटोपाधिपरित्यागे शैत्यद्रवमधुरस्वभावं जलमेकमेवावशिष्यते, महावर्त्यल्पवर्तिपरित्यागे लोहितोष्णप्रकाशस्वभावो वह्निरेक एवावशिष्यते, तथा मायाऽविद्योपाधिपरित्यागे सच्चिदानन्दस्वभावमेकमात्मवस्त्वेवावशिष्यते॥

एवं विचार्यं 'परिपूर्णस्वभावः प्रत्यगात्मैव मम स्वरूपम्, अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्मैवाहमस्मि' इत्यनुभवो यस्य महानुभावस्यागच्छति स एव कृतकृत्यः स एव ब्राह्मण इति सर्वे वेदान्ता भेरीवाद्यवदुद्घोषयन्ति ।

॥ इति सप्तमवर्णकम् ॥

अष्टमवर्णकम्

इतः परमात्मनः पूर्वोक्तशरीरत्रयविलक्षणत्वमवस्थात्रयसाक्षित्वं पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्वं सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं च चत्वारि लक्षणानि क्रमेण चतुर्भिर्वर्णकैरुच्यन्ते । एतेषु शरीरत्रयविलक्षणत्वं पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्वं चातद्व्यावृत्तिलक्षणम्, अवस्थात्रयसाक्षित्वं तटस्थलक्षणम्, सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं स्वरूपलक्षणम् । तथा आकाशादिशरीरत्रयान्तं दृश्यजातं 'नेति नेति' इति वाक्येन विहायावशिष्टं वस्त्वात्मेत्यतद्व्यावृत्तिलक्षणम्, अस्य प्रपञ्चस्य यदधिष्ठानं तदात्मवस्तु' इति तटस्थलक्षणम्, 'सच्चिदानन्दः पूर्णं नित्यमात्मवस्तु' इति स्वरूपलक्षणम् ॥

अस्मिन्नष्टमवर्णके शरीरत्रयविलक्षणत्वमुच्यते । शरीरत्रयस्याज्ञाने तद्विलक्षणत्वमपि दुर्विज्ञेयमिति प्रथमतः शरीरत्रयमुच्यते । स्थूलं सूक्ष्मं कारणमिति शरीरं त्रिविधम् । तत्र सर्वेषां प्रत्यक्षं करचरणाद्यवयवोपेतं स्तम्भवद्वर्तमानं यत् तत्स्थूलशरीरम् । सप्तदशावयवकं सूक्ष्मशरीरम् । अज्ञानमेव कारणशरीरम् । एतेषां शीर्यंते क्षीयत इति व्युत्पत्त्या शरीरमिति नाम । तथा हि इदं स्थूलशरीरमन्नाभावे शीर्यते, अन्ने विद्यमानेऽपि व्याधिना शीर्यते,

तदभावेऽपि वयःपरिणामेन शीर्यते। पल्लवमिव सूक्ष्मशरीरमपि कदाचिद्वर्धते कदाचित्क्षीयते। रागाद्वेषाद्यन्तःकरणवृत्तिविजृम्भणमेव सूक्ष्मशरीरस्य वृद्धिः, तासां संकोच एव जीर्णता। कारणशरीरस्यापि 'अहं जीवाः' इति वृद्धिः, 'अहं ब्रह्मास्मि' इति संकोचः। अनयोः सूक्ष्मकारणशरीरयोरुक्तरूपा वृद्धिरज्ञानिषु दृश्यते, संकोचश्च ज्ञानिषु दृश्यते। एवं शरीरत्रयस्यापि जराया दर्शनेन 'शरीरम्' इति नाम। एतेषां 'देहः' इति नाम च 'दह्यते' इति व्युत्पत्त्या आगतम् ॥

ननु लोके सर्वोऽपि स्थूलदेहोऽग्निना दह्यते, सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं च न कदाचिदप्यग्निना दह्यते, तत्कथमिति तेषां देहत्वमिति चेत्—अग्नेरप्यधिकेन तापत्रयेण सर्वमपि शरीरं दह्यते; अतः शरीरत्रयस्यापि देह इति नाम युज्यते। स्थूलशरीरस्य स्तम्भवत्स्थूलभूतकार्यत्वेन स्थूलत्वम्। सूक्ष्मशरीरस्य स्थूलशरीवत्स्थूलत्वाभावात्सूक्ष्मभूतजन्यत्वाच्च सूक्ष्मत्वम्। लीनं शब्दाद्यर्थं गमयतीति 'लिङ्गम्' इत्यपि नामास्यागतमिति ज्ञेयम्। स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयकारणस्य कारणशरीरमिति नाम ॥

हे स्वामिन्, पूर्वं स्थूलं सूक्ष्ममिति शरीरद्वयमपि पञ्चभूतेभ्य उत्थितमित्युक्तम्, इदानीं कारणशरीरादुत्थितमिति कथमुच्यत इति चेत्, शृणु। अध्यारोपसृष्टौ तथा पञ्चभूतोत्थितमित्युक्तम्। तत्तथैव। आत्मनः शरीरतत्त्वेऽज्ञानं कारणमिति युगपत्सृष्टौ सर्वस्यापि जगतोऽज्ञानमेव कारणमिति कृत्वा शरीरद्वयस्याप्यज्ञानमेव कारणमित्युक्तम् ॥

कथं क्रमसृष्टिः कथं युगपत्सृष्टिरिति चेत्, उच्यते। मूलप्रकृतिर्माया अविद्या आवरणं विक्षेप आकाशो वायुरग्निरापः पृथिवीति क्रमेणोत्पत्तिकथनं क्रमसृष्टिः। सर्वोऽपि प्रपञ्च आत्मा-

ज्ञानेन जात इति कथनं युगपत्सृष्टिः। ननु स्थूलस्य प्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वात्तत्र न संदेहः; सूक्ष्मशरीरस्य बहिरप्रतीतेस्तदस्तीति ज्ञानं कथं जायत इति चेत्, शृणु। सप्तदशकरणकार्यैस्तत्सूक्ष्मशरीरं ज्ञातुं शक्यम्। तत्सप्तदशकरणकार्यमपि स्थूलशरीरेण कर्तुं न शक्यते वेति चेत्, सुषुप्तिमूर्च्छामरणेषु स्थूलशरीरे विद्यमानेऽपि सप्तदशकरणकार्याणामदर्शनाज्जाग्रत्स्वप्नयोस्तत्कार्यदर्शनाच्च। स्थूलशरीरव्यतिरेकेण सप्तदशावयवात्मकं लिङ्गशरीरमस्त्येवेत्यवगन्तव्यम् ॥

इदं सूक्ष्मशरीरमपि स्थूलशरीरं विना न कदापि कार्यं करोति, अत उभयमपि दर्शनादिकार्यं करोत्विति चेत्, शृणु। विवेकेन विचार्यमाणे दर्शनादिकार्यं सकलमपि सूक्ष्मशरीरसाध्यमेव, न तु स्थूलसाध्यम्। कथमिति चेत्। काष्ठमाश्रित्याग्निदाहपाकादिकर्म करोति, काष्ठाभावे न करोति; तथाप्यग्निकार्यमेव दाहपाकादि, न तु काष्ठकार्यं यथा; तथा स्थूलशरीरमाश्रित्य तेन सूक्ष्मशरीरेण क्रियमाणमपि दर्शनादिकं सूक्ष्मकार्यमेव, न तु स्थूलकार्यम्। अतो दर्शनादिकार्येणानुमेयं सप्तदशावयवकं सूक्ष्मशरीरमित्युक्तम्। ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणपञ्चकं मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशावयवाः। एतत्सप्तदशकं सूक्ष्मशरीरम् ॥

श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि ज्ञानेन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एतेषां विषयः। तेषां ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानेन्द्रियत्वम्। सुखप्रकाशाभिव्यञ्जकसत्त्वगुणकार्यत्वादेतेषां ज्ञानसाधनत्वम्। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि। वचनादानगमनविसर्गानन्दनरूपक्रियासाधनत्वम् तेषां कर्मेन्द्रियत्वम्। चञ्चलमलिनरजोगुणकार्यत्वेनैतेषां क्रियासाधनत्वम्। प्राणापानव्यानोदानसमानाः प्राणाः। त उच्छ्वासनिश्वासादिव्यापारैः शरीरधारकत्वाद्बल-

प्रदत्वाच्च प्राणसंज्ञाः। तादृशसामर्थ्यं च तेषां रजोगुणजन्यत्वादिति ज्ञेयम्। विमर्शात्मकान्तःकरणवृत्तिर्मनः। निश्चयात्मकान्तःकरणवृत्तिर्बुद्धिः एवं सूक्ष्मशरीरस्य सप्तदशावयवाः॥

लोक एकस्मिन्वस्तुनि ज्ञातव्य उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेत्युपायत्रयमस्ति। तत्र वस्तुनामग्रहणमात्रमुद्देशः। वस्तुस्वरूपग्रहणं लक्षणम्। वस्तुस्वरूपविचारः परीक्षा। सप्तदशावयवनामग्रहणेनोद्देशो जातः। इतः परं लक्षणं परीक्षां च वदामः। लक्षणं नामाव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवरूपदोषत्रयरहितोऽसाधारणधर्मः। लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यावर्तनमव्याप्तिः। यथा कपिला गौरिति। अलक्ष्येऽपि लक्षणस्य वर्तनमतिव्याप्तिः। यथा चतुष्पाद्गौरिति। लक्ष्ये क्वापि लक्षणस्यावर्तनमसंभवः। यथैकशफा गौरिति दोषत्रयरहितोऽसाधारणधर्मो लक्षणं किमिति चेद्गोः सास्नादिमत्त्वम्॥

तद्वज्ज्ञानेन्द्रियाणां किं लक्षणमिति चेत्क्रमेण कथयिष्यामः॥

तत्र श्रोत्रेन्द्रियं किमिति चेत्, दिग्रूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत्कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोदेशे स्थित्वा अष्टादशभाषाणां वेदशास्त्राणां चेदमित्थमिति ज्ञातृ यदिन्द्रियं तच्छ्रोत्रम्। परीक्षा कीदृशीति चेत्कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभ एव जानात्विति चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादिसमयेऽपि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभो विद्यमानमपि शब्दं न गृह्णाति; तस्मात्तदन्यदिति परीक्षा। त्वगिन्द्रियं किमिति चेत्, वायुरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत्त्वचं सर्वत्र व्याप्य शीतमुष्णं मृदु कठिनं कर्कशमित्यनेकविधं स्पर्शं यज्जानाति तत्त्वगिन्द्रियम्। त्वगेव जानात्वित्युक्ते सुषुप्त्यादिषु त्वचि विद्यमानायामपि स्पर्शं न जानाति। तस्मात्सा न त्वगिन्द्रियम्। चक्षुरिन्द्रियं किमिति चेत्, सूर्यरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत्कृष्णताराग्रमाश्रित्य नीलं श्वेतं रक्तं पीतं हरितं धवलं स्थूलं सूक्ष्मं ह्रस्वं

दीर्घमित्युक्तबहुविधरूपं यज्जानाति तच्चक्षुरिन्द्रियम्। कृष्णताराग्रमेव जानात्विति चेत्, सुषुप्त्यादिषु तद्विद्यमानमपि न जानाति; तस्मान्न तच्चक्षुरिन्द्रियम्। रसनेन्द्रियं किमिति चेत्; वरुणरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सद्रसनामाश्रित्य मधुरतिक्तलवणाम्लादीन्षड्रसान्यज्जानाति तद्रसनेन्द्रियम् रसनैव जानात्विति चेत्, सुषुप्त्यादिषु रसनामात्रं विद्यमानमपि रसं न जानाति; अतो न तद्रसनेन्द्रियम्। घ्राणेन्द्रियं किमिति चेत्, अश्विदेवतया प्रेरितं सन्नासाग्रमाश्रित्य सुगन्धं दुर्गन्धं च यज्जानाति तद्घ्राणेन्द्रियम्। नासाग्रमेव जानात्विति चेत्, सुषुप्त्यादौ विद्यमानमपि सन्नासाग्रं गन्धं न जानाति; तस्मान्न तद्घ्राणेन्द्रियम्। एवं ज्ञानेन्द्रियलक्षणानि॥

इतः परं कर्मेन्द्रियलक्षणमुच्यते। अग्निरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत्तालुमूलमुत्तराधरोष्ठं दन्तं कण्ठं हृदयं नाभिमेवमादिस्थानान्याश्रित्य पूर्वोक्तशब्दभेदान्यदुच्चरति तद्वागिन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ ताल्वादिस्थानं विद्यमानमप्यक्षराणि नोच्चरति। तस्मान्न तद्वागिन्द्रियम्। इन्द्ररूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत्करतलमाश्रित्यादानादिक्रिया यत्करोति तत्पाणीन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ विद्यमानमपि करतलं नादानादिक्रियाः करोति। अतो न तत्पाणीन्द्रियम्। उपेन्द्ररूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सत्पादतलमाश्रित्य गमनं यत्करोति तत्पादेन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ विद्यमानमपि पादतलं न गमनक्रियां करोति अतो न तत्पादेन्द्रियम्। मृत्युरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सद्गुदमाश्रित्य यत्पुरीषविसर्जनादि करोति तत्पाय्विन्द्रियम्। सुषुप्त्यादौ विद्यमानमपि तन्न करोति। अतो न तत्पाय्विन्द्रियम्। प्रजापतिरूपाधिष्ठानदेवतया प्रेरितं सद्योनिलिङ्गमप्याश्रित्य शुक्लशोणितमूत्रविसर्जनं यत्करोति तदुपस्थेन्द्रियम्।

सुषुप्तादौ योनिर्लिङ्ग च विद्यमानमपि तद्विसर्जनं न करोति। अतो न तदुपस्थेन्द्रियम्। एवं कर्मेन्द्रियलक्षणान्युक्तानि।

अथ प्राणपञ्चकस्य लक्षणमुच्यते। विशिष्टनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन्हृदये स्थित्वा य उच्छ्वासं करोति स प्राणः। विश्वसृष्टनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन्गुदे स्थित्वा यो निःश्वासं करोति सोऽपानः। विश्वयोनिनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन्नन्तर्बहिश्च शरीरे स्थित्वेन्द्रियाणां बलं यच्छन्यो वर्तते स व्यानः। अजनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन्कण्ठे स्थित्वा सुषुप्ताविन्द्रियाणां गोलकेषु लयं कारयित्वा जाग्रति पुनरिन्द्रियाणि गोलकेषु स्थापयित्वोत्क्रमणकाल इन्द्रियाणि गृहीत्वा लोकान्तरं गच्छति यो वायुः स उदानः। यो जयनामकाधिष्ठानदेवतया प्रेरितः सन्नाभिदेशे स्थित्वा भक्ष्यभोज्यचोष्यलेह्यरूपं चतुर्विधमन्नं जाठराग्नौ पाचयित्वा शरीरपुष्टिम् करोति स समानवायुः। एवं पञ्च प्राणः॥

नागः कूर्मः कृकरो देवदत्तो धनञ्जय इत्यन्ये पञ्च वायवः श्रूयन्ते तेषामपि पूर्वप्रोक्तपञ्चप्राणेष्वन्तर्भावः। तत्र नागो वान्ति करोति। कूर्मउन्मीलननिमीलने अधरोष्ठयोः संयोगं विभागं च करोति। कृकरः क्षुतं करोति। देवदत्तो विजृम्भणं करोति। धनञ्जयः शरीरस्योच्छूनतां करोति॥

इतः परमन्तःकरणचतुष्टयं मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमिति जानीहि। अत्र मनश्चन्द्रेणाधिष्ठितं सत्कण्ठमाश्रित्य स्थित्वा संकल्पविकल्पौ करोति। बुद्धिश्चतुर्मुखेणाधिष्ठिता सति मुखमाश्रित्य स्थित्वा निश्चयं करोति। अहंकारो रुद्रेणाधिष्ठितः सन्हृदयमाश्रित्य स्थित्वा अभिमानं करोति। क्षेत्रज्ञरूपविष्णुनाधिष्ठितं सच्चित्तं नाभौ स्थित्वा अवधानं करोति। एतल्लिङ्गशरीरं काचि-

च्छ्रुतिः षोडशात्मकं वदति। तस्मिन्पक्षेऽन्तःकरणमेकमिति जानीहि। पुनरन्या श्रुतिः सप्तदशात्मकं वदति। तस्मिन्पक्षे मनो बुद्धिरिति द्विविधमिति जानीहि। पुनरन्या श्रुतिरेकोनविंशत्यात्मकं वदति। तत्पक्षे मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमिति चतुर्विधमन्तःकरणमिति जानीहि। एवं लिङ्गशरीरनिर्णयः॥

इदानीं कारणशरीरमुच्यते। अज्ञानमेव कारणशरीरम्, स्थूलसूक्ष्मशरीरकारणत्वात्। अस्य जीवेश्वरयोः प्रथमशरीरत्वात्पश्चाद्भाविशरीरद्वयकारणत्वम्। तस्मिन्नर्थे प्रमाणं किमिति चेत्, अज्ञानं कारणमिति श्रुतिर्वदति। कार्येण कारणमूह्यत इति युक्तिः। 'अहमज्ञः' इत्यनुभवः॥

भोः स्वामिन्, आत्मा क इत्युक्ते शरीरत्रयविलक्षण इति बोधयितुं प्रथमतः शरीरत्रयं लक्षणैर्बोधितं किल? एवमेवात्मापि लक्षणैर्बोधयितव्य इति चेत् शृणु। सर्वत्र परिपूर्णं ब्रह्मेति तदेव ब्रह्म प्रत्यगात्मस्वरूपमिति च सकलोपनिषदो वदन्ति। तस्मादात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप एवेति जानीहि। सत्किं चित्किमानन्दः किमिति चेत्—बाधरहितं सत्, स्वप्रकाशश्चित्, स्वानुभूतिरेवानन्द इति जानीहि। एवमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूपः। अनात्मा त्वनृतजडदुःखस्वरूपः॥

आत्मानात्मनोरन्योन्यवैलक्षण्यं कथं ज्ञातव्यमिति चेत्—यथा पुरुषलक्षणं स्त्रियां नास्ति स्त्रीलक्षणं पुरुषे नास्ति, एवमेव सल्लक्षणमनृते नास्त्यनृतलक्षणं सति नास्ति। यथा प्रकाशलक्षणमन्धकारे नास्त्यन्धकारलक्षणं प्रकाशे नास्ति, एवं चिल्लक्षणं जडे नास्ति जडलक्षणं चिति नास्ति। यथा चन्द्रिकालक्षणमातपे नास्त्यातपलक्षणं चन्द्रिकायां नास्ति, एवमानन्दलक्षणं दुःखे नास्ति दुःखलक्षणमानन्दे नास्ति।

सच्चिदानन्दानामनृतजडदुःखानां च लक्षणानि विस्तरेण ज्ञातव्यानीति चेत्, शृणु वदामः। कालत्रयेऽपि केनाप्यबाध्यमानमेकरूपं सत्। कालत्रयेऽपि मिथ्याभूतमपि सत्यमिव भासमानं विचार्यमाणे बाध्यमानमसत्। अस्य दृष्टान्तः—मदान्धकारे वर्तमाना रज्जुः स्वारोपितसर्पमाल्यदण्डजलधारादिभिरबाध्यमाना भ्रान्तेः पूर्वकाले पश्चात्काले भ्रान्तिकाले चैकरूपा वर्तते; अध्यस्तसर्पादि तु कालत्रयेऽपि स्वयं मिथ्याभूतमविद्यमानमपि विद्यमानमिव प्रतीयते, प्रमातुः परमार्थविचारेण बाध्यते च। एवंभूतरज्जुलक्षणं सर्पादौ नास्ति सर्पादिलक्षणं रज्जौ च नास्ति अतोऽन्योन्यं शब्देनार्थेन लक्षणेन प्रतीत्या व्यवहारेण च। पञ्चभिः प्रकारैर्वैलक्षण्यं यथा अनयोरस्ति, तथा सल्लक्षणमसल्लक्षणे देहादिप्रपञ्चे नास्ति, असल्लक्षणं च सल्लक्षणे प्रत्यगात्मनि नास्ति। तस्मादनयोरन्योन्यं शब्देनार्थेन लक्षणेन प्रतीत्या व्यवहारेण च पञ्चभिः प्रकारैर्वैलक्षण्यमस्ति। तस्मादेवं विचार्य सतोऽनृतस्य च वैलक्षण्यं जानीहि॥

इतः परं चितो जडस्य च वैलक्षण्यमुच्यते। सूर्यादिप्रकाशमनपेक्ष्य स्वप्रकाशेनैव प्रकाशमानं स्वारोपितस्य जडस्यापि प्रकाशकम्, अत एव सूर्यादिप्रकाशपदार्थं मृच्छिलाद्यप्रकाशपदार्थं च प्रकाशयति यद्वस्तु तच्चित्। जडलक्षणं कीदृशमिति चेत्, स्वयमप्रकाशमानमन्यपदार्थस्य च प्रकाशनेऽसमर्थं यत्तज्जडम्। अत्रोभयत्र दृष्टान्तः—यथा आदित्यः प्रकाशान्तरानपेक्षं स्वयमेव प्रकाशमानः सन्स्वप्रकाशसंबन्धिघटपटादिपदार्थमपि प्रकाशयति, तथा चित्प्रकाशः; यथा घटादिपदार्थः स्वयमप्रकाशमानोऽन्यपदार्थमपि प्रकाशयितुमसमर्थः, तथा जडवस्त्वपीति जानीहि। यथा आदित्यस्य घटादेश्च शब्दादिपञ्चप्रकारैर्वैलक्षण्यम्, एवं चितो जडस्य च वैलक्षण्यम्॥

एवं ज्ञानस्य किं फलमिति चेत्, लोके प्रकाश्यपदार्थनिष्ठविकाराः प्रकाशवस्तु कालत्रयेऽपि न स्पृशन्तीति ज्ञानफलम्। तदपि कथमिति चेत्, आदित्येन प्रकाश्यमानघटादिनिष्ठच्छिद्रेण ह्रानिरच्छिद्रेण लाभः, स्पर्शेन त्याज्यत्वमस्पर्शेन ग्राह्यत्वम्, लक्षणेन हर्षोऽलक्षणेन विषादः, समीचीनतयाऽतिशयो असमीचीनतया अनतिशयः. इत्यादिविकारगुणाः प्रकाशकमादित्यं न स्पृशन्ति। एवमात्मना प्रकाश्यमानदेहेन्द्रियादिनिष्ठनामरूपजातिवर्णाश्रमप्रवृत्तिनिवृत्तिविधिनिषेधषड्भावविकारषडूर्मिषट्कोशान्ध्यमान्द्यपटुत्वादिसकलगुणविकाराश्च प्रकाशकमात्मानं कालत्रयेऽपि किंचिदपि स्प्रष्टुं न शक्नुवन्तीति ज्ञानं सुकरमिति जानीहि। एवं चिज्जडयोर्वैलक्षण्यम् ॥

इतः परमानन्दस्य दुःखस्य च वैलक्षण्यमुच्यते। आनन्दलक्षणं किमिति चेत्, निरुपाधिकं निरतिशयं नित्यं यत्सुखं स आनन्दः। दुःखलक्षणं किमिति चेत्, प्रतिकूलतया वेदनीयत्वम्, इतरेच्छानधीनेच्छाविषयभिन्नत्वे सति द्वेषविषयत्वं वा। तत्तु त्रिविधम् आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। तत्रेन्द्रियैर्देह एव वातपित्तश्लेष्मवैपरीत्येन जायमानं व्याध्यादिदुःखमाध्यात्मिकम्। भूतैश्च भौतिकैश्च सर्पव्याघ्रादिभिर्जायमानं दुःखमाधिभौतिकम्। देवैर्जायमानमतिवृष्ट्यनावृष्टिविद्युत्पातादिदुःखमाधिदैविकमिति ॥

आनन्दस्य दुःखस्य च को दृष्टान्त इति चेत्, उच्यते। यथा अमृतं स्वयं सुखरूपं सत्स्वमनुभवतोजीवानपि सुखयति, कालकूटविषं स्वयं तापकं सत्स्वमनुभवतो जीवानपि पीडयति। एवंभूतयोरमृतविषयोरन्योन्यं शब्दादिपञ्चप्रकारैर्यथा वैलक्षण्यम्, एवमानन्दलक्षणं तापत्रयात्मके दुःखे नास्ति दुःखलक्षणमप्या-

त्मस्वरूप आनन्दे नास्ति। तस्माच्छब्दादिभिः पञ्चप्रकारैर-नयोर्वैलक्षण्यं जानीहि। अत्र निष्कृष्टार्थः सिद्धान्तः क इति चेत्, रज्जुवत्सद्रूप आदित्यवच्चिद्रूपोऽमृतवदानन्दरूपोऽहंशब्दार्थ आत्मा सर्पवदनृताद्घटवज्जडाद्विषवद्दुःखाद्देहेन्द्रियादिप्रपञ्चाद्विलक्षण इति यो गुरुमुखेनात्मानं जानाति स एवासङ्गः स एव कृतकृत्यः स एव मुक्त इति सकलवेदान्तनिश्चय इति जानीहि ॥

॥ इति अष्टमवर्णकम् ॥

नवमवर्णकम्

आत्मा शरीरत्रयविलक्षणः, अवस्थात्रयसाक्षी, पञ्चकोश-व्यतिरिक्तः, सच्चिदानन्दलक्षण इत्यात्मन उक्तेषु चतुर्विधलक्षणेषु शरीरत्रयविलक्षणत्वमेवमष्टमवर्णक उक्तम्। इतः परमवस्था-त्रयसाक्षित्वमस्मिन्नवमे वर्णक उच्यते। मनः सत्त्वरजस्तमो-गुणात्मकम्। तथापि सत्त्वगुणप्रधानमेव मनः। सात्त्विकेनैव मनसा आत्मा ज्ञातव्यः, न च राजसेन नापि तामसेन। तत्र सत्त्वगुणः सूक्ष्मः। रजोगुणश्चञ्चलः। तमोगुणः स्थूलः। तस्माद्धूमप्रवेशयोग्ये रन्ध्रे बृहत्स्तम्भो यथा न प्रविशति वायुना चलति दीपप्रकाशे सूक्ष्मवर्णो निर्णेतुं यथा न शक्यते, तथैवात्मनि ज्ञातव्ये सति सूक्ष्ममनसैव सात्त्विकेन ज्ञातव्यः। अन्यथा स्थूलमनसा चञ्चलमनसा च सूक्ष्मस्यात्मनः स्वरूपं किञ्चिदपि न प्रतिभाति। तस्मात्सावधानः शृणुः ॥

अवस्थात्रयं कथमिति चेत्, शृणु। जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था सुषुप्त्यवस्था चेत्यवस्थात्रयम्। तत्र सकलेन्द्रियैर्बाह्यार्थोपलम्भो जाग्रदवस्था। जाग्रद्वासनया अन्तःकरणस्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण

परिणामः स्वप्नावस्था। स्थूलसूक्ष्मजगतः सर्वस्यापि कारणेऽज्ञाने लयानन्तरमज्ञानमात्रस्य केवलसाक्षिवेद्यस्यावस्थानं सुषुप्तिः। एवमवस्थात्रयम्॥

एतदवस्थात्रयसाक्षित्वमात्मनः कथमिति चेत्, आत्मनि साक्षिलक्षणस्य विद्यमानत्वादिति ब्रूमः। साक्षिलक्षणं किमिति चेत्, लोक एकस्य पुरुषस्यान्यदीयावस्थायां अवस्थाव्यापाराणामन्यस्य तस्य चावस्थावतो विकाररहित्येन साक्षाद्द्रष्टृत्वं साक्षित्वम्, यथा तूष्णीमेव स्थितस्य संन्यासिनस्तत्रागतपुरुषतदवस्थातद्व्यापाराणां निर्विकारतया साक्षाद्द्रष्टृत्वं साक्षित्वम्। आत्मापि जीवानामवस्थात्रयमवस्थात्रयव्यापारानवस्थावतो जीवांश्च पश्यन्नपि निर्विकारतया अवतिष्ठेते॥

इदमेव साक्षित्वं दृष्टान्तपूर्वकं पुनरपि कथ्यते। तच्छृणु। एकमहानगरवज्जाग्रदवस्था। तत्र प्राकारवत्स्वप्नावस्था। तदन्तःप्रासादवत्सुषुप्त्यवस्था। तत्त्रयाभिमानिप्रभुवदवस्थात्रयाभिमानी जीवः। यथा स प्रभुः प्राकाराद्बहिर्वर्तमानः प्रियाप्रिये अनुभूय हर्षं विषादं च प्राप्य तत्प्राकारस्यान्तश्च प्रियाप्रिये अनुभूय हर्षं विषादं च प्राप्य ततःप्रासाद आगत्य सर्वान्व्यापारान्विहाय तूष्णीं स्त्रिया सह सुखमनुभवन्नास्ते, एवं जीवात्मापि स्थूलशरीराभिमानी जाग्रदवस्थायां त्रिविधकरणव्यापारयुक्तः सन्विश्वो भूत्वा सूक्ष्मशरीराभिमानी स्वप्नावस्थायां मनोमयत्रिविधकरणगुणदोषव्यापारयुक्तः संस्तैजसो भूत्वा पश्चात्कारणशरीराभिमानी सुषुप्त्यवस्थायान्त्रिविधकरणगणमुपसंहृत्य प्राज्ञो भूत्वा नित्यानन्दमनुभवन्नास्ते। एवमात्मा कूटस्थ आकाशवदसङ्ग एव सन्नवस्थात्रयेऽपि प्रत्यक्चैतन्यसाक्षिरूपेण वर्तत इति श्रुतियुक्त्यनुभवैर्ज्ञातव्यम्। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतिः। पत्तनाकाशदृष्टान्तो युक्तिः।

अनुभवः क इति चेत्, पूर्वंपूर्वंदिनावस्थात्रयमस्माभिः प्रतिदिनं स्मर्यते; स्मरणस्यानुभवपूर्वकत्वनियमादस्माभिरवस्थात्रयमनुभूयत एवेति सिद्धम्। एवमात्मना आगतानामागामिनां चावस्थानां क्रमेणानुभूयमानत्वादनुभवरूपस्यात्मनो नित्यत्वमपि सिद्धम्। एवमवस्थात्रयसाक्षित्वम् ॥

ननु लोके अवस्थावत एव पुरुषस्य स्वावस्थासाक्षित्वं दृश्यते। भवद्भिः कथमन्यस्यान्यावस्थासाक्षित्वमुच्यत इति चेत्, शृणु। अयमवस्थावानन्तःकरणं प्रतिफलिश्चेतनाभासः। स कल्पितो मिथ्याभूतः। स एव जीव इत्युच्यते। तस्य सुषुप्तावन्तःकरणलयेन विनष्टत्वात्स कथं सुषुप्तिसाक्षी स्यात्? तिसृणामप्यवस्थानामेकसाक्षित्वनियमाद्बिम्बभूतस्यात्मन एव सुषुप्तिसाक्षित्वं मन्तव्यम्। तर्हि स एव लाघवेन जाग्रत्स्वप्नयोरपि साक्षीति वक्तुं योग्यः। जीवस्य विकारित्वादपि साक्षित्वं न युज्यते। आत्मनस्तु निर्विकारत्वात्साक्षित्वं युज्यते। जीवः कथं विकारीति चेत्। तस्य 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादिरूपेणान्तःकरणवृत्तितादात्म्येन विकारित्वदर्शनाद्विकार्येव ॥

तर्हि जीवव्यतिरेकेणान्यः को वा आत्मा यः साक्षीत्युच्यते? तस्य किं लक्षणम्? तस्यास्तित्वे किं प्रमाणम्? तस्य ज्ञाने क उपायः? इति चेत्, शृणु। निर्विकारः कूटस्थ एव साक्षी। स एवात्मा। स आकाशवत्सर्वव्यापकः सच्चिदानन्दरूपः। स एवान्तःकरणेषु जीवरूपेण प्रविष्टः सन्संसरति। एवंरूपपारमार्थिकात्मनि वेदान्ताः सर्वेऽपि प्रमाणम्। अवस्थावान्यो जीवश्चिदाभासः स इदानीं जागर्ति, इदानीं स्वप्नं पश्यति, इदानीमज्ञानमोहितः सन्सुषुप्तो वर्तते, इदानीं सुखी, इदानीं दुःखी, इदानीमुदासीन आस्ते, इत्यस्य जीवस्यावस्थाभेदं सर्वमपि चिद्रूपो यो जानाति स एवात्मा अवस्थात्रयसाक्षीति जानीहि। तस्यात्मनः

स्वस्य निर्विकारत्वं कथं ज्ञायत इति चेत्, स्वमुखसौन्दर्यं स्वेन ज्ञातुमशक्यमपि दर्पणप्रतिबिम्बितमुखेन यथा ज्ञातुं शक्यते, तथा आत्मनो निर्विकारत्वमप्यन्तःकरणप्रतिबिम्बेन ज्ञातुं शक्यते। दर्पणं दर्पणप्रतिबिम्बितमुखं च बिम्बभूतमुखं यथा न जानाति, तथा अन्तःकरणमन्तःकरणप्रतिबिम्बितजीवश्च बिम्बभूतमात्मानं न जानाति। तर्ह्ययमात्मा केन ज्ञायते ? न केनापि ज्ञायते, ज्ञायमानस्य सर्वस्य दृश्यत्वादात्मनो दृग्रूपत्वात्। स्वयंप्रकाश एवात्मा न त्वन्येन केनापि ज्ञायते। तत्कथमिति चेत्। दृश्यो घटो द्रष्टारं न हि जानाति। स द्रष्टा च स्वात्मानं स्वयमेव जानाति स्वयंप्रकाशत्वात्। यथा मृत इति प्रतीयमानो दशमः पुरुषः पश्चात्तं स्वात्मानं स्वयमेव जानाति, न तु नवस्वन्यतमेन ज्ञायते, तथैवात्मा अनुभवस्वरूप एव न त्वन्येनानुभाव्य इतीयमर्थं त्वमेव प्रमाणपुरःसरं जानीहि ॥

तर्हि प्रमाणं किमिति चेत्, शृणु। प्रत्यक्षमित्यनुमानमित्युपमानमिति शब्दः इति च चत्वारि प्रमाणानि। पुनश्चार्थापत्तिः संभव ऐतिह्यमनुपलब्धिरिति च चत्वारि प्रमाणानि सन्ति। पश्चादुक्तानां चतुर्णां पूर्वोक्तेषु चतुर्ष्वेवान्तर्भाव इति सिद्धान्तः। वेदान्तिनश्च केचित्षट्प्रमाणान्युदाहरन्ति। एतेषां लक्षणादिकमतिविस्तृतम्। अस्माकं यावदावश्यकं तावन्मात्रमुच्यते। अक्षिमिन्द्रियम्। इन्द्रियेण जन्यं प्रमाणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। धूमादिलिङ्गेन जायमानमनुमानम्। सादृश्येन जायमानमनुमानम्। आप्तवाक्यं शब्दः। आत्मन इन्द्रियागोचरत्वात्तत्र न प्रत्यक्षं प्रमाण प्रवर्तते। निरंशत्वात्तत्रात्मनि नानुमानं प्रवर्तते। अद्वितीयत्वान्नोपमानम्। तस्मादात्मनि शब्द एव प्रमाणम्। आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तश्च यथार्थवक्ता। अत ईश्वरवाक्यं श्रुतिरेव शब्दः। तस्माच्छ्रुतिरेवात्मनि प्रमाणम् ॥

पूर्वोक्तसाक्षिरूपं संन्यासिनं तेन द्रष्टाः पुरुषतदवस्थातद्व्यापारगुणदोषा यथा न स्पृशन्ति, एवमात्मानं दृश्यमाना अहंकारतदवस्थातद्व्यापारगुणदोषा न स्पृशन्ति। एवं यो भाग्यशाली पुरुषः साक्षीमात्रमात्मानमहंकारादिभिरस्पृष्टं चैतन्यमात्रं श्रुतिभिर्जानाति स एव जीवन्मुक्तः। तथैव श्रुतिरपि वदति। हे पुत्र, त्वमपि वेदान्तशास्त्रमात्मनि प्रमाणमिति विश्वस्य तदुक्तप्रकारेणावस्थात्रयसाक्षिणमात्मानं जानीहि॥

॥ इति नवमवर्णकम् ॥

दशमवर्णकम्

इदानीं दशमवर्णके आत्मनः पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्वमुच्यते। अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः पञ्च कोशाः। अन्नविकारशुक्रशोणितजन्यं षड्भावविकारसहितमन्नेनैव वर्धमानमिदं स्थूलशरीरमेवान्नमयकोशः। कर्मेन्द्रियैः सह प्राणः प्राणमयकोशः। ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयकोशः। तैरेव सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः। प्रियमोदप्रमोदवृत्तिभिः सहाज्ञानमानन्दमयकोशः। इष्टवस्तुसंदर्शनसंतोषः प्रियम्। तद्वस्तुलाभसंतोषो मोदः। तदनुभवसंतोषः प्रमोदः। एवं पञ्च कोशा। यथा खड्गं तत्कोशः, शिवलिङ्गं संपुटः आम्रफलं त्वक्, पुरुषः कञ्चुकः, इत्येतान्येते यथा आच्छादयन्ति, एव पञ्च कोशा अप्यात्मानमाच्छादयन्ति। अतः कोशा इति संज्ञा। ननु खड्गादीनां तत्कोशादीनां च सत्ता भिन्ना। पञ्चकोशानामात्मभिन्नसत्ताकत्वाभावात्कोशादिभ्यो वैषम्यात्कथमात्माच्छादकत्वमिति चेत्, उच्यते। आदित्यकिरणपरिणामविशेषत्वान्मेघस्य आदित्यसत्तैव सत्ता, तथापि स मेघ

आदित्यं यथा आच्छादयति; अग्निमुपजीव्य वर्तमानस्य धूमस्याप्यग्नेः सत्तैव सत्ता, तथापि स धूमो यथा अग्निमाच्छादयति; एवमात्मसत्तया सत्तावन्तोऽपि कोशा आत्मानमाच्छादयन्ति ॥

इतः परमात्मनः पञ्चकोशव्यतिरिक्तत्वमुच्यते। खड्गादिकं तत्कोशादिकं चैकत्वेन खड्गादिरूपेण व्यवह्रियमाणमपि तत्खड्गादिकं कोशाद्भिन्नम्। तद्वत्पञ्चकोशाभिन्नत्वेन व्यवह्रियमाणोऽप्यात्मा तेभ्यो व्यतिरिक्त एव। नन्वात्मनः कोशानां चैकत्वेन व्यवह्रियमाणत्वात्परस्परसंबन्धोऽस्तीति वक्तव्यम्, आत्मनो न केनापि संबन्धः, स निरञ्जन इति कथमुच्यत इति चेत्, शृणु। संबन्धोऽनेकप्रकारः। तर्कसिद्धान्ते समवायसंबन्धः संयोगसंबन्ध इति द्विप्रकारः। अवयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्त्योर्विशेषनित्यद्रव्ययोश्च समवायः संबन्धः। आत्मनः पञ्चकोशानां चावयवावयव्यादिष्वपरिगणनान्न समवायः। तर्हि भेरीदण्डयोरिव संयोगोऽस्त्विति चेत्, आत्मनो द्रव्यत्वानङ्गीकारात्सोऽपि न संभवति। तर्ह्यात्मनः कोशानां च को वा संबन्ध इति चेत्, रज्जुसर्पयोः शुक्तिकारजतयोः स्थाणुपुरुषयोराकाशवर्णयोरिव चाध्याससंबन्ध एव। अयमध्यास एकतराध्यासो वा अन्योन्याध्यासो वेति चेत्, अहंकारस्यात्मनश्च मिलित्वैकप्रत्ययविषयत्वादन्योन्याध्यास एव।

आत्मनोऽन्नमयकोशस्य चान्योन्याध्यासः कथमिति चेत्, उच्यते। 'अहं मनुष्यः' 'अहं देवः' इति 'अहं स्त्री' 'अहं पुरुषः' इति 'अहं जातः' 'अहं वर्ते' 'अहं वृद्धिं गतः' 'अहं विपरिणतः' 'अहं जीर्णः' 'अहमितः परं मरिष्यामि' इति 'अहं बालः' 'अहं कुमारः' 'अहं युवा' 'अहं वृद्धः' इति 'अहं ब्राह्मणः' 'अहं क्षत्रियः' 'अहं वैश्यः' 'अहं शूद्रः' इति 'अहं ब्रह्मचारी' 'अहं गृहस्थः' 'अहं

वानप्रस्थ:' 'अहं संन्यासी' इति 'अहमान्ध्र:' अहं द्राविड:' 'अहं कर्णाटक:' इति 'अहं वत्सगोत्र:' 'अहं कौशिकगोत्र:' इति 'अहं राम:' 'अहं कृष्ण:' 'अहं शंकर:' अहं महादेव:' इति 'अहं दीक्षित:' 'अहं शास्त्री' इति 'अहं योद्धा' 'अहं भांजी' इति चान्नमयकोशविकारधर्मानात्मन्यध्यस्यति। आत्मनिष्ठसच्चिदानन्दानन्नमयकोशे शरीरे 'मम शरीरमस्ति भाति प्रियम्' इत्यध्यस्यति। एवमन्नमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास: ॥

अथ प्राणमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास: कथमिति चेत्। 'अहं क्षुधावान्' 'अहं पिपासावान्' 'अहं बलवान्' अहं वीर्यवान्' 'अहं क्रियावान्' अहं वक्ता' 'अहं गन्ता' 'अहं दाता' 'अहं विसर्जयिता' 'अहमानन्दयिता' 'अहं मूक:' 'अहं पङ्गु:' 'अहं विहस्त:' 'अहं षण्ड:' इत्येवं प्राणमयकोशविकारानात्मन्यध्यस्यति। आत्मन: सच्चिदानन्दान् 'मम प्राणोऽस्ति भाति प्रिय:' इति प्राणमयकोशे चाध्यस्यति। एवं प्राणमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास: ॥

अथ मनोमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास उच्यते। 'अहं संकल्पवान्' 'अहं विकल्पवान्' 'अहं शोकवान्' 'अहं मोहवान्' 'अहं कामी' 'अहं लोभी' 'अहं श्रोता' 'अहं स्प्रष्टा' 'अहं द्रष्टा' 'अहं रसयिता' 'अहं घ्राता' 'अहं बधिर:' 'अहमन्ध:' इत्येव मनोमयकोशविकारानात्मन्यध्यस्यति। आत्मधर्मान्सच्चिदानन्दांश्च 'मम मन: सम्यगस्ति भाति प्रियम्' इति मनोमयकोशेऽध्यस्यति। एवं मनोमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास: ॥

अथ विज्ञानमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास उच्यते। 'अहं कर्ता' 'अहं बुद्धिमान्' 'अहमूहापोहचतुर:' 'अहमेकसन्तग्राही' 'अहं लोकान्तरगामी' 'अहं रागी' 'अहं द्वेषी' 'अहं श्रोत्रिय:' 'अहं पण्डित:' 'अहं विरक्त:' 'अहं भक्तिमान्' 'अहमुपासक:'

'अहं ज्ञानी' इत्येवं विज्ञानमयकोशविकारानात्मन्यध्यस्यति। आत्मलक्षणसच्चिदानन्दान् 'मम बुद्धिरस्ति भाति प्रिया' इति विज्ञानमयकोशे चाध्यस्यति। एवं विज्ञानमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यासः।

अथानन्दमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यास उच्यते। 'अहं भोक्ता' 'अहं सुखी' 'अहं संतुष्टः' 'अहं सात्त्विकः' 'अहं राजसः' 'अहं तामसः' 'अहं जडः' 'अहं मूढः' 'अहं शून्यः' 'अहं दुष्टः' 'अहं मोहितः' 'अहमविवेकी' 'अहं भ्रान्तः' इत्येवमानन्दमयकोशविकारानात्मन्यध्यस्यति। आत्मनः सच्चिदानन्दांश्च 'ममाज्ञानमस्ति भाति सुखम्' इत्यानन्दमयकोशेऽध्यस्यति। एवमानन्दमयकोशस्यात्मनश्चान्योन्याध्यासः॥

एवं पञ्चकोशानामात्मनश्चान्योन्याध्यासः सम्बन्धः। अयमयसाध्यः केनागच्छतीति चेत्, अयमात्मा, एते पञ्च कोशाः, इति सम्यग्विभज्य ज्ञानाभावादविवेकेनागच्छति। तर्हि कोशानामात्मनश्च विवेकः कथमिति चेत्, उच्यते। लोके पशुपुत्रमित्रकलत्रगृहधनधान्यादिवत् 'इदं मम शरीरम्' 'अयं मम प्राणः' 'इदं मम मनः' 'इयं मम बुद्धिः' इदं ममाज्ञानम्' इति 'इदं मम' इति बुद्धिविषयत्वाच्छरीरादिरूपाः पञ्च कोषा आत्मा न भवन्ति, किं तु पश्वादिवदनात्मैवेति पञ्च कोशाश्चात्मा च पृथक्पृथगिति युक्तिः। शरीररहित आत्मेति प्रतिपादिकाः 'अशरीरम्–' इत्यादिश्रुतयश्च सन्ति। पश्वादीनां क्षयवृद्ध्यादिविकारास्तत्स्वामिनं द्रष्टारं यथा न स्पृशन्तीत्यनुभवः, एवं शरीरादिपञ्चकोशविकारा द्रष्टारमात्मानं मां कदापि न स्पृशन्तीत्यनुभवः॥

ननु हे स्वामिन्, भवद्भिरुक्तपश्वादिदृष्टान्तस्य बाह्यत्वात्स ज्ञातुं योग्यः; दार्ष्टान्तिकस्यान्तरत्वात्स मम बुद्धिं नारोहति; किं

च पञ्च कोशाः पटवादिवत्पृथङ्नावभासन्ते, किं तु तप्तायः-पिण्डवदात्मन्येकतयाऽवभासन्ते; एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्बहु-वैषम्यमस्ति; कथं तेषामात्मनः स्वप्रकाशात्पृथक्त्वेन ज्ञानमिति चेत्, शृणु। वाह्यदृष्टिर्नेत्रम्। सूक्ष्मदृष्टिर्बुद्धिः। वाह्यदृष्ट्या ज्ञातुमशक्या अपि पदार्था आन्तरदृष्ट्या ज्ञातुं शक्यन्ते। वाह्य-वीणातन्त्र्यास्तत्स्वराणां तप्तजलादग्नेः पुष्पात्सुगन्धस्य च पृथ-क्त्वेन स्थूलदृष्ट्या ज्ञातुमशक्यत्वेऽपि सूक्ष्मश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैर्बुद्धि-मता पुरुषेण पृथक्त्वेन 'इयं वीणातन्त्री, इमे स्वराः' 'इदं जलम्, अयमग्निः' 'इदं पुष्पम्, अयं सुगन्धः' इति वीणादिभ्यः पृथक्त्वेन स्वरादीनां ज्ञानं सुकरम्। एवमेव क्षीरजलयोर्विभजनमन्येषां दुष्करमपि हंसानां सुकरम्। एतदुभयं यथा तथा आत्मनः सका-शात्पञ्चकोशानां पृथक्करणं स्थूलबुद्धीनां दुष्करमपि सूक्ष्मबुद्धीनां सुकरम् ॥

हे पुत्र, सिद्धान्तं वचः शृणु। एतावत्पर्यन्तं कालवासनया युक्तानां यः प्रपञ्चव्यवहारस्तमङ्गीकृत्य पञ्च कोशा इति तद्विवेक इति चैवमाद्युक्तम्। परमार्थे विचार्यमाणे आत्मनि न पञ्च कोशाः सन्ति। कथमिति चेत्। यथा रज्जौ सर्पः, शुक्तिकायां रजतम्, स्थाणौ पुरुषः, आकाशे नीलिमा, इत्येतेषां भ्रान्त्या प्रतीतिमात्रमेव न स्वरूपेणावस्थानम्; कालत्रयेऽप्यारोपितानां तेषां सर्पादीनां न वास्तवता; तथा आत्मनि पञ्च कोशा अप्यारोपिता एव न वास्तवाः। लोके यदारोपितं तदसदेव, यथा द्विचन्द्रादिकम्। तथा पञ्चकोशा अप्यात्मन्यारोपितत्वान्मिथ्याभूता एव ॥

नन्वारोपितसर्पादयोऽधिष्ठानज्ञाने सति तत्क्षणमेव न प्रतीयन्ते, पञ्च कोशास्त्वात्मज्ञाने सत्यपि प्रतीयन्त एव न नश्यन्ति, तेषां कथमारोपितत्वमिति चेत्, शृणु। लोके प्रातिभा-

सिकसद्व्यावहारिकसत्पारमार्थिकसदिति च त्रिविधं सत्। ईश्वरसृष्टिर्जीवसृष्टिरिति च द्विविधा सृष्टिः। एवं सत्यध्यासरूपं शुक्तिकारजतादिकं सर्वं जीवसृष्टिः। इदं प्रातिभासिकं सत्। अस्या जीवसृष्टेरधिष्ठानभूतमाकाशादिकं सर्वं व्यावहारिकं सत्। तत्सर्वमीश्वरसृष्टिः। अस्या ईश्वरसृष्टेरप्यधिष्ठानभूतं यद्ब्रह्म तत्पारमार्थिकं सत्। तदेव नित्यम्। व्यावहारिकं सद्व्यवहारक्षयपर्यन्तं तिष्ठति। प्रातिभासिकं सत्प्रतिभासक्षयपर्यन्तं तिष्ठति। प्रातिभासिकं व्यावहारिकं चाध्यस्तत्वेन समाने अपि सत्तया न समाने। किं च व्यावहारिकमपि प्रातिभासिकवदधिष्ठानज्ञानेन सद्यो नश्येद्यद्यात्मज्ञानिनो जीवन्मुक्ता अपि न स्युः, ज्ञानोपदेशगुरुशिष्यपरम्परा चापि न स्यात्, ज्ञानिनां व्यवहाराभावादज्ञानिनां चोपदेष्टुमशक्यत्वात्। तस्माद्यथा मृद्यध्यस्तः पृथुबुध्नोदराकारो घटो यावत्कुलालव्यापारक्षयं तिष्ठति, एवमात्मन्यध्यस्ताः पञ्च कोशा मिथ्येति ज्ञाता अपि यावत्प्रारब्धक्षयं दग्धपटवत्प्रतीयन्त इति जानीहि ॥

किं बहुना? सिद्धान्तस्त्वेवम्। मृद्यारोपिते घटनामरूपे बाधिते सति मृन्मात्रं यथा सत्यतया अवशिष्यते, एवमात्मन्यारोपितेषु पञ्चकोशेष्वात्मज्ञानेन बाधितेषु सत्सु सच्चिदानन्दरूप आत्मैक एव सत्यतया अवशिष्यत इत्येवं यो जानाति स एवात्मज्ञानी स एव ब्रह्मज्ञानी, तस्यैव विदेहमुक्तिर्भविष्यतीति सर्वा अप्युपनिषद उद्घोषयन्ति ॥

॥ इति दशमवर्णकम् ॥

एकादशवर्णकम्

अथेदानीमस्मिन्नेकादशवर्णके आत्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वं चतुर्थं लक्षणमुच्यते। आत्मनः सद्रूपं किं चिद्रूपं किमानन्दरूपं

किमिति चेत्, शृणु। कालत्रयेऽपि केनाप्यबाध्यमानत्वे सत्येकरूपत्वं सतो लक्षणम्। इदं लक्षणमात्मन्यस्ति। अस्य प्रमाणं किमिति चेत्, अस्य प्रपञ्चस्य सृष्टेः पूर्वम् 'सदेवासीत्' 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिवेदान्तशास्त्रं प्रमाणम्। किं च सर्वजनानामनुभवश्च प्रमाणम्। आढ्यो दरिद्रः कर्मी भक्तो मुमुक्षुरिति सर्वे जनाः। एतेषामनुभवः कीदृश इति चेत्, 'अहं पूर्वजन्मनि सत्पात्रेषु यत्किंचिद्दत्तवान्, तेनास्मिञ्जन्मन्यैश्वर्यमनुभवामि; अस्मिञ्जन्मन्यपि यत्किंचिद्दत्तं चेद्भविष्यज्जन्मन्यैश्वर्यमनुभविष्यामि' इत्याढ्यस्यानुभवः 'अहं पूर्वजन्मनि सत्पात्रेषु किमपि न दत्तवान्, तेनास्मिञ्जन्मनि दारिद्र्यमनुभवामि; अस्मिञ्जन्मनि मया न दत्तं चेद्भाविजन्मन्यपि दारिद्र्यमनुभविष्यामि' इति दरिद्रस्यानुभवः। 'पूर्वजन्मनि सत्कर्माणि मयाऽनुष्ठितानि; तद्वासनया अस्मिन्नपि जन्मनि सत्कर्माणि मयाऽनुष्ठीयन्ते; तेन भाविजन्मन्यपि स्वर्गे देवत्वमायास्यति' इति कर्मिणोऽनुभवः। 'पूर्वजन्मन्यहं भगवन्तमुपासितवान्, तद्वासनया अस्मिन्नपि जन्मनि भगवद्भक्तिरासीत्; अनेन भाविजन्मनि सालोक्यादिमुक्ति वैकुण्ठादिलोकेऽनुभविष्यामि' इति भक्तस्यानुभवः। 'बहुजन्मस्वीश्वरार्पणरूपेण मया कर्माणि कृतानि तेनास्मिञ्जन्मनि साधनचतुष्टयं सद्गुरुलाभः श्रवणादिकमात्मज्ञानं च लब्धम्; इतः परं मम जन्म नास्ति, अहं कृतकृत्यः' इति मुमुक्षोरनुभवः। एवं सर्वेषां जनानां कालत्रयेऽपि 'अहमस्मि' इत्यनुभवदर्शनादात्म्यन्यध्यस्तस्य देहस्यैव नाशः, आत्मनस्तु न कदाचिदपि नाश इति जानीहि। तस्मादात्मनः कालत्रयेऽप्यबाध्यमानत्वे सत्येकरूपत्वस्य विद्यमानत्वादात्मनः सद्रूपत्वमस्ति॥

हे स्वामिन्, अनुभवेनात्मनः सद्रूपत्वमेवमुक्तं न युक्त्येति चेत्, युक्त्यापि विचार्यमाणे आत्मनः सद्रूपत्वं सेत्स्यति। तत्कथमिति चेत्, शृणु। वयमस्मिल्लोके विद्यमाना वा न वेति विचार्य-

माणे विद्यमाना एवेति जानीहि। तथा सर्वेषाम् 'अहमिहास्मि' इत्यनुभवात्। एवं विद्यमाना वयं शरीरिणो वा अशरीरिणो वा ? शरीरिण एव नाशरीरिणः, शरीरस्य दर्शनात् ॥

इदं शरीरं केन आगतमिति विचार्यमाणे कर्मणेति निश्चयः। तत्कर्म अस्मदीयं वा अन्यदीयं वेति चेत्, अस्मदीयमेवेति वक्तव्यम्; अन्यदीयकर्मणा अन्यस्य स्वर्गफलाननुभवात्, अन्यथा अन्यकर्मणा अन्यः स्वर्गादिकं प्राप्नुयात् ब्राह्मणेन यागे कृते शूद्रः स्वर्गमाप्नुयात्। अत अमदीयकर्मणा प्राप्तं अस्माकं शरीरमिति वक्तव्यम् ॥

तदेतच्छरीरारम्भकं कर्मास्मिञ्जन्मनि कृतं वा पूर्वजन्मनि कृतं वेति विचार्यमाणे पूर्वजन्मनि कृतमित्येव वक्तव्यम्, एतज्जन्मकृतस्यैतच्छरीरं प्रति पूर्वभावित्वाभावेनाकारणत्वात्। पूर्वजन्मनि कर्मकरणकाले वयं विद्यमाना वा न वेति विचार्यमाणे विद्यमाना एव, अविद्यमानैः कर्मणः कर्तुमशक्यत्वात्। तदानीमस्माकं शरीरमासीद्वा न वेति चेत्, आसीदेव, शरीराभावे कर्मणः कर्तुमशक्यत्वात्। तच्छरीरमपि तत्पूर्वजन्मकृतकर्मणा वा तदनन्तरकर्मणा वा ? तत्पूर्वजन्मकृतकर्मणेवेति वक्तव्यम्। एवं पुनः पुनर्विचार्यमाणे कर्मणश्च शरीरस्य च प्रवाहरूपेणानादित्वं सिद्धम्। तदुभयवत आत्मन आकाशस्येव साक्षादेव मुख्यमेव स्वरूपेणैवानादित्वं सिद्धम्। एवं भूतकाले वर्तमानकाले च सत्त्वं सिद्धमिति युक्त्या साधितम् ॥

इतः परं भविष्यत्कालेऽप्यात्मनः सत्त्वं युक्त्या साध्यते। अस्माभिर्जन्मान्तरेषु श्रवणमननादिकमकृत्वा कर्मण एव मुख्यबुद्धया अनुष्ठितत्वादेतज्जन्म शरीरं चागतम्। अस्मिञ्जन्मनि क्रियमाणं कर्मातोऽतः परं जन्म ददाति। तस्मिन्नपि क्रियमाणं

कर्म ततः परं जन्म ददाति । एव पुनः पुनर्विचार्यमाणे कर्मप्रवाहस्य शरीरप्रवाहस्य च भविष्यत्कालेऽन्तो नास्ति तत्त्वज्ञानेन कर्मणे क्षीणे सति शरीरमपि नायाति । तदुभयसंबन्ध्यात्मा तु यावद्ब्रह्मज्ञानं शरीरस्य सृष्टिप्रलयावनुभवञ्शरीरस्य स्थितिकाले सुखदुःखे अनुभवन्सन्, अधः स्थावरपर्यन्तमूर्ध्वं ब्रह्मलोकपर्यन्तं परिभ्रमंस्तिष्ठत्येव न नश्यति । तत्त्वज्ञाने सत्यविद्याकामकर्मादीनामपि नाशाद्दुःखहेतोरभावात्स्वरूपानन्दभवन्विदेहमुक्तौ सुखमेव तिष्ठति । एवं भविष्यत्कालेऽप्यात्मनो न कदाचिदप्यसत्त्वम्, किं तु सर्वदा सत्त्वमेव युक्त्या सिध्यति ॥

एवं कालत्रयेऽप्यात्मनो विद्यमानत्वादबाधितत्वेन परमार्थत एकरूपत्वात्सत्त्वं सिद्धम् । एवं श्रुतियुक्त्यनुभवैरनेकप्रलयेष्वनेकप्रपञ्चेषु विनष्टेष्वपि स्वयमविनष्टः सन्वर्तते । अतः सृष्टिस्थितिसंहाराः प्रपञ्चस्यैव न त्वात्मनः । एवं कालत्रयेऽप्येकरूपत्वादबाधितत्वाच्चात्मा सद्रूप इति जानीहि ॥

आत्मनश्चिद्रूपत्वे प्रमाणं किमिति चेत्, शृणु । सूर्यादिसाधनान्तरानपेक्षं स्वयं प्रकाशमानं सत्स्वस्मिन्नारोपितसकलजडपदार्थविभासकं चिद्रूपम् । एतच्चिद्रूपत्वलक्षणमात्मन्यस्ति । कथमिति चेत् । आत्मा गाढान्धकारेऽपीतरानपेक्षमेव स्वयं प्रकाशते । स्वस्मिन्नारोपितशरीरबाल्ययौवनवार्धक्यावस्था अवस्थाव्यापारांश्चेतरानपेक्षं सम्यग्जानाति । अत आत्मनश्चिद्रूपत्वं सिद्धम् ॥

नन्वस्माकं सर्वज्ञत्वाभावात्सर्वपदार्थविभासकत्वं कथमिति चेत् । प्रपञ्च आन्तरो बाह्य इति द्विविधः । एतत्प्रपञ्चद्वयमप्यस्माभिः प्रकाश्यते । न वयं तेन कदाचिदपि प्रकाश्याः । तत्कथमिति चेत् उच्यते । बाह्यप्रपञ्चो नाम पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशा इति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इति पञ्चीकृतभूतानीति ब्रह्माण्ड इति

चतुर्दश भुवनानीति चतुर्विधस्थूलशरीराणीति च त्रिविधनामरूप-गुणधर्मविकारशक्त्याश्रयः। एतं बाह्यप्रपञ्चं ह्यावान्तरभेदेन बहुधा विभज्य प्रमाणैर्वयमेव जानीमः, न त्वस्मानयं जानातीत्यन्तर्मुखतया विचार्यमाणेऽस्माकं बाह्यप्रपञ्चावभासकत्वं सिद्धम् ॥

अथ आन्तरप्रपञ्चावभासकत्वमस्माकं कथमिति चेत्, शृणु। आन्तरप्रपञ्चोऽन्नमयादिजीवन्मुक्तिपर्यन्तैः प्रकारैर्बहुधा भिन्नः। स आन्तरप्रपञ्चः 'अयमन्नमयः' 'अयं प्राणमयः' 'अयं मनोमयः' 'अयं विज्ञानमयः' 'अयमानन्दमयः' 'एवमिमे पञ्च कोशाः' इति, 'इदं स्थूलशरीरम्' 'इदं सूक्ष्मशरीरम्' 'इदं कारणशरीरम्' 'एतच्छरीर-त्रयम्' इति च, 'इमे षड् भावविकाराः' 'इमे षट् कोशाः' 'इमे षडूर्मयः' 'इदमान्ध्यम्' 'इदं मान्द्यम्' 'इदं पटुत्वम्' 'अयं रागः' 'अयं द्वेषः' 'इदं त्रिविधकरणम्' 'इदमन्तःकरणम्' 'अयं जाग्रत' 'अयं स्वप्नः' 'इयं सुषुप्तिः' एवमेवावस्थात्रयमिति च, 'इदं ज्ञाने-न्द्रियपञ्चकम्' 'इदं कर्मेन्द्रियपञ्चकम्' 'इमे पञ्च प्राणाः' 'इमे उपप्राणाः' 'इदं मनः' 'इयं बुद्धिः' 'इदं चित्तम्' 'अयमहंकारः' 'अयं संकल्पः' 'अयं निश्चयः' 'इदमवधानम्' 'अयमभिमानः' 'अयं विश्वः' 'अयं तैजसः' 'अयं प्राज्ञः' इत्येवमवस्थावन्त इति, 'अयं प्रातिभासिकः' अयं व्यावहारिकः' 'अयं पारमार्थिकः' 'इदं सात्त्विकम्' 'इदं राजसम्' 'इदं तामसम्' 'इदं सुखम्' 'इदं दुःखम्' 'इदं ज्ञानम्' 'इदमज्ञानम्' 'इदं प्रियम्' 'इदमप्रियम्' 'इयमुपेक्षा' 'इदं साधनचतुष्टयम्' 'इदं मैत्र्यादिचतुष्टयम्' 'अयमष्टाङ्गयोगः' 'इदं श्रवणम्' 'इदं मननम्' 'इदं निदिध्यासनम्' 'अयं समाधिः' इति च, 'इदं प्रमाणम्' 'इदं प्रमेयम्' 'अयं प्रमाता' 'इदं तापत्रयम्' 'अयमाधिः' 'अयं व्याधिः' 'इदमारोग्यम्' 'इयं भक्तिः' 'इदं वैराग्यम्' 'इदं मन्दम्' 'इदं तीव्रम्' 'इदं तीव्रतरम्' 'इदं सगुणो-पासनम्' 'अयं मनोनाशः' 'अयं वासनाक्षयः' 'इयं विदेहमुक्तिः'

'इयं जीवन्मुक्तिः' इत्येवमादिविविधनामरूपगुणविकारशक्त्याश्रयभूत आन्तरः प्रपञ्चः सर्वोऽप्येवमेव पृथक्पृथग्विभज्यास्माभिर्ज्ञायते, स आन्तरः प्रपञ्चस्त्वस्मान्न जानातीति सम्यग्विचारे क्रियमाणे यत आन्तरः प्रपञ्चोऽस्माभिर्ज्ञायते, अत आत्मनश्चिल्लक्षणसद्भावादात्मा चिद्रूपः ॥

हे स्वामिन्, आत्मा चिद्रूपः केनापि न ज्ञायत इति भवद्भिरुक्तं खलु ? मनसा सकलं ज्ञायते, आत्मापि तेनैव मनसा ज्ञायतामिति चेत्, शृणु। मन उत्पत्तिविनाशवत्संकल्परूपं परिच्छिन्नं घटवद्भूतकार्यं कामादिविकारकलुषीकृतं स्मृतिविस्मृतिमत्। एवंभूतं मनो जडमिति ज्ञातव्यम्। तस्य मनसः प्रकाश एव नास्ति। तदपि मनश्चितैव ज्ञायते। तादृशं जडं मनः स्वप्रकाशचिदात्मानं कथं जानीयात् ? न कथमपि जानीयादित्यवेहि ॥

तर्हि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति शास्त्रस्य किं तात्पर्यमिति चेत्। शृणु अग्निना तप्तस्य स्वर्णस्य प्रकाशो जायत इति व्यवहारेऽग्निना स्वर्णेऽविद्यमानः प्रकाशो नूतनतया न संपाद्यते। किं त्वग्निना तप्ते सुवर्णे मले निरस्ते सति पूर्वसिद्धः स्वर्णप्रकाशः स्वयं प्रकाशते, न तु नूतनः प्रकाशः संपाद्यते। नूतनतया संपाद्यत इति चेत्। आमपाकनिक्षिप्ते घटेऽप्यग्निः प्रकाशं संपादयेत्। तथा न दृश्यते। अयमर्थो यथा, तथा मनश्चात्माकारेण परिणममानमात्मप्रतिबिम्बसहितं च सदात्मा वारकं मिथ्याभूतमनाद्यज्ञान बाधते। निरस्तेऽज्ञाने स्वात्मा स्वयमेव भासत इति 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति शास्त्रस्य तात्पर्यम्। तस्मान्मनश्चात्मनैव ज्ञायते, न त्वात्मा मनसा ज्ञायते। एतद्वा कथमिति चेत्, शृणु। दीपेनान्धकारविनाशस्थले स्थालीं च तैलं च वर्तिश्चेत्येतत्त्रयमप्यन्धकारं विनाशयितुं न शक्नोति। सर्वत्र परिपूर्णः कारणाग्नि-

रप्येतत्साधनं विहाय केवलं स्वयमेव तमन्धकारं नाशयितुं न शक्नोति। तथापि तद्वर्त्तिसंबन्ध्यग्निर्दीपनामधेयः सन्नन्धकारं बाधते। एकमेव प्रकृते स्थालीरूपशरीरे कर्मरूपतैलेनोत्थापित-वर्त्तिरूपमनस्यग्निरूप आत्मा आरुह्य तदभेदेनावस्थितो जीवना-मापि संस्तत्तद्विषयावारकाज्ञानरूपान्धकारं निरस्य दीपो घटादि-पदार्थानिव बाह्याभ्यन्तरपदार्थान्प्रकाशयति। तस्माद्धे पुत्र, दीप-प्रकाशः स्वभासा यथा स्वयमेव प्रकाशः सन्स्वसबन्धिपदार्थानपि प्रकाशयति, एवमेवान्तःकरणमारुह्य स्वचैतन्येनैव प्रकाशमान आत्मापि स्वसंबन्धिपदार्थान्बाह्यानाभ्यन्तरांश्च प्रकाशयति। अत आत्मनश्चिद्रूपत्व सिद्धम् ॥

अथानन्दरूपत्वमुच्यते। नित्यं निरुपाधिकं निरतिशयं यत्सुखं स आनन्दः। स एवात्मनः स्वरूपम्। अत एव स्रक्चन्दनवनितादिविषयेभ्यो जातमनित्यं सोपाधिकमतिशययुक्तं यत्सुख तदात्म-स्वरूपानन्दो न भवति। तस्मात्पूर्वोक्त आनन्द एवात्मस्वरूपम्। तत्कथमिति चेत्। सौपुप्तानन्दे तत्सुखलक्षणस्य विद्यमानत्वात्त-मानन्दमहमेवेति विजानीहि। ननु सुपुप्तौ दुःखनिवृत्तिरेव दृश्यते, भवदुक्तानन्दो नानुभूयते, तस्मात्तत्र कथं सुपुप्तावानन्दलक्षणविचार इति चेत् शृणु। लोके सुप्तोत्थितः पुरुषः 'अहमेतावन्तं कालं सुखमस्वाप्सम्' इति सुपुप्तावात्मनः सुखसद्भावमेव वदति। अतः सुपुप्तौ सर्वेपामपि स्वानुभवेनानन्दोऽस्ति। तर्हि भवदुक्तं नित्यत्वं निरुपाधिकत्वं निरतिशयत्वमिति लक्षणत्रयं सौपुप्तानन्देऽस्ति चेद्वक्तव्यमिति चेत्, शृणु। प्रथमतो निरुपाधिकत्वमुच्यते। स्रक्च-न्दनवनितादिविषया उपाधयः। तैर्जायमानं सुखमौपाधिकम्। तेपूपाधिपु सुपुप्तौ न कोऽप्युपाधिर्दृश्यते। सुख तु सर्वैरप्यनुभूयते। अतः सुपुप्तौ निरुपाधिक आनन्दोऽस्तीत्यवगम्यताम्। तस्य निरति-

शयत्वं कथमिति चेत् शृणु। मनुष्यानन्दमारभ्य हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्ता एकादशानन्दाः। ते शतगुणोत्तरोत्तराः। अतस्तेषामानन्दानां सातिशयत्वम्। ब्रह्मानन्दस्य सर्वोत्तरस्य निरवधिकत्स्वाधिकानन्दाभावान्निरतिशयत्वम्। स ब्रह्मानन्द एव सौषुप्तानन्दः। अतस्तस्य निरतिशयत्वं सिद्धम्। सर्वेऽपि पुरुषाः 'सुषुप्तिसुखमेव सुखम्, विषयजन्यं सुखं न सुखम्' इति स्त्रीपुत्रादिसुखं विहाय मृदुशय्यादिसाधनानि प्रयत्नेन संपाद्य सौषुप्तसुखमेवानुभवन्ति। अनुभवसमये मोहिनीं सौन्दर्यवतीं स्त्रियमपि प्रबोधयन्तीं प्रहरन्ति। तदानीं न किमपीच्छन्ति। पुनरुत्थिता अपि तमेवानन्दं स्मृत्वा अनुभवितुं पुनः शयनं कुर्वन्ति। अतस्तस्य सौषुप्तानन्दस्य निरतिशयत्वमस्तीत्यवेहि। नित्यत्वं कथमिति चेत्। जाग्रत्स्वप्नयोः सुखस्यानेकरूपेणानेकैर्विषयैः पृथक्पृथगनुभूयमानत्वात्तस्य परिच्छिन्नत्वेनानित्यत्वमस्ति। सुषुप्तिसुखं त्वेकरूपं पूर्णम्। जन्यं च न भवति। अतो नित्यम्। नित्यं चेज्जाग्रत्स्वप्नयोरप्यनुभवितव्यम्, तथा नानुभूयत इति चेत्। जाग्रत्स्वप्नयोरपि तत्सुखमस्त्येव। किं तु वृत्तिविशेषैरावृत्तं सन्नानुभूयते॥

कारणभूतमानन्दं कार्यरूपा अन्तःकरणवृत्तयः कथमावृण्वन्तीति चेत्, आदित्यं मेघवदग्निं धूमवद्रज्जुं सर्पवद्ब्रह्मानन्दमप्यन्तःकरणवृत्तयः कार्यभूता अप्यावृण्वन्ति। यथा आग्न्यादित्यौ भस्महिमाभ्यां बालमूढदृष्ट्या आवृतत्वेन प्रतीयमानावपि विवेकिदृष्ट्या तौ नावृतौ, तथा ब्रह्मानन्दरूपः सौषुप्तानन्दश्च जाग्रत्स्वप्नयोरावृत्त इव बहिर्मुखाणामेव भाति न विवेकिनामन्तर्मुखाणाम्। तेषां तु ब्रह्मानन्दः स्वरूपभूतत्वात्कालत्रयेऽप्येकरूपः सन्प्रतीयते। अतो ब्रह्मानन्दाभिन्नसौषुप्तानन्दस्यापि नित्यत्वं सिद्धम्॥

एवं निरुपाधिकनिरतिशयनित्यब्रह्मानन्दत्रिविधलक्षणानामस्मास्वप्यनुभूयमानत्वादस्माकमानन्दरूपत्वमस्ति। एवं सच्चिदानन्द-

लक्षणस्यास्मासु श्रुतियुक्त्यनुभवसिद्धत्वादस्माकमात्मनः सच्चिदानन्दब्रह्मत्वं सिद्धमित्यवेहि। 'वयं सच्चिदानन्दस्वरूपाः' इत्यनुभवः कथमायातीति चेत्। षड्विधलिङ्गैर्वेदान्तशास्त्रतात्पर्यावधारणरूपं श्रवणं गुरुमुखात्कृत्वा श्रवणानुसारेण मननं मननानुसारेण निदिध्यासनं कृत्वा पश्चाद्बहुकालं स्थितवतः 'सच्चिदानन्दब्रह्मैवाहम्' इति ज्ञानं जायते। इदं परोक्षज्ञानम्॥

इदं परोक्षज्ञानमपि कृत्वा 'अहं कर्ता' 'ममेदं कर्म' 'अहमेतज्जाति' 'अहमेतद्वर्णः' 'अहमेतदाश्रमः' इत्यभिमानं सर्वमपि विहाय 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इत्यनुभवं च तत्र प्रयत्नं च तत्र कर्तृत्वं च विहाय तूष्णीं सुषुप्ताविव जले लवणवद्ब्रह्मणि लीनान्तःकरणस्य निर्विशेषं स्थितवतोऽस्य महात्मनो निर्विशेषं यज्ज्ञानं स्वयमेव स्फुरति स एवापरोक्षानुभवः॥

अयमेतादृशानुभवो यदा जायते तदायं पुरुषः स्वानुभवरूपस्तथा आनन्दरूपः। तस्यानन्दवैभवं स एव जानाति नान्यः। तथा आनन्दप्रतिपादको वेदान्तोऽपि न जानाति। न वक्तुमपि शक्नोति। तदानन्दानुभववान्स पुरुषोऽपि तमानन्दं केवलमनुभवत्येव। सोषुप्तानन्दमिव नान्यस्मै वक्तुं शक्नोति। मनसापि स्मर्तुं न शक्नोति। हे पुत्र, तस्मात्तत्र स्वानुभूतिं त्वमेवानुभवितुं शक्तः। य ईश्वरः कृपया गुरुरूपेणागत्य त्वां बोधितवान्स गुरुरूप ईश्वरोऽपीदमित्थमिति वक्तुं न शक्नोति। हे पुत्र, एवं त्वं स्वानुभवं जानन्नप्यजानन्निवानन्दरूपेण तिष्ठ॥

॥ इति एकादशवर्णकम्॥

द्वादशवर्णकम्

अस्मिन्द्वादशवर्णके आत्मनोऽखण्डार्थं रहस्यमपि कृपया गुरुरुपदिशति॥

शिष्यः—हे स्वामिन्, भवद्भिरेकादशसु वर्णकेषूपदिष्टैरर्थैर्देहादि-पञ्चकोशेषु 'अहम्' 'मम' इत्यात्मात्मीयत्वबुद्धिर्गलिता । बुद्धि-प्रकाशकं सच्चिदानन्दरूपं यद्ब्रह्म तदेवाहम्' इत्यात्मज्ञानमागतम् । सर्वे संशया नष्टाः । तथाऽपि पुनरेकः संशयो वर्तते । स क इति चेत्, शृणु । अयमात्मा सद्रूप इति चिद्रूप इत्यानन्दरूप इति चोक्तं किल । एवं त्रिविधरूपप्रतिपादकानि त्रीण्यपि पदानि त्रिविधभेद-भिन्नार्थं प्रतिपादयन्ति तथा भिन्नार्थकानीव मम प्रतिभान्ति । तस्मादेतस्य सच्चिदानन्दपदत्रयस्य भिन्नार्थवत्प्रतीयमानस्या-खण्डार्थत्वं कथं सिध्येत् ? इति शिष्यवचः श्रुत्वा गुरुरुपदिशति—हे पुत्र, अखण्डार्थः क इति चेत् । देशपरिच्छेदः कालपरिच्छेदो वस्तुपरिच्छेद इति त्रिविधपरिच्छेदरहिततया अपरिच्छिन्नोऽर्थोऽखण्ड इति जानीहि । तर्ह्यखण्डस्यैतानि त्रीणि लक्षणानि किमर्थानीति चेत्, शृणु । आकाशस्यापि व्यापकत्वेन देशपरिच्छेदरहितत्वात्तत्रा-तिव्याप्तिवारणाय कालपरिच्छेद उपात्तः । आकाशस्योत्पत्तिविना-शवत्त्वेन कालपरिच्छेदोऽस्तीति न तत्रातिव्याप्तिः । देशकाल-परिच्छेदमात्रोपादाने कालेऽतिव्याप्तिः । कालस्य देशपरिच्छेदो नास्ति, कालपरिच्छेदोऽपि नास्ति स्वस्य स्वेनैव परिच्छेत्तुमशक्य-त्वात् । अत उक्तं वस्तुपरिच्छेदरहित इति । कालस्य स्वभिन्नवस्तु-सद्भावाद्वस्तुपरिच्छेदोऽस्ति । आत्मन एवैतत्त्रिविधपरिच्छेदराहित्य-मस्ति । अतस्त्रीणि लक्षणान्युक्तानीति विज्ञेयम् ॥

ननु भवद्भिरुक्तमखण्डार्थलक्षणमात्मनि प्रदर्शयितव्यम्, आत्मन एवाखण्डार्थत्वात् । तच्चात्मनि न दृश्यते । तत्कथमिति चेत्, उच्यते सर्वेषाम् 'अस्मिन्देशे तिष्ठामि, तस्मिन्देशे न तिष्ठामि' इत्यनु-भवेन देशपरिच्छेदराहित्यं नास्ति । 'अहमस्मिन्वर्षे जातः, इतः पर दशमे वर्षे मरिष्यामि' इत्यनुभवेनात्मनः कालपरिच्छेदराहित्यं नास्ति । 'नाहं ब्राह्मणः' 'नाहं क्षत्रियः' इत्याद्यनुभवादात्मनो

वस्तुपरिच्छेदराहित्यमपि नास्ति। भवद्भिस्त्रिविधपरिच्छेदशून्य आत्मेति कथमुक्तमिति चेत्, शृणु। मया पूर्वं तवैकादशवर्णक आत्मानात्मलक्षणकथनावसरे 'आत्मा परिपूर्णः' 'अनात्मा परिच्छिन्नः' 'दृश्यं सर्वमध्यस्तम्' इत्युपदिष्टं खलु? तथाऽपीदानीमात्मलक्षणं प्रति शङ्कां करोषि। तस्मात्त्वं शिष्यो वा प्रतिवादी वेति संदेहः। शिष्यश्चेत्कृपया पुनरप्यनुग्रहं कुर्मः। प्रतिवादी चेत्क्षमया तूष्णीं भविष्यामः, अथ वा कोपेन शप्स्यामः। भवतां कोपो वादिनि फलिष्यति वेति चेत्। शिष्ये उपदेशार्थं क्रियमाणोऽनुग्रहः फलिष्यति चेद्वादिनि क्रियमाणो निग्रहोऽपि फलिष्यति। लोके निग्रहानुग्रहसामर्थ्यवत ईश्वरस्य ब्रह्मज्ञानिनश्च भेदो नास्तीति जानीहि॥

तर्हि हे स्वामिन्, सद्गुरोः कृपापात्रभूतः शिष्य एवाहम्, ममैकः संदेहो जातः, तस्मादेवं पृष्टवान्, न तु कुतर्केणेति चेत् शृणु। इदं देशकालवस्तुपरिच्छेदत्रयं स्वभावतो देहस्यैव। न तु परिपूर्णप्रत्यगात्मनः परिच्छेदत्रयमस्ति। प्रत्यगात्मस्वरूपपरिपूर्णब्रह्मणो देशपरिच्छेदो नास्तीत्येतत्कथं ज्ञातव्यमिति चेत्, शृणु। 'घटः सन्' 'पटः सन्' 'कुड्यं सत्' 'कुसूलं सत्' इति 'पृथिवी सती' 'आपः सत्यः' 'तेजः सत्' 'वायुः सन्' 'आकाशः सन्' इति चैवं भूतभौतिकप्रपञ्चे सद्रूपेणानुभूयमानत्वादात्मनो विभुत्वम्। एवं सर्वव्यापकस्यात्मानो देशपरिच्छेदो नास्ति। आत्मनः पूर्वोक्तप्रकारकयुक्त्या अनादित्वेन नित्यत्वाद्भविष्यत्कालपरिच्छेदो नास्ति। एवं भूतकालभविष्यत्कालसंबद्धस्यात्मन एकत्वाद्वर्तमानकालपरिच्छेदो नास्ति। वस्तुपरिच्छेदराहित्यमात्मनः कथमिति चेत्, शृणु। आत्मनः सर्वात्मकत्वाद्वस्तुपरिच्छेदो नास्ति। वस्तूनि कानीति चेत्, सजातीयभेदभिन्नं विजातीयभेदभिन्नं स्वगतभेदभिन्नमिति वस्तूनि तानि वा कथमिति चेत्। वृक्षस्य वृक्षान्तरात्सजातीयभेदः वृक्षस्य शिलादेर्विजातीयभेदः। वृक्षस्य पत्रपुष्पफलादेः स्वगतभेदः अस्य त्रिविधस्यापि

भेदस्यात्मन्यभावादात्मा भेदशून्यः। अत एवात्मनो वस्तुपरिच्छेदो नास्तीति जानीहि ॥

नन्वात्मनः सजातीयविजातीयस्वगतभेदा न सन्तीति वक्तुं न शक्यते। कथमिति चेत्। एकमेव चैतन्यं ब्रह्मचैतन्यमितीश्वर-चैतन्यमिति कूटस्थचैतन्यमिति जीवचैतन्यमिति च वर्तते। अतः सजातीयभेदोऽस्ति। आत्मस्वरूपं ब्रह्मेत्यनात्मस्वरूपं प्रपञ्च इति द्वयोर्वर्तमानत्वाद्विजातीयभेदोऽस्ति। ब्रह्मणि सच्चिदानन्द इति त्रयस्य वर्तमानत्वात्स्वगतभेदोऽस्ति। एवं भेदत्रये स्थिते आत्मनो भेदत्रयं नास्तीति कथमिति चेत्, शृणु। आकाश एक एवोपाधिभेदेन महाकाश इति मेघाकाश इति घटाकाश इति घटजलप्रतिबिम्बिताकाश इति च, भेदेन यथा प्रतीयते, तथा मायोपाधिनैकमेव चैतन्यं ब्रह्मेतीश्वर इति च अविद्योपाधिना कूटस्थ इति जीव इति च केवलं प्रतीयते। एवं विचार्यमाणे सजातीयभेदो नास्ति। विजातीयभेदः कथं नास्तीति चेत्, शृणु। रज्जुं विना यथा सर्पो नास्ति, आकाशं विना यथा तलमालिन्यं नास्ति, एवमात्मानं विना अनात्मापि नास्ति। अधिष्ठानं विना आरोपितं सर्वं मिथ्यैव। मिथ्या नाम वन्ध्यापुत्रशशविषाणादिवत्कालत्रयेऽप्यविद्यमानम्। अनात्मनः पर-मार्थतोऽविद्यमानत्वादात्मनो विजातीयभेदो नास्ति। स्वगतभेदः कथं नास्तीति चेत्, शृणु। 'आत्मा' 'साक्षी' 'कूटस्थः' 'पारमार्थिकः' 'प्राज्ञः' 'ब्रह्म' 'सत्' 'चित्' 'आनन्दः' 'नित्यः' 'एकः' 'परिपूर्णः' इत्यादिविधिवाक्यनामानि च 'अस्थूलम्' 'अनणु' 'अद्वैतम्' 'अचिन्त्यम्' 'अविकारि' 'अविनाशि' 'अकर्ता' 'अकारयिता' इति निषेधवाक्यनामानि चैकस्मिन्निर्विशेषात्मस्वरूपप्रकाशन एव तात्पर्य-वन्ति न तु स्वरूपभेदे आत्मनो निर्विशेषत्वान्निरंशत्वाच्च। तस्मात्स्वगतभेदो नास्तीत्येवं जानीहि ॥

ननु सच्चिदानन्दपदानां भिन्नार्थत्वाद्धस्तकरपाणिवत्पर्यायत्वाभा-

वार्त्तैः पदैः प्रतिपाद्यमानस्यात्मनः 'वृक्षः पत्रपुष्पफलरूपेण वर्तते' इत्यत्र पत्रादिपदानां भिन्नार्थत्वात्तैः पदैः प्रतिपाद्यमानस्य वृक्षस्येव स्वगतभेदेन भवितव्यमिति चेत्। 'लोहितोष्णप्रकाशो दीपः' इत्यत्र यथा दीपस्य स्वगतभेदो नास्ति, एवम् 'सच्चिदानन्दरूप आत्मा' इत्यत्रापि स्वगतभेदो नास्ति। न च तर्हि 'पत्रपुष्पफलरूपो वृक्षः' इत्यत्रापि स्वगतभेदो न स्यादिति वाच्यम्। तत्र वृक्षस्य सर्वस्यापि पत्रादिरूपत्वं नोच्यते। एकस्मिन्प्रदेशे पत्ररूप एकस्मिन्प्रदेशे पुष्परूप एकस्मिन्प्रदेशे फलरूप इत्युच्यते। अतस्तत्र स्वगभेदोऽस्ति। 'सच्चिदानन्दरूप आत्मा' इत्यत्र सर्वांशेनाप्यात्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वस्य प्रतिपाद्यमानत्वात् 'लोहितोष्णप्रकाशो दीपः' इति सर्वांशेनापि लोहितोष्णप्रकाशत्वेन प्रतिपाद्यमानस्य दीपस्येव स्वगतभेदो नास्ति।

एवं चेच्छ्रुतिः 'आत्मा सद्रूपश्चिद्रूप आनन्दरूपः' इति पुनः पुनः किमर्थमुपदिशति एकेनैवोपदेशेनात्मनो ज्ञातुं शक्यत्वादिति चेत्, शृणु श्रुतेस्तात्पर्यं ब्रवीमि। कथमिति चेत्। आत्मनिष्ठं सत्त्वं जगति, चित्त्वं जडेषु बुद्ध्यादिषु, आनन्दत्वं पुत्रभार्यादिषु च, जगन्निष्ठमसत्वं बुद्ध्यादिनिष्ठं जडत्वं पुत्रभार्यादिनिष्ठं दुःखत्वं च सच्चिदानन्द आत्मनि च परस्परं वैपरीत्येनाविद्यया आरोपितम्। अतः 'सर्वं जगत्सत्यम्' 'बुद्ध्यादयश्चेतनाः' पुत्रभार्यादय आनन्दरूपाः' 'अहं नश्वरः' 'अहं जडः' 'अहं दुःखी' इति च परिभ्रमन्ति। एतद्भ्रान्तिनिवृत्तये मातृभूता श्रुतिर्जीवान्प्रत्युपदिशति। कथमिति चेत्। 'हे जीवाः यूयं सच्चिदानन्दरूपा एव' इति बोधनार्थम् 'आत्मा सद्रूपो नानृतरूपः, चिद्रूपो न जडरूपः, आनन्दरूपो न दुःखरूपः' इति तद्भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं बोधयतीति जानीहि। श्रुतिरात्मनः सच्चिदानन्दरूपेण भेदं न बोधयति। लोके केचन वादिनः 'आत्मनः सत्त्वं धर्मः, चित्त्वं सुखं च गुणौ, अत आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूपो न भवति' इति कथयन्ति। तन्निवारणार्थमपि श्रुतिः

'आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूपः' इति वदतीत्यवगन्तव्यम्। भवद्भिः श्रुतेस्तात्पर्यमेवमिति कथं ज्ञानमिति चेत्। सर्वासामपि श्रुतीनामुपक्रमोपसंहारादिषड्विधलिङ्गैरखण्डार्थे तात्पर्यस्यावधारणादिति मन्तव्यम् ॥

हे स्वामिन्, एवं श्रुत्यैवाखण्डार्थः साधितः, इतः परं युक्त्यापि कृपया साधनीय इति चेत्, शृणु। सत्स्वयमेव प्रकाशते वाऽन्येन वा प्रकाशते? आद्ये सदेव चित्स्यात् अन्येन चेत्मतः प्रकाशनं तदन्यद्वस्तु सद्विलक्षणं वा सदन्तरं वा? सद्विलक्षणत्वे तस्य शशविषाणादिवदसत्त्वेन तस्य सत्प्रकाशकत्वं न संभवति। सदन्तरमिति पक्षे तत्सदन्तरं स्वयं प्रकाशते वाऽन्येन प्रकाशते वेति विकल्पे, आद्यपक्षे सत एव स्वयंप्रकाशत्वे चित्त्वं स्यात्, अन्येन प्रकाशत इति पक्षे पुनरपि विकल्पः पूर्ववदायाति। एवं विकल्पे क्रियमाणे आत्माश्रयदोषोऽन्योन्याश्रयदोषश्चन्याक्रकापत्तिदोषोऽनवस्थादोष इति वहवो दोषा आपतेरन्। तस्मात्सत्स्वयमेव प्रकाशते। सतः स्वयंप्रकाशत्वे सदेव चिच्चिदेव सत् उभयमप्येकमेव। सदन्तरमस्तीति वेदेषु न कुत्रापि दृश्यते। अतः सत्स्वयमेव प्रकाशत इति निश्चयः। अतः सदेव चिदिति सिद्धम्। तस्य स्वयं प्रकाशमानस्य सत आनन्दत्वं कथमिति चेत् उच्यते—सतोऽद्वैतत्वादानन्दत्वम्। आनन्दः परिपूर्ण एव तिष्ठति। नाल्पे पूर्णत्वम्। पूर्णत्वं च सतोऽद्वैतस्यैव न द्वैतस्य। कथं सदद्वैतमिति चेत्। हे पुत्र, सतः सद्वितीयत्वं सदन्तरेण वा सद्विलक्षणेन वा वद। नाद्यः, सदन्तरस्य शास्त्रेण युक्त्या अनुभवेन चासिद्धत्वात्। न द्वितीयः, सद्विलक्षणस्य शशविषाणवत्स्वरूपाभावेन तेन सद्वितियत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। अस्माद्विकल्पद्वयादन्यो विकल्पो नास्ति। अत एकस्य सतो द्वितीयाभावादद्वैतत्वं सिद्धम्। तेन पूर्णत्वं सिद्धम्। तेन स्वप्रकाशसदेवानन्द एवं युक्त्यापि सच्चिदानन्दपदानामखण्डार्थत्वं जानीहि ॥

अथानुभवेनाखण्डार्थत्वं साध्यते । अखण्डार्थत्वमेकादशवर्णकेऽप्युक्तम् । तथाऽपि पुनरुच्यते दाढर्यार्थम् । शृणु । सर्वेषां सुषुप्तावेकं सुखं भाति । तत्सुखं जाग्रत्स्वप्नयोरिव न नानारूपम् । किं त्वेकरूपं निर्बाधम् । तस्मात्तत्सुखमद्वैतमेव । तस्यामवस्थायां सूर्याद्यालोकानपेक्षं सौषुप्तानन्दस्य प्रकाशमानत्वात्तस्य चित्त्वम् । तस्य सौषुप्तानन्दस्य स्वयंप्रकाशत्वे किं प्रमाणमिति चेत् । सुप्तोत्थितस्य 'एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सम्' इति स्मरणमायाति । स्मरणस्यानुभवपूर्वकत्वनियमात्सौषुप्तसुखस्यानुभवो वक्तव्यः । तदानीमनुभवकारणस्येन्द्रियादेरभावात्सोऽनुभवः सौषुप्तानन्दस्य स्वयंप्रकाशत्वादेवेति जानीहि ॥

ननु सुषुप्तावनुभवेन सुखं च प्रकाशतेऽज्ञानं च प्रकाशते । तयोर्मध्ये सुखं वा अज्ञानं वा स्वप्रकाशं वाऽस्त्विति विचार्यमाणे सुखमेव स्वप्रकाशमिति वक्तव्यम् । नाज्ञानम् तस्यावरणरूपत्वेन प्रकाशाभावात् । अतः सुषुप्तावात्मरूपं सुखमेव स्वप्रकाशं सत्स्वस्मिन्नारोपितम ज्ञानमपि प्रकाशयति । अतस्तत्सुखं स्वप्रकाशमेवेत्यनुभवेनापि सच्चिदानन्दपदानामखण्डार्थत्वं सिद्धम् ।

एवं श्रुतियुक्त्यनुभवैरात्मनः स्वगतभेदोऽपि नास्ति । एवं सजातीयविजातीयस्वगतभेदानामभावाद्वस्तुपरिच्छेदो नास्ति । एवं देशकालवस्तुपरिच्छेदाभावेनात्मा परिपूर्ण इति सिद्धम् । अनेनाखण्डैकरसत्वं सिद्धम् ॥

हे पुत्र, परिपूर्णानन्दात्मनो दुःखमागन्तुकम् । तद्दुःखं शरीरेण, शरीरं कर्मणा, कर्म रागादिना, रागादिरभिमानेन, अभिमानोऽविवेकेन, अविवेकोऽज्ञानेन चागत इति ज्ञात्वा, तदज्ञानं ज्ञानेन बाधितव्यमिति, ज्ञानं च विचारेणागच्छतीति च, आत्मा सत्यज्ञानानन्दस्वरूप इति च, देहादिप्रपञ्चोऽनृतजडदुःखरूप इति च, स प्रपञ्चोऽध्यारोप इति चैवं विचार्य तत्त्वंपदवाक्यजन्यज्ञानेन स्वात्मनः

'अहं ब्रह्मास्मि' इति यत्परोक्षज्ञानं तदनुभवेन साक्षात्काररूपं यदपरोक्षज्ञानमेतच्च यः प्राप्नोति, स एव 'चण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम' इति भगवत्पूज्यपादाचार्यवचनात्कुटीचकबहूदकसंन्यासिभ्योऽधिकतया पूजनीयः, स एव परमहंस इति निश्चित्य त्वमपि मदुक्तप्रकारेणात्मानं सम्यक्श्रुत्वा मत्वा ध्यात्वा साक्षात्कृत्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयब्रह्मरूपेण तिष्ठ। एतावदेवाचार्यैर्वक्तव्यं शिष्येण च श्रोतव्यम्। इतः परं वक्तव्यं श्रोतव्यं च नास्तीति सिद्धम् ॥

॥ इति द्वादशवर्णकम् ॥

॥ इति वासुदेवयतीश्वरकृतं लघुवासुदेवमननप्रकरणम् ॥

स्वप्नोदितम्

देशिकानुग्रहोत्तुङ्गतरङ्गशिशिराशयः ।
निवसामि निजानन्दपरिपूर्णैकभूमनि ॥१॥

देशिकानुग्रहोत्तुङ्गमत्तमातङ्गमस्तकम् ।
आरुह्य विहराम्यात्मपदे समरसोज्ज्वले ॥२॥

देशिकानुग्रहोत्तुङ्गगिरिशृङ्गमुपेयुषः ।
तृणवद्भाति मे सर्वं जगदत्यल्पमाततम् ॥३॥

देशिकानुग्रहोदारग्रहग्रस्तात्मवानहम् ।
न किंचिदपि जानामि जगदेतच्चराचरम् ॥४॥

देशिकानुग्रहोदारवेत्रोदस्तमनोग्रहः ।
विजानामि जगत्सर्वमात्ममात्रतयाधुना ॥५॥

देशिकानुग्रहोदारतरणिप्रसरोद्भवे ।
स्वानन्दैकरवं वीक्षे समुल्लसितमद्भुतम् ॥६॥

देशिकानुग्रहोदारतुषारकिरणोदये ।
आश्चर्यमान्तराम्भोजमुन्निद्रमभवन्मम ॥७॥

देशिकानुग्रहोदारदावानललता भृशम् ।
दग्ध्वाशेषं जगज्जालमलं मां शीतयत्यहो ॥८॥

देशिकानुग्रहोदाररवितप्तमनोमरौ ।
स्वानन्दकन्दलः कश्चिदाश्चर्यमुदभूद्भृशम् ॥९॥

देशिकानुग्रहोदारसमीरे वाति सर्वतः ।
मम चित्तमहाम्भोधिश्चित्रं न स्पन्दते कुतः ॥१०॥

देशिकानुग्रहोदारदारैः संततसङ्गिनः ।
मम भावे मनो लीनं निवृत्ताशेषवृत्तिकम् ॥११॥

देशिकानुग्रहोदारपीताम्बरधरस्य मे ।
शीततापादिभिर्दुःखं कथं संघीभविष्यति ॥१२॥
देशिकानुग्रहोदारसाम्राज्याधिपतेर्मम ।
अशेषमभवद्वश्यमतः किमविशेषतः ॥१३॥
देशिकेन्द्रकृपाखड्गखण्डिताशारिमण्डलः ।
अखण्डितनिजानन्दमण्डले निवसाम्यहम् ॥१४॥
देशिकेन्द्रकृपाखड्गकृत्तचित्तमृगोत्तमः ।
शान्तभीतिश्चराम्यन्तरात्मकान्तारसंततौ ॥१५॥
देशिकेन्द्रकृपाखड्गविलूनेऽज्ञानपादपे ।
संसारघोरवेतालः क गतो वा न वेद्म्यहम् ॥१६॥
देशिकेन्द्रकृपाचन्द्रचन्द्रिकाशीतलाकृतिः ।
संसारसौरसंतापं नैवाहं वेद्मि किंचन ॥१७॥
देशिकेन्द्रकृपाचन्द्रसमेधितचिदम्बुधौ ।
निमग्नोऽहं न पश्यामि स्वभिन्नं वस्तु किंचन ॥१८॥
देशिकेन्द्रकृपाचन्द्रनिरस्तान्तस्तमस्ततिः ।
किमप्यहं न पश्यामि किमाश्चर्यमभूदिह ॥१९॥
देशिकेन्द्रकृपाचन्द्रप्रफुल्लानन्दकैरवम् ।
आघ्रायाघ्राय हृष्यामि स्वात्मन्येव मुहुर्मुहुः ॥२०॥
देशिकेन्द्रकृपाचन्द्रद्रुतचन्द्रोपलान्तरः ।
विश्रान्तिमाप्तवानस्मि विज्ञानैकरसे पदे ॥२१॥
कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि देशिकानुग्रहादहम् ।
अतः सर्वे जना यूयमुपाद्ध्वं देशिकोत्तमम् ॥२२॥
इति स्वप्नोदितां निद्रामनुस्मरति यः पुमान् ।
सोऽसौ सत्यपरानन्दपदवीं याति पावनीम् ॥२३॥

॥ इति स्वप्नोदितम् ॥

स्वानुभूतिप्रकाशिका

गौरीपतिपदभजनक्रकचविलूनैकविषयपाशोऽहम् ।
देशिकवरकरुणोदितपरजीवात्मैक्यतत्त्वबोधोऽहम् ॥१॥

प्रशमितनिजमायोऽहं प्रगलितजगदीशजीवभेदोऽहम् ।
प्रत्यगभिन्नपरोऽहं प्रविततसुखपूर्णसंविदेवाहम् ॥२॥

समुदस्ताश्रमकोऽहं विध्वस्ताशेषविधिनिषेधोऽहम् ।
अस्तमिताहन्तोऽहं निस्तुलदृग्रूपवस्तुमात्रोऽहम् ॥३॥

साक्ष्यहमनपेक्षोऽहं पक्षविपक्षादिभेदविधुरोऽहम् ।
सूक्ष्मोऽहमक्षरोऽहं: मोक्षानन्दैकसिन्धुरेवाहम ॥४॥

कूटस्थचेतनोऽहं कुक्षिस्थानेकलोककलनोऽहम् ।
एकोऽहमविकलोऽहं केवलसन्मात्रसारभूतोऽहम् ॥५॥

वेद्योऽहमागमान्तैराद्योऽहं सकलभुवनहृद्योऽहम् ।
विभुरहमनवद्योऽहं शुभतरभावोऽहमप्रभेद्योऽहम् ॥६।

शुद्धोऽहमद्वयोऽहं बुद्धो मुक्तोऽहमद्भुतात्माहम् ।
बोधितपरतत्त्वोऽहं बोधानन्दैकमूर्तिरेवाहम् ॥७॥

शान्तोऽहमान्तरोऽहं संततभातोऽहमन्तकारोऽहम् ।
शमितान्तत्रितयोऽहं शाश्वतविज्ञानसमरसात्माहम् ॥८॥

अजरोऽहमव्ययोऽहं निजमहमनिशं स्थितोऽहमचलोऽहम् ।
अवबोधैकरसोऽहं कविवरसंसेव्यकेवलात्माहम् ॥९॥

निस्त्रैगुण्यपदोऽहं निष्क्रियधामाहमप्रतर्क्योऽहम् ।
निरवयवोऽहमजोऽहं निर्मलनिर्वाणमूर्तिरेवाहम् ॥१०॥

निरवधिनिजबोधोऽहं निरुपमनिःसीमसत्त्वमात्रोऽहम् ।
परमानन्दघनोऽहं परशिव एवाहमनिशमभयोऽहम् ॥११॥

॥ इति स्वानुभूतिप्रकाशिका ॥

मनोनियमनम्

आशीविषविषमैर्निमिषोन्मेषैर्निषेवितैर्विषयैः ।
अलमधुना कलयेथाः मानस मिहिकामयूखचूडालम् ॥१॥

अहमिति मतिमतिहेये वारय काये निरन्तरापाये ।
परशिवपदाभिधेयं ब्रह्मणि सदये निधेहि तां हृदये ॥२॥

चलदलदलचञ्चलमिमम चलवदचलं प्रतीत्य किल कायम् ।
मुह्यसि शिवपदविमुखं शिवशिवसुमचापचापलैश्चेतः ॥३॥

यातं दिनमिदमेवं श्वः किल भविता सुमेरुरपि हस्ते ।
इति नित्यं भावयता भवता कति चित्त मेरवो लब्धाः ॥४॥

कतिधा हृदनुबभूविथ तरुतृणकृमियोनिचक्रचङ्क्रमणम् ।
दिष्ट्या मानुषभावात्पारस्पृगिवासि मा त्विह प्रमदः ॥५॥

प्राक्कृतभोगावसरे ताम्यसि चेतो मुधा कुतो हेतोः ।
न्यग्रोधबीजमुप्त्वा शोचन्निव नाम्रमस्येति ॥६॥

इज्या तीर्थव्रज्या प्रव्रज्या वा सतां समज्या वा ।
आस्तामयि भवतरणं लघु तव करणं मनः शिवस्मरणम् ॥७॥

परयुवतिदीपिकायामप्रतिरूपं निरीक्ष्य बत रूपम् ।
मोहान्निपत्य चेतः पतङ्ग मा त्वं क्षयं याहि ॥८॥

भवमिषपृथुविषशमनो मानस भिषगेष शंकरः सेव्यः ।
प्रथमो दैव्यो भिषगिति यं किल जननी श्रुतिः स्वयं प्राह ॥९॥

अतिसरसैरन्नरसैर्मानस नभसंगमाग्निभषकाणाम् ।
भुजिकर्मीभूतस्य प्रायो वपुषः किमित्युपस्कुरुषे ॥१०॥

पत्रफलमात्रसुलभे कामितफलदे प्रभौ स्थिते साम्बे।
भजसे कृपणं नृपशुं दुःसेव्यं हा कथं चेतः ॥११॥

आ प्रातरादिनान्तादा च दिनान्तात्पुनश्चिदा प्रातः।
व्यापारान्तरहार्यं व्याप्रियतामिन्दुचूडचरणाब्जे ॥१२॥

दुष्पूरकुक्षिपरिपूरणपारवश्या-
त्कर्पूरगौरवपुषं पुरुषं विहाय।
धन्यं किमाश्रयसि हन्त सखे मनस्त्वं
धन्यं भजस्व सततं तरुणेन्दुचूडम् ॥१३॥

॥ इति मनोनियमनम् ॥

श्रीदक्षिणामूर्तिध्यानम्

वटस्याधः कंचित्करकमलचिन्मुद्रमचलं
निटालाक्षं सूक्ष्मं मुनिवरगणासेव्यचरणम् ।
चिदानन्दाकारं मदनहरमापूर्णममलं
सदा ध्यायेदन्तः परमशिवमाचार्यवपुषम् ॥१॥

कैलासशिखरे रम्ये कमनीयमणिप्रभे ।
वटद्रुमतटे नित्यं निवसन्तं जगद्गुरुम् ॥२॥

दक्षिणामूर्तिमीशानं दधतं मौनमुत्तमम् ।
व्यालम्बितजटाकोटिघटितार्धकलाधरम् ॥३॥

फालभूतिलकीभूतरुचिराम्भोजलोचनम् ।
कारुण्यरसपूरैकपूरिताक्षियुगाम्बुजम् ॥४॥

शुक्तिकाकारसंकाशकर्णद्वन्द्वपुटोज्ज्वलम् ।
मणिदर्पणदर्पघ्नकपोलफलकप्रभम् ॥५॥

नवचम्पकपुष्पाभनासादण्डविराजितम् ।
दरहासलसन्मुग्धमुखोन्निद्रसरोरुहम् ॥६॥

दाडिमीबीजसंदोहसंदेहदरदावलिम् ।
बिम्बसंभ्रमधिक्कारिमधुराधरमञ्जुलम् ॥७॥

ग्रीवोदारश्रियोदस्तकम्बुसौभाग्यसंततिम् ।
श्रितकल्पलतीभूतभुजवल्लीचतुष्टयम् ॥८॥

विद्यामुद्राक्षमालैकलसत्पाणियुगाम्बुजम् ।
वीणापुस्तोज्ज्वलोद्दामकरद्वन्दसरोरुहम् ॥९॥

विगूढजत्रुविभ्राजिविपुलोत्तुङ्गवक्षसम् ।
आवर्तनाभिसुभगं त्रिवलीललितोदरम् ॥१०॥

विशङ्कटकटिश्रोणिकरभोरुद्वयोज्ज्वलम् ।
चारुजानुयुगं वल्गुजङ्घायुगलरञ्जितम् ॥११॥

गूढगुल्फारुणनखव्रातदीधितिशोभितम् ।
दशाङ्गुलीदलोदारपदद्वन्द्वसरोरुहम् ॥१२॥

दक्षिणोरूपरिन्यस्तसव्यपादाम्बुसंभवम् ।
अपसव्यपदाम्भोजञ्जितापस्मरं परम् ॥१३॥

योगपट्टाभिरामं तं योगिवृन्दनिषेवितम् ।
पाटरकुन्दचन्द्राभपाण्डराङ्गैकभासुरम् ॥१४॥

चन्दनागरुकर्पूरचर्चितावयवोज्ज्वलम् ।
मन्दारचम्पकाशोकमल्लिकादामभूषितम् ॥१५॥

तटिद्वलयसंकाशमणिकुण्डलमण्डितम् ।
कटकाङ्गदकेयूरहारग्रैवेयकोज्ज्वलम् ॥१६॥

प्रत्युप्तदिव्यमाणिक्यप्रस्फुरन्मेखलावृतम् ।
कलनिस्वनमञ्जीरपदकङ्कणरञ्जितम् ॥१७॥

त्रैलोक्याद्भुतसौन्दर्यपरिपाकमनोहरम् ।
कंदर्पकोटिलावण्यगर्वनिर्वापणाकृतिम् ॥१८॥

कंजासनमहेन्द्रादिकलिताङ्घ्रिसरोरुहम् ।
देवकिन्नरगन्धर्वसंस्तुतोदारवैभवम् ॥१९॥

सकृत्प्रपन्नलोकौघसरोरुहदिवाकरम् ।
संसाराशीविषालढिमृतसंजीवनौषधम् ॥२०॥

परमाद्वैतविज्ञानमहोदधिसुधाकरम् ।
अज्ञानध्वान्तसंतानमार्तण्डोदारमण्डलम् ॥२१॥

अनन्तभवकान्तारदहनोग्रदवानलम् ।
मोहानललसज्ज्वालाजालकीलालसागरम् ॥२२॥

संसारसौरसंतापसंतप्तोदारभूरुहम् ।
पञ्चाक्षरदलोल्लासिप्रणवाम्बुजषट्पदम् ॥२३॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वसोपानस्वात्मप्रासादभूपतिम् ।
दक्षाध्वरविभेत्तारं शिक्षितान्धकदुःस्थितिम् ॥२४॥

दारितान्तकदौरात्म्यं दलितासुरसंततिम् ।
लीलाविजितकंदर्पं हालाहलधरं हरम् ॥२५॥

पालिताखिलभक्तौघं वेलातीतगुणार्णवम् ।
भृङ्गावलीकालकण्ठं मङ्गलाधारमद्भुतम् ॥२६॥

गङ्गाधरं वृषारूढं संगीतरसशेवधिम् ।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं भवरोगभिषग्वरम् ॥२७॥

भवानीभावनागम्यं भक्तचित्तापहारिणम् ।
नासाञ्चलहिताब्जाक्षं नागाभरणभूषितम् ॥२८॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वैराग्यभरमन्थरम् ।
वीणानादानुसंधानविकसद्वदनाम्बुजम् ॥२९॥

विश्वातीतसुखाम्भोजविलसद्भ्रमराग्रियम् ।
संसारसर्पसंदष्टजनजाङ्गलिकोत्तमम् ॥३०॥

महादेवं महात्मानं महायोगीश्वरेश्वरम् ।
शाश्वतैश्वर्यसंपूर्णं शंकरं लोकशंकरम् ॥३१॥

कारणं जगतामेकमनेकाकारभासुरम् ।
कालत्रयापरिच्छेद्यं कारकग्रामवर्जितम् ॥३२॥

निःसीमपरमानन्दनिजधामनि संस्थितम् ।
निगमान्तैकसंसिद्धशुद्धविद्यैकगोचरम् ॥३३॥

अविद्याकार्यनिर्मुक्तमवाङ्मनसगोचरम् ।
अद्वयानन्दविज्ञानघनं परमपावनम् ॥३४॥
आदिमध्यान्तरहितमपोहितगुणत्रयम् ।
अवेद्यं जगतां हृद्यमान्तरान्तरमव्ययम् ॥३५॥
निरवद्यं निराभासं निष्क्रियं निरुपप्लवम् ।
निर्विकल्पं निरातङ्कं निःसङ्गं निःसमीहितम् ॥३६॥
निस्त्रैगुण्यफलं किंचिन्निर्वाणसुखसागरम् ।
निर्द्वन्द्वानन्दसंदोहमसंदेहमनूपमम् ॥३७॥
निर्गुणं निष्कलं नित्यं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
नीरागं निरुपासङ्गं निरहंकारमक्षरम् ॥३८॥
निष्प्रपञ्चं निरालम्बं निराकारं निराश्रयम् ।
अवबोधरसैकात्म्यं ध्यायेदादिमदेशिकम् ॥३९॥
इति श्रीदक्षिणामुर्तिध्यानं परमपावनम् ।
पुत्रपौत्रायुरारोग्यमहासंपत्प्रदायकम् ॥४०॥
चतुःषष्टिकलाविद्याप्रदं पापप्रणाशनम् ।
अणिमादिमहासिद्धिविधानचतुरं शुभम् ॥४१॥
क्षयगुल्मप्रमेहादिव्याधीनामेकभेषजम् ।
भक्तिज्ञानविरक्तीनां निदानं मुक्तिसाधनम् ॥४२॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि नित्यं भक्तिसमन्वितः ।
स यथोक्तफलान्यादौ लब्ध्वा मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ॥
ब्रह्मादिदेववन्द्याय सर्वलोकाश्रयायते ।
दक्षिणामूर्तिरूपाय शंकराय नमो नमः ॥
शरणं तरुणेन्दुशेखरः शरणं मे गिरिराजकन्यका ।
शरणं पुनरेव तावुभौ शरणं नान्यदुपैमि दैवतम् ॥
॥ इति श्रीदक्षिणामूर्तिध्यानम् ॥

नववर्णरत्नमाला

ओंकारैकनिरूप्यं पङ्कजभवनादिभावितपदाब्जम् ।
किंकरकैरवशशिनं शंकरमेकं शिवं कलये ॥१॥

ऐन्द्रं पदमपि मनुते नैव वरं यस्य पदरजःस्पर्शान् ।
सान्द्रसुखोदधिमेकं चन्द्रकलोत्तंसमीशमासेवे ॥२॥

नागेशकृत्तिवसनं वागीशाद्येकवन्दिताङ्घ्रियुग्मम् ।
भोगीशभूषिताङ्गं भागीकृतसर्वमङ्गलं नौमि ॥३॥

नगराजशिखरवासिनमगजामुखकुमुदकौमुदीनिकरम् ।
गगनशिरोरुहमेकं निगमशिरस्तन्त्रविदितमवलम्बे ॥४॥

मन्दस्मितलसदाननमिन्दुकलोत्तंसमम्बिकासचिवम् ।
कंदर्पकोटिशतगुण सुन्दरदिव्याकृतिं शिवं वन्दे ॥५॥

मस्तक नम कमलाङ्घ्रिं संस्तुहि भो वाणि वरगुणोदारम् ।
हस्तयुगार्चय शर्वं स्वस्थो निवसामि निजमहिम्न्यमुना ॥६॥

क्लिन्नेक्षणमतिकृपया संनुतमहिमानमागमशिरोभिः ।
तं नौमि पार्वतीशं पन्नगवरभूषणोज्ज्वलकराब्जम् ॥७॥

शिशिरारुणकंजदृशं शशिभूषणमेकमगसुताजानिम् ।
पशुपाशपाटनपटुं वशिनं सर्वस्य देशिकं वन्दे ॥८॥

वटविटपिनिकटनिलयं कुटिलजटाघटितहिमकरोदारम् ।
कटिलसितकरटिकृत्तिं निटिलाम्बकमेकमालम्बे ॥९॥

वामाङ्ककलितकान्तं कामान्तकमादिदेवतं दान्तम् ।
भूमानन्दघनं तद्धाम किमप्यन्तरान्तरं भाति ॥१०॥

यदपाङ्गिताद्ग्रबोधात्पदमलभेऽखण्डितात्ममात्रमहम् ।
सदयं साम्बशिवं तं मदनान्तकमादिदैवतं नौमि ॥११॥

सौत्नातिक्रममृतजलैः सुस्मितवदनेन्दुसमुदितदिगन्तम् ।
संस्तुतममरगणैस्तं निस्तुलमहिमानमानतास्मि शिवम् ॥१२॥

नववर्णरत्नमालास्तुतिमेतामादिदेशिकेन्द्रस्य ।
धारयतः स्याद्भुक्तिः सकलकलावाप्तिरथ परा मुक्तिः ॥१३॥

॥ इति नववर्णरत्नमाला ॥

आत्मविद्याविलासः (१)

यत्पादपद्ममकरन्दजुषां नराणां
संसारघोरभुजगान्न भवेत्स्म भीतिः ।
सच्चिद्घनं सकलसौख्यलवाम्बुराशिं
श्रीदक्षिणाभिमुखमूर्तिमजं भजेऽहम् ॥१॥

एतावदेव खलु पुंभिरवातुमर्हं
यच्चेतसो निलयनं निजतत्त्वबोधे ।
आक्रोशनं श्रुतिशिरांशि यदर्थमेव
कुर्वन्ति येन हि भवेत्पुरुषः सुखाब्धिः ॥२॥

मातेव पुत्रमनुबोधयति श्रुतिर्हि
लोकं समस्तमपि योजयितुं सुखेन ।
तस्माच्छ्रुतेराभिहितार्थमतन्द्रितेन
चित्तेन साधयितुमत्र जना यतध्वम् ॥३॥

आवाविदं सकलमेव जगत्सदासी-
त्कुम्भादिवत्तदनु शक्तियुतात्परस्मात् ।
आकाशवायुदहनाम्बुभुवो बभुवु-
र्वातप्रसक्तसलिलादिव वीचिपूरः ॥४॥

सूक्ष्माख्यभूतगतसत्त्वरजस्तमोभि-
र्लिङ्गं शरीरमुदभूदत ईश्वरेच्छा ।
पञ्चीचकार वियदादिकभूतसूक्ष्मा-
ण्यण्डं प्रभूदत इदं सह जीवभोग्यैः ॥५॥

सृष्ट्वा जगत्सकलमेवमशेषकर्ता
तत्प्राविशत्पुनरुपागतजीवभावः ।
विस्मृत्य सत्यसुखबोधमयस्वरूपं
भ्रान्त्या भ्रमत्यनिशमस्तविवेकलेशः ॥६॥

इत्थं प्रमादवशतः परिमुह्यमानो
देहात्मबुद्धिपरिकल्पितकर्मबन्धः ।
स्वर्गादिभोगगमनागमनातिखिन्नो
लूतावदेष भवमभ्यगमच्चिदात्मा ॥७॥

मायायुतस्त्वगमदीश्वरतां चिदात्मा
चाविद्यया युगभवद्भुतजीवभाव ।
माया भवेद्विमलसत्त्वगुणप्रधाना
प्रोक्ता मलापिहितसत्त्वगुणा त्वविद्या ॥८॥

एकोऽप्यनेक इव भाति शरीरभेदा-
दात्मा घटादिगतभेदवशाद्वियद्वत् ।
देहेन्द्रियादिषु चलत्सु निजप्रकाशा-
त्पूर्णोऽपि निश्चलतरोऽपि विकारवद्वत् ॥९॥

एवं भवार्णवनिमज्जनदुःखितेषु
लोकेषु पूर्वजनिसंचितपुण्यपुञ्जैः ।
कश्चिद्विशुद्धमतिरेत्य गुरुं कृपाब्धिं
प्राह प्रणम्य भवसागरलङ्घनेच्छुः ॥१०॥

संसारघोरजलधौ भगवन्नपारे
तापत्रयौघदहने सहजारिनक्रे ।
मोहाम्भसि प्रचलदुद्भवमृत्युभङ्गे
वीक्ष्यान्तरस्मि पतितं जगदद्य भीतः ॥११॥

मातुः स्थितस्य जठरे वचसां च दूरं
दुःखं पुनर्जननकालभवं दुरूह्यम् ।
बाल्येऽपि दुःखमविषह्यमवारणीय-
मालोच्य भीतिरधुना महती ममोत्था ॥१२॥

तारुण्यमेत्य कुलयौवनरूपसंप-
द्विद्यात्मगर्वपिहितात्महिताभिलाषः ।
विण्मूत्रमांसरुधिरास्थिमये शरीरे
नार्या रुचिं समुपयाति जनो विचित्रम् ॥१३॥

सर्वापदां निलयमेत्य वयोऽधिकत्वं
जन्तुः सुखं न लभते ह्यपि किंचिदत्र ।
पुंसामिहास्ति न भयं खलु मृत्युतोऽन्य-
द्धिक्कृत्य संसृतिमिमामभवं विरक्तः ॥१४॥

स्वामिन्कथं मम भवार्णवलङ्घनं स्या-
दायासलेशरहितं वद तत्र हेतुम् ।
श्रुत्वा तु शिष्यवचनं रमणीयमित्थं
प्रत्युत्तरं गुरुरदात्कृतमन्दहासः ॥१५॥

देहेन्द्रियासुहृदयादिकचेत्यवर्गा-
त्प्रत्यक्चितेर्विभजनं भववारिराशेः ।
संतारणे प्लव इति श्रुतिडिण्डिमोऽयं
तस्माद्विचारय जडाजडयोः स्वरूपम् ॥१६॥

प्रत्यक्चितिर्वपुरिदं न भवेज्जडत्वा-
त्कुड्यादिवज्जडतयाप्यसवो न चित्स्युः ।
नापीन्द्रियाणि करणं कुत एव चित्स्या-
त्कुद्दालकादिवदिति प्रविचारय त्वम् ॥१७॥

दृश्यत्वतो न मनसश्च भवेच्चितित्वं
नाहंकृतिश्च परिणामवती चितिः स्यात् ।
बुद्धेरचित्त्वमपि जन्मविनाशवत्त्वा-
च्चित्तं च दृश्यमचिदित्यनुचिन्तय त्वम् ॥१८॥

बुद्ध्वा समस्तमपि दृश्यमचित्स्वरूपं
प्रत्यक्चितिं च निजरूपतया विदित्वा ।
देहेन्द्रियाद्यखिलसाक्ष्यहमित्यजस्रं
संचिन्तय व्यपगताखिलसंशयः सन् ॥१९॥

देहादिकं जगदसज्जडदुःखरूपं
मय्यद्वितीयनिजबोधसदादिरूपे ।
संदृश्यते भ्रमवशाद्गगने निरंशे
गन्धर्वपत्तनमिवेत्यनुभावय त्वम् ॥२०॥

या चित्प्रभा त्वमिति मेयविभासयित्री
यत्संक्रमाद्घटपटाद्यवभासिका धीः ।
आब्रह्मकीटमहमित्यत्रभासमाना
या सैव संविदिति चिन्तय संततं त्वम् ॥२१॥

जाग्रन्मुखत्रिविधधामसुसाक्षिणी या
जाग्रन्मुखत्रिविधधाम विलक्षणा या ।
स्वप्नाद्यनुस्मृतिवलात्सततैकरूपा
सैवाहमस्मि चितिरित्यवधारय त्वम् ॥२२॥

नोदेति नास्तमुपयाति न वृद्धिमेति
नैवोपयाति परिणाममपक्षयं वा ।
स्वाध्यस्तसर्वजननादिविकारसाक्षि-
ण्येषा हि संविदिति चिन्तय संततं त्वम् ॥२३॥

मच्छेषतां समवलम्ब्य सुतादिसर्वं
येन प्रियं भवति तेन सुखस्वरूपः ।
देहेन्द्रियादिविषयप्रलयैकसाक्षी
यस्मात्ततः सदिति मे निजरूपमास्स्व ॥२४॥

आदौ त्वमेव सदभूरविशेषरूप-
स्त्वत्तोदितं जगदीदं सविशेषजातम् ।
त्वय्येव तिष्ठति तथा त्वयि चावसाने
संलीयते जलनिधाविव बुद्बुदादिः ॥२५॥

व्यापित्वहेतुबलनो न दिशास्ति मेऽन्तो
नित्यत्वहेतुबलतश्च न कालतोऽन्तः ।
सार्वात्म्यहेतुबलतश्च न वस्तुतोऽन्त-
स्तस्मादनन्तमिति मे निजरूपमास्स्व ॥२६॥

एवं निरन्तरसमाधिवशान्निराधि-
र्ज्ञानाग्निदग्धसहकारणजन्मबीजः ।
आविर्भवन्निजसुखानुभवैकतृप्तो
ब्रह्मैव नूनमिह संभवसि ध्रुवं त्वम् ॥२७॥

इत्थं गिरा विमलया परसौख्यदात्र्या
वाचा गुरोर्विमथिताखिलसंशयोघः ।
शिष्यः समाधिपरिशीलनतीक्ष्णदिव्य-
ज्ञानासिखण्डितभवाख्यविपद्द्रुमोऽभूत् ॥२८॥

स्वानन्दमप्रतिहतं परिभुज्य हर्षा-
दश्रुप्रपूर्णनयनः पुलकाङ्किताङ्गः ।
शिष्यः सगद्गदमुवाच गुरुं घृणाब्धिं
नत्वा तदङ्घ्रियुगलं विनयोपयुक्तः ॥२९॥

स्वामिन्भवद्वचनदिव्यसुधाभिषिक्त-
स्वानन्दमञ्जुनगरे विहरामि नित्ये ।
अज्ञानदुर्द्वंदमतीव शितेन सम्य-
ग्ज्ञानासिना परिविलूय सहानुजातम् ॥३०॥

गच्छामि कुत्र किमहं करवाणि किं वा
गृह्णामि किं परिजहामि मयि प्रपूर्णे ।
निर्व्याजसौख्यजलधौ परिदृश्यमानं
फेनादिकं जगदिति स्थिरनिश्चयो मे ॥३१॥

मायाभिधो जलधरो जगदाख्यमम्बु
वर्षत्वनेन मम चिद्वपुषः क्षतिः का ।
लाभोऽपि वा क इति संततमात्मरूपं
संचिन्तयन्स्थिरमतिर्विहरामि नित्ये ॥३२॥

वाक्कायमानसभवं सकलं हि कर्म
प्रोक्तं शुभाशुभमयं न ततोऽस्ति भिन्नम् ।
वागादिसाक्षिणि कथं मयि निर्मले स्या-
त्कर्मद्वयं तदुदितं जननादिकं वा ॥३३॥

व्यावृत्तरूपमिदमेव जगद्विभिन्नं
ज्ञानं त्वभिन्नमनुवृत्ततयाखिलेषु ।
ज्ञानं च भिन्नमिति चेज्जडतादिदोष-
प्राप्तिर्भवेच्छ्रुतिशिरांसि न तं सहन्ते ॥३४॥

नैवेन्द्रियाणि विषयेषु नियोजयामि
प्राग्वासनावशत एव हि तानि यान्ति ।
स्वान्गोचरान्प्रति ममास्ति न साक्षितापि
सा साक्ष्यभेदकलिता खलु सोऽप्यसत्यः ॥३५॥

भेदोऽपि साक्ष्यगत एव न साक्षिणो मे
भेदस्य साक्षिणि कथं प्रभवेत्स भेदः।
भेदो न सुप्तिसमयेऽनुपलम्भनाच्च
सन्नास्तिता न इह दृष्टतया न वाच्या ॥३६॥

विश्वं सदेतदिति कार्यकरत्वहेतो-
र्यद्यस्य सत्त्वमिह साधयितुं यतेथाः।
तर्ह्यत्र रज्जुभुजगाद्यपि सद्बलात्स्या-
त्सत्यत्वहेतुरिदमाहुरबाधितत्वम् ॥३७॥

कीदृग्विधं जगदये वद सत्त्वचित्त्या-
द्याकारहीनमिति पृष्टवतेऽस्ति मह्यम्।
प्रत्युत्तरं किमिति ते तव मौनमेव
प्रत्युत्तरं भवति मां प्रति गच्छ जाल्म ॥३८॥

ज्ञानाग्निदग्धमपि भाति जगद्विचित्रं
यच्च ध्वनिभ्रमवतः सविशेषबोधात्।
तस्मिन्भ्रमे विमथितेऽपि तथैव भाति
दिग्वत्यथो मम च तद्वदतो द सत्तत् ॥३९॥

भूमिं जले तदपि तेजसि तच्च वायौ
तं व्योम्नि तत्त्रिगुणया सह मय्यनन्ते।
पूर्णे विलाप्य परिशिष्टमखण्डसंवि-
त्स्वानन्दरूपमनुभूय रमेऽहमद्य ॥४०॥

अज्ञानतन्निरसने मयि बोधरूपे
स्यातां कथं तिमिरतद्विरती इवार्के।
बन्धश्च मोक्ष इति कल्पनमप्यसत्यं
भ्रान्त्यैव भात्यखिलसाक्षिणि नित्यमुक्ते ॥४१॥

आरब्धकर्मणि च भोगत एव नष्टे
प्राणादयोऽपि मम नोत्क्रमितुं समर्थाः ।
तप्ताग्निनिष्ठजतुवन्मयि पूर्णबोधे
लीनाभवन्ति न पुनर्जननादिकं स्यात् ॥४२॥

आम्नायमस्तकसुसंस्कृतवैभवोऽहं
व्योम्नोऽपि पूर्णतमर्मूतिरहं स्थितोऽहम् ।
सर्वालियोऽहमहमाद्यवभासकोऽहं
वागाद्यगोचरसदोदितसौख्यकोऽहम् ॥४३॥

इति श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वत्या विरचित आत्मविद्याविलासः संपूर्णः ॥

आत्मविद्याविलासः (२)

चिन्मुद्रितकरकमलं चिन्तितभक्तेष्टदं विमलम् ।
गुरुवरमाद्यं कंचन निरवधिकानन्दनिर्भरं वन्दे ॥

वटतरुनिकटनिवासं पटुतरविज्ञानमुद्रितकराब्जम् ।
कंचन देशिकमाद्यं कैवल्यानन्दकन्दलं वन्दे ॥१॥

निरवधिसंसृतिनीरधिनिपतितजनतारणस्फुरन्नौकाम् ।
परमतभेदनघुटिकां परमशिवेन्द्रार्यपादुकां नौमि ॥२॥

देशिकपरमशिवेन्द्रादेशवशोद्‌बुद्धदिव्यमहिमाहम् ।
स्वात्मनि विश्रान्तिकृते सरसं प्रस्तौमि किञ्चिदिदम् ॥३॥

निरुपमनित्यनिरीहो निष्कलनिर्मायनिर्गुणाकारः ।
विगलितसर्वविकल्पः शुद्धो बुद्धश्चकास्ति परमात्मा ॥४॥

स्वाविद्यैकनिबद्धः कुर्वन्कर्माणि मुह्यमानः सन् ।
दैवाद्विधूतबन्धः स्वात्मज्ञानान्मुनिर्जयति ॥५॥

मायावशेन सुप्तो मध्ये पश्यन्सहस्रशः स्वप्नान् ।
देशिकवचःप्रबुद्धो दीव्यत्यानन्दवारिधौ कोऽपि ॥६॥

प्राकृतभावमपास्य स्वीकृतनिजरूपसच्चिदानन्दः ।
गुरुवरकरुणापाङ्गाद्‌गौरवमापाद्य माद्यति प्राज्ञः ॥७॥

श्रीगुरुकृपया सच्चित्सुखनिजरूपे निमग्नधीर्मौनी ।
विहरति कश्चन विबुधः शान्ताहंतो नितान्तमुदितान्तः ॥८॥

गुरुवरकरुणालहरीव्यतिकरभरशीतलस्वान्तः ।
रमते यतिवर एको निरुपमसुखसीमनि स्वैरम् ॥९॥

श्रीदेशिकवरकरुणारविकरसमपोहितान्तरध्वान्तः ।
विहरन्मस्करिवर्यो निरवधिकानन्दनीरधावास्ते ॥१०॥

जनिविपरीतक्रमतो बुद्धया प्रविलाप्य पञ्च भूतानि ।
परिशिष्टमात्मतत्त्वं पश्यन्नास्ते मुनिः शान्तः ॥११॥

जगदखिलमिदमसारं मायिकमेवेति मनसि मन्वानः ।
पर्यटति पाटिताशः प्रगलितमदमानमत्सरः कोऽपि ॥१२॥

नात्मनि किंचिन्माया तत्कार्यं वास्ति वस्तुतो विमले ।
इति निश्चयवानन्तर्हृष्यत्यानन्दनिर्भरो योगी ॥१३॥

त्वमहमभिमानहीनो मोदितनानाजनाचारः ।
विहरति बालवदेको विमलसुखाम्भोनिधौ मग्नः ॥१४॥

अवधूतकर्मजालो जडवधिरान्धोपमः कोऽपि ।
आत्मारामो यतिराडटवीकोणेष्वटन्नास्ते ॥१५॥

शान्त्या दृढोपगूढः शान्तसमस्तान्यवेदनोदारः ।
रमते रसज्ञ एको रम्ये स्वानन्दपर्यङ्के ॥१६॥

उन्मूलितविषयारिः स्वीकृतवैराग्यसर्वस्वः ।
स्वात्मानन्दमहिम्नि स्वाराज्येऽस्मिन्विराजते यतिराट् ॥१७॥

सवितर्यपि शीतरुचौ चन्द्रे तीक्ष्णेऽप्यधो वहत्यग्नौ ।
मायिकमिदमिति जानन् जीवन्मुक्तो न विस्मयी भवति ॥१८॥

अज्ञानवैरिविजयी प्रज्ञामातङ्गमस्तकारूढः ।
विहरति संयमिराजः समरससुखधाम्नि सर्वतो रम्ये ॥१९॥

शान्ताहंकृतिदोषः सुसमाहितमानसः कोऽपि ।
पूर्णेन्दुशिशिरभावो राजत्यानन्दसत्यचिद्रसिकः ॥२०॥

तिष्ठन्परत्र धाम्नि स्वीयसुखास्वादपरवशः कश्चित् ।
क्वापि ध्यायति कुहचिद्गायति कुत्रापि नृत्यति स्वैरम् ॥२१॥

अगृहीताघकलङ्कः प्रशमितसंकल्पविभ्रमः प्राज्ञः ।
न्यक्कृतकार्यकलापस्तिष्ठत्यापूर्णसीमनि क्वापि ॥२२॥

चपलं मनःकुरङ्गं चारु गृहीत्वा विमर्शवागुरया ।
निगमारण्यविहारश्रान्तः शेते स्वधाम्नि कोऽप्येकः ॥२३॥

दारुणचित्तव्याघ्रं धीरमनःखड्गधारया हत्वा ।
अभयारण्ये कोऽपि स्वैरविहारी जयत्येकः ॥२४॥

सज्जनहृदयसरोजोन्मीलनकरधीकरप्रसरः ।
एको यतिवरपूषा निर्दोषश्चरति चिद्गगने ॥२५॥

कुवलयविकासकारणमज्ञानध्वान्तकौमुदीप्रज्ञः ।
शुद्धो मुनीन्द्रचन्द्रः सुरसेव्ये लसति विष्णुपदे ॥२६॥

स्वानन्दामृतसेकैरान्तरसंतापसंततिं शमयन् ।
चित्रमचञ्चलवृत्तिश्चिद्व्योमनि भाति योगिवर्यघनः ॥२७॥

सुमनःसौरभमञ्जुलसंचारनिवारिताखिलश्रान्तिः ।
संयमिचारुसमीरो विहरत्यानन्दसंविदारामे ॥२८॥

निःश्रेयसरसफले निर्मलविज्ञानपल्लवमनोज्ञे ।
वीतभये विपिनतले यतिशितिकण्ठो विभाति कोऽप्येकः ॥२९॥

निःसारभुवनमरुतलमुत्सार्यानन्दसारसंपूर्णे ।
वरसरसि चिन्मयेऽस्मिन्परहंसः कोऽपि दीव्यति स्वैरम् ॥३०॥

निखिलागमपल्लविते निगमशिरस्तन्त्रशीतलोद्याने ।
मधुरतरमञ्जुवाचः कूजन्नास्ते यतीन्द्रकलकण्ठः ॥३१॥

दारितमोहमदेभो दूरीकृतसकलदुरितशार्दूलः ।
विबुधोत्तमसिंहवरो विहरत्यानन्दविततकान्तारे ॥३२॥

अज्ञानमृगवरोज्झितविज्ञानोत्तुङ्गशृङ्गशिखरितले ।
मतिसलिलशीतलाङ्गो यतिमदकलभो विराजते विहरन् ॥३३॥

नासाञ्चलनिहिताक्षो नामादिभ्यो निवर्तितस्वान्तः ।
तटिनीतटेषु तत्त्वं ध्यायन्नास्ते यतिः कोऽपि ॥३४॥

आशावसनो मौनी नैराश्यालंकृतिः शान्तः ।
करतलभिक्षापात्रस्तरुतलनिलयो मुनिर्जयति ॥३५॥

भूतलमृदुतरशय्यः शीतलवातैकचामरः शान्तः ।
राकाहिमकरदीपो राजति यतिराजशेखरः कोऽपि ॥३६॥

विजननदीकुञ्जगृहे मञ्जुलपुलिनैकमञ्जुतरतल्पे ।
शेते कोऽपि यतीन्द्रः समरससुखबोधवस्तुनिस्तन्द्रः ॥३७॥

विपुलशिलातलफलके विमलसरिद्वारिपरिवृतोदारे ।
मन्दं मलयजपवने वाति प्रस्वपिति कोऽपि यतिराजः ॥३८॥

आन्तरमेकं किञ्चित्सन्ततमनुसंदधन्महामौनी ।
करपुटभिक्षामश्नन्नटति हि वीथ्यां जडाकृतिः कोऽपि ॥३९॥

प्रविलाप्य जगदशेषं परिशिष्टाखण्डवस्तुपरतन्त्रः ।
प्राश्नाति कबलमास्ये प्राप्तं प्रारब्धकर्मणा कोऽपि ॥४०॥

निन्दति किमपि न योगी नन्दति नैवापरं किमप्यन्तः ।
चन्दनशीतलहृदयः कन्दलितानन्दमन्थरस्त्वास्ते ॥४१॥

संत्यज्य शास्त्रजालं संव्यवहारं च सर्वतस्त्यक्त्वा ।
आश्रित्य पूर्णपदवीमास्ते निष्कम्पदीपवद्योगी ॥४२॥

तृणपङ्कचर्चिताङ्गस्तृणमिव विश्वं विलोकयन्योगी ।
विहरति रहसि वनान्ते विजरामरभूम्नि विश्रान्तः ॥४३॥

पश्यति किमपि न रूपं न वदति न शृणोति किञ्चिदपि वचनम् ।
तिष्ठति निरुपमभूमनि निष्ठामधलम्ब्य काष्ठवद्योगि ॥४४॥

जात्यभिमानविहीनो जन्तुषु सर्वत्र पूर्णतां पश्यन् ।
गूढं चरति यतीन्द्रो मूढवदखिलागमार्थतत्त्वज्ञः ॥४५॥

उपधाय बाहुमूलं परिधायाकाशमवनिमास्तीर्य ।
प्रस्वपिति विरतिवनितां परिरभ्यानन्दपरवशः कोऽपि ॥४६॥

गतभेदवासनाभिः स्वप्रज्ञोदारवारनारीभिः ।
रमते सह यतिराजस्त्वय्यन्तान्तःपुरे कोऽपि ॥४७॥

वैराग्यविपुलमार्गं विज्ञानोद्दामदीपिकोद्दीप्रम् ।
आरुह्य तत्त्वहर्म्यं मुक्त्या सह मोदते मुनिराट् ॥४७॥

विजनतलोत्पलमालां वनितावैतृष्ण्यकल्पवल्लीं च ।
अवसान्यामृतघुटिकामात्मज्ञः कोऽपि गृह्णाति ॥४९॥

न निषेधति दोषधिया गुणवुद्ध्या वा न किंचिदादत्ते ।
आविद्यकमखिलमिति ज्ञात्वोदास्ते मुनिः कोऽपि ॥५०॥

भूतं किमपि न मनुते भावि च किंचिन्न चिन्तयत्यन्तः ।
पश्यति न पुरोवर्त्यपि वस्तु समस्तार्थसमरसः कोऽपि ॥५१॥

निगृहीताखिलकरणो निर्मृष्टाशेषविषयेहः ।
तृप्तिमनुत्तमसीमां प्राप्तः पर्यटति कोऽपि यतिवर्यः ॥५२॥

संत्यजति नोपपन्नं नासंपन्नं च वाञ्छति क्वापि
स्वस्थः शेते यतिराडान्तरमानन्दमनुभवन्नेकः ॥५३॥

कामपि विमलां पदवीमासाद्यानन्दसंविदुन्निद्राम् ।
आस्ते भिक्षुक एको विहरान्निर्मुक्तबन्धः स्वैरम् ॥५४॥

वस्तुन्यस्तमिताखिलविश्वविहारे विलीनमनाः ।
राजति परानपेक्षो राजाखिलवीतरागाणाम् ॥५५॥

आचार्यापाङ्गदृशा समवाप्तापारसंविदाकारः ।
प्रशमितसकलविभेदः परहंसः कश्चिदाभाति ॥५६॥

वर्णाश्रमव्यवस्थामुत्तीर्य विधूय विध्यादीन् ।
परिशिष्यते यतीन्द्रः परिपूर्णानन्दबोधमात्रेण ॥५७॥

क्षयमुपनीय समस्तं कर्म प्रारब्धमुपभुज्य ।
प्रविगलितदेहबन्धः प्राज्ञो ब्रह्मैव केवलं भवति ॥५८॥

स्तिमितमनन्तमनाख्यं संततमतुलानन्दबोधघनम् ।
अविकल्पमाद्यमेकं सन्मात्रं विद्यते किमपि ॥५९॥

अक्षरमजरमजातं सूक्ष्मतरापूर्वशुद्धविज्ञानम् ।
प्रगलितसर्वक्लेशं परतत्त्वं वर्तते किमपि ॥६०॥

सुखतरममरमदूरं सारं संसारवारिधेस्तीरम् ।
समरसमभयमपारं सत्किंचन दीप्यते तत्त्वम् ॥६१॥

अरसमगन्धमरूपं विरजस्कमसत्त्वमतमस्कम् ।
निरुपमनिर्भयतत्त्वं तत्किमपि द्योतते नित्यम् ॥६२॥

इति गुरुकरुणापाङ्गादार्याभिद्व्यधिकषष्टिसंख्याभिः ।
निरवद्याभिरवोचं निगमशिरस्तन्त्रसारभूतार्थम् ॥

गदितमिमात्मविद्याविलासमनुवासरं स्मरन्विबुधः ।
परिणतपरात्मविद्यः प्रपद्यते सपदि परमार्थम् ॥

परमशिवेन्द्रश्रीगुरुशिष्येणेत्थं सदाशिवेन्द्रेण ।
रचितेयमात्मविद्याविलासनामा कृतिः पूर्णा ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीपरमशिवेन्द्र-
सरस्वतीपादाब्जसेवापरायणश्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वत्या
विरचितः आत्मविद्याविलासः समाप्तः ॥

आत्मानुसंधानम्

अत्यन्ततति संसिद्धशुद्धविवेकगोचरः ।
अनाद्यन्तः परात्मासौ जयत्यानन्दसुन्दरः ॥१॥

श्रीमत्परशिवेन्द्रश्रीदेशिकानां वयं मुदा ।
अद्वैतानन्दमाध्वीकमङ्घ्रिपद्ममुपास्महे ॥२॥

श्रीदेशिकोक्तवेदान्तनामसाहस्रमध्यगान् ।
कांश्चिन्नाममणीन्पद्यदामभिर्ग्रथयाम्यहम् ॥३॥

अच्युतोऽहमनन्तोऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम् ।
अव्रणोऽहमकामोऽहमसङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥४॥

अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमव्ययः ।
अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥५॥

अक्षरोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम् ।
अप्राणोऽहममूर्तोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम् ॥६॥

अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः ।
अगोत्रोऽहममात्रोऽहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥७॥

अदृश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भुतः ।
अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोऽस्म्यहम् ॥८॥

अवायुरस्म्यनाकाशोऽतेजस्कोऽव्यभिचार्यहम् ।
अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम् ॥९॥

अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोऽस्म्यगुणोऽस्म्यहम् ।
अमायोऽनुभवात्माहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम् ॥१०॥

अद्वैतोऽहमपूर्वोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः ।
अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥११॥

अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः ।
अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्तास्म्यहमक्षयः ॥१२॥

अविद्या कार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः ।
अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यतिज्वलन् ॥१३॥

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाधारोऽस्म्यहमाततः ।
आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः ॥१४॥

आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमान्तरः ।
आप्तकामोऽहमाकाशात्पर आत्मेश्वरोऽस्म्यहम् ॥१५॥

ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः ।
उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाहमुत्तरतरोऽस्म्यहम् ॥१६॥

केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः ।
गुहाशयोऽहं गुप्तोऽहं चक्षुवश्चक्षुरस्म्यहम् ॥१७॥

चिन्दानन्दोऽस्म्यहं चेता चिद्घनश्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायाञ्ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥१८॥

तमसः साक्ष्यहं तुर्यात्तुर्योऽहं तमसः परः ।
दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो द्रष्टा ध्येयो ध्रुवोऽस्म्यहम् ॥१९॥

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः ।
निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः ॥२०॥

'निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निःस्पृहोऽस्म्यहम् ।
निरिन्द्रियो नियन्ताहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः ॥२१॥

पुरुषः परमात्माहं पुराणः परमोऽस्म्यहम् ।
परावरोऽस्म्यहं प्रज्ञाप्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम् ॥२२॥

परामृतोऽस्म्यहं पूर्णः प्रभुरस्मि पुरातनः ।
पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम् ॥२३॥

प्रज्ञात्माहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः ।
बहुधा चिन्त्यमानोऽहमहं ब्रह्मादिवन्दितः ॥२४॥

बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भारूपो भगवानहम् ।
महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥२५॥

विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम् ।
वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्चक्षुरस्म्यहम् ॥२६॥

विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम् ।
शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽहं शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ।२७।

सर्वभूतान्तरात्माहमहमस्मि सनातनः ।
सर्वेश्वरोऽहं सर्वज्ञः सूक्ष्मः सर्वगतोऽस्म्यहम् ॥२८॥

अहं सकृद्विभातोऽहं स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः ।
सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम् ॥२९॥

सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराडहम् ।
समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतागुहाशयः ॥३०॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ।
स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम् ॥३१॥

सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम् ।
सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि सद्घनः ॥३२॥

सत्यस्वरूपः सन्मात्रः सिद्धः सर्वात्मकोऽस्म्यहम् ।
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रस्वात्मा बन्धहरोऽस्म्यम् ॥३३॥

सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ।
स्वतन्त्रोऽस्मि सुविस्पष्टः सुविभातोऽस्म्यहं हरिः ॥३४॥

अहं हरो हृदिस्थोऽहं हेतुदृष्टान्तवर्जितः ।
क्षेत्रज्ञः परमात्माहं श्रीमद्दीपिकसूक्तितः ॥३५॥

इत्थमात्मानुसंधानपरो यः पुरुषो भवेत् ।
सोऽविद्यावलेशनिर्मुक्तो ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥३६॥

॥ इत्यात्मानुसंधानं समाप्तम् ॥

ब्रह्मानन्दविलासः

नत्वा गुरुवरचरणान् नानामोहान्धकारखरकिरणान् ।
ब्रह्मानन्दविलासं ब्रह्मवदीड्यं करोमि सोल्लासम् ॥१॥

हित्वा दृश्यात्ममतिं मत्वा प्रत्यञ्चमद्वितीयचितिम् ।
त्यक्त्वा विषयाभिरतिं धृत्वोदास्ते मुनिश्शिवात्ममतिम् ॥२॥

निर्मूलितविषयाशा निस्त्रैगुण्यात्मरमणबद्धाशाः ।
शाटीभवद्दशाशाः शान्ता भुवि शेरते गलत्पाशाः ॥३॥

मायाकादंबिन्यां वर्षन्त्यामण्डबुद्बुदानि मुहुः ।
लीनान्युत्पन्नानि स्वात्मनि पश्यन्नुदास्त इह कोपि ॥४॥

गुरुचरणकमलनावा तीर्त्वा मोहार्णवं महायोगी ।
पूर्णो वीक्ष्योदास्ते विषयविषांभोधिमगमूर्खौघम् ॥५॥

निष्कलनिष्क्रियनिर्गुणनित्यानन्दैकरसमहादेवे ।
नित्यं निलीनभावा नयन्ति दिवसान्महानुभावा हि ॥६॥

निगमशिखानिष्णातो निरुपमनैस्पृह्यकवचितस्वान्तः ।
विहरत्यगाधबोधो विश्वाधिकचरणसरसिजासक्तः ॥७॥

ममकाराहंकारी महिलाकनकाङ्गगोचरी मुक्त्वा ।
माद्यत्यात्मारामो महामनाः कोपि परमहंसमणिः ॥८॥

अन्नमयादिममानन्दमयान्तं स्फोरयन् शिवः कोशम् ।
अहमित्यवबुद्ध्यास्ते हसन् जनं मोहसंकुलं मौनी ॥९॥

जननीजनकसहोदरकलत्रकनकादिपाशमुच्छिद्य ।
क्रीडति विरतिकरेण्वा कृपया शम्भोर्यमीन्द्रकरिकलभः ॥१०॥

सत्यसुखबोधसान्द्रे समरससम्पूर्णशाश्वताखण्डे ।
सर्वागमान्तसारे साक्षिणि साम्बे सदावलीयेऽहम् ॥११॥

बधिरान्धमूकजडवद्वाह्यव्यवहारवाह्यभावानाम् ।
ब्रह्मानुभूतिलहरीबहुलितमनसां भवेद्भुवो भर्ता ॥१२॥

अद्वयपरमशिवामृतमंगलमापीय हरति मोहतृषम् ।
कोपि यमिसार्वभौमः कोरकितानन्दबोधसर्वस्वः ॥१३॥

शिव शिव शिवानुभूत्या शिथिलितसंमोहविलसितो योगी ।
शीतकरशीतलान्तःकरणशीतोष्णसमदृगध्यास्ते ॥१४॥

निष्कामो निष्क्रोधो निर्लोभो निर्मदश्च निर्मोहः ।
निर्मत्सरो यतीन्द्रो नित्यानन्दो यतिर्जयति ॥१५॥

विगलितदेहाहंतो विद्यासंपन्नपरशिवाहन्तः ।
निर्धूतकनककान्तो निर्वृतिसर्वस्वभाजनं शान्तः ॥१६॥

संन्यस्तसर्वकर्मा धन्यस्तरुणेन्दुचूडरतिवर्मा ।
विन्यस्तविविधनर्मा सुन्यस्तमना मुनिर्महाशर्मा ॥१८॥

कुर्वंति सौहार्दं वा दौरात्म्यं वा मुहुर्मुहुर्जन्तौ ।
साम्यं कलयन्नास्ते साक्षिशिवात्मैकबोधनिस्तन्द्रः ॥१८॥

मायामत्सरविकलैर्माधवमारारिभेददूरगतैः ।
अतिवाह्यन्ते दिवसा अखण्डचैतन्यसंश्रयैर्यतिभिः ॥१९॥

अजरामराभयात्मनि हर्षविषादानभिज्ञविज्ञेये ।
लीनान्तरङ्गवृत्तिनि लिखितप्रतिमेव विद्यते मौनी ॥२०॥

मुमुदिपुरानन्दाब्धौ मुञ्चन् वर्णाश्रमादिनिर्बन्धम् ।
प्राप्तपरहंसभावः प्राज्ञः परबोधढौकितो जयति ॥२१॥

कान्ताहेम्नोर्विमुखो वान्ताशन इव शुनो भृशं शान्तः ।
श्रान्तश्च कोप्यवासा दान्तः पर्यटति भुव्यसंभ्रान्तः ॥२२॥

अतिलंघ्य विधिनिषेधावागमयाथात्म्यबोधलीढमनाः ।
अवधूतविषयगन्धो हन्त पुरारेर्दयावलादस्मि ॥२३॥

शिवकरुणयेव कोपि श्रीविलसितमखिलमगणयन् धीरः ।
शिशुरिव विशुद्धभावः शिथिलितमानो विराजते मौनी ॥२४॥

निर्धूतनिखिलकर्मा निरवधिकानन्दबोधकृतवर्मा ।
गुरुकरुणाकृतशर्मा गूढं पर्यटति कोपि शमधर्मा ॥२५॥

तृणकणितस्वाराज्यः श्रय्यन्ताकूतबोधसाम्राज्यः ।
सज्जनकदंबपूज्यो जयति मुनिश्शान्तिचातुरीराज्यः ॥२६॥

विष इव विषये विमुखो विद्यासाम्राज्यमनुभवन्नेकः ।
न जिहासति नोपादित्सति रूपं नाम वा मौनी ॥२७॥

निन्द्यो वा वन्द्यो वा देहो नात्मेति निश्चितस्वान्तः ।
पर्यटति बालवद्वा पिशाचवद्वापि कोपि परहंसः ॥२८॥

क्वचिदीडितो जनौघैः क्वचन खलैर्निन्दितो हसन्मूकः ।
क्रीडति परचिद्गहने कृतान्तपरिपन्थिकरुणया योगी ॥२९॥

पाणितपाणिपुटानां वसनितहरितां विनीतरागाणाम् ।
शोच्यः स्वराडपि स्यात् शुद्धचिदानन्दचेतसां यमिनाम् ॥३०॥

स्वपराभिमानहीनः स्वात्मानन्दांबुधौ सदा मग्नः ।
कुहचिद्गायति नृत्यति कुत्रचिदानन्दनिर्भरः शेते ॥३१॥

अस्तमितभेदमोहैस्त्वधूतविशेषविषयसंसर्गैः ।
उदभावि परमहंसैरुन्मस्तकवस्तुसंविदानन्दैः ॥३२॥

सद्घनमानन्दघनं बोधघनं विधुतलौकिकापघनम् ।
ब्रह्मैवाहं भगवद्बुद्ध्याद्यवभासनं शिवं शान्तम् ॥३३॥

कल्याणाकल्याणे क्रिये निजाज्ञानजृंभिते मुक्त्वा ।
पूर्णानन्दसदाशिवपुष्कलबोधो विराजते योगी ॥३४॥

ब्रह्माण्डपण्डजलधिं ब्रह्मात्मैक्यावबोधवडवाग्नौ ।
जुह्वति कतिचिद्धीरा जुह्वा बुद्ध्या यमीश्वराध्वरिणः ॥३५॥

विदुषि गवि करिणि शुनि च श्वपचे समबुद्धयः शिवाचाराः ।
परहंसा विहरन्ति प्रशिथिलमोहाः पिनाकिनः कृपया ॥३६॥

उपनिषदैदंपर्यैरुडुपरिवृढडिंभशेखरैरस्मि ।
उपजीवितपरिचितधीरुरगाभरणैर्महोभिरतिशुभ्रैः ॥३७॥

परिमितपामरसंगः परतत्त्वस्फूर्तिपारवश्येन ।
विस्मृतशरीरयात्रो विराजते कोपि वीतरागमणि ॥३८॥

तीव्रतरविरतिनावा तीर्त्वा विषयांबुधिं महाधीरः ।
तृणवत्त्रिजगच्छ्रियमपि न गणयति स्वैरविहरणः कोपि ॥३९॥

समलोष्टकाञ्चनानां सर्वातीते पदे रमताम् ।
सरसिजभवनश्रीरपि साम्यं न वहति हि सौख्यलेशस्य ॥४०॥

समबुद्धिलब्धसौख्यस्सत्यास्तेयादिसुगुणकृतसख्यः ।
शमधनयमिवरमुख्यः शंकरकृपयास्मि परमहंसाख्यः ॥४१॥

दिव्यमिह किमपि तत्त्वं द्रागद्राक्षं तु दैशिकादेशात् ।
सुचरितविपाकसुरतरुसुलब्धनैस्पृह्यधैर्यनैष्कर्म्यः ॥४२॥

अनिदंरूपमखण्डितमखिलाम्नायान्तसारसर्वस्वम् ।
अजरामराभयात्मकमहमित्यवगत्य हृष्यति महात्मा ॥४३॥

भूतं भावि च भवदपि भगवन्मायेति बुधमुखाद्बुद्धा ।
आध्वं स्वस्थास्सततं बाध्व इवानन्दबोधनिष्यन्दाः ॥४४॥

निर्मत्सरधौरेयो निखिलं विश्वं विभावयन् ब्रह्म ।
नैश्चिन्त्यसौधमध्ये नैजमहत्त्वज्ञशेखरः शेते ॥४५॥

चिदहमिति चिन्तयन्तश्चिरमिह निष्कम्पदीप इव निपुणाः ।
निष्ठानिलीनमनसो निस्पृहतिलका जयन्ति परहंसाः ॥४६॥

तृणकणितसार्वभौमस्त्रुटिताहन्तस्तनौ महामौनी ।
स्वच्छन्दवृत्तिललितस्स्वैरं पर्यटति सर्वतो योगी ॥४७॥

गगनमिव शून्यभावो गभीरवृत्तिर्महासमुद्र इव ।
अचल इव चाप्रकंप्यो हतमात्सर्यो विराजते हंसः ॥४८॥

निश्शेषितनिखिलाशो निरुपाधिकसत्त्वबोधसौभाग्यः ।
निश्चिन्तचक्रवर्ती निगमान्ताकूतविद्यया जयति ॥४९॥

किमपि च विचिन्तयन्तः कृशानुरेतःकृपावशात्केपि ।
किं यशसा किं तपसा किं नाकेनेति कुर्वते वादान् ॥५०॥

यदि परतत्त्वानुभवो यदि गुरुचरणारविन्दशुश्रूषा ।
घटते शरीरभाजां किमिति विमुह्यन्ति दग्धसंसारे ॥५१॥

स्त्रीणामवाच्यदेशे क्लिन्नशिराग्रन्थिरन्ध्रपर्याये ।
मग्नमनोभिर्मूर्खैर्महत्त्वमज्ञातमात्मनो नूनम् ॥५२॥

महिलाख्यवागुराभिर्मदनव्याधो मृगान् पुंसः ।
आबद्ध्य निरयविवरे हन्त निपातयति गुरुकृपाविगमे ॥५३॥

ऊरीकृतगुणवर्गा दूरीकृतदुर्विनीतसंसर्गाः ।
स्फारीकृतशिवभजना नारीकृतविभ्रमैर्न मुह्यामः ॥५४॥
परिपूर्णतत्त्वबोधैः पाटितदेहाभिमानमात्सर्यैः ।
तीर्णो भवार्णवोऽयं त्रिपुरद्रोहिस्मृतिप्रभावबलात् ॥५५॥
वञ्चितपञ्चशराणामञ्चितगुरुनाथचरणकमलानाम् ।
किं च निर्मत्सराणां कृपादृशा क्लृप्तसुखमिदं विश्वम् ॥५६॥
अध्यस्तमखिलदृश्यं हरकृपयात्मन्यपास्य बोधेन ।
मध्यस्थवृत्तिरेको माद्यत्यद्वैतवस्तुपरसुधया ॥५७॥
जननमरणप्रवाहे जगदेतद्वीक्ष्य मग्नमतिकृपया ।
जगदीश एव जज्ञे यदुपतिरूपेण यस्तमाकलये ॥५८॥
नाहं देहत्रयमिति नाथकृपापूर्णपात्रभूतस्य ।
नानामोहध्वंसी नारायणचिंतकस्य बोधः स्यात् ॥५९॥
प्रकृतिपुरुषान्तरज्ञः प्राकृतवृत्तान्तदूरतरचेताः ।
पश्यन्नपि चापश्यन् पर्यटति प्राज्ञपुरुषमूर्धन्यः ॥६०॥
नेतीति निगमवाण्या निखिलं निर्धूय वेद्यराशिमथ ।
अरोक्षितात्मतत्त्व आनन्दाब्धौ विलीयते कोपि ॥६१॥
धामत्रयदुःस्वप्नं दाक्षायण्याः कृपादृशा दृष्टः ।
पश्यति न पुनर्धीरः प्रज्ञादवदग्धयुवतिमोहवनः ॥६२॥
नाहं किञ्चिञ्जाने नानाभूतं तु वस्तुबोधाब्धौ ।
चिदिहैकाकिन्यस्ति श्रीकण्ठादिस्वरूपिणी सत्यम् ॥६३॥
करकलिततत्त्वमुद्रैः कृतकनकन्यंकुदीर्घतमनिद्रैः ।
करुणासुधासमुद्रैः कर्म ध्वस्तं तु रामभद्रैर्नः ॥६४॥

इति श्रीपरमहंसशाश्वतानन्दस्वामिविरचितो
ब्रह्मानन्दविलासः संपूर्णः ॥

वेदपादस्तवः

वक्रतुण्ड महाकाय कोटिसूर्यसमप्रभ ।
निर्विघ्नं कुरु मे देव सर्वकार्येषु सर्वदा ॥१॥

कुण्डलीकृतनागेन्द्रं खण्डेन्दुकृतशेखरम् ।
पिण्डीकृतमहाविघ्नं ढुण्ढिराजं नमाम्यहम् ॥२॥

मातामहमहाशैलं महस्तदपितामहम् ।
कारणं जगतां वन्दे कण्ठादुपरी वारणम् ॥३॥

वन्दे महेश्वरं शम्भुं विघ्नेशं षण्मुखं गुरुम् ।
गणशान्नन्दिमुख्यांश्च शिवभक्तान्महामुनीन् ॥४॥

उमापत्यमुमाजानिमुमां चोमासहोदरम् ।
उमाननान्दरं पद्मां विधिं वयमुपास्महे ॥५॥

पञ्चाक्षरतनुं पञ्चवदनं प्रणवं शिवम् ।
अपारकरुणारूपं गुरुमूर्तिमहं भजे ॥६॥

नमो निष्कलरूपाय नमो निष्कलतेजसे ।
नमः सकलनाथाय नमस्ते सकलात्मने ॥७॥

नमः प्रणववाच्याय नमः प्रणवलिङ्गिने ।
ममः सृष्ट्यादिकर्त्रे च नमः पञ्चमुखाय ते ॥८॥

पञ्चब्रह्मस्वरूपाय पञ्चकृत्याय ते नमः
आत्मने ब्रह्मणे तुभ्यमनन्तगुणशक्तये ।
सकलाकलरूपाय शम्भवे गुरवे नमः ॥९॥

पुण्डरीकपुराधीशं पुण्डरीकाजिनाम्बरम् ।
पुण्डरीकरुचिं वन्दे पुण्डरीकाक्षसेवितम् ॥१०॥

ऋषय ऊचुः—

पुण्डरीकपुरं प्राप्य जैमिनिर्मुनिसत्तमः ।
किं चकार महायोगी सूत नो वक्तुमर्हसि ॥११॥

सूत उवाच—

भगवान् जैमिनिर्धीमान्पुण्डरीकपुरे पुरा ।
महर्षिसिद्धगन्धर्वयक्षकिन्नरसेविते ॥१२॥

नृत्यद्भिरप्सरस्सङ्घैर्दिव्यगानैश्च शोभिते ।
नृत्यन्तं परमीशानं ददर्श सदसि प्रभुम् ॥१३॥

ननाम दूरतो दृष्ट्वा दण्डवत् क्षितिमण्डले ।
पपावुत्थाय देवस्य ताण्डवामृतमागलम् ॥१४॥

पार्श्वस्थितां महादेवीं पश्यन्तीं तस्य ताण्डवम् ।
दृष्ट्वा सुसंहृष्टमनाः पपात पुरतो मुनिः ॥१५॥

ततश्शिष्यान् समाहूय वेदशास्त्रार्थपारगान् ।
अग्निकेशमकेशं च शतयागं जटाधरम् ॥१६॥

वक्रनासं समित्पाणिं धूमगन्धिं कुशासनम् ।
एतैस्सार्धं महादेवं पूजयामास जैमिनिः ॥१७॥

ततो विवेद वेदान्तसारार्थं तत्प्रसादतः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं वेदान्तस्तवमुत्तमम् ॥१८॥

श्रीजैमिनिरुवाच—

ॐ विघ्नेश विधिमार्तण्डचन्द्रेन्द्रोपेन्द्रवन्दित ।
नमो गणपते तुभ्यं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते ॥१॥

उमाकोमलहस्ताब्जसंभावितललाटिकम् ।
हिरण्यकुण्डलं वन्दे कुमारं पुष्करस्रजम् ॥२॥

शिवं विष्णोश्च दुर्दर्शं नरः कःस्तोतुमर्हति ।
तस्मान्मत्तस्स्तुतिस्सेयमभ्राद्वृष्टिरिवाजनि ॥३॥

नमश्शिवाय सांबाय नमश्शर्वाय शम्भवे ।
नमो नटाय रुद्राय सदसस्पतये नमः ॥४॥

पादभिन्नाहिलोकाय मौलिभिन्नाण्डभित्तये ।
भुजभ्रान्तदिगन्ताय भूतानां पतये नमः ॥५॥

क्वणन्नूपुरयुग्माय विलसत्कृत्तिवाससे ।
फणीन्द्रमेखलायास्तु पशूनां पतये नमः ॥६॥

कालकालाय सोमाय योगिने शूलपाणये ।
अस्थिभूषाय शुद्धाय जगतां पतये नमः ॥७॥

पात्रे सर्वस्य जगतो नेत्रे सर्वदिवौकसाम् ।
गोत्राणां पतये तुभ्यं क्षेत्राणां पतये नमः ॥८॥

शङ्कराय नमस्तुभ्यं मङ्गलाय नमोऽस्तु ते ।
धनानां पतये तुभ्यमन्नानां पतये नमः ॥९॥

अष्टांगायातिहृष्टाय क्लिष्टभक्तेष्टदायिने ।
इष्टिघ्नायास्तु तुष्टाय पुष्टानां पतये नमः ॥१०॥

पञ्चभूताधिपतये कालाधिपतये नमः।
नम आत्माधिपतये दिशां च पतये नमः ॥११॥

विश्वकर्त्रे महेशाय विश्वभर्त्रे पिनाकिने।
विश्वहन्त्रेऽग्निनेत्राय विश्वरूपाय वै नमः ॥१२॥

ईशान ते तत्पुरुष नमो घोराय ते सदा।
वामदेव नमस्तेऽस्तु सद्योजाताय वै नमः ॥१३॥

भूतिभूषाय भक्तानां भीतिभङ्गरताय ते।
नमो भवाय भर्गाय नमो रुद्राय मीढुषे ॥१४॥

सहस्राङ्गाय साम्बाय सहस्राधीश ते नमः।
सहस्रबाहवे तुभ्यं सहस्राक्षाय मीढुषे ॥१५॥

सुकपोलाय सोमाय सुललाटाय सुभ्रुवे।
सुदेहाय नमस्तुभ्यं सुमृडीकाय मीढुषे ॥१६॥

भवक्लेशनिमित्तोरुभयच्छेदकृते सताम्।
नमस्तुभ्यमषाढाय सहमानाय वेधसे ॥१७॥

वन्देऽहं देवमानन्दसंदोहं लास्यसुन्दरम्।
समस्तजगतां नाथं सदसस्पतिमद्भुतम् ॥१८॥

सुजङ्घं सूदरं सूरुं सुकण्ठं सोमभूषणम्।
सुगण्डं सुदृशं वन्दे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ॥१९॥

भिक्षाहारं हरित्क्षौमं रक्षाभूषं क्षितिक्षमम्।
यक्षेशेष्टं नमामीशमक्षरं परमं पदं ॥२०॥

अर्धालकमवक्राधंमस्थ्युत्पलदलस्रजम्।
अर्धपुंलक्षणं वन्दे पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥२१॥

सकृत्प्रणतसंसारमहासागरतारकम् ।
प्रणमामि तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम् ॥२२॥

धातारं जगतामीशं दातारं सर्वसंपदाम् ।
नेतारं मरुतां वन्दे जेतारमपराजितम् ॥२३॥

तं त्वामन्तकहन्तारं वन्दे मन्दाकिनीधरम् ।
ततानि विदधे योऽयमिमानि त्रीणि विष्टपा ॥२४॥

सर्वज्ञं सर्वगं सर्वं कविं वन्दे तमीश्वरम् ।
यतश्च यजुषा सार्धमृचस्सामानि जज्ञिरे ॥२५॥

भवन्तं सुदृशं वन्दे भूतभव्यभवन्ति च ।
त्यजन्नितरकर्माणि यो विश्वाभि विपश्यति ॥२६॥

हरं सुरनियन्तारं परं तमहमानतः ।
यदाज्ञया जगत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥२७॥

तं नमामि महादेवं यन्नियोगादिदं जगत् ।
कल्पादौ भगवान् धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥२८॥

ईश्वरं तमहं वन्दे यस्य लिङ्गमहर्निशम् ।
यजन्ते सह भार्याभिरिन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः ॥२९॥

नमामि तमिमं रुद्रं यमभ्यर्च्य सकृत्पुरा ।
अवापुस्स्वं स्वमैश्वर्यं देवासः पूपरातयः ॥३०॥

तं वन्दे देवमीशानं यं शिवं हृदयाम्बुजे ।
सततं यतयश्शान्तास्सञ्जानाना उपासत ॥३१॥

तदस्यै सततं कुर्मो नमः कमलकान्तये ।
उमाकुचपद्मोरस्का या ते रुद्रः शिवा तनूः ॥३२॥

नमस्ते रुद्र भावाय नमस्ते रुद्र केलये।
नमस्ते रुद्र शान्त्यै च नमस्ते रुद्र मन्यवे ॥३३॥

वेदाश्वरथनिष्ठाभ्यां पादाभ्यां त्रिपुरान्तक।
बाणकार्मुकयुक्ताभ्यां बाहुभ्यामुत ते नमः ॥३४॥

ईशानं सकलाराध्यं वन्दे सम्पत्समृद्धिदम्।
यस्य चासीद्धरिश्शस्त्रं ब्रह्मा भवति सारथिः ॥३५॥

नमस्ते वासुकिज्याय विष्फाराय च शङ्कर।
महते मेरुरूपाय नमस्ते अस्तु धन्वने ॥३६॥

नमः परशवे देवशूलायानलरोचिषे।
हर्यङ्गीन्द्रात्मने तुभ्यमुतोत इषवे नमः ॥३७॥

सुरेतरवधूहारहारीणि हर यानि ते।
अन्यान्यस्त्राण्यहं तूर्णमिदं तेभ्योऽकरं नमः ॥३८॥

धराधरसुतालीलासरोजाहृतबाहवे।
तस्मै तुभ्यमवोचाम नमो अस्मा अवस्यवः ॥३९॥

रक्ष मामक्षमं क्षीणमक्षक्षतमशिक्षितम्।
अनाथं दीनमापन्नं दरिद्रं नीललोहित ॥४०॥

दुर्मुखं दुष्क्रियं दुष्टं रक्ष मामीश दुर्दशम्।
मादृशानामहं नात्वदन्यं विन्दामि राधसे ॥४१॥

भवाख्येनाग्निना शम्भो रागद्वेषमदार्चिषा।
दयालो दह्यमानानामस्माकमविता भव ॥४२॥

परदारं परावासं परवस्त्रं पराप्रियम्।
हर पाहि परान्नं मां पुरुणामन् पुरुष्टुत ॥४३॥

लोकिकैर्यत्कृतं पुष्टैर्नावमानं सहामहे ।
देवेश तव दासेभ्यो भूरिदा भूरि देहि नः ॥४४॥

लोकानामुपपन्नानां गर्विणामीश पश्यताम् ।
अस्मभ्यं क्षेत्रमायुश्च वसुस्पार्हं तदाभर ॥४५॥

याश्वादौ महतीं लज्जामस्मदीयां घृणानिधे ।
त्वनेव वेत्सि नस्तूर्णमिपं स्तोतृभ्य आभर ॥४६॥

जाया माता पिता चान्ये मां द्विषंत्यमतिं कृशम् ।
देहि मे महतीं विद्यां राया विश्वपुषा सह ॥४७॥

अदृष्टार्थेषु सर्वेषु दृष्टार्थेष्वपि कर्मसु ।
मेरुधन्वन्नशक्तेभ्यो बलं धेहि तनूषु नः ॥४८॥

लब्धानिष्टसहस्रस्य नित्यमिष्टवियोगिनः ।
हृद्रोगं मम देवेश हरिमाणं च नाशय ॥४९॥

ये ये रोगाः पिशाचा वा नरा देवाश्च मामिह ।
बाधन्ते देव तान् सर्वान् निबाधस्व महानसि ॥५०॥

त्वमेव रक्षिताऽस्माकं नान्यः कश्चन विद्यते ।
तस्मात्स्वीकृत्य देवेश रक्षाणो ब्रह्मणस्पते ॥५१॥

त्वमेवोमापते माता त्वं पिता त्वं पितामहः ।
त्वमायुस्त्वं मतिस्त्वं श्रीरुत भ्रातोत नस्सखा ॥५२॥

यतस्त्वमेव देवेश कर्ता सर्वस्य कर्मणः ।
ततः क्षमस्व तत्सर्वं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ॥५३॥

त्वत्समो न प्रभुत्वेन फल्गुत्वेन च मत्समः ।
अतो देव महादेव त्वमस्माकं तव स्मसि ॥५४॥

सुस्मितं भस्मगौराङ्गं तरुणादित्यविग्रहम् ।
प्रसन्नवदनं सौम्यं गायेत्वा नमसा गिरा ॥५५॥

एष एव वरोऽस्माकं नृत्यन्तं त्वां सभापते ।
लोकयन्तमुमाकान्तं पश्येम शरदश्शतम् ॥५६॥

अरोगिणो महाभागा विद्वांसश्च वहुश्रुताः ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन जीवेम शरदश्शतम् ॥५७॥

सदारा वन्धुभिस्सार्धं त्वदीयं ताण्डवामृतम् ।
पिवन्तः काममीशान नन्दाम शरदश्शतम् ॥५८॥

देवदेव महादेव त्वदीयांघ्रिसरोरुहे ।
कामं मधुमयं पीत्वा मोदाम शरदश्शतम् ॥५९॥

कीटा नागाः पिशाचा वा ये वा के वा भवे भवे ।
तव दासा महादेव भवाम शरदश्शतम् ॥६०॥

सभायामीश ते दिव्यं नृत्तवाद्यकलस्वनम् ।
श्रवणाभ्यां महादेव श्रृणवाम शरदश्शतम् ॥६१॥

स्मृतिमात्रेण संसारविनाशनपराणि ते ।
नामानि तव दिव्यानि प्रब्रवाम शरदश्शतम् ॥६२॥

इषुसन्धानमात्रेण दग्धत्रिपुर धूर्जटे ।
आधिभिर्व्याधिभिर्नित्यमजीतास्स्याम शरदश्शतम् ॥६३॥

चारुचामीकराभासं गौरीकुचपदोरसम् ।
कदा नु लोकयिष्यामि युवानं विश्पतिं कविम् ॥६४॥

प्रमथेन्द्रावृतं प्रीतवदनं प्रियभाषिणम् ।
सेविष्येऽहं कदा साम्बं सुभासं शुक्रशोचिषम् ॥६५॥

यद्वैनसं मामकृतपुण्यलेशं च दुर्मतिम् ।
स्वीकरिष्यति किं न्वीशो नीलग्रीवो विलोहितः ॥६६॥

कालशूलानलासक्तभीतिव्याकुलमानसम् ।
कदा नु द्रक्ष्यतीशो मां तुविग्रीवो अनानतः ॥६७॥

गायका यूयमायात यदि रायादिलिप्सवः ।
धनदस्य सखेशोऽयमुपास्मै गायता नरः ॥६८॥

आगच्छत सखायो मे यदि यूयं मुमुक्षवः ।
स्तुतेशमेनं मुक्त्यर्थमेप विप्रैरभिष्टुतः ॥६९॥

पदे पदे पदे देवपदं नः सेत्स्यति ध्रुवम् ।
प्रदक्षिणं प्रकुरुतमध्यक्षं धर्मणामिमम् ॥७०॥

सर्वं कार्यं युवाभ्यां हि सुकृतं सुहृदो मम ।
अञ्जलिं कुरुतं हस्तौ रुद्राय स्थिरधन्वने ॥७१॥

मन्मूर्धन् मरुतामूर्ध्वं भवं चन्द्रार्धमूर्धजम् ।
मूर्धघ्नं च चतुर्मूर्घ्नो नमस्या कल्मलीकिनम् ॥७२॥

नयने नयनोद्भूतदहनालीढमन्मथम् ।
पश्यतं तरुणं सौम्यं भ्राजमानं हिरण्मयम् ॥७३॥

सभायां शूलिनस्सन्ध्यानृत्तवाद्यस्वनामृतम् ।
कर्णौ तूर्णं यथाकामं पातं गौराविवेरिणे ॥७४॥

नासिके वासुकिश्वासवासिताभासितोरसम् ।
घ्रायतं गरलग्रीवमस्मभ्यं शर्म यच्छतम् ॥७५॥

स्वस्त्यस्तु सुहिते जिह्वे विद्यादातुरुमापतेः ।
स्तवमुच्चतरं ब्रूहि जयतामिव दुन्दुभिः ॥७६॥

चेतःपोत न शोचस्त्वं निन्द्यं विन्दाखिलं जगत् ।
अस्य नृतामृतं शम्भोर्गौरो न तृषतिः पिव ॥७७॥

सुगन्धि सुखसंस्पर्शं कामदं सोमभूषणम् ।
गाढमालिङ्गमच्चित्तयोपा जारमिव प्रियम् ॥७८॥

महामयूखाय महाभुजाय महाशरीराय महाम्वराय ।
महाकिरीटाय महेश्वराय महोमयीं सुष्टुतिमीरयामि ॥७९॥

यथाकथंचिद्रचिताभिरीश प्रसादतश्चारुभिरादरेण ।
प्रपूजयामि स्तुतिभिर्महेशमपाढमुग्रं सहमानमाभिः ॥८०॥

नमश्शिवाय त्रिपुरान्तकाय जगत्यतत्रयेशाय दिगम्बराय ।
नमोऽस्तु मुख्याय हराय शम्भो नमो जघन्याय च वुध्नियाय ॥८१॥

नमो विकाराय विकारिणे ते नमो भवायास्तु भवोद्भवाय ।
वहुप्रजाऽत्यन्तविचित्ररूपा यतः प्रसूता जगतः प्रसूती ॥८२॥

तस्मै सुरेशोरुकिरीटनानानारत्नावृताष्टापदविष्टराय ।
भस्माङ्गरागाय नमः परस्मै यस्मात् परन्नापरमस्ति किंचित् ॥८३॥

सर्पाधिराजौषधिनाथयुद्धक्षुभ्यज्जटामण्डलगह्वराय ।
तुभ्यं नमस्सुन्दरताण्डवाय यस्मिन्निदं सञ्चविचेति सर्वम् ॥८४॥

नमामि नित्यं त्रिपुरारिमेनं यमान्तकं षण्मुखतातमीशम् ।
ललाटनेत्रार्दितपुष्पचापं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ॥८५॥

मुरारिनेत्रार्चितपादपद्ममुमांघ्रिलाक्षापरिरक्तपाणिम् ।
नमामि देवं विषनीलकण्ठं हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् ॥८६॥

अनन्तमव्यक्तमचिन्त्यमेकं हरन्तमाशाम्वरमम्वराङ्गम् ।
अजं पुराणं प्रणमामि योऽयमणोरणीयान्महतो महीयान् ॥८७॥

अन्तस्थमात्मानमजं न दृष्ट्वा भ्रमन्ति मूढा गिरिगह्वरेषु ।
पश्चादुदग्दक्षिणतः पुरस्तादधस्विदासीदुपरिस्विदासीत् ॥८८॥

इमं नमामीश्वरमिन्दुमौलिं शिवं महानन्दमशोकदुःखम् ।
हृदम्बुजे तिष्ठति यः परात्मा परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ॥८९॥

रागादिकापथ्यसमुद्भवेन भग्नं भवाख्येन महामयेन ।
विलोक्य मां पालय चन्द्रमौले भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥९०॥

दुःखाम्बुराशिं सुखलेशहीनमस्पृष्टपुण्यं बहुपातकं माम् ।
मृत्योः करस्थं भव रक्ष भीतं पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्तात् ॥९१॥

गिरीन्द्रजाचारुमुखावलोकसुशीतया देव तवैव दृष्ट्या ।
वयं दयापूरितयैव तूर्णमपो न नावा दुरिता तरेम ॥९२॥

अपारसंसारसमुद्रमध्ये निमग्नमुत्क्रोशमनल्परागम् ।
नामक्षमं पाहि महेश जुष्टमोजिष्ठया दक्षियेव रातिम् ॥९३॥

स्मरन् पुरा सञ्चितपातकानि खरं यमस्यापि मुखं यमारे ।
बिभेमि मे देहि यथेष्टमायुर्यदि क्षितायुर्यदि वा परेतः ॥९४॥

सुगन्धिभिस्सुन्दरभस्मगौरैरनन्तभोगैर्मृदुलैरघोरैः ।
इमं कदालिङ्गति मां पिनाकी स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रः ॥९५॥

क्रोशन्तमीशः पतितं भवाब्धौ नागास्यमण्डूकमिवातिभीतम् ।
कदा नु मां द्रक्ष्यति देवदेवो हिरण्यरूपस्स हिरण्यसंदृक् ॥९६॥

चारुस्मितं चन्द्रकलावतंसं गौरीकटाक्षार्हमयुग्मनेत्रम् ।
आलोकयिष्यामि कदा नु देवमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९७॥

आगच्छतात्राशु मुमुक्षवो ये यूयं शिवं चिन्तयतान्तराब्जे ।
ध्यायन्ति मुक्त्यर्थमिमं हि नित्यं वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः ॥९८॥

आयात यूयं भुवनाधिपत्यकामा महेशं सकृदर्चयध्वम् ।
एनं पुराभ्यर्च्य हिरण्यगर्भो भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥९९॥

ये कामयन्ते विपुलां श्रियं ते श्रीकण्ठमेनं सकृदानमन्ताम् ।
श्रीमानयं श्रीपतिवन्द्यपादश्श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम् ॥१००॥

सुपुत्रकामा अपि ये मनुष्या युवानमेनं गिरिशं यजन्ताम् ।
यतस्स्वयंभूर्जगतां विधाता हिरण्यगर्भस्समवर्ततताग्रे ॥१०१॥

अले किमुक्तैर्बहुभिस्समीहितं समस्तमस्याश्रयणेन सिध्यति ।
पुरैनमाश्रित्य हि कुम्भसम्भवो दिवा न नक्तं पलितो युवाजनि ॥१०२॥

अन्यत्परित्यज्य ममाक्षभृङ्गास्सर्वं सदैवं शिवमाश्रयध्वम् ।
आमोदवानेष मृदुश्शिवोऽयं स्वादुष्किलायं मधुमां उतायम् ॥१०३॥

भविष्यसि त्वं प्रतिमानहीना विनिर्जिताऽशेषनरामरा च ।
नमोऽस्तु ते वाणि महेशमेनं स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानम् ॥१०४॥

यद्यन्मनश्चिन्तयसि त्वमिष्टं तत्तद्भविष्यत्यखिलं ध्रुवं ते ।
दुःखे निवृत्तिविषये कदाचिद्यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्रम् ॥१०५॥

अज्ञानयोगादपचारकर्म यत्पूर्वमस्माभिरनुष्ठितं ते ।
तद्देव सोढ्वा सकलं दयालो पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ॥१०६॥

संसाराख्यक्रुद्धसर्पेण तीव्रैः रागद्वेषोन्मादलोभादिदन्तैः ।
दृष्टं दृष्ट्वा मां दयालुः पिनाकी देवत्राता त्रायतामप्रयुच्छन् ॥१०७॥

इत्युक्त्वान्ते यत्समाधेर्नमन्तो रुद्राद्यास्त्वां यान्ति जन्माहिदष्टाः ।
सन्तो नीलग्रीवसूत्रात्मनाहं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः ॥१०८॥

भवातिभीषणज्वरेण पीडितान्महाभया-
नशेषपातकाल्यानदूरकाललोचनान् ।

अनाथनाथ ते करेण भेषजेन कालह-
न्नुदूवुणो वसो महे मृशस्व शूर राधसे ॥१०९॥

जयेम येन सर्वमेतदिष्टमष्टदिग्गजं
भुवःस्थलं नभःस्थलं दिवःस्थलं च तद्गतम् ।
य एव सर्वदेवदानवानतस्सभापति-
स्सनो ददातु तं रयिं रयिं पिशङ्गसन्दृशम् ॥११०॥

नमो भवाय ते हराय भूतिभासितोरसे
नमो मृडाय ते हराय भूतभीतिभङ्गिने ।
नमश्शिवाय विश्वपाय शाश्वताय शूलिने
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ॥१११॥

सुरपतिपतये नमो नमः क्षितिपतिपतये नमो नमः ।
प्रजापतिपतये नमो नमोऽम्बिकापतय उमापतये पशुपतये
नमो नमः ॥११२॥

विनायकं वन्दकमस्तकाहतिस्वनातिसङ्घुष्टसमस्तविष्टपम् ।
नमामि नित्यं प्रणतार्तिनाशनं कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् ॥११३॥

देवा युद्धे यागे विप्राः स्वीयां सिद्धिं ह्वायं ह्वायम् ।
यं सिद्धयन्ति स्कन्दं वन्दे सुब्रह्मण्यों सुब्रह्मण्योम् ॥११४॥

नमश्शिवायै जगदम्बिकायै शिवप्रियायै शिवविग्रहायै ।
समुद्भवाद्रिपतेस्सुता या चतुष्कपर्दा युवतिस्सुपेशाः ॥११५॥

हिरण्यवर्णां मणिनूपुराङ्घ्रिं प्रसन्नवक्त्रां शुकपद्महस्ताम् ।
विशालनेत्रां प्रणमामि गौरीं वचोविदं वाचमुदीरयन्तीम् ॥११६॥

नमामि मेनातनयाममेयामुमामिमां मानवतीं च मान्याम् ।
करोति या भूतिसितौ स्तनौ द्वौ प्रियं सखायं परिषस्वजाना ॥११७॥

कान्तामिमां कान्तनितान्तकान्तिभ्रान्तामुपान्तानतहर्यजेन्द्राम् ।
नतोऽस्मि यास्ते गिरिशस्य पार्श्वे विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्य ।।११८।

वन्दे गौरीं तुङ्गपीनस्तनीं तां चन्द्राचूडां श्लिष्टसर्वाङ्गरागाम् ।
एवा देवी प्राणिनामन्तरात्मा देवं देवं राधसे चोक्षयन्ती ।।११९।।

एनां वन्दे दीनरक्षाविनोदां मेनकन्यामानतानन्ददात्रीम् ।
या विद्यानां मङ्गलानां च वाचामेषा नेत्री राधसस्सूनृतानाम् ।।१२०।।

भवार्तिभीतोरुभयापहन्त्रि भवानि भोग्याभरणैकभोगैः ।
धियं परां देहि शिवप्रिये नो ययाति विश्वा दुरिता तरेम ।।१२१।।

शिवे कथं त्वं स्तुतिभिस्तु गीयसे जगत्त्रयी केलिरयं शिवः पतिः ।
हरिस्तु दासोऽनुचरेन्दिरा शची सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु ।।१२२।।

इमं स्तवं जैमिनिना प्रचोदितं द्विजोत्तमो यः पठतीशभक्तितः ।
तमिष्टवाक्सिद्धिमतिद्युतिश्रियः परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिम् ।।१२३।।

महीपतिर्यस्तु युयुत्सुरादरादिमं पठत्यस्य तथैव सादराम् ।
प्रयान्ति वा शीघ्रमथान्तकान्तिकं भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः ।।१२४।।

त्रैवर्णिकेष्वन्यतमो य एनं नित्यं कदाचित्पठतीशभक्तितः ।
कलेवरान्ते शिवपार्श्ववर्ती निरञ्जनस्साम्यमुपैति दिव्यम् ।।१२५।।

लभन्ते पठन्तो मतिं बुद्धिकामाः
लभन्ते चिरायुस्तथायुष्यकामाः ।
लभन्ते पठन्तः श्रियं पुष्टिकामाः
लभन्ते ह पुत्रान् लभन्ते ह पुत्रान् ।।१२६।।

इत्यनेन स्तवेनेशं स्तुत्वासौ जैमिनिर्मुनिः ।
स्नेहाश्रुपूर्णनयनः प्रणनाम सभापतिम् ।।१।।

मुहुर्मुहुः पिबन्नीशताण्डवामृतमागलम् ।
सर्वान्कामानवाप्यान्ते गाणापत्यमवाप ह ॥२॥

पादं वाप्यर्धपादं वा श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
यस्तु वाचयते नित्यं शिवलोकं स गच्छति ॥३॥

वेदः शिवः शिवो वेदो वेदाध्यायी सदाशिवः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वेदाध्यायिनमर्चयेत् ॥४॥

अधीतविस्मृता वेदा वेदपादस्तवं पठन् ।
स चतुर्वेदसाहस्रपारायणफलं लभेत् ॥५॥

चिदम्बरमिति ब्रूयात् सकृज्जननवर्जितः ।
मुक्तिघण्टामणिपथं मोक्षमेव समश्नुते ॥६॥

कृपासमुद्रं सुमुखं त्रिनेत्रं जटाधरं पार्वतिवामभागम् ।
सदाशिवं रुद्रमनन्तरूपं चिदम्बरेशं हृदि भावयामि ॥७॥

आनन्दनृत्तसमये नटनायकस्य
पादारविन्दमणिनूपुरशिञ्जितानि ।
आनन्दयन्ति मुदयन्ति विमोहयन्ति
रोमाञ्चयन्ति नयनानि कृतार्थयन्ति ॥८॥

सुमीनाक्षीसुन्दरेशौ भक्तकल्पमहीरुहौ ।
तयोरनुग्रहो यत्र तत्र शोको न विद्यते ॥९॥

अतिभीषण कटुभाषण यमकिङ्करपटली-
कृतताडन परिपीडन मरणागमसमये ।
उमया सह मम चेतसि यमशासन निवसन्
हर शङ्कर शिव शङ्कर हर मे हर दुरितम् ॥१०॥

॥ इति श्री जैमिनिमहर्षिणा प्रणीतो वेदपादस्तवः संपूर्णः ॥

अनुभवपञ्चविंशतिः

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालमहं मोहविडम्बितः ॥१॥

यथा प्रकाशयत्येको देही देहं जगत्तथा।
अतो मम जगत्सर्वमभवन्न च किंचन ॥२॥

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाधुना।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मावलोक्यते ॥३॥

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गाः फेनबुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वात्वनि विनिर्गतम् ॥४॥

तन्तुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारितः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ॥५॥

यथैवेक्षुरसोत्क्षिप्ता तेन व्याप्ता न शर्करा।
तथा विश्वं मयि क्षिप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम् ॥६॥

आत्माज्ञानाज्जगद्भ्रान्तिरात्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानादहिभ्रान्तिस्तज्ज्ञानाद्भासते न हि ॥७॥

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाहं भास एव हि ॥८॥

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे तथा ॥९॥

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेति हि ।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटको यथा ॥१०॥

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तजगन्नाशेऽपि तिष्ठतः ॥११॥

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि ।
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥१२॥

अहो अहं नमो मह्यं दक्षोऽहं नास्ति मत्समः ।
असंस्पृष्टशरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ॥१३॥

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किंचन ।
अथ वा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनस्य गोचरः ॥१४॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरञ्जनः ॥१५॥

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम् ।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः ॥१६॥

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मयि ।
एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पस्थितं मम ॥१७॥

सशरीरमहो विश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम् ।
शुद्धचिन्मात्रमात्माहं तत्का स्यात्कल्पनाधुना ॥१८॥

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ सुखं तथा ।
कल्पनामात्रमेवैतत्किं कार्यं मे चिदात्मनः ॥१९॥

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम ।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम् ॥२०॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
कल्पनामात्रमेवैतत्किं कार्यं मे चिदात्मनः ॥२१॥

मय्यानन्दाम्बुधौ चित्तवातस्तस्मात्समुत्थितैः ।
अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्भानमुत्थितम् ॥२२॥

मय्यानन्दमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति ।
अभाग्यजीववणिजो जगत्स्रोतोऽपि नश्वरम् ॥२३॥

मय्यानन्दमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः ।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः ॥२४॥

अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम् ।
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्ता निराश्रया ॥२५॥

॥ इत्यनुभवपञ्चविंशतिः ॥

जीवन्मुक्तलक्षणम्

जीवः शिवसमामुक्तो ज्ञानाज्ञानसमासमः।
एकानेकसमश्चैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१॥

एकं ब्रह्म जगत्सर्वमखण्डं भासते सदा।
अनादि भान्ति भूतानि जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥२॥

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।
आत्मवत्सर्वमेकं तु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥३॥

सर्वभूतसमं ब्रह्म भेदोऽभेदो न विद्यते।
एकमेवाधिपश्यन्ति जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥४॥

कर्माकर्म न पश्यन्ति सर्वकर्मविमोचकम्।
निष्कर्म कर्म कर्तारं जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥५॥

लोभमोहपरित्यक्त आशापाशविवर्जितः।
सुखं दुःखं न जानाति जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥६॥

कर्ममुक्तः क्रियामुक्तो नित्यमुक्तश्चिदात्मकः।
कायमायापरित्यक्तो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥७॥

दिवारात्री न जानाति दारउग्रादिकं समम्।
दयातोपो मृदु भाष्यं जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥८॥

कामनाकार्यनिर्दोपः कार्याकार्यव्यवस्थितः।
स्वहितात्मनि संतुष्टो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥९॥

गुणदोषापरिच्छिन्नो गुणागुणपरीक्षकः ।
गुणत्रयविहीनश्च जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१०॥

संतुष्टसकलावस्थो सदानन्दसुखात्मकः ।
सर्वलोकप्रियं भाष्यं जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥११॥

पूर्णानन्दोऽहमस्मीति पूर्णानन्दोऽस्मि सर्वदा ।
पूर्णात्पूर्णतरं येन जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१२॥

जाग्रत्स्वप्नमिव साक्षी साक्षी देहचतुष्टयम् ।
सर्वसाक्षी निरालम्बो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१३॥

एकात्मभावनादेव यदि भावं न हि न हि ।
लोकान्तश्चैवमेकान्तो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१४॥

शान्तिवृद्धो क्षमा पूर्णशान्तिर्दान्तिर्मुहुर्मुहुः ।
भक्तिभावं परित्यज्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१५॥

आनन्दमखिलं सर्वमानन्देति चिदात्मकम् ।
आनन्दं परमानन्दो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१६॥

तत्पदस्य तदात्मानं त्वंपदस्य चिदात्मकम् ।
असिपदे सदा मग्नं जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१७॥

निर्धूतं च निरापेक्षं जितसङ्गं जितेन्द्रियम् ।
प्रतापः पुरुषं येन जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१८॥

प्रज्ञानं हृदयावर्तं विज्ञानं कृतमानसा ।
अज्ञानं शृङ्खलाच्छेद्यं जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१९॥

दृश्यादृश्यसमं चैव दृष्टादृष्टसमं तथा ।
दर्शने बुद्धिः स्थातव्यं जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥२०॥

अयमात्मा चिदध्यक्षं अहमस्तीतिभावना ।
सर्वभावविहीनश्च जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥२१॥

अहंभावं न गृह्णीयादहंकर्ता कदाचन ।
अहंकारातीतमानं जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥२२॥

जीवन्मुक्त इति व्याख्या व्याख्यानं च परं परम् ।
दत्तेन कथितं व्याख्या जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥२३॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयमुनिविरचितं जीवन्मुक्तलक्षणं संपूर्णम् ॥

भिक्ष्वष्टकम्

गङ्गाप्रतीरं ध्रुवमाश्रयन्तः सङ्ज्ञापनोदं परिशीलयन्तः ।
तुरंगशृङ्गान्समुपाश्रयन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥१॥

कामाद्यरातीन्परिभावयन्तो भामादिभोगानपि दूरयन्तः ।
वामान्द्रुमूलान्समुपाश्रयन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥२॥

ब्रह्मात्मभावैकसुधां पिबन्तो मालेश्वरं श्रीमनुमामनन्तः ।
मायां महाजालमयीं त्यजन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥३॥

तीर्थानि सर्वाणि च तीर्थयन्तो मुक्तिं परां केवलमर्थयन्तः ।
स्वीयानि नामानि यथार्थयन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥४॥

भिक्षां क्षुधामात्रहरामटन्तो रक्षां जनानां निगमैरटन्तः ।
साक्षात्परोक्षेऽपि परे रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥५॥

गुर्वर्पिताज्ञामनुपालयन्तः सर्वं चिदेवेति विलोकयन्तः ।
सर्वंसहां च क्षमया जयन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥६॥

आशास्वनन्तासु भृशं भ्रमन्त आशां समूलामवमानयन्तः ।
ईशाङ्घ्रिपद्मे सततं रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥७॥

चिन्तां दुरन्तां परिहर्तुमन्तश्चिन्तां भवस्यात्मपरां भजन्तः ।
स्वान्ते नितान्तं स्वगुरून्स्मरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥८॥

श्रीदक्षिणामूर्तिकटाक्षवीक्षालक्षीकृतेनागमदक्षिणेन ।
श्रीसच्चिदानन्दमुनीश्वरेण भिक्ष्वष्टकं दीपितमार्यभक्त्या ॥९॥

प्रत्यूषकाले पठतां जनानां प्रत्याहृतिः क्वास्ति नु तद्व्रतानाम् ।
शर्वादिलोकानपि तुच्छयन्तो निर्वाणसाम्यं ननु ते लभन्ते ॥१०॥

॥ इति श्रीसच्चिदानन्दमुनिविरचितं भिक्ष्वष्टकम् ॥

प्रणवार्थप्रकाशिका

समास्थितः सप्तमयोगभूमिका-
मपारगम्भीरसुखामृताम्बुधिः ।
सतां गुरुः सद्गुणसागरो मुहु-
र्मया शिवानन्दयतीश्वरो नतः ॥१॥

अकारोकारवर्णाभ्यां सातत्योत्कर्षधर्मिणम् ।
प्रत्यञ्चं संस्मरेन्मार्थं ब्रह्म चैक्यं तथोमिति ॥
अजाद्यात्मकमात्मानमकारार्थं परेश्वरम् ।
उवर्णपूर्वभागार्थमुत्कृष्टाद्यात्मकं मुहुः ॥३॥

उवर्णोत्तरभागार्थं तं विदुर्व्यवहारतः ।
मार्थमुक्तमहानन्दाद्यात्मप्रत्यक्तथोमिति ॥४॥

इत्यजोत्कृष्टमुक्तादिशब्दैकांशाक्षरात्मना ।
एकेन प्रणवेनैक्यं जानीयाद्व्यतिहारतः ॥५॥

अथवाकारमात्मानमुकारं च जगद्गुरुम् ।
अवधारणसंयुक्तमेकीकुर्यादथोमिति ॥६॥

अहंशब्दैकदेशत्वाद्ब्रह्मशब्दैकदेशतः ।
अनयोरेकदेशत्वाद्ब्रह्माकारेण च स्मरेत् ॥७॥

साक्षित्वान्मनआदीनां मकारेण तु साक्षिणम् ।
सावधारणमैक्यार्थमेवमोमिति पश्यति ॥८॥

उक्ते स्वात्मन्यवस्थानात्कथं चित्प्रच्युतो यदि ।
आत्मानं त्रिशरीरं त्रिशरीरं ब्रह्म चिन्तयेत् ॥९॥

स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक्त्वतः।
ऐक्यादानन्दभोगाच्च तुर्यैकत्वं च चित्त्वतः ॥१०॥

विश्वतैजसकप्राज्ञतुर्यैश्च चतुरात्मकैः।
वैश्वानराद्यभिन्नं तं चतुष्पादं विचिन्तयेत् ॥११॥

परादिरूपाकारेण विश्वो वैश्वानरात्मकः।
चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरुच्यते ॥१२॥

हिरण्यगर्भाभिन्नश्च तैजसश्चतुरात्मकः।
उच्यते पूर्ववत्तत्रोंकारेण चतुरात्मना ॥१३॥

प्राज्ञस्तथेश्वराभिन्नचतुरात्मा निगद्यते।
चतूरूपमकारेण जगद्बीजोपधानकः ॥१४॥

ओतानुज्ञानुज्ञाना (?) विकल्पप्रवणत्वेन तु।
तादृशेनोच्यते साक्षी स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥१५॥

वाचैरथात्मपादैस्तु मात्राणां चोंकृतेर्यतिः।
एकत्वं चिन्तयेत्प्राज्ञो युगपल्लयसिद्धये ॥१६॥

स्थूलं सूक्ष्मे च तद्बीजे मात्राभिः प्रविलापयेत्।
कारणं चोंकृतेरोताद्यात्मना चिन्तयन्प्रसेत् ॥१७॥

य इत्थं प्रणवस्यार्थं गुरोर्ज्ञात्वा यतिर्भवेत्।
स्वात्मनिष्ठः स मुक्तः स्यादत्रैवानन्दवारिधिः ॥१८॥

॥ इति प्रणवार्थप्रकाशिका ॥

सप्तश्लोकीप्रकरणम्

आत्माश्रयात्मविषयं भावरूपमनादि च ।
अज्ञानं बाध्यमानत्वान्न सदित्युच्यते बुधैः ॥१॥

नासत्प्रतीयमानत्वाज्जगन्निर्वाहकत्वतः ।
परस्परविरोधेन न भवेत्सदसच्च तत् ॥२॥

सदादिभ्यो विभिन्नं तद्धर्म्यादेरनिरूपणात् ।
उक्तदोषत्रयापत्तेरभिन्नं च न तद्भवेत् ॥३॥

परस्परविरोधेन भिन्नाभिन्नं न तद्भवेत् ।
न सावयवहीनं तत्कार्येष्ववयवान्वयात् ॥४॥

न च सावयवं तत्स्यान्मूलकारणताबलात् ।
मिथो विरोधादुभयात्मकत्वं नैव संभवेत् ॥५॥

तस्मिन्नेव चिदाभासे सुस्थितं कृत्यपञ्चकम् ।
सत्कृत्य तत्सदाध्यस्तं प्रत्यगद्वयचिद्घने ॥६॥

निरपेक्षशिवात्मैक्यज्ञानस्योदयमात्रतः ।
सकार्यमेतदज्ञानं नासीदस्ति भविष्यति ॥७॥

॥ इति सप्तश्लोकीप्रकरणम् ॥

मनोलयप्रकरणम्

अन्तर्निष्ठो भवेद्योगी ह्यन्तर्निष्ठः सदा सुखी।
अन्तर्निष्ठस्तपोनिष्ठ अन्तर्भावं सदा कुरु ॥१॥

मनोमूलं न जानाति मूर्खो भवति पण्डितः।
मनोमूलं भवेदेवमेवं जानाति पण्डितः ॥२॥

मनोमूलं भवेद्ब्रह्म ब्रह्ममूलमिदं जगत्।
कथं ध्याता कथं ध्येयं ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥३॥

देहमध्ये स्थितं ब्रह्म कथं मूढ न पश्यसि।
मूढात्मा देहभावात्मा देहं सत्यं कथं भवेत् ॥४॥

जीवात्मा देहसंबद्धो देहातीतः परो मतः।
सर्वं खलु इदं ब्रह्म इति मे निश्चिता मतिः ॥५॥

देहमध्ये स्थितं ब्रह्म कथं मूढ न पश्यसि।
वाचा जल्पो वृथायं तु निःशब्दं ब्रह्म उच्यते ॥६॥

मायाब्रह्म कथं भिन्नं सूर्यरश्मी तथैव च।
पुष्पगन्धं कथं भिन्नं जलतरंगं तथैव च ॥७॥

ब्रह्मरूपमिदं सर्वं ब्रह्मैवाहं न संशयः।
मनोलयं भवेद्ब्रह्म ब्रह्ममूलमिदं जगत् ॥८॥

ब्रह्मनिष्ठो भवेद्योगी ब्रह्मनिष्ठः शिवात्मकः।
ब्रह्मनिष्ठं शुचिष्मन्तं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥९॥

॥ इति मनोलयप्रकरणम् ॥

ब्रह्मनिरामयाष्टकम्

एवं सर्वंश्चिदानन्द आदिमध्यान्तवर्जितः ।
पूर्णं आत्मप्रकाशं च सोऽहं ब्रह्म निरामयम् ॥१॥

एकमेव निराभासमभासं रूपवर्जितम् ।
भावाभावविहीनं च सोऽहं ब्रह्म निरामयम् ॥२॥

निर्गुणं परमं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्येन सोऽहं ब्रह्म निरामयम् ॥३॥

एकमेवाद्वितीयं च नामरूपविवर्जितम् ।
एकमेव समं तत्त्वं सोऽहं ब्रह्म निरामयम् ॥४॥

आत्मतत्त्वमयं नित्यमेकमेवातिनिर्मलम् ।
पूर्णंब्रह्मनिराभासं सोऽहं ब्रह्म निरामयम् ॥५॥

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।
अहमेव निराकारं सोऽहं ब्रह्म निरामयम् ॥६॥

अव्यक्तं च वचोतीतमखण्डं खण्डवर्जितम् ।
निराधारं परं ब्रह्म सोऽहं निरामयम् ॥७॥

अक्षरं परमं ब्रह्म द्वैताद्वैतविवर्जितम् ।
मुनीश्वरहितं तत्त्वं सोऽहं ब्रह्म निरामयम् ॥८॥

॥ इति ब्रह्मनिरामयाष्टकम् ॥

तत्त्वपञ्चकम्

जाग्रत्युद्भूतबाह्येन्द्रियविषयसमुल्लाससाक्षी शिवोऽहम् ।
नित्यानन्दस्तुरीयो विगतकलिमलः सर्वसाक्षी शिवोऽहम् ॥१॥

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥२॥

शिवात्मकमिदं सर्वं शिवादन्यन्न विद्यते ।
शिवोऽहमिति या बुद्धिस्तदेव ज्ञानमुत्तमम् ॥३॥

अहमेव परं ब्रह्म यदन्यन्नास्ति किंचन ।
प्रत्यगद्वय एवाहं शिव एव न संशयः ॥४॥

प्रत्यगात्मपरानन्दगुरोः सर्वस्य साक्षिणः ।
वासुदेवेन्द्रयतिनः कृतार्थोऽहमनुग्रहात् ॥५॥

॥ इति तत्त्वपञ्चकम् ॥

अनुभवसोपानम्

शास्त्राचार्योपदेशेन तर्कैः शास्त्रानुसारिभिः ।
सर्वसाक्षितयात्मानं सम्यङ् निश्चित्य सुस्थिरम् ॥१॥

स्वात्मनोऽन्यतया भातं समस्तमविशेषतः ।
स्वात्ममात्रतया बुद्ध्वा पुनः स्वात्मानमद्वयम् ॥२॥

शुद्धं ब्रह्मेति निश्चित्य स्वयं स्वानुभवेन च ।
निश्चयं च स्वचिन्मात्रे विलाप्याविक्रियेऽद्वये ॥३॥

विलापनं च चिद्रूपं बुद्ध्वा केवलरूपतः ।
स्वयं तिष्ठेदयं साक्षाद्ब्रह्मवित्प्रवरो मुनिः ॥४॥

स्वस्वप्नः स्वप्रबोधेन स्वमात्रं भासते यथा ।
तथा जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि स्वयं स्यात्स्वप्रबोधतः ॥५॥

स्वस्वप्नः स्वातिरेकेण यथा नास्ति तथैव च ।
स्वजाग्रत्स्वातिरेकेण नास्ति तेनाहमद्वयः ॥६॥

सोपानक्रमतो लब्धं विज्ञानं यस्य सुस्थिरम् ।
तस्य मुक्तिः परा सिद्धा सत्यमेव मयोदितम् ॥७॥

॥ इति अनुभवसोपानम् ॥

शुकाष्टकम्

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमुपगतौ नष्टसंदेहवृत्तिः।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः॥

हेम्नः कार्यं हुतवहगतं हेम चैवेति यद्व-
त्क्षीरे क्षीरं रसमिव रसे तोयमेवाम्बुमध्ये।
एवं सर्वं समरसगतं त्वंपदं तत्पदार्थे
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः॥

यद्वन्नद्यः समरसगताः सागरत्वं प्रपन्ना-
स्तद्वज्जीवाः समरसगताः स्वस्वरूपं प्रपन्नाः।
वाचातीते समरसगते सच्चिदानन्दरूपे
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः॥

कस्त्वं कोऽहं क इह भगवान्कोऽयमत्र प्रपञ्चः
स्वान्तर्वेद्ये गगनसदृशे पूर्णतत्त्वप्रकाशे।
आनन्दाख्ये समरसघने बाह्यमन्तर्विलीने
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः॥

कार्याकार्यं किमपि न तथा नैव कर्तृत्वमास्ते
जीवन्मुक्तस्थितिमिह गतो दग्धवस्त्रावभासः।
एवं देहे प्रचलिततया दृश्यमानोऽपि मुक्तो
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः॥

दृष्ट्वा सर्वं परमममृतं स्वप्रकाशैकरूपं
बुद्ध्वात्मानं विमलमचलं सच्चिदानन्दरूपम् ।
ब्रह्माधारं सकलजगतां साक्षिणं निर्विशेषं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ॥

यत्स्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिःस्थं
दृष्ट्वा पूर्णं खमिव सततं सर्वभाण्डस्थमेकम् ।
नान्यत्कार्यं किमपि च तथा कारणाद्भिन्नरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ॥

यस्मिन्वस्तुन्यखिलभुवनं सैन्धवं सिन्धुमध्ये
पृथ्व्यम्ब्वग्निश्वसनगगनं जीवभावक्रमेण ।
यस्मिल्लीनं यदिदमखिलं सच्चिदानन्दरूपे
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ॥

सत्यं सत्यं परमममृतं सर्वकल्याणहेतुं
मायाविद्यागहनदहनं शान्तिनिर्वाणदीपम् ।
नित्यं भक्त्या निगमसदृशं व्यासपुत्राष्टकं यः
प्रातःकाले पठति मनसा ब्रह्मनिर्वाणमेति ॥

॥ इति शुकाष्टकम् ॥

श्रीगुरुभुजङ्गस्तोत्र

सदेकं परं केवलं निर्विकारं
निराकारमानन्दमात्रं पवित्रं।
स्वयं ज्योतिरव्यक्तमाकाशकल्पं
श्रुतिर्ब्रह्म यत्प्राह तस्मै नमस्ते ॥१॥

य एकोऽपि मायावशात्सर्वहेतु-
स्स्वसृष्टेषु विश्वेषु विष्वक्प्रवेशात्।
श्रुतौ जीव इत्युच्यते केवलात्मा
तुरीयाय शुद्धाय तस्मै नमस्ते ॥

नयत्स्यादिहद्रष्टृ विज्ञातृचान्य-
त्क्वचित्स्यात्परं द्रष्टृ विज्ञातृ वा यत्।
समस्तासु बुद्धिष्वनुस्यूतमेकं
नमो ब्रह्मणे जीवरूपाय तस्मै ॥३॥

मुखाद्दर्पणे दृश्यमानो न भिन्नो
मुखाभास एवं चिदाभास ईशः।
चितो नैव भिन्नोऽस्ति मायास्थितो यः
परेशाय तस्मै नमः केवलाय ॥४॥

यथा सूर्य एकः स्थितस्तोयपात्रे-
ष्वनेकेषु यो निर्विकारस्तथात्मा।
स्थितस्स्वीयबुद्धिष्वनेकासु नित्य-
श्चिदेकस्वरूपाय तस्मै नमस्ते ॥५॥

स्थितो नैकबुद्धिष्वयं जीव एको
विभुः कारणैकत्वतो नात्र नाना।
इति त्यक्त सर्वैषणापीवयस्य-
प्रसादाद्विजानन्ति तस्मै नमस्ते ॥६॥

मुखैः पञ्चभिर्भोग्य वस्तूनि भुङ्क्ते
ह्यभोक्तापि बुद्धिस्थितो बुद्धि तुल्यः।
करोतीव कर्माण्यकर्मापि यो वै
विचित्राय तस्मै नमस्तेऽस्तु नित्यम् ॥७॥

चिदाभास एवात्र कर्तेव भाति
स्वरूपापरिज्ञानतो यस्य नूनम्।
स्वबुद्धेरियं कर्तृभोक्तृत्वरूपा
मृषासंसृतिर्वै नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥८॥

चिदाभास चैतन्य बुद्धिर्विविच्या-
त्र विज्ञाय संसारपन्थाद्विमुक्तः।
य एतद्विवेकावधिं स्वस्यमेने
समस्तं च संसारमस्मै नमस्ते ॥९॥

न कस्यापि संसारलेशोपि कश्चि-
त्सकर्तृत्वभोक्तृत्वरूपो हि मिथ्या।
समस्तोऽप्ययं यत्स्वरूपो विवेका-
न्नमस्ते सदा नित्यमुक्ताय तस्मै ॥१०॥

जडाबुद्धिरात्मा परो निर्विकार-
श्चिदाभास एकोऽपि मिथ्यैव जीवः।
य एवद्विवेकी स्वतो नित्यमुक्त-
स्सदा निर्विकाराय तस्मै नमस्ते ॥११॥

चिदाभास एकोऽव्ययः कारणस्थो
य ईशस्स एवाह कार्यस्थितस्सन् ।
अभूज्जीवसंज्ञस्स एको हि जीव-
स्स भिन्नो नयस्मान्नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥१२॥

यदज्ञानतो जीव नानात्वमाहु-
र्महामायया मोहिता वाददक्षाः ।
विवेकी वदत्येकमेवात्र जीवं
परित्यक्तवादो नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥१३॥

चिदाभास एकोथनानेति सर्वे
विमुह्यन्ति वेदान्तिनोऽप्यन्यभक्त्या ।
तथाप्येक एवेति धीदार्ढ्यदाता
य आत्मास्वभक्तस्य तस्मै नमस्ते ॥१४॥

मुखादर्शयोरेक एवेन्तायां
मुखाभास एवं चिदाभास एकः ।
स्वतो ब्रह्मबिम्बैक्य मायैक्यतोयं
यदंशोखिलेशो नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥१५॥

श्रुतिर्ह्यैकतां ब्रह्मणो व्यक्तिनूनं
सजातीयभेदादिशून्यं ततोऽत्र ।
स्वमायैकताप्यस्य युक्त्यापिसिद्धा
नमस्ते सदेकस्वरूपाय तस्मै ॥१६॥

न माया बहुत्वं तदा तत्प्रतिष्ठा
अनेकेश्वरास्सम्भवेयुर्हि नैतत् ।
क्वचिद्युज्यते यस्य मायाप्यनेका
नमस्ते जगद्धेतुभूनाय तस्मै ॥१७॥

न मायां विना यस्य कर्तृत्वमस्ति
प्रवेशोऽपि तस्मात्समस्तं मृषैव ।
महामायिने निर्विकाराय तस्मै
नमो ब्रह्मरूपाय शुद्धाय तुभ्यम् ॥१८॥

य आत्मा दृगेवानदृश्यं त्वनात्मा
विवेकाद्द्वयोरात्मदृष्टिस्सदृश्ये ।
विनष्टोद्भवेतादृशि स्वस्वरूपे
नमस्ते दृगात्मस्वरूपाय तस्मै ॥१९॥

सदृङ्निर्विकारस्स्वमाया जडेयं
दृगाभास एको मृषैवेति यस्य ।
जगत्कर्तृता तात्त्विकी नास्ति तस्मै
नमः केवला कर्तृरूपा च तुभ्यम् ॥२०॥

अमाय्येव मायी विभुश्शुद्ध आत्मा
सृजत्यत्त्यवत्येकदानन्दपूर्णः ।
न मायां विना स्रष्टृता साक्षिता वा
विशुद्धात्मनो यस्य तस्मै नमस्ते ॥२१॥

चिदाभास एवाखिलोपाधिनिष्ठ-
स्समस्तैकसाक्षी स जीवेश संज्ञः ।
चिदंशोऽखिलात्मा न भिन्नोऽस्ति यस्मा-
न्नमस्ते विशुद्धात्मरूपाय तस्मै ॥२२॥

अहं सच्चिदानन्द आत्मैव शुद्धो
विमुक्तोऽस्मि वेदान्तवाक्यार्थबोधात् ।
इति स्वस्वरूपं विजानाति विद्वान्
परं यत्परम्योपि तस्मै नमस्ते ॥२३॥

स्वमाया परिभ्रान्तचित्ता अजस्रं
पराग्वस्तु पश्यन्ति न प्रत्यगर्थम् ।
मुमुक्षुस्तु यं पश्यति प्रत्यगर्थं
परब्रह्मरूपाय तस्मै नमस्ते ॥२४॥

उपास्यो य ईशोऽस्त्वहं तस्य ईशा-
त्स कुर्वेव नैनं भजत्यत्र योऽस्मात् ।
विवेकी स एवाहमस्मीत्युपास्ते
यमात्मानमीशं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥२५॥

भयं भेददृष्टेर्भवत्युल्बणं वै
महान्तो न भेदं प्रपश्यन्ति तस्मात् ।
यदज्ञानतो दृश्यते भेद एवं
भिदा मोह हन्त्रे नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥२६॥

विरिंचेन्द्रसूर्याग्निरुद्रेन्दुविष्णू-
न्प्रकल्प्यैक एवाद्वयस्सर्वसाक्षी ।
जगच्चक्रविभ्रान्तिकर्ता य आत्मा
न दृश्यते केनापि तस्मै नमस्ते ॥२७॥

जगज्जाग्रतिस्थूलमेतत्समानं
मनोवासितं स्वप्न आनन्दनिद्राम् ।
सुषुप्तौ स्वमेवाभिपश्यन्मुदास्ते
तुरीयो य आत्मा नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥२८॥

समस्तादपि स्थूलसूक्ष्माच्छरीरा-
त्परः कारणाच्चान्य आत्मा समीपे ।
य एको विदूरेऽपि तिष्ठन् जनानां
महिम्नि स्वकीये च तस्मै नमस्ते ॥२९॥

यमाश्रित्य नास्तीति चास्तीति वेदे
प्रवृत्तो विरुद्धोऽपि वादोऽखिलात्मा ।
नमस्तेऽङ्घ्रिपाण्यादिहीनाय नित्यं
समस्ताङ्घ्रिपाण्यादियुक्ताय तस्मै ॥३०॥

अणोरप्यणीयांसमात्मानमेकं
महान्तं महद्वस्तुनश्चेतनेभ्यः ।
परं चेतनं नित्यतो वेद नित्यं
यमेवेह विद्वान् नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥३१॥

यदानन्दलेशोपभोगेन सर्वे
सदानन्दिनस्सम्भवंत्यत्र तस्मै ।
सदानन्दसन्दोहपूर्णार्णवाय
प्रसन्नाय तुभ्यं नमः केवलाय ॥३२॥

यमुत्सृज्य मर्त्या भजन्त्यन्यदेवा-
न्न तेषां विमुक्तिः फलं किंतु तुच्छम् ।
श्वपुच्छं गृहीत्वा तरिष्यन्ति के वा
समुद्रं ह्यपारं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥३३॥

यथा विध्युपान्तो फलं दास्यतीश-
स्तथा विष्णुरुद्रेन्द्रवह्न्याद्युपान्तौ ।
फलं दास्यति ब्रह्म यद्वीशसंज्ञ-
स्स्वकर्मानुसारं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥३४॥

न यद्ब्रह्ममोक्षप्रदंस्यात्कदाचि-
द्विनेहैव मुक्तिप्रदं ज्ञानमेकम् ।
न मोक्षो कृतः कर्मणातः कृतेन
प्रपन्नार्तिहन्त्रे नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥३५॥

इदं नेति नेतीत्यमूर्तं च मूर्तं
निरस्यैव सर्वं जगद्दृश्यमेतत् ।
निषेधावधिर्ब्रह्म यच्छिष्यते वै
मनोवागगम्याय तस्मै नमस्ते ॥३६॥

परित्यज्य यस्तस्य सम्यग्विचारं
प्रवर्तेत यस्तीर्थयात्राजपादौ ।
करस्थान्नमुत्सृज्य लेढीति हस्तं
नयस्योदयस्तस्य तस्मै नमस्ते ॥३७॥

न चेत्प्राणवर्गैष्वयं स्याज्जडत्वा-
त्कथं प्राणनाडी क्रियाकारितेषाम् ।
अतो यस्य सिद्धास्तिता युक्तितोऽपि
प्रपञ्चप्रकाशाय तस्मै नमस्ते ॥३८॥

भयं यद्विदां नास्ति मृत्युश्च नूनं
बिभेत्येव वाय्वादि सर्वं च यस्मात् ।
शरीरेहमित्यत्र बुद्धेर्भयं स्या-
न्नमस्ते भयायाशरीराय तस्मै ॥३९॥

गुरौ भक्तियुक्तैरिहैवेश्वरोय-
स्सुविज्ञेय आत्मान्यथा ह्यब्दकोट्या ।
अविज्ञेय एकस्स्वबुद्धिस्थितोऽपि
प्रियायाऽखिलेभ्योऽपि तस्मै नमस्ते ॥४०॥

समस्तात्प्रियो देह एवाक्षमस्या-
त्प्रियप्राण एवाक्षतोऽपि प्रियेतः ।
प्रियः प्रत्यगात्मैव मोक्षापरो य-
स्त्वतोतिप्रियायेह तस्मै नमस्ते ॥४१॥

प्रियादात्मनोऽन्यन्न विद्येत किंचि-
त्क्वचित्कारणान्नैव भिद्येत कार्यम् ।
य आत्मा नमस्तस्य हेतुर्नमस्ते
निदानाय सर्वस्य दृश्यस्य तस्मै ॥४२॥

समस्तं जगत्कारणान्नैव भिन्नं
समस्तात्मनः केवलादद्वितीयात् ।
परब्रह्मणो व्याकृतेशाच्च यस्ता-
न्नमस्ते क्षरायाक्षरायापि तस्मै ॥४३॥

यतः कारणान्नेह कार्यं विभिन्नं
ततो बृंहणं नैव भिन्नं जगत्स्यात् ।
समस्तं जगद्ब्रह्म तच्चास्मि विद्वा-
नुपास्तेयमेकं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥४४॥

यथा मृद्विकारो मृदो नैव भिन्न-
स्तथा चिद्विकारश्चितो नैव भिन्नः ।
अतस्सर्वमेतच्चिदेवेति विद्वान्
विजानाति यद्ब्रह्म तस्मै नमस्ते ॥४५॥

जगद्यस्य सर्वं शरीरं जगन्न-
प्रमातृ प्रमाणप्रमेयात्मको यः ।
समस्तान्तरायाऽखिलेशाय तस्मै
नमस्सच्चिदानन्दरूपाय तुभ्यम् ॥४६॥

विदुर्यं न सर्वेऽपि यो वेत्ति सर्वं
समस्तेषु भूतेषु तिष्ठन्स्वयं यः ।
समस्तान्तरः प्रेरयत्येव सर्वा-
न्नमस्ते समस्तान्तरेशाय तस्मै ॥४७॥

न देहेन्द्रियप्राणधीभूतवृन्दं
न संसार्यहं किंतु चिन्मात्रमेकम् ।
परं चापरं ब्रह्मविद्याद्विशुद्धं
तदस्तीति यद्वेद तस्मै नमस्ते ॥४८॥

यथा स्वप्नदृष्टाश्च हस्त्यादि मिथ्या
तथा सर्वमेतज्जगद्भाति मिथ्या ।
अधिष्ठानमात्रं जगद्द्रष्टृ सत्यं
विशुद्धं च यद्ब्रह्म तस्मै नमस्ते ॥४९॥

परा चापरा यस्य मायाद्विधेयं
जगत्कर्तृतामक्रियस्यातनोति ।
स्वतो द्रष्टृदृश्यातिरिक्ताय तस्मै
नमः केवलायाव्ययायात्मनस्तु ॥५०॥

विशुद्धात्मतत्त्वापरिज्ञानमूलं
विशेषावभासं सुखित्वादिरूपम् ।
विशुद्धात्मतत्त्वे परिज्ञात एत-
त्क्वचिन्नास्ति यस्मिन्नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥५१॥

नहि स्रवपरिज्ञानतस्सर्पभासं
क्वचिद्विद्यते सर्पता कल्पिता स्यात् ।
तथा कल्पितं सर्वमेतच्च यस्मि-
न्नमस्ते समस्तावभासाय तस्मै ॥५२॥

सुषुप्तौ न संसारलेशोऽस्ति कश्चि-
त्प्रबोधेऽखिलाहं कृतौ दृश्यते यम् ।
अतोऽहं कृतेरेव संसार इत्थं
न वै संसृतिर्यस्य तस्मै नमस्ते ॥५३॥

न शास्ता न शिष्यो न शास्त्रं न विश्वं
न शाक्तं च शैवं मतं वैष्णवं वा ।
सुषुप्तौ तदानीं यदस्त्यात्ममात्रं
स्वतो निष्प्रपञ्चाय तस्मै नमस्ते ॥५४॥

जडानां प्रवृत्तिः स्वतो नास्ति यस्मा-
द्विभोश्चेतनत्वात्प्रवृत्तिः प्रवृत्ता ।
मनः प्राण देहेन्द्रियव्याकृतानां
नमस्ते चिदात्मस्वरूपाय तस्मै ॥५५॥

मनः प्राणदेहेन्द्रियव्याकृतानि
स्वतः काष्ठतुल्यानि यत्सन्निधानात् ।
स्वयं चेतनानीवभांत्येवमोहा-
ज्जडेभ्यः परो यो नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥५६॥

बहिर्बुध्यते प्राणिबुद्धिः पदार्था-
न्नयं बुध्यते प्राणनाथं स्वसंस्थम् ।
समस्तान्तरात्मानमेकं च तस्मै
नमस्ते विरिञ्चादिधीबोधयित्रे ॥५७॥

परं यत्स्वरूपं विदुर्नापि देवाः
कुतोऽन्ये मनुष्यादयो बाह्यचित्ताः ।
तदेवाहमस्मीति भक्तास्त्वजस्रं
भजन्त्यद्वितीयं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥५८॥

समस्तेषु देहेषु सूर्येऽपि तिष्ठन्
य एकोऽखिलात्मा समस्तैकसाक्षी ।
स एवाहमस्मीति वेदान्तविद्भिः
सदोपास्य तत्त्वाय तस्मै नमस्ते ॥५९॥

अहं विश्वतस्तेजसः प्राज्ञरूपो
विराट्सूत्रमायेशरूपान्न भिन्नः ।
उपाधौ विभिन्नेऽपि किं त्वस्मि सोऽहं
यमेवं भजन्वेद तस्मै नमस्ते ॥६०॥

समस्तानि कर्माणि सन्त्यज्य विद्वां-
स्तदेवाहमस्मीत्युपास्ते ह्यजस्रम् ।
यदेवाह सर्वागमांतैकवेद्यं
नमस्तेऽनिशं चिन्तनीयाय तस्मै ॥६१॥

न कृत्या कृतेः प्रत्यवायः क्वचित्स्या-
दभावात्कथं भाव उत्पत्स्यते च ।
अहं प्रत्यवायीति कृत्याकृते स्या-
मयं यस्य मोहान्नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥६२॥

अधर्मोऽयमेवायमेवात्र धर्मो
भवेदित्ययं मोह एवाऽखिलानाम् ।
यदज्ञानिनां प्रत्यवायप्रदंस्या-
त्कचिन्नह्यभावो नमस्तेऽस्तु तस्मै[॥६३॥

अधर्मं जहत्स्वं विहाय प्रशान्ता
भजन्त्यत्र नूनं स्वरूपं यदीयम् ।
स्वरूपं विचार्यामृतेरामुपुन्ते-
र्नमस्तेऽस्तु तस्मै विमुक्तिप्रदाय ॥६४॥

न वै बद्धता मुक्तता वा कदाचि-
त्कचिन्नित्यमुक्तस्य किंचात्मनोऽतः ।
बहिश्चेतसोऽन्तश्च गत्यागती ते
नमश्चित्तविक्षेपहर्त्रेऽस्तु तस्मै ॥६५॥

यथा क्षीणचित्तस्तथैवात्मनिष्ठः
पुमान्नित्यमुक्तो भवेदद्वितीयः ।
यथा चेतसो क्षीणता यत्प्रसादा-
त्तथा त्वत्प्रसादाय तस्मै नमस्ते ॥६६॥

प्रसन्ने त्वयि प्राणिनां किन्न लभ्यं
परस्तत्प्रसादान्न लाभोऽस्ति कश्चित् ।
बुधोऽतोऽनिशं यत्प्रसादाभिकाङ्क्षी
नमस्ते प्रपन्नप्रसन्नाय तस्मै ॥६७॥

पृथिव्यादियुक्ताः परब्रह्मनिष्ठा
न मुख्या भवन्त्यत्र जन्माऽस्ति तेषाम् ।
निरस्ताखिलोपाधिनिष्ठो हि मुख्यो
नयस्येह जन्मासि तस्मै नमस्ते ॥६८॥

न मुख्यं सुषुप्तेरधिष्ठानतोन्य-
त्सुषुप्तेरधिष्ठानमात्रं हि मुख्यम् ।
यदज्ञानतोद्भूतबालाकिलेत-
न्नृपाद्वेद चैवं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥६९॥

विरिञ्चादिलोकादिहावृत्तिरस्ति
क्वचिच्चात्मलोकादनावृत्तिरस्मात् ।
ध्रुवो ह्यात्मलोको ध्रुवानात्मलोका-
त्परो योऽस्ति चैको नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥७०॥

परं वेद सन्मात्रमुद्दालकेन
स्वपित्रोपदिष्टो यदा श्वेतकेतुः ।
यमात्मानमात्मस्थमव्यक्तमेतं
नमस्तेऽनिशं सत्स्वरूपाय तस्मै ॥७१॥

भृगुर्वेद पित्रोपदिष्टोऽन्तरेव
प्रकृष्टः परब्रह्मरूपात्मलोकम् ।
अनन्ताद्वयानन्दविज्ञानसत्यं
यमेकं विशुद्धाय तस्मै नमस्ते ॥७२॥

विहायेव कोशात्परं पञ्चवेद-
स्वरूपं यदानन्दकोशस्य पुच्छम् ।
मुमुक्षुस्सुषुप्तेरधिष्ठानमेकं
सदात्मस्वरूपाय तस्मै नमस्ते ॥७३॥

अनन्तानि शास्त्राण्यधीत्यापि विद्वा-
न्न दुःखेतरो नारदोऽनात्मवित्वात् ।
ऋषिर्मानसाद्वेदयं शोकहत्यै
नमस्ते सुखौघाय तस्मै विभूम्ने ॥७४॥

ऋषेर्याज्ञवल्क्याद्विदेहो महात्मा
यदेवाभयं ब्रह्मसम्यग्विदित्वा ।
स्वमेवाभयं तद्बभूवेदवेद्यं
समस्ताभयाप्याय तस्मै नमस्ते ॥७५॥

विदित्वात्र भूमानमेनश्चिदेस्ति
प्रवाच्यं किमु प्राणवित्पापनाशे ।
अतः प्राणविद्यामनादृत्य विद्वा-
नुपास्तेयमीशं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥७६॥

अजस्रान्नदानं परित्यज्य जान-
श्रुतेरैक्यवन्ध्यागमद्धंसवाक्यात् ।
स वै प्राणवित्प्राण उत्कर्षवांस्त-
त्परोस्माद्य आत्मा नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥७७॥

रवीन्द्वग्नितेजो जगद्भासकं चे-
न्न तस्यापि चित्सन्निधानं न तत्स्यात् ।
न यत्सन्निधानं विना किंचिदस्ति
क्वचिद्वस्तु तस्मै नमो ज्योतिषे च ॥७८॥

परंज्योतिषां ज्योतिरात्माख्यमेत-
द्रवीन्द्वादिवुध्यादिविद्योतकं यत् ।
विदित्वैव नूनं नरो ब्रह्मणस्स्या-
दमर्त्यश्च तस्मै नमस्स्वात्मने ते ॥७९॥

यथाश्वत्थवृक्षे स्वदेहे च तुल्यं
स्वमेवाब्रवीद्वासुदेवोऽर्जुनाय ।
तथा यस्य साम्यं विजानाति विद्वान्
नमस्ते समस्तात्मरूपाय तस्मै ॥८०॥

द्विजे पुल्कसे हस्तिनि स्वे शरीरे
समस्सात्त्विके राजसे तामसे च ।
य आत्मागुणस्ते रसं स्पृष्ट ईशो
नमस्ते सदा निष्कलङ्काय तस्मै ॥८१॥

यमाश्चर्यवद्वक्ति कश्चिच्छृणोति
प्रशान्तस्तु जानाति नह्यप्रशान्तः ।
विदित्वापि साक्षात्करोत्यत्र नान्य-
श्चिदस्मीति दिक्ष्याय तस्मै नमस्ते ॥८२॥

पतीदेवदैत्यौघयोः पद्मजाद्यं
चतुर्वारमाकर्णयन्तौ तथाऽपि ।
न जानाति कश्चित्तयोर्वेद चान्यो
ह्यतो दुर्वितर्क्याय तस्मै नमस्ते ॥८३॥

शरीरेन्द्रियप्राणविज्ञानशून्ये-
ष्विहैकैकमात्मेति दृप्ता वदन्ति ।
तथा बुद्धिसम्यग्विचारा समर्था
यदज्ञानमोहाय तस्मै नमस्ते ॥

अनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वधर्म-
स्स आत्मा विभुश्चिद्गुणश्चेति केचित् ।
न कर्तैव भोक्ता क्वचिच्चेति चान्ये
यदज्ञावदन्तीह तस्मै नमस्ते ॥८५॥

अनेकात्मको प्रेरकोऽन्यो नहीश-
स्त्विति प्राहुरेकेन चास्तीति चान्ये ।
विवादास्पदं नैव मायाविना यः
नमस्तेऽस्तु तस्मै विवादात्पराय ॥८६॥

विवादो निवर्तेत यस्य प्रसादा-
त्स्वरूपप्रकाशे जगद्भावनस्य ।
निवृत्ते विवादे पुनर्नैवलोके
भ्रमंत्यद्वितीयाय तस्मै नमस्ते ॥८७॥

विभुं चित्तनिष्ठं यदङ्गुष्ठमात्रं
पुराणं पुमांसं वदन्त्यत्र वेदाः ।
जनानां हृदङ्गुष्ठमात्रं यतोऽस्मा-
दनङ्गुष्ठमात्राय तस्मै नमस्ते ॥८८॥

भ्रुवोर्मध्यमेवा विमुक्तं मुनीनां
महाक्षेत्रमित्यत्र वृद्धेश्श्रुतेश्च ।
नवा वारणासीं पुरीं गन्तुमिच्छे-
त्स्वरूपे स्थितो यस्य तस्मै नमस्ते ॥८९॥

शरीरं यथाहं मतिस्सर्वजन्तो-
स्तथा मुक्तिबुद्धिश्च काशीमृतेर्वा ।
स्वरूपं प्रकाशं विना यस्य मुक्ति-
र्नवै सम्भवेत्क्वापि तस्मै नमस्ते ॥९०॥

स्वरूपप्रकाशैकहेतुर्हि यस्य
प्रकृष्टादमांतार्थं सम्यग्विचारः ।
अतो यत्प्रकाशाय वेदान्तनिष्ठो-
ऽनिशं स्याद्विवेकी नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥९१॥

वदन्तश्च रुद्रादयोऽप्यात्मतत्त्वं
न जानन्त्यतः केऽपि वेदान्तनिष्ठाः ।
ततस्तानिहोत्सृज्य वेदान्तनिष्ठो
भवेद्यत्प्रबोधाय तस्मै नमस्ते ॥९२॥

सुरेन्द्रो विदित्वैव यस्य स्वरूपं
समस्तादघाद्ब्रह्महत्यादिरूपात् ।
विमुक्तो हि वेदान्तनिष्ठो मुदास्ते
निरस्याभिमानं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥९३॥

यदीयं स्वरूपं विचार्यैव तिष्ठन्
सदा वन्दनीयोऽमरैरिन्द्रमुख्यैः ।
विशुद्धो ह्ययं देववन्द्यत्वयोग्य-
स्सदै चित्स्वरूपो नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥९४॥

स्वयं शुद्ध एवान्य शुद्धिं ददाति
क्वचिन्नह्यशुद्धोऽन्यशुद्धिप्रदस्स्यात् ।
स्मृतश्शुद्धिदस्सर्वजन्तोर्य आत्मा
विशुद्धः पवित्राय तस्मै नमस्ते ॥९५॥

सकृत्संस्मृतश्चेत्समस्तं च पापं
दहत्यग्निवद्यस्त्विहात्यन्तदीप्तः ।
चिदेवाहमित्येव बुद्धौ प्रवेशः
स्वदीप्तिर्नमस्तेऽस्तु तस्मै महिम्ने ॥९६॥

नहि स्नानदानादिना पापनाशः
कुतस्संस्कृतिः क्वापि नश्येत्कदापि ।
विना यत्स्मृतिं स्मृत्युपायं च मुक्त्वा
स्मरत्पापहन्त्रे नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥९७॥

अनात्मन्यहन्ताभिमानं निरस्य
स्वरूपप्रकाशस्ततस्सर्वपापम् ।
न संस्कृत्य नात्माश्रयं स्याद्विनष्टं
स्मृतेर्यत्प्रकाशे तु तस्मै नमस्ते ॥९८॥

अनाकर्ण्यवेदान्तभाष्यं समग्रं
न कस्यापि यत्स्मृत्युपायोऽस्ति कश्चित् ।
अतस्तच्चिकित्सा ततो यस्य जाता
नमस्ते दयालुस्वरूपाय तस्मै ॥९९॥

समस्तागमांता निहव्याचिकीर्षु-
स्स्वयं शङ्कराचार्यरूपावतीर्णः ।
कृतव्याससूत्रादिभाष्यो य आत्मा
स्वरूपैक्यधीराय तस्मै नमस्ते ॥१००॥

चतुर्भिः प्रशान्तैस्स्वशिष्यैर्युतस्सन्
भुवं पर्यटन्नात्मनिष्ठोऽखिलात्मा ।
स्वभाष्यप्रचारं सदाकारयन् यो
विभात्यद्वितीयाय तस्मै नमस्ते ॥१०१॥

विराट्सूत्रमायेशतुर्यस्वरूपैः
क्रमात्तोटकाचार्यनामादिसंज्ञैः ।
चतुर्व्यूहवेषैस्स्वशिष्यैर्युताया-
द्वयायात्मने ते नमो निर्गुणाय ॥१०२॥

अजं कर्मठं विश्वरूपं विदित्वा
तुरीयाश्रमं चाथ तस्मै प्रदत्वा ।
व्यधा दृश्यशृङ्गाश्रमेशारदार्चां
परं तत्त्वरक्षाय तस्मै नमस्ते ॥१०४॥

य आचार्यभाष्याण्यधीत्यैव भक्त्या
लभन्ते निजानन्दमात्मस्वरूपम् ।
गुरुस्तैरयं वन्द्य आत्मात्मविद्भि-
स्ततस्सर्ववन्द्याय तस्मै नमस्ते ॥१०४॥

नमश्शङ्कराचार्य तुभ्यं पुरस्ता-
न्नमः पृष्ठतः पार्श्वतश्चाथ ऊर्ध्वं ।
नमस्सर्वतस्सर्वरूपाय तस्मै
विशुद्धात्मने ब्रह्मणे ते नमस्ते ॥१०५॥

अहं देवबुद्धया तवैवास्मि दासो
ह्यहं जीवबुध्यास्मि तेनैकदेशः ।
त्वमेवास्म्यहं त्वात्मबुद्धया तथापि
प्रसीदान्वहं देहबुद्धया नमस्ते ॥१०६॥

सभाष्यार्थं आत्नुस्फुरत्यन्तकाले
चिदाभासचैतन्यदृक्त्वत्प्रसादात् ।
गतिर्नान्यथा मे समस्तापराधं
क्षमस्वाखिलात्मन्नमस्तेऽस्तु नित्यम् ॥१०७॥

नमो भाष्यवृन्दाय भाष्योपदेष्ट्रे
नमो भाष्यकृद्भ्यो नमो भाष्यविद्भ्यः ।
नमो भाष्यवृन्दार्थभृताय भूम्ने
विशुद्धात्मने ब्रह्मणेऽस्मै परस्मै ॥१०८॥

शतोर्ध्वाष्टकश्लोकमेतद्भुजङ्ग-
प्रयातं पठेद्योऽत्र भक्त्या त्वदीयम् ।
चिदाभासचिद्रूपमेकं स्मरन्स्व-
स्वरूपेण नूनं नमस्तेऽस्तु तस्मै ॥१०९॥

भुजङ्गप्रयातार्थमत्यन्तभक्त्या
सकृद्वा स्मरेत्प्रत्यहं श्रीगुरोर्यः ।
निरस्तान्धकारस्स आनन्दरूपं
व्रजत्यच्युतं त्वां त्वदीयप्रसादात् ॥११०॥

अहं ब्रह्मभूत्वापि नेति भ्रमोऽभू-
त्तदीयस्वरूपावबोधात्पुरा मे ।
गुरो त्वत्प्रसादाद्विमुक्तोऽहमस्मि
चिदाभासचिद्रूप आत्मा विशुद्धः ॥१११॥

अतो बुद्धिमांस्त्वत्प्रसादाय नित्यं
भुजङ्गप्रयातं पठेद्वा तदर्थम् ।
स्मरेद्वा गुरो ते प्रणम्यैव भूय-
श्चिदाभासचिद्रूपमेकं परं तत् ॥११२॥

मुनीन्द्रैः पुराणैरनुध्येयमोघं
विरिञ्चादिभिस्सर्वदेवैश्च वन्द्यम् ।
कथं त्वामहं स्तोतुमिच्छन् भवन्तं
क्व वा साधयेन्नेह किं किं महेश ॥११३॥

कृपा ते कृपालो विमुग्धं विशुद्धं
करोतीह मूकं च वाचलमीशम् ।
अतस्त्वत्कृपावैभवेनैव मेत-
त्कृतं मे क्षमस्वाखिलात्मन् नमस्ते ॥११४॥

॥इति श्रीगुरुभुजङ्गस्तोत्रं सम्पूर्णम्॥

शिवकवचस्तोत्रम्

अस्य श्रीशिवकवचस्तोत्रमहामन्त्रस्य ऋषभयोगीश्वर ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीसाम्बसदाशिवो देवता ॐ बीजं। नमः शक्तिः। शिवायेति कीलकं मम श्रीसाम्बसदाशिवप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः। ॐ सदाशिवाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। नं गङ्गाधराय तर्जनीभ्यां नमः। मं मृत्युंजयाय मध्यमाभ्यां नमः। शिं शूलपाणये अनामिकाभ्यां नमः। वां पिनाकपाणये कनिष्ठिकाभ्यां नमः। यं उमापतये करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। ॐ सदाशिवाय हृदयाय नमः। नं गङ्गाधराय शिरसे स्वाहा। मं मृत्युञ्जयाय शिखायै वषट्। शिं शूलपाणये कवचाय हुं। वां पिनाकपाणये नेत्रत्रयाय वौषट्। यं उमापतये अस्त्राय फट्। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥

ध्यानम्—

वज्रदंष्ट्रं त्रिनयनं कालकण्ठमरिन्दमम्।
सहस्रकरमत्युग्रं वन्दे शम्भुमुमापतिम्।

रुद्राक्षकङ्कणलसत्करदण्डयुग्मः फालान्तरालसितभस्मधृतत्रिपुण्ड्रः।
पञ्चाक्षरं परिपठन् स्वरमन्त्रराजं ध्यायेत्सदा पशुपतिं शरणं व्रजेथाः।

अतः परं सर्वविपत्प्रमोचनं वक्ष्यामि शैवं कवचं हिताय ते॥

ऋषभः—

नमस्कृत्वा महादेवं विश्वव्यापिनमीश्वरम्।
वक्ष्ये शिवमयं वर्म सर्वरक्षाकरं नृणाम्॥

शुचौ देशे समासीनो यथावत्कलितासनः।
जितेन्द्रियो जितप्राणश्चिन्तयेच्छिवमव्ययम्॥

हृत्पुण्डरीकान्तरसन्निविष्टं स्वतेजसा व्याप्तनभोऽवकाशम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममनन्तमाद्यं ध्यायेत्परानन्दमयं महेशम् ॥

ध्यानावधूताखिलकर्मबन्धश्चिरं चिदानन्दनिमग्नचेताः ।
षडक्षरं न्याससमाहितात्मा शैवे निकुर्यात्कवचेन रक्षाम् ॥

मां पातु देवोऽखिलदेवतात्मा संसारकूपं पतितं गभीरे ।
तं नामदिव्यं परमन्त्रमूलं धुनोतु मे खर्वमघं हृदिस्थम् ॥

सर्वत्र मां रक्षतु विश्वमूर्तिर्ज्योतिर्मयानन्दघनश्चिदात्मा ।
अणोरणीयानुरुशक्तिरेकस्स ईश्वरः पातु भयादशेषात् ॥

यो भूस्वरूपेण बिभर्ति विश्वं पायात्स भूमेर्गिरिशोऽष्टमूर्तिः ।
योऽपां स्वरूपेण नृणां करोति संजीवनं सोऽवतु मां जलेभ्यः ॥

कल्पावसाने भुवनानि दग्ध्वा सर्वाणि यो नृत्यति भूरिलीलः ।
सकालरुद्रोऽवतु मां दवाग्नेर्वात्यादिभीतेरखिलाच्च तापात् ॥

प्रदीप्तविद्युत्कनकावभासो विद्या पराभीति कुठारपाणिः ।
चतुर्मुखस्तत्पुरुषस्त्रिनेत्रः प्राच्यां स्थितो रक्षतु मामजस्रम् ॥

कुठारखेटाङ्कुशशूलढक्काकपालपाशाक्षगुणान् दधानः ।
चतुर्मुखो नीलरुचिस्त्रिनेत्रः पायादघोरो दिशि दक्षिणस्याम् ॥

कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकावभासो वेदाक्षमालावरदाभयाङ्कः ।
त्र्यक्षश्चतुर्वक्त्र उरुप्रभावः सद्योधिजातोऽवतु मां प्रतीच्याम् ॥

वराक्षमालाभयटङ्कहस्तः सरोजकिञ्जल्कसमानवर्णः ।
त्रिलोचनश्चारुचतुर्मुखो मां पायादुदीच्यां दिशि वामदेवः ॥

वेदाभयेष्टाङ्कुशटङ्कपाशकपालढक्काक्षरशूलपाणिः ।
सितद्युतिः पञ्चमुखोऽवतान्मामीशान ऊर्ध्वं परमप्रकाशः ॥

मूर्धानमव्यान्मम चन्द्रमौलिः फालं ममाव्यादथ फालनेत्रः।
नेत्रे ममाव्याद्भगनेत्रहारी नासां सदा रक्षतु विश्वनाथः ॥

पायाच्छ्रुती मे श्रुतिगीतकीर्तिः कपोलमव्यात्सततं कपाली।
वक्त्रं सदा रक्षतु पञ्चवक्त्रो जिह्वां सदा रक्षतु वेदजिह्वः ॥

कण्ठं गिरीशोऽवतु नीलकण्ठः पाणिद्वयं पातु पिनाकपाणिः।
दोर्मूलमव्यान्मम धर्मबाहुर्वक्षस्स्थलं दक्षमखान्तकोऽव्यात् ॥

ममोदरं पातु गिरीन्द्रधन्वा मध्यं ममाव्यान्मदनान्तकारी।
हेरम्बतातो मम पातु नाभिं पायात्कटिं धूर्जटिरीश्वरो मे ॥

ऊरुद्वयं पातु कुबेरमित्रो जानुद्वयं मे जगदीश्वरोऽव्यात्।
जङ्घायुगं पुङ्गवकेतुरव्यात्पादौ ममाव्यात्सुरवन्द्यपादः ॥

महेश्वरः पातु दिनादियामे मां मध्ययामेऽवतु वामदेवः।
त्रियम्बकः पातु तृतीय यामे वृषध्वजः पातु दिनान्त्ययामे ॥

पायान्निशादौ शशिशेखरो मां गङ्गाधरो रक्षतु मां निशीथे।
गौरीपतिः पातु निशावसाने मृत्युंजयो रक्षतु सर्वकालम् ॥

अन्तःस्थितं रक्षतु शङ्करो मां स्थाणुस्सदा पातु बहिस्स्थितं मां।
तदन्तरे पातु पतिः पशूनां सदाशिवो रक्षतु मां समन्तात् ॥

तिष्ठन्तमव्याद्भुवनैकनाथः पायाद्व्रजन्तं प्रमथाधिनाथः।
वेदान्तवेद्योऽवतु मां निषण्णं मामव्ययः पातु शिवश्शयानम् ॥

मार्गेषु मां रक्षतु नीलकण्ठश्शैलादिदुर्गेषु पुरत्रयारिः।
आरण्यवासादिमहाप्रवासे पायान्मृगव्याध उदारशक्तिः ॥

कल्पान्तकालोग्रपटुप्रतापस्फुटाट्टहासोज्ज्वलिताण्डकोशः।
घोरारिफेनार्णवदुर्निवार महाभयाद्रक्षतु वीरभद्रः ॥

पत्त्यश्वमातङ्गघटावरूथिनि　सहस्रलक्षायुतकोटिभीषणम् ।
अक्षौहिणीनां शतमाततायिनां　छिन्द्यान्मृडो घोरकुठारधारया ॥

निहन्तु दस्यून् प्रलयानलार्चिर्ज्वलत्त्रिशूलं　त्रिपुरान्तकस्य ।
शार्दूलसिंहर्क्षवृकादिहिंस्रान् सन्त्रासयत्वीश धनुः पिनाकः ॥

दुस्स्वप्न-दुश्शकुन-दुर्गति-दौर्मनस्य-दुर्भिक्ष-दुर्व्यसन-दुस्सहदुर्यशांसि ।
उत्पाततापविषभीतिमसद्ग्रहार्ति व्याधींश्च नाशयतु मे जगतामधीशः॥

ॐ नमो भगवते सदाशिवाय सकलतत्त्वात्मकाय सकलतत्त्वविदूराय सकललोकैककर्त्रे सकललोकैकभर्त्रे सकललोकैकसंहर्त्रे सकललोकैकगुरवे सकललोकैकसाक्षिणे सकलनिगमगुह्याय सकललोकवरप्रदाय सकलदुरितार्तिभञ्जनाय सकलजगदभयंकराय शशाङ्कशेखराय शाश्वतनिजावासाय निराभासाय निरामयाय निरातङ्काय निष्कलङ्काय निष्प्रपञ्चाय निर्द्वन्द्वाय निस्सङ्गाय निर्मलाय निर्गुणाय निरुपमविभवाय निराधाराय नित्यसिद्धपरिपूर्णसच्चिदानन्दाद्वयाय परमशान्तप्रकाशाय तेजोरूपाय तेजोमयाय तेजोधिपतये जय जय महारुद्र महारौद्र भद्रावतार महाभैरव कालभैरव कल्पान्तभैरव कपालमालाधर खट्वाङ्गचर्मखड्गधर पाशांकुश डमरुक त्रिशूल चाप बाण गदा शक्ति भिन्दिपाल तोमर मुसल मुसुण्ठि मुद्गर प्रास परिघ शतघ्नि चक्रायुध भीषणाकार सहस्रमुखदंष्ट्राकराल वदनविकटाट्टहासविस्फाटित ब्रह्माण्डमण्डल नागेन्द्रकुण्डल नागेन्द्रहार नागेन्द्रचर्मधर मृत्युञ्जय त्र्यम्बक त्रिपुरान्तक विरूपाक्ष विश्वेश्वर वृषवाहन विश्वरूप विश्वतोमुख सर्वतोमुख मां रक्षरक्ष ज्वलज्वल प्रज्वल प्रज्वल महामृत्युभयं शमय शमय नाशय नाशय रोगभयमुत्सादयोत्सादय विषसर्पभयं शमय शमय चोरान्मारय मारय मम शत्रूनुच्चाटयोच्चाटय शूलेन विदारय विदारय कुठारेण भिन्दि भिन्दि खड्गेन छिन्धि छिन्धि खट्वाङ्गेन व्यपोथय व्यपोथय शोधय

शोधय मुसलेन निष्पेषय निष्पेषय बाणैस्सन्त्रासय सन्त्रासय ताडय ताडय रक्षांसि भीषय भूतान् विद्रावय विद्रावय कूश्माण्ड भूतभेताल मारीगणवद्धब्रह्मराक्षसान्सन्त्रासय सन्त्रासय ममाभयं कुरु कुरु वित्रस्तं मामाश्वासयाश्वासय दुःखातुरं मामानन्दयानन्दय नरकभयान् मामुद्धरोद्धर सञ्जीवय सञ्जीवय क्षुत्तृष्णार्तं मामाप्याययाप्यायय दुःखातुरं मामामन्दयानन्दय शिवकवचेन मामाच्छादयाच्छादय त्र्यम्बक सदाशिव परमशिव नमस्ते नमस्ते नमः ॥

ऋषभः—

इत्येतत्परमं शैवं कवचं व्याहृतं मया ।
सर्वबाधाप्रशमनं रहस्यं सर्वदेहिनाम् ॥

यस्सदा धारयेन्मर्त्यश्शैवं कवचमुत्तमम् ।
न तस्य जायते क्वापि भयं शम्भोरनुग्रहात् ॥

क्षीणायुः प्राप्तमृत्युर्वा महारोगहतोऽपि वा ।
सद्यस्सुखमवाप्नोति दीर्घमायुश्च विन्दति ॥

सर्वदारिद्र्यशमनं सौमङ्गल्यविवर्धनम् ।
यो धत्ते कवचं शैवं स देवैरपि पूज्यते ॥

महापातकसङ्घातैर्मुच्यते चोपपातकैः ।
देहान्ते मुक्तिमाप्नोति शिववर्मानुभावतः ॥

त्वमपि श्रद्धया वत्स शैवं कवचमुत्तमम् ।
धारयस्व मया दत्तं सद्यश्श्रेयो ह्यवाप्स्यसि ॥

श्रीसूतः—

इत्युक्त्वा ऋषभो योगी तस्मै पार्थिवसूनवे ।
ददौ शङ्खं महारावं खड्गं चारिनिषूदन ॥

पुनश्च भस्म सम्मन्त्र्य तदङ्गं परितोऽस्पृशत् ।
भुजानां षट्सहस्रस्य द्विगुणस्य बलं ददौ ॥

भस्मप्रभावात्संप्राप्तं बलैश्वर्यं धृतिस्स्मृतिः ।
स राजपुत्रश्शुशुभे शरदर्क इव श्रिया ॥

तमाह प्राञ्जलिं भूयस्सयोगी नृपनन्दनम् ।
एष खड्गो मया दत्तस्तपो मन्त्रानुभावतः ॥

सितधारमिमं खड्गं यस्मै दर्शयते स्फुटम् ।
स सद्यो म्रियते शत्रुस्साक्षान्मृत्युरपि स्वयम् ॥

अस्य शंखस्य निर्ह्लादं ये शृण्वन्ति तवाहिताः ।
ते मूर्छिताः पतिष्यन्ति न्यस्तशस्त्राविचेतनाः ॥

खड्गशङ्खाविमौ दिव्यौ परसैन्यविनाशकौ ।
आत्मसैन्यस्वपक्षाणां शौर्यतेजोविवर्धनम् ॥

एतयोश्च प्रभावेन शैवेन कवचेन च ।
द्विषट् सहस्रनागानां बलेन महतापि च ॥

भस्मधारणसामर्थ्याच्छत्रुसैन्यं विजेष्यसि ।
प्राप्य सिंहासनं पित्र्यं गोप्ता सुपृथिवीमिमाम् ।

इति भद्रायुषं सम्यगनुशास्य समातृकम् ।
ताभ्यां संपूजितस्सोऽथ योगी स्वैरगतिर्ययौ ॥

॥ इति श्रीस्कान्दपुराणे ब्रह्मोत्तरखण्डे शिवकवचम् ॥

विष्णुकृतशिवस्तोत्रम्

महेशानन्ताद्यत्रिगुणरहितामेयविमल-
स्वराकारापारामितगुणगणाकारविवृते ।
निराधाराधारामरवरनिराकारपरम
प्रभापूराकारावरपर नमो वेदशिवते ॥१॥

नमो वेदावेद्याखिलजगदुपादानमयत-
स्स्वतन्त्रानामन्तानवधृतनिजाकारविरते ।
निवर्तन्ते वाचश्शिवमजरमप्राप्यमनसा
यतोऽशक्तास्स्तोतुं सकृदपि गुणातीत शिवते ॥२॥

त्वदन्यद्वस्त्वेकं नहि भुवि समस्तं न भवतो
विहीनं विश्वात्मन्नच परममस्तीश भवतः ।
ध्रुवं मायातीतस्त्वमसि सततं नात्रविशयो
न ते कृत्यं किञ्चित्क्वचिदपि नमोवार्यं शिवते ॥३॥

त्वयैवेमं लोकं निखिलममलं व्याप्य सततं
तथैवान्यं लोकं स्थितमनघ देवोत्तमविभो ।
त्वयैवेतत्सृष्टं जगदखिलमीशानभगव-
न्विलासोऽयं कश्चित्तव शिव नमो मेध्यशिवते ॥४॥

जगत्सृष्टं पूर्वं यदि शिवमुमाकान्त सततं
त्वया लीलामात्रात्तदपि सकलं रक्षितमभूत् ।
तदेवाग्रे फालप्रगटनयनाग्न्यद्भुतकणै-
र्जगद्दग्ध्वा स्थास्यस्यज हर नमो वर्ष्य शिवते ॥५॥

विभूतीनामन्तो भवनभवतो भूतविलस-
न्निजाकार श्रीमन्नतवगुणसीमाप्यवगता ।
अतिद्व्यावृत्याद्य त्वयि सकलवेदाश्च चकिता
भवन्त्ये वा सामप्रकृतिक नमो वर्ष्य शिवते ॥६॥

विराड्रूपं यत्ते सकलनिगमागोचरमभू-
त्तदेवेदं रूपं भवति किमिदं भिन्नमथवा ।
न जाने देवेश त्रिनयनसुराराध्यचरण
त्वमोङ्कारो वेदस्त्वमसि हि नमो घोर शिवते ॥७॥

यदन्तस्तत्त्वज्ञा मुनिवरगणा रूपमनघं
तवैवं संचिन्त्य स्वमनसि सदानन्दनिरताः ।
ययुर्दिव्यानन्दं तदिदमथवा किन्नु न तथा
किमेतज्जानेहं शरणदनमश्शर्व शिवते ॥८॥

यया शक्त्या सृष्ट्वा जगदथ च संरक्ष्य बहुधा
ततस्संहृत्यैतन्निवससि तदाधारमथवा ।
इदं ते किं रूपं निरुपम न जाने हर विभो
निसर्गः को वा ते तमपि हि नमो भव्य शिवते ॥९॥

तवानन्तान्याहुश्शुचिपरमरूपाणि निगमा-
स्तदन्तर्भूतं सत्सदनपुनरुक्तं त्विदमपि ।
निरुक्तं छन्दोभिर्निलयनमिदं चानिलयनं
न विज्ञातं ज्ञातं सकृदपि नमो ज्येष्ठ शिवते ॥१०॥

तवाभूत्सत्यं चानृतमपि च सत्यं ऋतमभू-
दृतं सत्यं सत्यं ऋतमुभयथा रूपमकलम् ।
यतस्सत्यं सत्यं सममपि समस्तं तव विभो
ऋतं सत्यं सत्यं ऋतमपि नमो रुद्र शिवते ॥११॥

तवामेयामेयं यदपि तवमेयं विरचितं
नवामेयं मेयं रचितमपि मेयं विरचितम् ।
नमेयं मेयंचेन्नखलु परमेयं परमयं
नमेयं नामेयं परमपि नमो देव शिवते ॥१२॥

तवाहारं हारं विदितमपि हारं विहरसे
नवाभारं हारी हरसि हर हारं नहरसि ।
नवाहारं हारं परतरविहारं परतरं
परं जाने पारं न च खलु नमो विश्व शिवते ॥१३॥

यदेतत्तत्त्वं ते समलमपि तत्त्वेन विदितं
स ते तत्त्वं तत्त्वं विदितमपि तत्त्वेन विदितम् ।
न चेतत्तत्त्वं चेन्नियतमपि तत्त्वं किमुभवे-
न्नते तत्त्वं तत्त्वं यदपि च नमो वेष्टथ शिवते ॥१४॥

इदं रूपं रूपं सदसदमलं रूपमितिचे-
न्नजाने रूपं तत्परममविभिन्नं परतरं ।
यतो नान्यद्रूपं निरतमपि वेदैर्निगदितं
न जाने सर्वात्मन् क्वचिदपि नमोऽनन्त शिवते ॥१५॥

महद्भूतं भूतं यदपि च न भूतं तव विभो
सदा भूतं भूतं किमु न भवतो भूतविषयैः ।
यदा भूतं भूतं न भवति च भूतं च भवितुः
प्रभाभूतं भूतं भवति हि नमोऽधिष्ण शिवते ॥१६॥

वशीभूता भूतास्सततमपि भूतात्मकतया
न ते भूता भूतास्तव यदपि भूता विभुतया ।
यतो भूता भूतास्तवतु नहि भूतात्मकतया
न वा भूता भूताः क्वचिदपि नमो भूत शिवते ॥१७॥

न ते माया माया सततमपि मायामयतया
ध्रुवं माया माया त्वयि पठन मायामथमयी ।
यदा माया माया त्वयि न खलु तत्साधिकतया
न माया मायावी न परमियतस्ते शिव नमः ॥१८॥

यदन्तस्संवेद्यं विदितमपि वेदैर्न विदितं
न वेद्यं वेद्यं चेन्नियतमपि वेद्यं न विदितं ।
तदेवेदं वेद्यं विदितमपि वेदान्तनिकरैः
करावेद्यं वेद्यं जितमिति नमो तर्क्यं शिवते ॥१९॥

शिवं शैवं भावं शिवमपि शिवाकारमशिवं
न सत्यं शैवं तच्छिवमपि शिवं शैवमनिशं ।
शिवं शान्तं मत्वा शिवपरमतत्त्वं शिवमयं
न जानेतत्तत्त्वं शिवमिति नमो वेद्य शिवते ॥२०॥

यदज्ञात्वा तत्त्वं सकलमपि संसारपतितं
जगज्जन्मावृत्तिं वहति सततं देहनिलयम् ।
यदेतज्ज्ञात्वे वा वहति च निवृत्तिं परतरां
न जाने तत्तत्त्वं पदमिति नमोऽधिष्ण शिवते ॥२१॥

तदेवं यद्रूपं निगमविषयं मङ्गलकरं
न सृष्टं केनापि ध्रुवमिति विजाने शिव विभो ।
ततश्चित्ते शम्भो नहि मम विषादोद्यविकृति
प्रयत्नांल्लभ्येऽस्मिन्न किमपि नमः पूर्ण शिवते ॥२२॥

तवाकारं गूढं यदपरमचक्षुश्श्रुतिपरं
तदेवापीदं सन्नयनपदवीन्नात्र तनुते ।
कदाचित्किंचिद्वा स्फुरति कृपया चेतसि तव-
स्फुरद्रूपं भव्यं भवहर नमोनाद्य शिवते ॥२३॥

त्वमिन्दुर्भानुस्त्वं हुतभुगसि वायुश्च सलिलं
त्वमेवाकाशोऽपि क्षितिरसि तथात्मासि भगवन् ।
वतस्सर्वाकारस्त्वमसि भवतो भिन्नमणुवा-
नतस्सत्यं सत्यं त्रिनयन नमोऽनन्त शिवते ॥२४॥

विधुं धत्से नित्यं शिरसि मृदुकण्ठेऽपि गरलं
नवं नागाहारं सहितममलं भासुरतनौ ।
करे शूलं फाले ज्वलनमनिशं तत्किमिति ते
न तत्त्वं जानेऽहं भवहर नमः कूप्यशिवते ॥२५॥

तवापाङ्गस्पन्दो यदि भवति भव्यश्शुभकरः
कदाचित् कस्मिंश्चिल्लघुतरवरेऽपि प्रभवति ।
स एवैतल्लोकान् विरचयितुमल्पोऽपि स महान्
कृपाधारो धत्ते सुरवर नमोऽनन्तशिवते ॥२६॥

भपन्तं देवेशं शिवमितरगीर्वाणसदृशं
प्रमादाद्यः कश्चिद्यदि वदति चित्तेऽपि मनुते ।
स दुःखं लब्ध्वान्ते नरकमपि याति ध्रुवमिदं
ध्रुवं देवाराध्यामितगुण नमोऽनन्त शिवते ॥२७॥

प्रदोपे रत्नाढ्ये मृदुलतर सिंहासनवरे
भवानीमारूढामसकृदपि संवीक्ष्य भवता ।
अतस्सम्यग्नाट्यं प्रथितमपि वेदोऽपि वदति
प्रभावः को वा यं तव हर नमो द्वीप्य शिवते ॥२८॥

श्मशाने संचारस्तवकिल नते क्वापि गमनं
यतो विश्वं व्याप्याखिलमपि सदा तिष्ठति भवान् ।
विभुर्नित्यं शुद्धं शिवमयमतो व्यापकमिति
श्रुतिस्साक्षाद्वक्ति स्वयमपि नगस्सूर्यशिवते ॥२९॥

धनुर्मेरुश्शेषो धनुवरगुणो यानमवनि
स्तवेनेन्दूचक्रे निगमनिकरावाजिनिकराः ।
पुरो लक्ष्यं यन्ताविधिरिपु रहंचेति निगमः
किमेवं त्वय्येषो निगदति नमः पर्ण्य शिवते ॥३०॥

मृडं सत्त्वोपेतं भव मनघयुक्तं च रजसा
तमोयुक्तं शुद्ध हरमपि शिवं निष्कलमिति ।
वदत्येषो वदस्त्वमसि तदुपास्यं ध्रुवमिदं
त्वमोङ्काराकारो ध्रुवमिति नमोऽनन्त शिवते ॥३१॥

जगत्सूक्ति बोधं व्रजति भवतो निर्गतमपि
प्रवृत्ति व्यापारं पुनरपि सुपुप्ति च सकलम् ।
त्वदन्यं त्वत्प्रख्यं व्रजति शरणं नेति निगमो
वदत्यद्धा सर्वं शिव इति नमस्तुत्य शिवते ॥३२॥

त्वमेको लोकानामधिपतिरुमानाथ जगतां
शरण्यः प्राप्यस्त्वं जलनिधिरिवानन्तपयसाम् ।
त्वदन्यो निर्वाणं नवितरति निर्वाणपतिर-
प्यतस्सर्वोत्कृष्टस्त्वमसि हि नमो नीप्य शिवते ॥३३॥

तवैवांशो भानुस्तपति विधुरप्येति पवनः
पवत्येषो वह्निर्ज्वलति सलिलं च प्रवहति ।
त्वदाज्ञाकारित्वं सकलसुरवर्गस्य सततं
त्वमेकस्स्वातन्त्र्यं वहसि हि नमोऽनन्त शिवते ॥३४॥

स्वतन्त्रोऽयं सोमस्सकलभुवनैकप्रभुरयं
नियन्ता देवानामयमिह नियन्तास्य न परः ।
शशिश्शुद्धो मायारहित इति वेदोऽपि वदति
स्वयं त्वामीशान्यं भयहर नमो रम्य शिवते ॥३५॥

नमो रुद्रानन्ताप्यघहर नमश्शङ्करविभो
नमो गौरीनाथ त्रिनयनशरण्याङ्घ्रिकमल ।
नमश्शर्वश्रीमन्ननघ महदैश्वर्यनिलय
स्मरारे पापारे जयजय नमस्सेव्य शिवते ॥३६॥

महादेवामेयानघ गुणगणग्राम सततं
नमश्शर्वेशात्तेश्वरहर नमस्ते पुनरपि ।
पुराराते शम्भो पुनरपि नमस्ते शिव विभो
नमो भूयो भूयश्शिव शिव नमो ऽनन्त शिवते ॥३७॥

कदाचिद्गण्यन्ते निविडनिपतद्वृष्टिकणिकः
कदाचिन्नक्षत्राण्यपि सिनितलेशाः कुशलिना ।
अनन्तैराकल्पं शिव गणगुणाश्चारुरसने-
र्न शक्यन्ते नूनं गणयितुमुतत्वापि सततम् ॥३८॥

मया विज्ञावेशा निशमपि वृतायेतु मनसा
सकामे नामेयास्सततमपराधा बहुविधाः ।
त्वयेव क्षन्तव्याः क्वचिदपि शरीरेण वचसा
कृतानैते नूनं शिव शिव कृपासागर विभो ॥३९॥

प्रमादाद्ये केचिद्वितततमपराधा विधिहताः
कृतास्सर्वे तेऽपि प्रशममुपयांतुष्कडतरम् ।
शिव श्रीमन् शम्भो शिवशिव महेशेति च जपन्
क्वचिल्लिङ्गाकारे शिवहर वसामि स्थिरतरम् ।॥४०॥

इति स्तुत्वा शिवं विष्णुः प्रणम्य च मुहुर्मुहु ।
निर्विण्णोन्यवसत्तत्र कृताञ्जलिपुटश्चिरम् ॥४१॥

सदाशिवः शिवं रूपमादायोवाच सर्वगः ।
भीषयन्नखिलान् भूतान् घनगम्भीरया गिरा ॥४२॥

मदीयं रूपममलं कथं ज्ञेयं भवादृशैः।
वेदैरपि हि नज्ञातमित्युक्त्वान्तर्दधे शिवः ॥४३॥

ततः परं विधिस्तत्र तपस्तप्तुं समारभे।
विष्णुश्च ज्ञाततत्त्वस्य ज्ञानार्थमतियत्नतः ॥४४॥

इति श्रीशिवरहस्ये सप्तमांशे भवानी शङ्करसंवादे
विष्णुकृतं शिवस्तोत्रं ॥

रुद्रकवचम्

ॐ अस्य श्रीरुद्रकवचस्तोत्रमहामन्त्रस्य दुर्वासा ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। त्र्यम्बकरुद्रोदेवता। ह्रां बीजं। श्रीं शक्तिः। ह्रीं कीलकम्। मम मानसाभीष्टसिध्यर्थे जपे विनियोगः॥ ह्रामित्यादि षड् दीर्घष्षडङ्गन्यासः॥ ध्यानम्॥

शान्तं पद्मासनस्थं शशिधरमुकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षिणाङ्गेर्वहन्तम्।
नागं पाशं च घण्टां डमरुकसहितं सांकुशं वामभागे
नानालङ्कारदीप्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि॥

दुर्वासा उवाच—

प्रणम्य शिरसा देवं स्वयम्भुं परमेश्वरम्।
एवं सर्वगतं देवं सर्वदेवमयं विभुम्॥

रुद्रवर्मं प्रवक्ष्यामि अङ्गप्राणस्य रक्षये।
अहोरात्रमयं देवं रक्षार्थं निर्मितं पुरा॥

रुद्रो मे चाग्रतः पातु पातु पार्श्वौ हरस्तथा।
शिरो मे ईश्वरः पातु ललाटं नीललोहितः॥

नेत्रयोस्त्र्यम्बकः पातु मुखं पातु महेश्वरः।
कर्णयोः पातु मे शम्भुर्नासिकायां सदाशिवः॥

वागीशः पातु मे जिह्वामोष्ठौ पात्वम्बिकापतिः।
श्रीकण्ठः पातु मे ग्रीवां बाहूचैव पिनाकधृत्॥

हृदयं मे महादेव ईश्वरोऽव्यात्स्तनान्तरम् ।
नाभिं कटिं च वक्षश्च पातु शर्व उमापतिः ॥

बाहुमध्यान्तरं चैव सूक्ष्मरूपस्सदाशिवः ।
सर्वं रक्षतु मे शर्वो गात्राणि च यथाक्रमम् ॥

वज्रं च शक्तिदं चैव पाशांकुशधरं तथा ।
गण्डशूलधरान्नित्यं रक्षतु त्रिदशेश्वरः ॥

प्रस्थानेषु पदेचैव वृक्षमूले नदीतटे ।
सन्ध्यायां राजभवने विरूपाक्षस्तु पातु माम् ॥

शीतोष्णादथ कालेषु तुहिनद्रुमकण्टके ।
निर्मनुष्ये समे मार्गे त्राहि मां वृषभध्वज ॥

इत्येतद्रुद्रकवचं पवित्रं पापनाशनम् ।
महादेवप्रसादेन दुर्वासोमुनिकल्पितम् ॥

ममाख्यातं समासेन न भयं तेन विदन्ति ।
प्राप्नोति परमारोग्यं पुण्यमायुष्यवर्धनम् ॥

विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी लभते धनम् ।
कन्यार्थी लभते कन्यां न भयं विदन्ते क्वचित् ॥

अपुत्रो लभते पुत्रं मोक्षार्थी मोक्षमाप्नुयात् ।
त्राहि त्राहि महादेव त्राहि त्राहि त्रयीमय ॥

त्राहि मां पार्वतीनाथ त्राहि मां त्रिपुरान्तक ।
पाशं खट्वाङ्गदिव्यास्त्रं त्रिशूलं रुद्रमेव च ॥

नमस्करोमि देवेश त्राहि मां जगदीश्वर ।
शत्रुमध्ये सभामध्ये ग्राममध्ये गृहान्तरे ॥

गमनेऽगमने चैव त्राहि मां भक्तवत्सल।
त्वं चित्त्वं त्वं मानसं च त्वं बुद्धिस्त्वं परायणम् ॥

कर्मणा मनसा चैव त्वं बुद्धिश्च यथा सदा।
सर्वज्वरभयं छिन्धि सर्वज्वरभयं छिन्धि ॥

सर्वग्रहभयं छिन्धि सर्वग्रहभयं छिन्धि।
सर्वशत्रून्निवर्त्यापि सर्वव्याधिनिवारणम्।
रुद्रलोकं सगच्छति रुद्रलोकं सगच्छत्योन्नम इति ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे दुर्वासः प्रोक्तं रुद्रकवचं सम्पूर्णम् ॥

वेदान्तडिण्डिमः

वेदान्तडिण्डिमास्तत्त्वमेकमुद्घोषयन्ति यत् ।
आस्तां पुरस्तात्तत्तेजो दक्षिणामूर्तिसंज्ञितम् ॥१॥

आत्मानात्मा पदार्थौ द्वौ भोक्तृभोग्यत्वलक्षणौ ।
ब्रह्मैवात्मा न देहादिरिति वेदान्तडिण्डिमः ॥२॥

ज्ञानाज्ञाने पदार्थौ द्वावात्मनो बन्धमुक्तिदौ ।
ज्ञानान्मुक्तिर्निबन्धोऽन्यदिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३॥

ज्ञातृ ज्ञेयं पदार्थौ द्वौ भास्यभासकलक्षणौ ।
ज्ञाता ब्रह्म जगज्ज्ञेयमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४॥

सुखदुःखे पदार्थौ द्वौ प्रियविप्रियकारकौ ।
सुखं ब्रह्म जगद्दुःखमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥५॥

समष्टिव्यष्टिरूपौ द्वौ पदार्थौ सर्वसंमतौ ।
समष्टिरीश्वरो व्यष्टिर्जीवो वेदान्तडिण्डिमः ॥६॥

ज्ञानं कर्म पदार्थौ द्वौ वस्तुकर्त्रात्मतन्त्रकौ ।
ज्ञानान्मोक्षो न कर्मभ्य इति वेदान्तडिण्डिमः ॥७॥

श्रोतव्याश्राव्यरूपौ द्वौ पदार्थौ सुखदुःखदौ ।
श्रोतव्यं ब्रह्म नैवान्यदिति वेदान्तडिण्डिमः ॥८॥

चिन्त्याचिन्त्ये पदार्थौ द्वौ विश्रान्तिश्रान्तिदायकौ ।
चिन्त्यं ब्रह्म परं नान्यदिति वेदान्तडिण्डिमः ॥९॥

ध्येयाध्येये पदार्थौं द्वो धीसमाध्यसमाधिदौ ।
ध्यातव्यं ब्रह्म नैवान्यदिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१०॥

योगिनो भोगिनो वापि त्यागिनो रागिणोऽपि च ।
ज्ञानान्मोक्षो न संदेह इति वेदान्तडिण्डिमः ॥११॥

न वर्णाश्रमसंकेतैर्न कर्मोपासनादिभिः ।
ब्रह्मज्ञानं विना मोक्ष इति वेदान्तडिण्डिमः ॥१२॥

असत्यः सर्वसंसारो रसाभासादिदूषितः ।
उपेक्ष्यो ब्रह्म विज्ञेयमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१३

वृथाक्रियान्वृथालापान्वृथावादान्मनोरथान् ।
त्यक्त्वैकं ब्रह्म विज्ञेयमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१४॥

स्थितो ब्रह्मात्मना जीवो ब्रह्म जीवात्मना स्थितम् ।
इति संपश्यतां मुक्तिरिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१५॥

जीवो ब्रह्मात्मना ज्ञेयो ज्ञेयं जीवात्मना परम् ।
मुक्तिस्तदैक्यविज्ञानमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१६॥

सर्वात्मना परं ब्रह्म श्रोतुरात्मतया स्थितम् ।
नायानस्तत्त्वविज्ञप्ताविति वेदान्तडिण्डिमः ॥१७॥

ऐहिकं चामुष्मिकं च तापान्तं कर्मसंचयम् ।
त्यक्त्वा ब्रह्मैव विज्ञेयमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१८॥

अद्वैतद्वैतवादौ द्वौ सूक्ष्मस्थूलदशां गतौ ।
अद्वैतवादान्मोक्षः स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१९॥

कर्मिणो विनिवर्तन्ते निवर्तन्त उपासकाः ।
ज्ञानिनो न निवर्तन्त इति वेदान्तडिण्डिमः ॥२०॥

परोक्षासत्फलं कर्म ज्ञानं प्रत्यक्षसत्फलम् ।
ज्ञानमेवाभ्यसेत्तस्मादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥२१॥

वृथा श्रमोऽयं विदुषां वृथायं कर्मिणां श्रमः ।
यदि न ब्रह्मविज्ञानमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥२२॥

अलं यागैरलं योगैरलं भोगैरलं धनैः ।
परस्मिन्ब्रह्मणि ज्ञात इति वेदान्तडिण्डिमः ॥२३॥

अलं वेदैरलं शास्त्रैरलं स्मृतिपुराणकैः ।
परमात्मनि विज्ञात इति वेदान्तडिण्डिमः ॥२४॥

नर्चा न यजुषार्थोऽस्ति न साम्नार्थोऽस्ति कश्चन ।
जाते ब्रह्मात्मविज्ञान इति वेदान्तडिण्डिमः ॥२५॥

कर्माणि चित्तशुद्ध्यर्थमैकाग्र्यार्थमुपासनम् ।
मोक्षार्थं ब्रह्मविज्ञानमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥२६॥

संचितागामिकर्माणि दह्यन्ते ज्ञानकर्मणा ।
प्रारब्धानुभवान्मोक्ष इति वेदान्तडिण्डिमः ॥२७॥

न पुण्यकर्मणा वृद्धिर्न हानिः पापकर्मणा ।
नित्यासङ्गात्मनिष्ठानामिति वेदान्तडिण्डिमः ॥२८॥

दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्परविलक्षणौ ।
दृग्ब्रह्म दृश्यं माया स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥२९॥

अविद्योपाधिको जीवो मायोपाधिक ईश्वरः ।
मायाविद्यागुणातीत इति वेदान्तडिण्डिमः ॥३०॥

बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वकृतानां पापकर्मणाम् ।
प्रायश्चित्तमहो ज्ञानमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३१॥

साकारं च निराकारं निर्गुणं च गुणात्मकम् ।
तत्त्वं तत्परमं ब्रह्म इति वेदान्तडिण्डिमः ॥३२॥

द्विजत्वं विध्यनुष्ठानाद्विप्रत्वं वेदपाठतः ।
ब्रह्मण्यं ब्रह्मविज्ञानादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३३॥

सर्वात्मना स्थितं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मात्मना स्थितम् ।
न कार्यं कारणाद्भिन्नमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३४॥

सत्तास्फुरणसौख्यानि भासन्ते सर्ववस्तुषु ।
तस्माद्ब्रह्ममयं सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३५॥

अवस्थात्रितयं यस्य क्रीडाभूमितया स्थितम् ।
तदेव ब्रह्म जानीयादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३६॥

यन्नादौ यच्च नास्त्यन्ते तन्मध्ये भातमप्यसत् ।
अतो मिथ्या जगत्सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३७॥

यदस्त्यादौ यदस्त्यन्ते यन्मध्ये भाति तत्स्वयम् ।
ब्रह्मैवैकमिदं सत्यमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३८॥

पुरुषार्थत्रयाविष्टाः पुरुषाः पशवो ध्रुवम् ।
मोक्षार्थी पुरुषः श्रेष्ठ इति वेदान्तडिण्डिमः ॥३९॥

घटकुड्यादिकं सर्वं मृत्तिकामात्रमेव च ।
तथा ब्रह्म जगत्सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४०॥

षण्निहत्य त्रयं हित्वा द्वयं भित्त्वाखिलातिगम् ।
एकं बुद्ध्वाश्नुते मोक्षमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४१॥

भित्त्वा षट् पञ्च भित्त्वाथ भित्त्वाथ चतुरस्त्रिकम् ।
द्वयं हित्वाश्रयेदेकमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४२॥

देहो नाहमहं देही देहसाक्षीति निश्चयात् ।
जन्ममृत्युप्रहीणोऽसाविति वेदान्तडिण्डिमः ॥४३॥

प्राणो नाहमहं देवः प्राणसाक्षीति निश्चयात् ।
क्षुत्पिपासोपशान्तिः स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४४॥

मनो नाहमहं देवो मनःसाक्षीति निश्चयात् ।
शोकमोहापहानिः स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४५॥

बुद्धिर्नाहमहं देवो बुद्धिसाक्षीति निश्चयात् ।
कर्तृभावनिवृत्तिः स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४६॥

नाज्ञानं स्यामहं देवोऽज्ञानसाक्षीति निश्चयात् ।
सर्वानर्थनिवृत्तिः स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४७॥

अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैवं पुनः पुनः ।
स एव मुक्तोऽसौ विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः ॥४८॥

नाहं माया न तत्कार्यं न साक्षी परमोऽस्म्यहम् ।
इति निःसंशयज्ञानान्मुक्तिर्वेदान्तडिण्डिमः ॥४९॥

नाहं सर्वमहं सर्वं मयि सर्वमिति स्फुटम् ।
ज्ञाते तत्त्वे कुतो दुःखमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥५०॥

देहादिपञ्चकोशस्था या सत्ता प्रतिभासते ।
सा सत्तात्मा न संदेह इति वेदान्तडिण्डिमः ॥५१॥

देहादिपञ्चकोशस्था या स्फूर्तिरनुभूयते ।
सा स्फूर्तिरात्मा नैवान्यदिति वेदान्तडिण्डिमः ॥५२॥

देहादिपञ्चकोशस्था या प्रीतिरनुभूयते ।
सा प्रीतिरात्मा कूटस्थ इति वेदान्तडिण्डिमः ॥५३॥

व्योमादिपञ्चभूतस्था या सत्ता भासते नृणाम् ।
सा सत्ता परमं ब्रह्म इति वेदान्तडिण्डिमः ॥५४॥

व्योमादिपञ्चभूतस्था या चिदेकानुभूयते ।
सा चिदेव परं ब्रह्म इति वेदान्तडिण्डिमः ॥५५॥

व्योमादिपञ्चभूतस्था या प्रीतिरनुभूयते ।
सा प्रीतिरेव ब्रह्म स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥५६॥

देहादिकोशगा सत्ता या सा व्योमादिभूतगा ।
मानाभावान्न तद्भेद इति वेदान्तडिण्डिमः ॥५७॥

देहादिकोशगा स्फूर्तिर्या सा व्योमादिभूतगा ।
मानाभावान्न तद्भेद इति वेदान्तडिण्डिमः ॥५८॥

देहादिकोशगा प्रीतिर्या सा व्योमादिभूतगा ।
मानाभावान्न तद्भेद इति वेदान्तडिण्डिमः ॥५९॥

सच्चिदानन्दरूपत्वाद्ब्रह्मैवात्मा न संशयः ।
प्रमाणकोटिसंधानादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥६०॥

न जीवब्रह्मणोर्भेदः सत्तारूपेण विद्यते ।
सत्ताभेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥६१॥

न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते ।
स्फूर्तिभेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥६२॥

न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते ।
प्रियभेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥६३॥

न जीवब्रह्मणोर्भेदो नाम्ना रूपेण विद्यते ।
नाम्नो रूपस्य मिथ्यात्वादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥६४॥

न जीवब्रह्मणोर्भेदः पिण्डब्रह्माण्डभेदतः ।
व्यष्टेः समष्टेरेकत्वादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥६५॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।
जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः ॥६६॥

न नामरूपे नियते सर्वत्र व्यभिचारतः ।
अनामरूपं सर्वं स्यादितिवेदान्तडिण्डिमः ॥६७॥

अनामरूपं सकलं सन्मयं चिन्मयं परम् ।
कुतो भेदः कुतो बन्ध इति वेदान्तडिण्डिमः ॥६८॥

न तत्त्वात्कथ्यते लोको नामाद्यैर्व्यभिचारतः ।
बटुर्जरठ इत्याद्यैरिति वेदान्तडिण्डिमः ॥६९॥

नामरूपात्मकं विश्वमिन्द्रजालं विदुर्बुधाः ।
अनामत्वादयुक्तत्वादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७०॥

अभेददर्शनं मोक्षः संसारो भेददर्शनम् ।
सर्ववेदान्तसिद्धान्त इति वेदान्तडिण्डिमः ॥७१॥

न मताभिनिवेशित्वान्न भाषावेशमात्रः ।
मुक्तिर्विनात्मविज्ञानादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७२॥

न काम्यप्रतिषिद्धाभिः क्रियाभिर्मोक्षवासना ।
ईश्वरानुग्रहात्सा स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७३॥

अविज्ञाते जन्म नष्टं विज्ञाते जन्म सार्थकम् ।
ज्ञातुरात्मा न दूरे स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७४॥

दशमस्य परिज्ञाने नायासोऽस्ति यथा तथा ।
स्वस्य ब्रह्मात्मविज्ञाने इति वेदान्तडिण्डिमः ॥७५॥

उपेक्ष्यौपाधिकादोषान्गृह्णन्ते विषया यथा ।
उपेक्ष्यं दृश्यं यद्ब्रह्म इति वेदान्तडिण्डिमः ॥७६॥

सुखमल्पं बहुक्लेशो विषयग्राहिणां नृणाम् ।
अनन्तं ब्रह्मनिष्ठानामिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७७॥

धनैर्वा धनदैः पुत्रैर्दारागारसहोदरैः ।
ध्रुवं प्राणहरैर्दुःखमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७८॥

सुप्तेरुत्थाय सुप्त्यन्तं ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम् ।
नातिदूरे नृणां मृत्युरिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७९॥

पञ्चानामपि कोशानां मायानर्थव्ययोचिता ।
तत्साक्षी ब्रह्मविज्ञानमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥८०॥

दशमत्वपरिज्ञाने नवज्ञस्य यथा सुखम् ।
तथा जीवस्य सत्प्राप्ताविति वेदान्तडिण्डिमः ॥८१॥

नवभ्योऽस्ति परं प्रत्यङ् नव वेद परं परम् ।
तद्विज्ञानाद्भवेत्तुर्या मुक्तिर्वेदान्तडिण्डिमः ॥८२॥

नवाभासानवज्ञत्वान्नवोपाधीन्नवात्मना ।
मिथ्या ज्ञात्वावशिष्टे तु मौनं वेदान्तडिण्डिमः ॥८३॥

परमे ब्रह्मणि स्वस्मिन्प्रविलाप्याखिलं जगत् ।
गायन्नद्वैतमानन्दमास्ते वेदान्तडिण्डिमः ॥८४॥

प्रतिलोमानुलोमाभ्यां विश्वारोपापवादयोः ।
चिन्तने शिष्यते तत्त्वमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥८५॥

नामरूपाभिमानः स्यात्संसारः सर्वदेहिनाम् ।
सच्चिदानन्ददृष्टिः स्यान्मुक्तिर्वेदान्तडिण्डिमः ॥८६॥

सच्चिदानन्दसत्यत्वे मिथ्यात्वे नामरूपयोः ।
विज्ञाते किमिदं ज्ञेयमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥८७॥

सालम्बनं निरालम्बं सर्वालम्बावलम्बितम् ।
आलम्बेनाखिलालम्बमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥८८॥

न कुर्यान्न विजानीयात्सर्वं ब्रह्मेत्यनुस्मरन् ।
यथा सुखं तथा तिष्ठेदिति वेदान्तडिण्डिमः ॥८९॥

स्वकर्मपाशवशगः प्राज्ञोऽन्यो वा जनो ध्रुवम् ।
प्राज्ञः सुखं नयेत्कालमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥९०॥

न विद्वान्संतपेच्चित्तं करणाकरणे ध्रुवम् ।
सर्वमात्मेति विज्ञानादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥९१॥

नैवाभासं स्पृशेत्कर्म मिथ्योपाधिमपि स्वयम् ।
कुतोऽधिष्ठानमत्यच्छमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥९२॥

अहोऽस्माकमलं मोहैरात्मा ब्रह्मेति निर्भयम् ।
श्रुतिभेरीरवोऽद्यापि श्रूयते श्रुतिरञ्जनः ॥९३॥

वेदान्तभेरीझंकारः प्रतिवादिभयंकरः ।
श्रूयतां ब्रह्मणेः श्रीमद्दक्षिणामूर्त्यनुग्रहात् ॥९४॥

॥ इति वेदान्तडिण्डिमः ॥

परशम्भुमहिम्नस्तोत्रम्

श्रीशम्भो ते महिम्नः स्तुतिपथरचितास्साङ्गवेदास्सशास्त्रा-
स्सिद्धान्तास्साङ्गविद्यास्सचकितमतयोनैव पश्यन्ति पारम् ।
साद्यान्तास्त्वामनन्तं परमशिवगुरुं ते कथं वर्णयेयु-
स्तस्मात्प्रज्ञानसारादहमिति भवतस्स्तौमि किञ्चिच्चरित्रम् ॥१॥

क्वानन्दात्मप्रकाशस्तवपरमहिमा पारपीयूषसिन्धु-
स्त्वद्भक्त्यामोदमग्नाः क्वचकविमधुपास्तत्पिपासानुबद्धाः ।
श्रीशम्भो मोहजृम्भो न जनयति परं स्वात्मचर्यां किमेत-
च्चित्रं तद्वन्मयापि स्वमतिविभवतस्स्तूयते यन्नदोषः ॥२॥

श्रीमद्भिर्दृश्यभावैरहमहमहमित्यात्मसक्ताधिरूढै-
र्नानारूपैः पदार्थैर्निरवधिविभवैराशु देदीप्यमानः ।
सर्वातीतस्त्वमेकः परशिवचरणस्वप्रकाशात्म शम्भो-
र्नान्यस्त्वत्तः परोऽस्तीत्यहह सुगुरुणा त्वां स्वभावैरवैमि ॥३॥

आत्मैवैपस्वकीयो निरतिशयचिदानन्दसद्ब्रह्मपूर्णो-
जिह्मस्संसारभावैरतिदुरधिगमैरात्तमायाविलासैः ।
सर्वात्मत्वादनन्तस्तवशिवमहसश्श्रीगुरोस्सत्यवाक्यै-
र्निस्तर्कोपाधिभेदैः परमपुरुष ते तत्त्वमद्वैतमेवि ॥४॥

दीक्षां यश्शाम्भवीं सद्गुरुशिवविहिता दिव्यबीजगमोक्तां
प्राप्य श्रीशम्भु तादात्म्यवितरणचणां जन्ममृत्युप्रभेत्रीं ।
भित्वा भेद्यं पशुत्वं परशिवचरणध्यानयोगेनपूर्ण-
स्स्वाघोरब्रह्मविद्याविदितपरपदं ब्रह्म सप्रैति विद्वान ॥५॥

ब्रह्माण्डपिण्डमेतत्पितरमिवसुतं तत्समानैकधर्मं ।
विज्ञायाज्ञानमुक्तश्शिवगुरुवचनैरात्मविज्ञानशान्तः
सर्वात्मैकप्रभोस्ते परशिवचरणाराधनासक्तचित्तो
यः कोप्येकस्स योगी जयति जनिमृती भो महामृत्युमृत्यो ॥६॥

पिण्डे षाट्कोशिकेऽस्मिन्नवविपुरपुरे पञ्चभूतेन्द्रियाढ्ये
पुंस्त्वे स्त्रैणे च षाण्डे शिवगुरुवचनैरत्र विज्ञायसे चेत् ।
केनाप्यन्नानुचित्तं प्रमितिनिरुपमानन्दकोशात्तराशि-
स्त्वंषोढाभिन्नमूर्तिः परशिवसवुधो विश्वरूपत्वमीयात् ॥७॥

सर्वेश श्री पुरेश त्रिभुवनविदितव्यक्तयश्शक्तयस्ते
नानावेद्याः पराद्यानिरवधिविभवा मातृकान्तास्सकान्ताः ।
विज्ञातास्स्युस्स्वरूपे यदि शिवगुरुणा विश्वदृश्यप्रपञ्च-
स्स्वात्मज्योतिर्विलीनं विदधति विदुषो योगिनस्यैव मुक्तिः ॥८॥

या षोढा पञ्चधा च प्रकटितविभवा श्रीपरादेव शम्भोः
सैव श्रीसुन्दरीतिश्रुतिभिरभिहिताचक्रराजासनस्था ।
सर्वत्रानेककोटिप्रकटितगणनायोगिभिर्व्यश्नुवाना
त्वत्तेजोऽन्तर्निरूढा रचयति जगतामादिमध्यान्तकालान् ॥९॥

या शक्तिः पञ्चवाहप्रवहणलहरी व्यक्तनैजात्मतेज-
स्संवर्ताग्निप्रपीतत्रिभुवनजलधिः कालसंकर्षणी ते ।
दिक्कालातीतमूर्ते परशिवमहतां भक्तिभाजामविद्यां
मृत्युं विज्ञानदानात्प्रहरति विदुषां तन्महत्वं त्वमेव ॥१०॥

सर्वज्ञो नित्यतृप्तस्सदसदुभयगानादिबोधस्वतन्त्रो
नित्यालुप्तात्मशक्तिर्निरुपमचरितोऽनन्त इत्यङ्गषट्कैः ।
एवं षट्छक्तिभावस्त्वमिह यदि शिवज्ञायसे देशिकोक्त्या
येन स्वात्मन्यनादौ सकलविलसितं ते परायास्सवेदाः ॥११॥

गायत्री वेदगात्री शतमखफलदादेदशास्त्रैदवेद्या
चिच्छक्तिर्ब्रह्मविद्यां परमशिवतव श्रीवरां व्याकरोति ।
शब्दब्रह्मैक्यवाच्यामखिलमतमितिव्यक्ततत्त्वामवाच्यां
ससस्रोतो विभूतिं त्रिभुवनमयतां तत्त्वतस्सर्वतुर्याम् ॥१२॥

संसारासारभावप्रहरणचतुरामादिशक्तिं परां तां
स्वात्मा भिन्नां विदित्वा वपुरनुमतिभिर्नावृताहं कृतस्थः ।
त्रैलोक्यं ब्रह्म विश्वप्रसरमनवधिस्वप्रकाशप्रपूर्णं
ज्ञात्वा मुक्तस्सयोगी भवति गत भवस्त्वत्प्रकाशान्महेश ॥१३॥

विश्वेश स्वप्रकाशप्रचुरमिह विना नान्यदस्तीति तत्त्वं
मीमांसारूपमेतत्तव परमगुरो श्रीमुखाम्नायजालम् ।
स्वप्रत्यक्षं विहाय स्वरहितमिति चेदस्ति चान्यत्र तत्त्वं
यो धीरास्तर्कयेयुस्त इहजनिमृतो नाप्नुवन्त्यङ्गभागैः ॥१४॥

नब्रह्माविष्णुरुद्रौ सुरपतिरमरा नासुरा नैवपृथ्वी
नापो नाग्निर्नवायुर्नच गगनतलं नो दिशो नैव कालः ।
नो वेदा नैव यज्ञानचरविशशिनौ नोवियन्नोविकल्प-
स्स्वज्योतिस्सत्यमेकं जयति तवपदं सच्चिदानन्दमूर्ते ॥१५॥

शम्भो सैद्धान्तिकाये स्वमतिविभवतो खर्वगर्वाप्रमाणे-
र्मीमांसं ते भवन्तं बहुमतजनकैरावृता शुद्धविद्यैः ।
अन्योन्यस्पर्धिनस्ते कथमिह भवतस्तत्त्वमीयुस्स्वतेज-
स्सर्वातीतं विकल्पग्रहरहितमजं मानतर्काद्यगम्यम् ॥१६॥

धीरा केचिन्महान्तो गुरुवचनरता स्त्यक्तसंसारभावा
निश्शङ्का घोरविद्यापरिणतमतयस्सर्वसङ्कल्पमुक्ताः ।
त्वत्कारुण्याक्षिलक्ष्याः परमशिवभवत्साधकाः पुण्यपापैः
कृत्यैरेभिर्विहीनाः परपदविभवं त्वां प्रपश्यन्ति विश्वम् ॥१७॥

सिद्धान्तश्शाम्भवोऽयं शिवगुरुवचनाघोरविद्याक्षरोक्त-
स्तोत्रव्याजेन निर्वाह्यत इति भवतश्श्री विभो चापलं मे ।
अत्र न्यूनातिरेकोक्ति जनितमसकृत् क्षम्यतां दासबुद्धया
मच्चित्तस्थप्रमेयं समुपदिशपरं मातृकावर्णराशौ ॥१८॥

इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि उपोद्घातप्रकरणं प्रथमम् ॥

श्रीमद्रश्मिप्रभावं त्रिभुवनभवनव्यञ्जकं स्वात्मदीपं
कोवावक्तुं निरुक्त्या प्रभवति यतधीरात्तसम्यग्विमर्शः ।
यत्र ब्रह्मादिविद्वन्मतिरपि विगतिर्यातिभीत्या विनाशं
श्रुत्यासार्थं स केनप्रविततमतिनावर्णिते ते महेश ॥१९॥

षण्णामप्यस्वयानां क्षितिजलदहनस्पर्शनाकाशचेतः
पीठस्थानां पराद्याः परशिवभवतश्शक्तयो मातृकान्ताः ।
ब्रह्मादिप्रेतसिंहासनगतविभवैस्तावकीयैष्षडङ्गै-
र्द्वात्रिंशद्रश्मिमुख्यस्वकिरणव्यासविश्वैर्विभान्ति ॥२०॥

बुद्धेस्सम्यग्विमर्शप्रकटिततरणेरर्थवद्वाक्प्रवृत्ते-
र्यंत्रस्थाने तुरीये नवकलितमहावाक्यतत्त्वे विनाशः ।
तत्किंज्योतिस्तमोपासदसदुभयगं किन्त्वमूर्तन्नुमूर्तं
नव्याप्यश्चेद्विनाशो नहि मतिवचसां देव तस्मात्परत्वम् ॥२१॥

ज्ञानं योगःप्रकाशो विधिरभयमतिर्देहधीप्राणशून्या-
हङ्कारश्चाधिकामस्स्वविषयमनघं चाश्रयन्नन्तरास्ते ।
इत्यात्माकाशसक्ता तवपरविदिता सम्यगेतत्प्रमेया-
धारेष्वन्तर्घृतं यत्पयसि तिलचये तैलवद्भासिहीश ॥२२॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वपुष्पस्तबकपरिमलस्तावकीय स्वतेजः
कल्पद्रुश्चेत्प्रवृद्धशिवगुरुवचसा सर्वतस्स्वानुभूतिः ।

अद्वैतब्रह्मबुद्धिं जनयति विदुषामेष एवासदादि-
ब्रह्मान्तात्मप्रपञ्चे विलसति नपरोऽस्तीति चेत्पारिजातः ॥२३॥

स्वप्रत्यक्षेऽपि तत्त्वे करतलफलवद्वेत्ति नासौ स्वरूपं
नानासिद्धान्तजालप्रलपितजनिताज्ञानमोहान्धकारैः ।
आक्रान्ते पुण्यपापैरधिगतनिधनैरात्मकर्मण्यनादौ
हेयोपादेयबुद्धया भव इति विदितस्ते महामाययेश ॥२४॥

एकोऽसौ लक्षितैश्चेदखिलतनुगतैरिन्द्रियार्थैरनेकै-
र्भिन्नस्स्वात्मप्रकृत्या विधिजनिमृतिभिस्सन्निबद्धः किमेतम् ।
देवत्वं मानुषत्वं वपुषि भुजगतां सर्वजीवात्मकत्वं
धत्से शैलूषवत्तैः स्मरहरणपरं श्रीमहादेवमूर्ते ॥२५॥

इति श्रीपरशम्भुमहिम्ने पराशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं द्वितीयम् ॥

सत्त्वं चित्त्वं महत्त्वं तव परमगुरोरात्मशक्तेः परायाः
पिण्डीकृत्यप्रकृत्या प्रथमरतिपतिव्याजकालान्तवह्निः ।
भूत्वा संसारसृष्टिस्थितिलयनिलयाद्यातितोयार्णवान्त-
स्तन्वानोनिर्ममेच्छस्त्वमिहविजयसे विष्णुमायाविभूते ॥२६॥

मायायामन्तरस्थः कुसुमशररसस्तावकीयः स्वकाले
ज्ञानज्ञेयप्रमातृप्रकटितमहिमा स्वप्ररोहप्रसारैः ।
उत्पाद्याद्यं विरिञ्चं तदनुभुवनतामात्मनाव्यश्नुवानो
बीजाकारस्स्वयंभूरिति कथयति ते नामविश्वात्मसृष्टेः ॥२७॥

आदिक्षान्तार्णसृष्टिं त्रिभुवनभवनाभासभूमिं शिवादि-
क्षित्यन्तात्मीयतत्त्वावलि विकृतगतिं वेधसां डान्तभूमिम् ।
आत्मीयानुत्तरेच्छागुणपरिवशतां प्राप्य संव्यश्नुवानः
श्रीशम्भो विश्वसृष्टिर्भवसि निजमलत्र्यप्रोपितात्मा ॥२८॥

चत्वारः कालतत्त्वे तव युगपतयस्ते च धातुश्च पुत्रा
व्याख्याता द्वादशेति स्थितिकृतिविदितासावतारास्सदाराः ।
श्रीकण्ठाद्याश्च नाथाधृतयुगविधयस्त्वन्नियत्युत्थितान्ता-
श्चैतन्यापीव तस्मात् स्थितिरितिविदितस्ते सहस्रार्कदीपैः ॥२९॥

आत्मीयानादिरश्मीनिह तव विजितानेकसिद्धान्तजाल-
व्यापारोद्यद्विकल्पानृतमुखविपयान् पुण्यपापादिभेदैः ।
दुर्ज्ञेयां देशिकोक्त्या प्रविततविमलस्वप्रकाशैकवह्नौ
साक्षात्तत्त्वे न बुद्धान् झटिति विजयते यस्त्वदात्मा विरोधः ॥३०॥

जाग्रत्स्वप्नप्रसुप्तिप्रकटितविभवैरात्ममायागुणैः स्वै-
र्ज्ञानेच्छाक्रोधरूपैर्विविधहरणकैरावृते मोक्षमार्गे ।
पान्थाः केचित्सुधीराश्शिवगुरुवदनज्ञानशास्त्रैकदीप्ता-
स्त्वत्कारुण्यैकरक्षा परिविहृतभियस्त्वां प्रयान्त्यादिमूर्ते ॥३१॥

त्वं मायाकामदेवप्रथममसि भवत्त्व स्वसृष्टा विधाता
रक्षायां विष्णुरन्ते प्रबलतरमहारुद्रमूर्तिस्त्वमूर्तौ ।
सत्योऽनन्तः प्रमाता शिवगुरुरिति च स्वात्मभूतिप्रभावे-
स्स्वेच्छावस्थागुणाढ्योप्यगुणतव विभो वस्तुतस्तूयसे त्वम् ॥३२॥

इच्छा शक्त्या यया तत्कवलितमखिलं ते जगज्जालरूपं
सृष्टिस्थित्यन्तवृत्ता सरसिजलधरासारतुल्यात्मगत्या ।
सैवानन्तान्तरङ्गान् सरसबहुविधानेकसङ्कल्पभावे-
राविर्भूत्वा त्वदङ्गप्रकटनकृतये बोधसिन्धुस्त्वमेव ॥३३॥

इति श्री परशम्भुमहिम्नि इच्छाशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं तृतीयम् ॥

संवेद्यं तत्त्वजालं परशिवधरणीं मूलपारं विचित्रं
कर्मानन्तप्रपञ्चं निरुपममहिमानादिमध्यावसानः ।

ब्रह्मानन्दामृताब्धिस्समरसविधुना जृम्भितस्स्वात्मभासो
हेतुत्वेन प्रबोधज्वलनतवमहाज्ञानशक्तिं व्यनक्ति ॥३४॥

गोजं क्षीरं यथैकं द्युतिविविधगुणस्वेन्द्रियार्थप्रकाशो
ऽप्येकस्तद्वर्णनानारुचिरधिकरणस्यैकताकारणेन ।
नीलाद्याभासबुद्ध्या नच परिहसतो धूमघानैरिवाग्निः
प्राचुर्येण प्रदीप्तः परमशिव ततस्सत्य विश्वात्मकस्त्वम् ॥३५॥

नित्याखण्डप्रकाशादमलतरविभो स्त्वत्सकाशात्कदाचि-
न्मायासञ्जायमाना त्रिगुणमुखगणैस्त्यक्तशक्तिस्वभावा ।
सिद्धान्तैर्भिन्नमानप्रमितिभिरसुखैर्भेदबुद्धिप्रधाने-
संसारित्वं प्रसार्यं दृढय विभवतो सत्यतां वेदविद्या ॥३६॥

अन्यः पक्षोऽथवात्र प्रविमलकलनानन्तशक्तिप्रकाश-
स्सत्याख्यस्सोऽपि यत्र प्रविलयमयते शून्यगर्तं तदात्मा ।
योष्माकासत्यभावस्सचनिजमहसां कामरूपात्ममाया
मुत्पाद्येतत्प्रपञ्चं घटयति तदिदं व्यश्नुषे स्वात्मयोनें ॥३७॥

ऐक्याच्चिच्छक्तियोश्चेदिदमहमितिच द्वन्द्वभावस्य जीव-
ब्रह्मादिद्वैतवुध्योर्दिनकरशशिनोरण्डविध्यण्डयोश्च ।
प्राणापानाख्यवाय्वोस्सुकृतदुरितयोस्स्याद्यदा सामरस्य
प्रादुर्भावस्तदा त्वं भवसि सदसदानन्दनाथः परागने ॥३८॥

सेयं विज्ञानशक्तिस्तव शिवगुरुणा दर्शिता नित्यशुद्धा
निर्द्वन्द्वब्रह्मतत्त्वं गमयति सुधियां सच्चिदानन्दपूर्णम् ।
लोकेमेय प्रमातृप्रमितिभिरितिचेदर्चिता भिन्नमार्गा
मुद्रा नानास्वरूपाः प्रकटयति मुधाहं क्वतिस्थाः परेशः ॥३९॥

इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि ज्ञानशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं चतुर्थम् ॥

बुद्धिज्ञानेन्द्रियाणां निजनिजविषयास्वादभोगप्रबोध
क्षीराब्धिः प्रोद्यदिच्छामृतकिरणरुचा वाङ्मुखक्षालितैश्च ।
संक्रान्तश्चालितार्थप्रसरबहुतया स्वात्ममायोरुपूर-
त्रुट्यद्ब्रह्माण्डबिन्दून् विकिरतिननुचेद्धं शिवातः क्रियात्मा ॥४०॥

सृष्टिस्थित्यन्तलीलावकलितसरणिर्यत्प्रयत्नो यदीयं
धैर्यं विख्यातवीर्यं सकलमितिगता यस्य बुद्धिस्समृद्धा ।
यत्सामर्थ्यं प्रभूतं निरवधिगणनाजाण्डरुद्राण्डभाण्डा-
गारं यद्ब्रह्मसक्ता जयति तव मनोरूपविश्वात्मतत्त्वम् ॥४१॥

संवेशं दूरदेशं कलयति सकलं कर्मकृत्यं च तत्त्वं
स्वं यद्बाह्येन्द्रियाणां कलनमपि विना स्वान्तमन्तःप्रकाशम् ।
तत्ते वीरस्वतन्त्रप्रकृतिनिगमनं निर्गतोपाधितर्क
बाह्याक्ष्णां दर्शनार्थं विमलशिवततत्त्वं हृषीकाश्रयात्मा ॥४२॥

यद्वन्न्यग्रोधबीजं पृथुतरविटपानोकहत्वेन रूढं
सामर्थ्यं दर्शयेत्स्वं परमशिव सदा सत्यविज्ञानबीजम् ।
इच्छाक्षेत्रासुबुद्धीन्द्रियकुलकलितं सर्वं तत्त्वं क्रियाभि-
स्स्वात्मानं विश्वरूपं प्रकटयसि यदा त्वं तदा गोचरस्याः ॥४३॥

स्वात्माशेषाक्षवृत्तेः पृथगयनतया क्वापि भूतानि पञ्च
क्वापि प्रेक्षाप्रपञ्चः क्वचनिनदमुखाः क्वापि वाक्यादयश्च ।
एतैरेव प्रवृत्तो निजविषयतया सर्वविश्वात्मजृम्भ-
स्तस्मात्त्वं लोकमुख्योद्यमिति रहितस्स्वप्रकाशप्रमेयः ॥४४॥

कालावस्थाश्चतस्रो गिरिश दशदिशस्सप्तधा भूमिरापो
नानातेजस्समीरा दशवियदखिलव्यापि चैकादशाक्षी ।
भिन्नार्थानन्तबोधप्रकटितमहिमा बीजभेदास्त्वनन्ता-
स्तत्सत्ता बीजजावात्स्वगुणमनुसरन्त्येव ते देवसत्त्वात् ॥४५॥

पञ्चाशद्वर्णमाला वहुविधनिनदोच्चारणातत्त्वजाल-
व्यक्तिव्यापारसक्ता गिरिशगुरुमुखाम्नायविद्यास्वरूपा ।
धात्राद्युत्पत्तिपूर्वश्रुतिमुखविविधानन्तसिद्धान्तविद्या
नानाभाषाः क्रियाभिः प्रकटयति ततस्तैव ते साङ्गवेदान् ॥४६॥

वर्णेभ्यो धातवस्स्युर्विविधपदचयस्तद्भवस्तेनवाक्यं
तस्माज्जातं प्रमाणं विविधनिगमनं तेन सिद्धान्तजालम् ।
तस्मान्नानात्मतत्त्वप्रकटनमिति यत्तत्त्वविद्या त्वदीया
त्वंचेदेकोऽद्वितोयः क्रमरहित महासंविदात्मा महेश ॥४७॥

यज्ञस्थानं श्मशानं सकलमिति गृहं भास्वदोङ्कारपीठं
प्रादुर्भूतप्रयागस्थलमतिविपुलं कल्पवृक्षाधिरूढैः ।
संवीरं भैरवश्चोरगपतिगणपैस्तत्रदिव्यार्घ्यपात्रं
वह्निर्वर्ध्नेन्दुक्लृप्तं परशिवसकलं नस्नुषेऽप्यात्मयोने ॥४८॥

चित्पूजादृक्क्रियात्मागुरुकथितमहारुद्रमूर्तिस्समन्ता-
दात्मीयैः रश्मिदेवैरधिगतविषयाज्याहुतिर्निर्विकल्पः ।
निष्कामै रात्मकामैरुपचितयजनश्चित्स्वतन्त्रै रतन्त्रै-
रात्माग्नौ ब्रह्मविद्यापरिणतमतिभिर्योगिभिर्हूयसे त्वम् ॥४९॥

द्वैतं यत्रानघेदं पशुरधिपिशितो मृत्युरक्षाणि जिह्वा
हव्यं वाथप्रबोधः प्रकटहुतवहो निर्मलात्मैव होता ।
अध्वर्युस्स्वच्छचेतो गुरुमुखविदितामात्रकोद्गात्रवर्गः-
स्स्वाचार्यो देशिकेन्द्रः परमखभुगसि त्वं परशम्भुरीशः ॥५०॥

यागाश्चान्ये सकामैः पशुभिरिह कृताः सर्वसिद्धान्तकृत्या
नानायज्ञक्रियाश्च त्रिभुवनभुवने चित्रकर्मप्रसाराः ।
विश्वोत्पत्ति प्रतिष्ठा प्रहरणविधयस्त्वत्क्रियाशक्तिबीजा-
स्संजाताः सर्वतस्त्वं प्रभवसि मनसा चित्रनिर्माणमूर्तिः ॥५१॥

॥ इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि क्रियाशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं पञ्चमम् ॥

नित्यालुप्तात्मशक्तिः सकलतिथिफणा पञ्चदश्याप्रदीप्त-
स्त्रुटयादीन्कालवायून् ग्रसदुरुरसपञ्चक्रवल्मीकवर्ती ।
सम्यक्चैतन्यगुम्भेरवगतकिरणो विश्वजम्भैकभर्ता-
कृष्णाध्वार्केन्दुयोनिर्भुजगपतितनुस्त्वं ततः कुण्डलीशः ॥५२॥

स्वस्थात्मा चित्तपूर्वं रविशशिपदवीपूरितांशुप्रचारां
दीप्तान्तर्वह्निवेदे रविततगतिभिर्बोधिताधारशक्तिम् ।
तत्तच्चक्रप्रभेदोद्भवविविधमहाशब्दरूपामनन्तां
ब्रह्मानन्दप्रवाहामनुभवसि परामादिसौपुम्नमूर्ते ॥५३॥

यस्मात्प्राणः प्ररोहत्युपरिगतिरधः संप्रभावत्यपान-
स्तस्मादेवाविरोधात्तदुभयजनिकृद्वायुसंरोधमात्रात् ।
विद्या विद्यादियुग्मप्रसरसमरसाम्भोधिजृम्भैरदम्भैः
सार्थं हंसः परस्मिन्महसि खलु लयं प्रैति ते प्राणसूत्रः ॥५४॥

सर्वेषामिन्द्रियाणां निजनिजविषयोद्योतनं यत्प्रसूतं
सारास्सर्वेषु कर्मस्वनुपमविषयाः साध्वसानन्दिकोपाः ।
या जातास्सर्वनाडीपथचलदनिलव्याप्तयस्सर्वभावा
नानारूपाश्च सर्वायनपथिकमहास्पन्दकः सत्वमेव ॥५५॥

बुध्वा सद्देशिकोक्त्या सुविधतविधवां खेचरीं दिव्यमुद्रा-
मर्धानन्तप्रपञ्चान्वितनिजकरणान्यात्मचित्ते निरुध्य ।
तच्चित्तं ज्योतिरिङ्गन्निरवधिकरणं चिन्तयेद्यस्स योगी
निर्वाणः कृष्णवर्त्मा भवति तव महा स्पन्दतामेत्य शम्भो ॥५६॥

प्राणाख्या कुण्डलिन्या जगदिदमखिलं प्राणितं ते यथेश
ज्ञात्वा यां योगिनस्ते परतरविभवं यान्ति शान्तं पदं तत् ।
यामज्ञात्वा भवाब्धौ जननमरणकृत्क्रूरकर्मप्रबद्धा
मज्जन्त्याद्यन्तहीना यदि कृपयति सामोचयेन्मृत्युबन्धात् ॥५७॥

इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि कुण्डलिनीशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं षष्ठम् ॥

आज्ञातं ब्रह्मतत्त्वं निजहृदयदरीलीनमात्रप्रकाशं
व्यक्तीं कर्तुं स्वनित्याक्षरविदितमहामातृकात्वं प्रपन्नः ।
त्वं दिव्याम्नायविद्या सुविदितमहिमानन्तशक्तिप्रकाश-
स्तत्तद्वर्णात्मभेदैरुपदिसि परं श्रीगुरो स्वस्वरूपम् ॥५८॥

श्रीशब्दब्रह्ममूर्तं सकलरवमयानाहतध्वानभेदा-
नात्मीयानक्षरस्थान्बहुविधनिनदैर्भूरिवाद्यप्रभेदैः ।
भेरीनिस्साणघण्टादरमुरजमहाशृङ्गनालोरुतालै-
र्वंशैर्यन्त्रैश्चगात्रैर्जलधरपटलैस्त्वं ब्रवीपि ध्वनिज्ञः ॥५९॥

तत्त्वानां व्यक्तिहेतुः सकलतिथिगतस्मसपुर्यष्टकाङ्ग-
स्त्रीपुंसद्वन्द्वरूपद्युमणिशशिमहावह्निपादष्षडात्मा ।
सर्वाभिप्रायसंवित्प्रकटितविभवस्त्वं महाम्नायविद्या-
सारस्फारस्वरूपः पुरुष इति ततः स्वाक्षरात्मादिवर्णः ॥६०॥

रम्योदात्तानुदात्तः स्वरितविकृतिगः स्वोच्चनीचोभयस्थो
भेदादष्टादशात्मामहितनिजमहास्फूर्तिरेकोक्षरादिः ।
षड्जादिग्रामजातश्रुतिविततलसद्गीतसप्तस्वरोच्चा-
न्नानारागान् प्रवन्धानधिवसति भवानादिनित्यस्वरात्मन् ॥६१॥

सर्वास्यस्थानवर्णः प्रथमविगणिकस्त्वं स्तुतष्षोडशीति
स्वेच्छाशक्त्यानिरूढव्रढिमनिजमहाप्रौढिमाढौकमानः ।
कालव्यक्तिस्त्रिलिंगान्निजगतिनिलयान् ह्रस्वदीर्घप्लुतादीन्
विद्याऽविद्योभयात्मा जनयसि परितश्श्रीमहावर्णजात्मन् ॥६२॥

पक्षद्वन्द्वैककर्ताऽवनिजलहुतभुङ्मारुताकाशमूर्तिः
श्रोत्राद्यक्षाणि सर्वाण्यधिगतचरणस्स्वप्रकृत्या निवद्धः ।
अन्तस्थो विश्वरूपः पुरुष इति यतो ज्ञायसे स्वक्रमेण
ज्ञात्वा वर्गाक्षराणां परमदिवजनैस्त्वंततो वर्गजोसि ॥६३॥

सर्वातीतात्मधामानलनिलयपदज्ञापिकामन्त्रविद्या-
सत्यात्मप्रायशुद्धाश्शिवगुरुवदनांभोरुहाद्भासमानाः ।
नानार्थाधातवश्च प्रकटितविभवाश्चित्रवाक् ब्रह्मभेदै-
स्सार्थं नस्युर्विना त्वां परशिवसहजं वर्णयोगस्वरूपम् ॥६४॥

ऐंकारं स्वात्मवासं श्रुतिभिरभिनुतं वाग्भवं शक्तिबीजं
मायाबीजं स्मारबीजं परतरविभवं मातृकाबीजयुग्मम् ।
यावान् पश्चापि गत्वा षडधनविलसत्कूटषट्कं च भित्वा
हंसस्सोऽहं तथा त्वं विचरसि मनसामन्तरे मन्त्रपूर्ते ॥६५॥

बिन्द्वर्धेन्दुत्रिस्थैरवकलितकलाव्याप्तिभिस्साधिदेवै-
र्नानानन्ताधिदेवैः परिणतिसुलभैश्श्रीगुरूक्तागमस्थैः ।
न्यासैर्विद्याविशेषैः श्रुतिमुखविविधानेकसिद्धान्तमन्त्रै-
र्विष्वक्प्रोतप्रतीतो महसि भवमघं दुष्प्रभामन्त्रवर्णैः ॥६६॥

वर्णास्ते मन्त्रविद्यादशविकरणगाधातवो नित्यशब्दा-
वाक्याम्नाम्नायभेदाबहुविधमतजास्साङ्गवेदाश्च भाषाः ।
नानाछन्दांसि तालास्स्वरविकृतिगणास्सर्वतो वाङ्मयस्था
नानारूपाः पराग्नेस्समजनिपतते मातृकाशक्तिबीजात् ॥६७॥

इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि मातृकाशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं सप्तमम् ॥

एवंरात्रि दिवस्थाः परशिवघटिका एव ते रश्मिभूता-
स्स्त्रीपुंसद्वन्द्वरूपा रविशशिचरणाक्रांतयो रक्तशुक्लाः ।
षट्छत्र्यंशप्रभेदाद्दहरगुरयुगे कोणषट्कान्तरस्थाः
कालावस्थाश्चतुर्भिः प्रविदधति युगैर्विश्वभूतैर्निदानैः ॥६८॥

षट्त्रिंशत्तत्वमालामवनिमुखशिवां तामपेतात्मकृत्यां
खे वायौ सप्तविंशत्युडुगणविकृतिर्जीवमायाशिवांशात् ।

तेजस्यस्वन्तरात्मान्तरतनुविकृतेरस्थिमांसप्रमुख्याः
क्षोण्यां त्वं जीवमायागुणगणमभितो भासयस्यंशुमालिन् ॥६९॥

यावन्तस्ते मयूखाः क्षितिजलदहनस्पर्शनाकाशचेतः
पीठस्थाष्षट्प्रमाणाः परमधिपतयो भैरवा एव सर्वे।
तेषां मध्ये त्वमेकः परतरमहिमोज्जृम्भमाणः प्रचण्डो
मार्तण्डो रश्मिमध्यस्थित इव परतो भासि चिद्भैरवाग्ने ॥७०॥

भैरव्यो रश्मिदेव्य स्तवशिवकरुणापूरिताक्ष्यः प्रसन्ना-
स्त्वत्सत्ताकाशवाहोदित ऋजुगतयश्च वितात्मार्थकृत्याः।
तद्धामन्येव शान्तास्सुरमुनिपितृभिः पुण्यपापैश्च बद्धान्
भक्तांश्चानेकबन्धान् झडिति विघटयंत्यात्मबोधानुजृम्भैः ॥७१॥

श्रीनाथश्रीशसर्वेश्वरपरशिवते दिव्यदिव्यामरीचि
ब्रह्मादीनां मनोवागनवगतमहाचित्रनानार्थगाढाः।
गूढप्रौढप्रकाशास्सुरमुनिवनैरप्यबुद्धाः कथं वा
स्तोतुं ज्ञातुं समर्थो भवति कविजनः कोत्र मन्दो नृमात्रः ॥७२॥

॥इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि साधारण्येन षडन्वयसमष्टिस्कन्धरश्मि-
विवेकप्रकरणमष्टमम् ॥

साङ्गाभूमिश्शताङ्गश्शतधृतिरपितत्सारथिस्सप्तयस्ते
वेदास्त्रह्योकवेद्याः पृथुतरचरणौ पुष्पवन्तौ तदक्षः।
मेरुस्तत्कीलबन्धः कमठपतिरिभास्तत्पृथुस्तम्भपङ्क्ति-
श्शेषस्तद्रज्जुबन्धस्तदुपरिपितृभूस्तत्र चिन्त्यारथित्वम् ॥७३॥

कल्पांतानन्तसूर्यद्युतिमतिविकटानेकदंष्ट्रं षडास्यं
वह्नीन्द्वर्काम्बुकाष्ठादशयुतमभितः प्रज्वलन्तं मयूखैः।
शूलासीषुप्रशक्त्यंकुशवरनृशिरः श्रीफलेष्वासवारि-
द्योतत्पाशाभयाङ्कैर्निजभुजपरिघैस्त्वां गुरुश्शम्भुमीडे ॥७४॥

न्यस्थिर्युद्रप्रसूनस्रगगणितमहाभूषणैः कुण्डलीन्द्रै-
राकोशन्मुण्डमालापरिवृतवपुषादिक्षुजाज्वल्यमानम् ।
मत्तेभेन्द्रोरुकृत्यम्बरघटितजटीमण्डलं साट्टहासं
तं भास्वद्धेमगर्भोदरविधृतकरांगुष्ठमीशं प्रपद्ये ॥७५॥

नागेन्द्रैः कल्पवृक्षैरधिगतविहगैर्भैरवैर्देवदैत्यै-
र्भूतैः प्रेतैः पिशाचैः परिवृतमभितो योगिनीभिः श्मशाने ।
सर्वप्रज्ञैकवासं त्रिभुवननिलयस्वात्मनाध्यात्मदीप्तं
सर्वोत्तीर्णात्मतत्त्वेश्वरमनलमुखं त्वां गुरुं शम्भुमीडे ॥७६॥

नानाध्वानात्मयोगप्रकटितशिवतद्धर्मरूपप्रसादा-
त्स्वेच्छाज्ञानक्रियात्मत्रिशिखविदलितत्रैगुंदीर्णप्रमोहः ।
सत्यज्ञानासिभिन्नप्रमितजनिरिपुस्वात्मयोगेषु धारा-
च्छिन्नाविद्यासुलक्ष्यः परमशिवविभो तेन मृत्युं जयस्त्वम् ॥७७॥

देवब्रह्माण्डसृष्टिस्थितिलयसमयध्वंसिनी तेऽत्रशक्ति-
र्मायाशक्ति प्रचण्डोद्धतघनकरिणी वारिणी सा प्रणीस्ते ।
धर्मार्थात्मेष्टमुक्तिप्रवितरणचणस्ते वरस्तेप्यभीति-
र्विश्वग्रासाग्रमृत्युप्रतिभयदलिनीतद्ध्रुवामृत्युमृत्युः ॥७८॥

पाशस्ते विश्ववश्यः पितृपतिकृतभी हस्तिनी सिंहवृत्ति-
श्चक्रस्संसाररात्रिद्युमणिनमुदयस्तावकस्ते पिनाकः ।
आक्रान्ताशेषमोहप्रकृतिविकृतिह्यामातृकाचित्परात्मा
त्राणं ते तत्कपालं हृतविधिमुखसत्प्रेत चिद्रूपमोद्य ॥७९॥

एवं ते दिव्यदिव्यायुधपरमहिमा गीयते वेदशास्त्रैः
प्रागुक्तस्ते शतांगोप्यपिच पितृगणप्रेतशीर्षोच्चरङ्गे ।
उच्चण्डं ताण्डवं ते त्रिभुवनभयकृद्वज्रपाताट्टहासो
भीपास्मात्वत्सकाशादपरखपरोवास्ति ते नोग्रवीरः ॥८०॥

चित्ताकाशानिलाग्न्यम्ब्ववनितरपतिप्रेतसिंहासनस्थ-
ष्षट्छक्तिव्यक्तमूर्तिष्षडयनपथिकस्सोमसूर्याग्निपातः ।
ब्रह्माग्नीस्सप्तजिह्वाकवलितविषयीभूतविश्वप्रपञ्च-
स्थूलोपि ध्यानदृष्टेस्त्वमभयतमसां ज्योतिषामप्यगम्यः ॥८१॥

इत्युक्तध्यानचिन्त्योप्यनवगतमनोवाक्प्रवृत्तिस्स्वभाव-
स्स्वच्छन्दात्मीयकर्ता चिदुचितविभवः पावकश्शम्भुरीशः ।
सर्वातीतस्वभावोऽप्युपनिषदुदितज्ञानमीमांस्यमान-
स्सत्वं यस्यान्तरङ्गे निवससि स शिवस्त्वन्मयस्यान्महेशः ॥८२॥

श्रीमानव्याद्धिभिक्षुस्त्रिभुवनजनकोऽप्यात्मभूरागमोक्ति
व्याख्यावेद्योप्यवाच्यः प्रकृतिसुविमलोप्यात्ममायाविलासः ।
तत्वादेकोप्यनेकः परयुवतिरतोप्यात्मवित्सेव्यमान-
स्तस्मात् स्वच्छन्दलीलास्त्वमिह विजयसे मानसीभाववृत्तम् ॥८३॥

इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि परशम्भुपावकध्यानयोगप्रकरणं नवमम् ॥

द्रष्टव्यस्त्वं जगाद्भिर्बहुविधविधिभिस्सर्वसिद्धान्तवाक्यै-
श्श्रोतव्यो निर्विकल्पश्शिवगुरुवदनाम्भोरुहेण प्रबुद्धः ।
मन्तव्यस्सर्वतत्त्वावकलितचरणस्सन्निदिध्यासितव्य-
स्सत्तामात्रावलंबीत्यमरनुतपदो नास्ति देवस्त्वदन्यः ॥८४॥

उग्रं शान्तं च वीरं सकलमयमहाविष्णुमग्निं ज्वलन्तं
सर्वत्रानन्तवक्त्रं सहमृगवपुषं भीषणं सर्वभद्रम् ।
सर्वज्ञं मृत्युमृत्युं बहुविधनुतिभिर्वन्दितं सर्वलोकै-
र्विश्वाहङ्कारजृम्भं परमशिवगुरुं त्वां भजे मन्त्रराजम् ॥८५॥

शम्भो त्वां भूर्भुवस्स्वर्महरुदिततमं क्वन्तरिक्षद्युसूर्या-
शाचार्येन्दुशुक्रार्चिभिरपि निगमब्रह्मभिः प्रोतशक्ति ।

प्राणापानादिभेदैः कलयति सकलं मानसं ध्यानयोगं
येषां तेषां सपर्या भवति सुरकृता ब्रह्मते जानते च ॥८६॥

सर्वोत्कृष्टं परं तत्सवितुरनुपमं ते वरेण्यं शरण्यं
भर्गोदेवस्य धीमह्यभिदधति धियो योन इत्यौर्वतेजः ।
तुर्यं सर्वाणि भूतान्यधिगतममलं सर्वतो दृक्कमाद्यं
ध्यायामि ध्येयमन्तःकरणसुनियतैर्योगिभिश्श्रीमहेश ॥८७॥

कालोऽनन्तो युगात्मा शिवदिवसनिशाः पक्षमासास्तथाब्दा-
स्तद्भेदाष्षडृतुस्थास्तदनुगतजगत् सर्ववृत्तान्तभेदाः ।
नानायज्ञक्रियाश्च त्रिशतिदितिसुता मानुषास्सर्वनागा-
योगीन्द्राजीवसङ्घास्तवचरणयुगे यान्ति जन्मान्तमध्यान् ॥८८॥

भूतं भव्यं भविष्यत्त्रिभुवनभवने षण्महाशक्तिभिस्त्वं
तत्सर्वं व्यश्नुवानो विचरसि कलितः सृष्टिगव्यन्तकामैः ।
देवैर्दैत्यैर्मनुष्यैरुरगपतिकुलैस्सर्वजीवप्रधानै-
रात्मीयैश्चित्रिताङ्गश्शिवभवतमसस्सूर्यभास्त्वं परास्तूत् ॥८९॥

श्रोतास्पर्शोनियंतानवरसरसिकस्सर्वगन्धान्तरज्ञो
वक्ता कर्ता च गन्ता त्रिभुवनभवतो विश्वसर्गः प्रमोदी ।
कामी मीमांसकश्च प्रथितशुचिशिखा सप्तकव्याप्तविश्वो
बोद्धास्वार्थाननन्तानधिगतचरणस्सर्वतस्त्वं शिवोसि ॥९०॥
सर्वार्थी सर्वनामा सकलकुलपतिस्सर्वलोकाङ्गनेश-
श्शृङ्गारी सर्वभोगी नवरसरसिकः प्राज्यसाम्राज्यभोक्ता ।
त्रैलोक्ये वाक्प्रपंचे प्रवचनपठितस्सोमयाजी च यज्ञ-
स्संसारी कामचारी त्वनुवदतिजनो यस्सधन्यश्शिवत्वाम् ॥९१॥

क्षेत्रं क्षेत्रप्रमाताशिवगुरुवदनाघोरविद्याधिदेवो
मन्त्रो मन्त्रादिदेवो मन्त्रविधिरघो योगयोग्यः पदार्थः ।

त्वं दर्शः पूर्णमासः परिधिरपि मखाचार्यपयश्चं होतो-
द्गाताध्वर्युश्च हव्यं त्रिविधहुतवहस्त्वां विना नास्ति शम्भो ॥९२॥

क्षेत्रज्ञास्सर्वदेवास्सुरनरभुजगास्सर्वजीवाश्च तच्च
क्षेत्रं ब्रह्माण्डरूपं त्रिभुवनभवनव्यापकं चित्ररूपम् ।
एतावव्याप्य तत्र स्थितमखिलजगद्रक्तभोक्तारमग्निं
ज्ञात्वा पट्छक्तिभिस्त्वां परमशिव महामृत्युमत्येति विद्वान् ॥९३॥

उक्तक्षेत्राधिदेवे परतरपुरुषे त्वय्यनन्तस्वरूपे
दिव्याम्नायागुरूक्ता निजनिजनियतिस्सूक्तयस्सर्ववेदाः ।
साङ्गोपाङ्गाश्च शास्त्राण्यधिगतमहिमान्योन्यसिद्धान्तविद्या-
भाषास्वार्थैर्विभान्ति त्रिनयनभवतो विश्वमूर्तेः परः कः ॥९४॥

मूलं व्योमंववायुज्वलनजलधारा ममध्यमं यस्य शाखा-
देवाः पर्णानि दैत्याः किसलयनिचया मानुषाश्च प्रतानाः ।
नागाः पुष्पाणि वा ते बहुविधतनवो विश्वसस्यं प्रबोधो
विश्वन्यग्रोधकद्रोः परमशिव भवान् बीजभूतो विभाति ॥९५॥

मायारूपेण कालो जननमरणकृत्सर्वजीवाङ्गवृत्ते-
र्विद्यारूपेण कालान्तक इति विनुतस्सत्वमेवापरो न ।
देहाहङ्कार एवान्तक इति गुरुणा यः प्रविज्ञाय मायां-
जागर्त्यात्मप्रबोधे शिवतवकृपयास्तोत्रमृत्युंजयस्स्यात् ॥९६॥

त्वं नाथस्त्वं परपदजनितास्नाय विद्यार्थकोश-
स्त्वं शम्भुस्त्वं परेशः परतरमहिमा त्वं परा त्वं पराश्रीः ।
त्वं भानुस्त्वं सुधांशुस्त्वमपि च जननी त्वं पिता त्वं सुमित्र-
स्त्वं भ्राता बान्धवास्त्वं त्वमसि धननिधिस्त्वां विना नास्ति
मेऽन्यः ॥९७॥

शब्दार्थाधारभूतं त्रिभुवनजनकं सर्वतोदिक्कसत्त्वं
त्रैलोक्यस्थायिलिङ्गात्रयविदितपदं सर्वतस्त्वेकवेद्यं ।
सर्वानिर्वाच्यसत्ता गतपरविभवज्योतिरुज्जृम्भमाणं
व्यक्तीकृत्यात्मवर्णैः प्रकटयसि परं तत्त्वमात्मीयमग्ने ॥९८॥

त्वं विश्वं विश्वहेतुर्विरहितकरणो विश्वकार्यैककर्ता
विश्वातीतश्च विश्वेश्वर इति बहुधा निश्चतश्चाक्षरज्ञैः ।
अद्वैतात्मप्रबोधानलबहुलशिखार्चितात्मीयहव्य
श्रीशम्भो विश्वशक्त्या परतरवियति प्रेप्सि निर्वाणपूजाम् ॥९९॥

एवं यस्स्तौति भूतिं त्रिभुवनमहतीं विश्वगाश्चर्यचर्या-
मन्तर्बाह्यागमोक्तिप्रविनुतविभवामादिमध्यान्तहीनाम् ।
सौम्योग्राकारदेवासुरनरभुजगानेकजीवप्रभेदो-
त्पत्तिस्थित्यन्तभूमिस्स भवति जगताश्चर्यवानेव शम्भो ॥१००॥

इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि महाविभूतिप्रकरणं दशमम् ॥

का पूजा पूजकः कश्शिवगुरुरिति कः को विधिः कश्चमन्त्रः
कः पीठः किं प्रसूनं किममलसलिलं केऽत्र सर्वोपचाराः ।
निर्द्वन्द्वस्यात्मनस्ते द्वयमिति रचितं सर्वमेतत्कथंस्या-
रसन्पोपार्थं महेश त्रिचरणविमलज्ञानपूजाप्रसन्नः ॥१०१॥

त्रैलोक्यं सर्वतस्ते सकलजगदिदं व्यश्नुवानात्मसत्ता
विस्फूर्तेरष्टमूर्तेरखिलजनमनः प्रोच्चसिंहासनस्य ।
कस्मादावाहनं स्याद्बहिरिहचरितं क्वासनं चन्द्रमौले
मायासंसारभावो रचयति नितरामात्मभोगायभेदम् ॥१०२॥

आधारोग्निस्सुपात्रं रविरमृतकलानायकः पूर्णमद्यं
शक्तिस्त्वं वै प्रपूज्यष्वडवयवयुतस्तत्रपात्रप्रवर्ग्यै ।

पाद्यं ते तर्पणं च प्रभवति सुमुदे वाह्ययागार्घ्यपात्रैः
सन्तुष्टस्स्याः कथं त्वं परशिवविमलज्ञानदुग्धाब्धिशायिन् ॥१०३॥

भास्वच्चन्द्राग्निबिम्बोदितविमलशिवज्ञाननित्यप्रमोद-
ज्ञानानन्दप्रवाहास्त्रिगुणितसरितो मुख्यनाडीत्रयस्थाः ।
कालिन्दी जह्नुकन्यान्तरसरिदभिधास्तेतनुस्नानकृत्ये
सृष्टाहृल्लिङ्गमूर्ते कथमितरकृतैःस्यात्तवस्नानमत्र ॥१०४॥

लज्जारागादिमायातिमिरदिनकरी भूतचेतः प्रबोध-
ज्योतिःपुञ्जे प्रवृत्ते गतभवतमसो दिक्पटालंकृतस्य ।
प्रज्ञायज्ञोपवीतैरुपचितवपुषः प्रेतभस्माङ्गराग-
स्यान्ये मिथ्योपचारास्तवसवनमहासूत्रबन्धानुलेपाः ॥१०५॥

सर्वाहिंसेन्द्रियाश्वद्रुतगतिशमनं सर्वभूतानुकम्पा
शान्तिस्सत्यं प्रबोधो गुरुकथिततपोनिश्चलध्यानदृष्टिः ।
श्रद्धाभक्तिश्च नित्यं निजविषयपरित्यागितानिस्पृहत्वं
संवित्पूज्योतिपुष्पाण्यमलशिव भवत्पूजनाय क्रियन्ते ॥१०६॥

ब्राह्म्याद्यामातरोष्टौ स्वविषयकुसुमैरात्मभावप्रसूनै-
र्योगिन्यश्शक्यस्ते निजनिजनियतिस्फूर्तिसन्मञ्जरीभिः ।
तद्भावं भावयद्भिस्स्वकिरणमहाभैरवैरात्तसङ्गा-
स्त्वां श्रीचिद्भैरवेशं परमशिवगुरुं पूजयन्ति स्मरन्ति ॥१०७॥

सद्विद्याङ्गारमध्यार्चितसततमहावासनाभ्यासधूपै-
श्श्रीमद्वक्त्रारविन्दोदितसकलकुलाम्नायवाधप्रदीपैः ।
सर्वाक्षार्थान्निभेदैरुपरचितमहादिव्यनैवेद्यपानै-
राराध्यो योगिभिस्त्वं कथमितरकृतैस्तोष्यसे श्रीपरेश ॥१०८॥

इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि अन्तर्यागोपचारपरामर्शप्रकरणमेकादशम् ॥

विद्यानानाविभूषा मृगमदघनसारादि सौरभ्यवस्तु-
प्रोत श्रीचन्दनानि प्रविकचकुसुमान्यद्भुतान्यम्बराणि ।
नानामोदाश्च धूपाः क्रमुकशकलवद्वीटिकाः पादभेदा-
स्नानापात्राणि श्राम्यापरशिवभवतः पूजनायक्रियन्ते ॥१०९॥

सप्तैते मन्डलस्थाश्चरुजलनिधयो दिव्यनैवेद्यराशि-
र्नानापक्वान्नभेदान्विविधपिशितवच्छाकनानोपदंशान् ।
भक्ष्यं भोज्यं च शोष्यं विविधशशिसुधास्वादुवद्वस्तुलेह्यं
हालादध्याज्यदुग्धान्यपि विदधति ते सूपहाराय शम्भो ॥११०॥

मन्त्राकारैः प्रदीपैर्दहनरविकलानाथनक्षत्रमाला
विद्युन्माणिक्यमुक्तारजतकनकधात्वादिनानाप्रकाशैः ।
युष्मन्नीराजनाये विरचितरचनास्त्वां प्रकाशयात्ममूर्ति
सर्वानन्दात्मरूपं परमशिवगुरुं भावयन्त्योर्वतेजाः ॥१११॥

मुद्रानानार्थपोषानतिपथचलिता नष्टयोगांश्च नाट्यं
तीर्थाक्रान्तं प्रणामं निजकरणगतिं सर्वसिद्धान्तवाचः ।
कर्माज्ञानप्रवाहाव्यजनमपि महाचामराण्यातपत्रं
हस्त्यश्वादन्निथांस्ते परशिवचरणाभ्यासदास्यं विधत्ते ॥११२॥

आकाशश्शब्दभेदैः प्रलयजलधरामन्ददंभलिजृम्भै-
र्भेरीनिस्साणवाद्यैर्दरनिकररवैर्भूरिघण्टानिनादैः ।
तालैर्नालैर्मृदंगैर्मुरजडमरुकैर्गीतसद्वल्लकीभि-
स्सर्वैर्वाद्यप्रभेदध्वनिभिरिह विभो नाथ पूजां करोति ॥११३॥

शाम्भव्यो रश्मिदेव्यस्समरसमुदितामातृकावर्णरूपा
भास्वन्तो भैरवाष्टावपि सरसकलावानमत्ताः क्रमस्थाः ।
वेदान्तैरागमान्तैरभिदधति परं शाम्भवं वैभवं ते
सर्वानिर्वाच्यसत्तावियदुदितपदं श्रीविभो विश्वमूर्ते ॥११४॥

योगिन्यः क्षेत्रपालास्सरसमधुमदावेदशास्त्रार्थतत्त्व-
व्याख्यानध्यानवक्त्राः पितृवनदशदिग्वृक्षगा भैरवाश्च ।
सौधास्वादप्रमत्तः प्रकटितविकटाटोपसिंहाट्टहासा-
स्स्वस्वव्यापारपुष्पैः परमशिवगुरुं त्वां विभो पूजयन्ति ॥११५॥
भूताः प्रेताः पिशाचास्स्वविकृतिविभवैः प्रासवीभित्सवेषा
योगिन्यस्तेश्मशानावरणगतमहादेवता भासयन्ति ।
देवास्ते पूर्वदेवामधुरसमुदिता विस्मयाविष्टचित्ता-
श्शान्ता ध्यायन्ति गायंत्यपि परमशिव त्वां मुदोपासतेच ॥११६॥
ब्रह्मावेदोक्तिगानैर्हरिरपि कमलैस्ताण्डवेश्चन्डरुद्र-
स्सूर्यब्रह्मामहेन्द्रो निजनिजविषयेरन्यदिक्पालदेवाः ।
सिद्धास्सर्वे मुनीन्द्रस्स्तुतिनतिवचनैस्सर्वदुर्गागणेशा
नृत्तैर्वाद्यप्रभेदैर्विदधति सुमुदन्ते महादेव शम्भो ॥११७॥
मन्त्रमः प्रेतसिंहासनविहितमहाभैरवश्शाम्भवाग्निः
पंचाशद्विष्णुलिङ्गाक्षरविदितपराघोरविद्योततेजाः ।
सत्यान्तर्यंत्रदेवास्त्रिभुवनहविपातोपितात्मीयरश्मि-
र्वागर्थी वक्रभावात्सकलमिहतनुं व्यश्नुवानो विभाति ॥११८॥
सर्वज्ञानेकभूमिस्त्रिभुवनकरवीराख्यशून्यश्मशान
ज्ञानाकूपारपूरश्रुतिमखबहुविच्छास्त्रबोधोदवाहान् ।
प्रज्ञां गाम्भीर्यगर्वांप्रसतिरविरिव स्वप्रकाशात्प्रकाशा-
न्नानाभेदोद्गमुख्यान्निबिडतररुचिर्भ्रान्तपूरांस्तवाग्निः ॥११९॥
श्रीशम्भो विश्वमूर्ते परमशिवगुरो नाथविश्वेश्वरात्म-
न्नेपामेतेऽर्थवत्स्यात्प्रमवविरचिता स्रग्धरावृत्तपूजा ।
त्वय्येव ज्ञानवह्नौ हुतवहरसनेसंहृतामुक्तये मे
भूयादागः क्षमस्व प्रवचनपठितश्रीविभो मे प्रसीद ॥१२०॥
इति श्रीपरशम्भुमहिम्नि विशेषोपचारपरामर्शे शान्तिप्रकरणं द्वादशम् ॥

इतितवकृपादोग्ध्रीपूजा सुभक्तिविनिस्सृता-
जननमरणप्रादुर्भावप्रभेदपटीयसी ।
जनयति मुदं ब्रह्मानन्दप्रवाहतरङ्गिणीं
दहति विपदः पुण्यं पापं दुरन्तभवाटवीम् ॥१२१॥

परशिवममजन्मधन्यमेतत्तवमहिमस्तुतिमोचितो यतोहम् ।
कुलमिदमखिलं द्विधाविभिन्नंपरमपदं गतमेव ते प्रसादात् ॥१२२॥

हतो मायामृत्युर्गुरुवदनखड्गेनमहसः
प्रभिन्नं मालिन्यं व्यपगतमहंकारतिमिरम् ।
हतामे कामाद्याः प्रवलरिपवस्स्वात्मविषया
महेश त्वत्सेवाविदितसुविवेकाग्निमहसा ॥१२३॥

जातिर्लज्जानिजकुलमदस्सर्वसंशित्वराधि-
र्देहाहन्ता स्वकृतदुरितद्वन्द्वपाशोभिमानः ।
सर्वे ह्येते ममविनिहतास्त्वन्महावाक्यसूर्य-
ज्योतिःपुंजैः किमपरमहं देवभद्रं समीहे ॥१२४॥

मद्विद्याभ्यसनमभूदिहैव सार्थं
सान्निध्यात्तवचसदुक्तिगोचरस्य ।
अद्य त्वं त्रिभुवनवाङ्मस्य वाच्यो·
निर्बाधस्सकलपथैकगम्यमूर्ते ॥१२५॥

श्रुति स्मृतिमिथः पथे प्रचलितोऽहमेकां
ततः प्रभो शिवगुरो तव त्रिजगदुन्नताज्ञां गतः ।
भजामि परपावकं त्रिजगदात्महव्याशिनं
भवन्तमधिदेवतं भव वने ज्वलन्तं स्वतः ॥१२६॥

ब्रह्मत्वं सुरनायकत्वमखिलं क्षोणीपतित्वं लस-
द्ब्राह्मण्यं सुरयक्षनागपितृता गन्धर्वता सिद्धता ।

एतत्सर्वमनित्यमेव गणितं नाहं समीहे सुखं
किंतु त्वत्पदपद्मनिश्चलतरध्यानं समीहे विभो ॥१२७॥

संप्राप्ता कृत्यकृत्यता सफलता वाचां तव स्तोत्रता
मृत्योरप्रमितेश्च मृत्युरभवं वश्यं गतं त्वत्पदम् ।
संसारानवधिप्रचण्डजलधिस्तीर्णः प्रमोहो हृतः
पुण्यं पापगमाद्विनाशमिह मे प्राप्तः प्रबोधो विभो ॥१२८॥

इति परशिवशम्भोनन्तकान्ते महिम्न-
स्तवविरचितमेतत् स्तोत्रमात्मोक्तिशक्त्या ।
प्रभवतु समुदे ते त्वं मम स्वांतवर्ती
भवभवगतदुःखं छिन्धि चागः क्षमस्व ॥१२९॥

यावांस्ते जीवलोकः परशिवचतुराशीति लक्षैकसङ्ख्य-
स्तत्तत्कर्मप्रभेदोपगतजनिमृती घोरसंसारचक्रे ।
सृष्टिस्थित्यन्तवृत्तिं भजति निरवधित्वत्पदध्यानयुक्तं
दृष्ट्वेनं भीतभीतं शरणमुपगतं त्राहि मां देव मृत्योः ॥१३०॥

दुर्वासास्सत्यवासः कनकगिरिरहं कन्दरे मे हृदाख्ये
श्लोकाश्चैते मृगेन्द्राः पटनखदशनाशाम्भवोक्त्यैकवीर्याः ।
मायाध्वान्तेभयूथप्रदलनपटवो ब्रह्मविद्यागवीस्ता
वक्तॄन् श्रोतॄन् प्रमातॄन् निजहृदयगुहाब्रह्मसत्तां नयन्ति ॥१३१॥

भूष्यं वैदुष्यमुद्यद्दिनकरकिरणाकारमाकारतेजः
प्रज्ञानं भूरिमानं निजकरिकलिलं दुर्गमं योगमार्गम् ।
आयुष्यं ब्रह्मपोष्यं हरगिरिविशदां कीर्तिमभ्येत्य भूमौ
देहान्ते ब्रह्मपारं परशिवचरणाकारमभ्येति विद्वान् ॥१३२॥

ये श्रीशाम्भवशासने कृतधियश्श्रीशासने कर्मठा-
श्श्रौतस्मार्तविधिष्वमन्दमतयस्सत्यव्रताब्राह्मणाः ।

विद्वांसस्सकलागमेषु च कलाविद्यासु ते शाम्भव-
ब्रह्मप्राप्तिमवाप्नुवन्ति पठनाच्छम्भोर्महिम्नस्स्तुतेः ॥१३३॥

स्तोत्रं चैतत्पठेद्यश्शिवगुरुवदनाघोरविद्यात्तदीक्ष-
स्सत्यज्ञानप्रकाशात्प्रबलभवरिपुं पुण्यपापाद्यविद्याम् ।
भित्वा मुक्तो विकल्पस्त्रिजगति महितं सौख्यमात्मप्रबोधं
तेजः कीर्तिं च लक्ष्मीमभिलषितपदं व्यश्नुते स्तोत्रवीरम् ॥१३४॥

महिम्नस्स्तोत्रस्य त्रिभुवनगुरोस्तेचपरतः
पराशक्तेस्तत्त्वं परशिवपदं वेत्ति स बुधः ।
अगाधं गाम्भीर्यं स्तुतिगतमनन्तप्रणुतिजं
समस्तास्सिद्धीरप्यनुभवति गच्छेत्परपदम् ॥१३५॥

श्रीक्रोधभट्टारकदिव्यनाम्ना दुर्वाससासूक्तमहामहिम्नः ।
स्तोत्रं पठेद्यो भुवनाधिपत्यं नित्यं गुरुत्वं शिवतामुपैति ॥१३६॥

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ।.१३७॥

सदसदनुग्रहनिग्रहगृहीतमुनिविग्रहो भगवान् ।
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः ॥१३७॥

श्रीं गुरुकरुणालक्ष्यो यः कोप्यात्मविदनुग्रहीतिपरः ।
परशम्भुस्तुतिबोधो जलजाधारो भवेत्सदा धीरम् ॥१३९॥

परशम्भो स्तवपद्यं रविप्रकरणं पठन् त्रिकालेऽपि ।
रविरिवजगत्प्रकाशो मतिचातुर्याज्जगद्गुरुर्भवति ॥१४०॥

तस्मात् स्मृतिमतिबुद्धिप्रज्ञावानात्मविन्महादेवः ।
परशम्भो स्तवहृदयं सत्पात्रेषु प्रकाशयेत्सदयम् ॥१४१॥

श्रीक्रोधभट्टारकापरनाम्ना महामहिम्ना दुर्वाससामुनीश्वरेणविरचिता
परशम्भुमहिम्नः स्तुतिस्सम्पूर्णा ॥

392-398
371-373
362 359
168